

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(सोलह भागों में)



नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

सं० २०३० वि०

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

मुद्रक शंभुनाथ वाजपेयी, नागरी मुद्रण, वाराणसी

संवत् २०३० वि०, द्वितीय संस्करण, २६०० प्रतियाँ

मूल्य : १/१

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

षष्ठ भाग

रीतिकाल

रीतिबद्ध काव्य (सं० १७००-१६००)

संपादक

डॉ० नगेंद्र, एम० ए०, डी० लिट०

आचार्य तथा अध्यक्ष, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

सं० २०३० वि०

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(सोलह भागों में)

संपादक मंडल

माननीय श्री पं० कमलापति त्रिपाठी

प्रधान संपादक

अमधारी सिंह 'दिनकर' श्री डॉ० नगेंद्र

करुणापति त्रिपाठी श्री डॉ० विजयपाल सिंह

श्री डा० नागेंद्रनाथ उपाध्याय श्री डॉ० वामुदेव सिंह—संपादन सहायक

श्री पं० सुधाकर पांडेय

संयोजक

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

प्राक्कथन

यह जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है कि काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास के प्रकाशन को सुचितित योजना बनाई है। यह इतिहास १६ खंडों में प्रकाशित होगा। हिंदी के प्रायः सभी मुख्य विद्वान् इस इतिहास के लिखने में सहयोग दे रहे हैं। यह हर्ष की बात है कि इस शृंखला का पहला भाग, जो लगभग ८०० पृष्ठों का है, छप गया है। प्रस्तुत योजना कितनी गंभीर है, यह इस भाग के पढ़ने से ही पता लग जाता है। निश्चय ही इस इतिहास में व्यापक और सर्वांगीण दृष्टि से ही साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

हिंदी भारतवर्ष के बहुत बड़े भूभाग की भाषा है। गत एक हजार वर्ष से इस भूभाग की अनेक बोलियों में उत्तम साहित्य का निर्माण होता रहा है। इस देश के जन-जीवन के निर्माण में इस साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। सत और भक्त कवियों के सारगर्भित उपदेशों से यह साहित्य परिपूर्ण है। देश के वर्तमान जीवन को समझने के लिये और उसे अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर करने के लिये यह साहित्य बहुत उपयोगी है। इसी लिये, इस साहित्य के उदय और विकास का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन महत्वपूर्ण कार्य है।

कई प्रदेशों में बिखरा हुआ साहित्य अभी बहुत अंशों में अप्रकाशित है। बहुत सी सामग्री हस्तलेखों के रूप में देश के कोने कोने में बिखरी पड़ी है। नागरीप्रचारिणी सभा ने पिछले पचास वर्षों से इस सामग्री के अन्वेषण और संपादन का काम किया है। बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश की अन्य महत्वपूर्ण संस्थाएँ भी इस तरह के लेखों की खोज और संपादन का कार्य करने लगी हैं। विश्वविद्यालयों के शोधप्रेमी अध्येताओं ने भी महत्वपूर्ण सामग्री का सकलन और विवेचन किया है। इस प्रकार अब हमारे पास नए सिरे से विचार और विश्लेषण के लिये पर्याप्त सामग्री एकत्र हो गई है। अतः यह आवश्यक हो गया है कि हिंदी साहित्य के इतिहास का नए सिरे से अवलोकन किया जाए।

इस बृहत् हिंदी साहित्य के इतिहास में लोकसाहित्य को भी स्थान दिया गया है, यह खुशी की बात है। लोकभाषाओं में अनेक गीतों, वीरगाथाओं, प्रेमगाथाओं तथा लोकोक्तियों आदि की भी भरमार है। विद्वानों का ध्यान इस ओर भी गया है, यद्यपि यह सामग्री अभी तक अप्रकाशित ही है। लोककथा और लोककथानकों का साहित्य साधारण जनता के अंतरतर की अनुभूतियों का प्रत्यक्ष निदर्शन है। अपने बृहत् इतिहास की योजना में इस साहित्य को भी स्थान देकर सभा ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

हिंदी भाषा तथा साहित्य के विस्तृत और संपूर्ण इतिहास का प्रकाशन एक और दृष्टि से भी आवश्यक तथा वाछनीय है। हिंदी की सभी प्रवृत्तियों और साहित्यिक कृतियों के अविकल ज्ञान के बिना हम हिंदी और देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के आपसी सबंध को ठीक ठीक नहीं समझ सकते। डोअरार्थन वंश की जितनी भी आधुनिक भारतीय भाषाएँ हैं, किसी न किसी रूप में और किसी न किसी समय उनकी उत्पत्ति का हिंदी के विकास से घनिष्ठ सबंध रहा है और आज इन सब भाषाओं और हिंदी के बीच जो अनेकों पारिवारिक सबंध हैं उनके यथार्थ निदर्शन के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि हिंदी के उत्पादन और विकास के बारे में हमारी जानकारी अधिकाधिक हो। साहित्यिक तथा

ऐतिहासिक मेलजोल के लिये ही नहीं बल्कि पारस्परिक सद्भावना तथा आदान प्रदान बनाए रखने के लिये भी यह जानकारी उपयोगी होगी ।

इन सब भागों के प्रकाशित होने के बाद यह इतिहास हिंदी के बहुत बड़े अभाव भी पूर्ति करेगा और मैं समझता हूँ, यह हमारी प्रदेशिक भाषाओं के सर्वांगीण अध्ययन में भी सहायक होगा । काशी नागरीप्रचारिणी सभा के इस महत्वपूर्ण प्रयत्न के प्रति मैं अपनी हार्दिक शुभ कामना प्रकट करता हूँ और इसकी सफलता चाहता हूँ ।

राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली
३ दिसंबर, १९५७

लेखकों द्वारा लिखित पृष्ठ

डा० नगेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्०, आचार्य तथा
अध्यक्ष, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली ।

२४-२५, ५८-८७, ११२-११७,
१३६-१४०, ३७४-३७७,
४१५-४१७ ।

डा० भगीरथ मिश्र, एम० ए० पी-एच० डी०,
रीडर, हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ ।

२६२-३३३ ।

डा० (श्रीमती) सावित्री सिनहा, एम० ए०,
पी-एच० डी०, रीडर, हिंदी विभाग, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

१-२३ ।

डा० विजयेन्द्र स्नातक, एम० ए०, पी-एच० डी०,
रीडर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली ।

१२६-१३१, ३८१-४१५ ।

डा० ओमप्रकाश, एम० ए०, पी-एच० डी०,
अध्यक्ष, हिंदी विभाग, हसराम कालेज, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

३३४-३६२ ।

डा० सत्यदेव चौधरी, एम० ए०, पी-एच० डी०,
प्राध्यापक, हिंदी विभाग, हसराम कालेज, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

२५-५८, ८७-१११, १३२-
१३६, २१४-२३५, २३७-२४१,
२४२-२४५, २४६-२४६, २५०-
२५७, २५६-२६२, २६४, २६६-
२६८, २७०-२७५, २७६-२७७,
२७८-२८२, २८४-२८६ ।

डा० मनमोहन गौतम, एम० ए०, पी-एच० डी०,
प्राध्यापक, हिंदी विभाग, दिल्ली कालेज, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

३६३-३७३ ।

डा० बच्चनसिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०,
प्राध्यापक, हिंदी विभाग, काशी विश्वविद्यालय,
काशी ।

१४१-२१३ ।

डा० अंबाप्रसाद 'सुमन' एम० ए०, पी-एच० डी०,
प्राध्यापक, हिंदी विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़ ।

१२१-१२५ ।

डा० महेंद्रकुमार, एम० ए०, पी-एच० डी०,
प्राध्यापक, हिंदी विभाग, खालसा कालेज, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

२३५-२३७, २४१-२४२, २४५-
२४६, २४६-२५०, २५७-२५८,
२६२-२६३, २६४-२६६,
२६६-२७०, २७५-२७६, २७७-
'२७८, २८२-२८४, २८६-२८९ ।

| | | |
|---|-----------------------|--|
| हिंदी साहित्य का परिष्कार (द्विवेदी काल १९५०—७५ वि०) | नवम | पं० कमलापति त्रिपाठी प० सुधाकर पाडेय |
| हिंदी साहित्य का उत्कर्ष (काव्य १९७५—९५ वि०) | दशम (प्रकाशित) | डा० नगेन्द्र, डा० अचल, प० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' |
| हिंदी साहित्य का उत्कर्ष (नाटक १९७५—९५ वि०) | एकादश (प्रकाशित) | डा० सावित्री सिन्हा डा० दशरथ ओझा डा० लक्ष्मीनारायण खाल |
| हिंदी साहित्य का उत्कर्ष (कथा साहित्य १९७५—९५ वि०) | द्वादश | डा० कल्याणमल लोढा श्री अमृतलाल नागर |
| हिंदी साहित्य का उत्कर्ष (समालोचना, निबन्ध, पत्रकारिता १९७५—९५ वि०) | त्रयोदश (प्रकाशित) | डा० लक्ष्मीनारायण सुधाशु |
| हिंदी साहित्य का अद्यतन काल (स० १९९५ वि० से २०१७) | चतुर्दश (प्रकाशित) | डा० हरबशलाल शर्मा डा० कैलाशनाथ भाटिया |
| हिंदी में शास्त्र तथा विज्ञान | पचदश | श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर' डा० गोपालनारायण शर्मा |
| हिंदी का लोक साहित्य | षोडश (प्रकाशित) | महापंडित राहुल सांकृत्यायन |

इतिहास लेखन के लिये जो सामान्य सिद्धांत स्थिर किए गए हैं वे निम्नलिखित हैं :

१—हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का विभाजन युग की मुख्य सामाजिक साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया जायगा ।

२—व्यापक सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश इतिहास में होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा ।

३—साहित्य के उदय और विकास, उत्कर्ष तथा अपकर्ष का वर्णन और विवेचन करते समय ऐतिहासिक दृष्टिकोण का पूरा ध्यान रखा जायगा अर्थात् तिथिक्रम, पूर्वापर तथा कार्यकारण संबंध, पारस्परिक संबंध, सघर्ष, समन्वय, प्रभावग्रहण, आरोप, त्याग, प्रादुर्भाव, तिरोभाव, अतर्भाव आदि प्रक्रियाओं पर पूरा ध्यान दिया जायगा ।

४—संतुलन और समन्वय—इसका ध्यान रखना होगा कि साहित्य के सभी पक्षों का समुचित विचार हो सके । ऐसा न हो कि किसी पक्ष की उपेक्षा हो जाय और किसी का अतिरुज्ज । साथ ही साथ साहित्य के सभी अंगों का एक दूसरे से संबंध और सामंजस्य किस प्रकार से विकसित और स्थापित हुआ, इसे स्पष्ट किया जायगा । उनके पारस्परिक संबंधों का उल्लेख और प्रतिपादन उसी अंश और सीमा तक किया जायगा जहाँ तक वे साहित्य के विकास में सहायक सिद्ध हुए होंगे ।

५—हिंदी साहित्य के इतिहास के निर्माण में मुख्य दृष्टिकोण साहित्यशास्त्रीय होगा । इसके अंतर्गत ही विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों की समीक्षा और समन्वय किया जायगा । विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों में निम्नलिखित की मुख्यता होगी—

क—शुद्ध साहित्यिक दृष्टि . अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, व्यंजना आदि ।
ख—दार्शनिक ।

ग—सांस्कृतिक ।

घ—समाजशास्त्रीय ।

ङ—मानववादी, आदि ।

च—विभिन्न राजनीतिक और प्रचारात्मक प्रभावों से बचना होगा । जीवन में साहित्य के मूल स्थान का संरक्षण आवश्यक होगा ।

छ—साहित्य के विभिन्न कालों में उसके विभिन्न रूपों में परिवर्तन और विकास के आधारभूत तत्वों का संकलन और समीक्षा किया जायगा ।

ज—विभिन्न मतों की समीक्षा करते समय उपलब्ध प्रमाणों पर सम्यक् विचार किया जायगा । सबसे अधिक संतुलित और बहुमान्य सिद्धांत की ओर संकेत करते हुए भी नवीन तथ्यों और सिद्धांतों का निरूपण संभव होगा ।

झ—उपर्युक्त सामान्य सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक भाग के संपादक अपने भाग की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे । संपादक मंडल इतिहास की व्यापक एकरूपता और आंतरिक सामंजस्य बनाए रखने का प्रयास करता रहेगा ।

पद्धति—

६—प्रत्येक लेखक और कवि की सभी उपलब्ध कृतियों का पूरा संकलन किया जायगा और उसके आधार पर ही उनके साहित्यक्षेत्र का निर्वाचन और निर्धारण होगा तथा उनके जीवन और कृतियों के विकास में विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन और निर्देशन किया जायगा ।

७—तथ्यों के आधार पर सिद्धांतों का निर्धारण होगा, केवल कल्पना और समतियों पर ही किसी कवि अथवा लेखक की आलोचना अथवा समीक्षा नहीं की जायगी ।

८—प्रत्येक निष्कर्ष के लिये प्रमाण तथा उद्धरण आवश्यक होंगे ।

९—लेखन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जायगा संकलन, वर्गीकरण, समीकरण (सन्तुलन), आगमन आदि ।

१०—भाषा और शैली सुबोध तथा सुसुचिपूर्ण होगी ।

११—प्रत्येक अध्याय के अंत में सदर्भग्रंथों की सूची आवश्यक होगी ।

१२—संपादकों के यहाँ से विभिन्न भागों की संपादित पांडुलिपियाँ आने पर प्रधान संपादक को अथवा जिन्हें सभा निश्चित करे, उन्हें दिखा दी जाय करेगी । भली भाँति देख परख लेने पर ही लेखन और संपादन के पुरस्कारों का भुगतान किया जाय करेगा । एतदर्थ प्रति भाग २५०) २० तक का व्यय स्वीकार किया जायगा ।

१३—सभा का आरंभ से ही यह विचार रहा है कि उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है, बल्कि हिंदी की ही एक शैली है, अतः इस शैली के साहित्य की यथोचित चर्चा भी ब्रज, अवधी, डिंगल की भाँति, इतिहास में अवश्य होनी चाहिए ।

१४—बृहत् इतिहास पर लेखकों को प्रति मुद्रित पृष्ठ ६) २० की दर से और संपादकों को प्रति मुद्रित पृष्ठ १) २० की दर से पुरस्कार दिया जायगा ।

१५—किसी भाग के संपादक यदि अपने भाग के किसी अंश के लेखक भी होंगे तो उन्हें अपने लिखे अंश पर केवल लेखन पुरस्कार दिया जायगा, संपादन पुरस्कार (उत्तम अंश का) पृथक् से न दिया जायगा ।

१६—बृहत् इतिहास के लेखको और सभा के बीच परस्पर अनुबंध होगा जिसमें यह भी उल्लेख रहेगा कि इतिहास की पुरस्कृत मामग्री पर सभा का स्वत्व सदा सर्वदा और सर्वत्र के लिये होगा तथा उसका उपयोग आवश्यकतानुसार करने के लिये सभा स्वतन्त्र रहेगी ।

यह योजना अत्यंत विशाल है तथा अतिव्यस्त बहुसंख्यक निष्णात विद्वानों के सहयोग पर आधारित है । यह प्रसन्नता का विषय है कि इन विद्वानों का तो सहयोग सभा को प्राप्त है ही, अन्यान्य विद्वान् भी अपने अनुभव का लाभ हमें उठाने दे रहे हैं । हम अपने भूतपूर्व सयोजकों—डा० पांडेय और डा० शर्मा—के भी अत्यंत आभारी हैं जिन्होंने इस योजना को गति प्रदान की । हम भारत सरकार तथा अन्यान्य सरकारों के भी आभारी हैं जिन्होंने वित्त से हमारी सहायता की ।

इस योजना के साथ ही सभा के संरक्षक स्व० डा० राजेन्द्रप्रसाद और उसके भूतपूर्व सभापति स्व० डा० अमरनाथ झा, स्व० प० गोविंदवल्लभ पंत तथा स्व० डा० सपूर्णानंद की स्मृति जाग उठती है । जीवनकाल में निष्ठापूर्वक इस योजना को उन्होंने चेतना और गति दी और आज उनकी स्मृति प्रेरणा दे रही है । विश्वास है, उनके आशीर्वाद से यह योजना शीघ्र ही पूरी हो सकेगी ।

अबतक प्रकाशित इतिहास के खंडों को, त्रुटियों के बावजूद हिंदी जगत् का आदर मिला है । मुझे विश्वास है, आगे के खंडों में और भी परिष्कार और सुधार होगा तथा अपनी उपयोगिता और विशेष गुणधर्म के कारण वे समादृत होंगे ।

यह छठे खंड का पुनर्मुद्रण है । उपयोगिता और गुणधर्म के कारण इसकी माँग विशेष होने से यह प्रकाशित किया जा रहा है । इस खंड के संपादक श्री डा० नगेन्द्र जी संस्कृत तथा हिंदी के अधिकारी विद्वान् हैं । उनका मैं विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ क्योंकि व्यस्त होते हुए भी हिंदी के हित में इस कार्य को उन्होंने गरिमा के साथ पूरा किया । इस खंड के लेखकों के प्रति भी सभा अनुगृहीत है । अतः इस योजना में योगदान करनेवाले ज्ञात और अज्ञात अन्य सभी मित्रों एवं हितैषियों के प्रति मैं अनुगृहीत हूँ और विश्वास करता हूँ, उन सबका सहयोग इसी प्रकार सभा को निरंतर प्राप्त होता रहेगा ।

सुधाकर पांडेय

संयोजक,

बृहत् इतिहास उपसमिति, तथा

प्रधान मंत्री

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

अनंत चतुर्दशी

२०३० वि०

प्रथम संस्करण का संपादकीय वक्तव्य

‘हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास’ का षष्ठ भाग ‘रीतिकाल’ आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमे वास्तव में सतोष है।

अनेक कारणों से हमने परंपरासिद्ध ‘रीतिकाल’ नाम ही ग्रहण किया है। ‘शृंगार काल (रीतिबद्ध)’ नहीं। यो तो दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है, फिर भी ‘शृंगार’ की अपेक्षा ‘रीति’ शब्द ही हमारे दृष्टिकोण के अधिक निकट है। इस साधारण से परिवर्तन के लिये हम इतिहास के मूल आयोजकों से क्षमायाचना करते हैं।

हमारे सतोष का अर्थ यह नहीं है कि हम इसकी अपूर्णताओं से परिचित हैं, किंतु हमारी यह निश्चित धारणा है कि बृहत् इतिहास का आयोजन हिंदी के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना है। इसमें सदेह नहीं कि यह आयोजन जितना विराट् है उतना ही दुःसाध्य भी, अतः हमें विश्वास है कि इसकी अपूर्ण सफलता भी अपने आपमें बड़ी सिद्ध होगी। इसी दृष्टि से हम अपने प्रयास से असंतुष्ट नहीं हैं। हम जानते हैं कि अनेक विद्वानों का समवेत उद्योग होने के कारण इसमें वांछित एकान्विति नहीं है। ‘यथावत् सहभाव’ से कार्य करने पर भी अनेक की एकता लाक्षणिक अर्थ में ही संभव हो सकती है, और वह इसमें है, ऐसा हमारा विश्वास है। प्रस्तुत खंड में हमने पुनरावृत्ति, परस्परविरोध, आदि दोषों को बचाने का भरसक प्रयत्न किया है। कम से कम मूल प्रतिपाद्य में ये दोष नहीं हैं। विवेचन में भी इनके परिहार का प्रयत्न किया गया है, किंतु उसके विषय में पूर्ण आश्वासन देना समीचीन नहीं होगा क्योंकि सूक्ष्म मतभेद का एकांत निराकरण सर्वथा संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त और भी कतिपय त्रुटियाँ आलोचकों को दृष्टिगत हो सकती हैं, पर हम उनकी प्रत्याशा मात्र से आतंकित होना नहीं चाहते, आगामी संस्करण में वास्तविक त्रुटियों के परिशोधन का आश्वासन अवश्य दे सकते हैं। यहाँ यह भी निवेदन कर देना अनुचित न होगा कि हमारे इस विनम्र प्रयास में कतिपय गुण भी हैं—जैसे, (१) हिंदी रीतिकाव्य की प्रवृत्तियों का ऐसा विस्तृत और प्रामाणिक विवेचन आपको अन्यत्र नहीं मिलेगा, (२) रीतिकाव्य के कलावैभव का इतना साग विश्लेषण इससे पूर्व नहीं हुआ, (३) रीतिआचार्यों का इतना सटीक और संप्रमाण परीक्षण पूर्ववर्ती किसी इतिहास ग्रंथ में नहीं है, (४) प्रस्तुत ग्रंथ में ऐसे अनेक रीतिकवियों के जीवन-चरित तथा कवित्व एवं आचार्यकर्म का विवेचन प्रस्तुत किया गया है जिनका अन्यत्र उल्लेख मात्र है, या उल्लेख भी नहीं है। अतः अनेक दोषों के रहते हुए भी इसका अपना मूल्य होगा, ऐसी आशा करना कदाचित् मिथ्या गर्व न होगा। हमें यह स्वीकार करने में तनिक भी सकोच नहीं है कि ग्रंथ के गुण हमारे सहयोगी लेखकों के हैं और उसके सभी दोष हमारे अपने हैं। इन विद्वान् मितों ने अत्यंत उदारतापूर्वक हमारे सुझावों और प्रार्थनाओं को स्वीकार कर वास्तव में त्रुटियों का संपूर्ण भार हमारे ऊपर ही डाल दिया है और हम नतशिर होकर उसे ग्रहण करते हैं।

अतः हमें सभा के अधिकारिबर्ग, विशेषकर बृहत् इतिहास के सयोजक डा० राज-बली पाडेय और उनके कर्मठ सहयोगियों के प्रति सभी प्रकार की सहायता के लिये कृत-ज्ञताज्ञापन कर हिंदी के इस महान् यज्ञ में यह हम नव्य आहुति अर्पित करते हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली : बसंत पंचमी, स० २०१५ वि०

}

नगेंद्र

संकेतसारिणी

| | |
|---------------|---|
| अक० ना० | अकबरनामा |
| अ० च० | अलकार चंद्रोदय (रसिक सुमति) |
| अ० द० | अलकारदर्पणा (महाराज रामसिंह) |
| अ० भा० | अभिनवभारती |
| अ० भ्र० भ० | अलकारभ्रमभजन (ग्वाल) |
| अ० म० म० | अलकारमणिमजरी (ऋषिनाथ) |
| अ० शे० | अलकारशेखर |
| अ० स० | अलकारसर्वस्व |
| अ० ह० | अब्दुलहमीद |
| इ० प्रो० | इंग्लिश प्रोजेक्टाइल |
| इ० ना० | इबारातनामा |
| एका० | एकावली |
| ऐ० ना० | ऐनल्स आव् राजस्थान (टाड) |
| औ० डी० | औरगजेब ऐड द डिक्टे आव् मुगल एपायर (लेनपुल) |
| औ० वि० च० | औचित्यविचारचर्चा |
| क० क० त० | कविकुलकल्पतरु |
| क० कु० क० | कविकुलकठाभरणा (दूलह) |
| क० प्रि० | कविप्रिया (केशवदास) |
| क० र० वि० | कवितारसविनोद (जनराज) |
| क० बि० | कविवर बिहारी (रत्नाकर) |
| का० अ० | काव्यालकार |
| का० अनु० | काव्यानुशासन |
| का० आ० | काव्यादर्श |
| का० आ० प्र० | काव्यादर्श, प्रभा टीका |
| काजिमी | काजिमी |
| का० प्र० | काव्यप्रकाश |
| का० प्र० प्र० | काव्यप्रकाश, प्रदीप टीका |
| का० प्र० बा० | काव्यप्रकाश, बालबोधिनी टीका |
| का० मी० | काव्यमीमासा |
| का० वि० | काव्यविलास (प्रतापसाहि) |
| का० सा० स० | काव्यालकारसारसग्रह |
| का० सू० वृ० | काव्यालकारसूत्रवृत्ति |
| कुक | कुक |
| क० हि० | कन्निरज हिस्ट्री आव् इंडिया |
| खफी खाँ | खफी खाँ |
| खु० च० | खुशहलचंद |
| चि० चं० | चित्रचंद्रिका (काशिराज) |

ज० वि०
जा० ग्र०
टा० प० नै०
ट्रैव०
ट्रि०
ड० डा०
तु० भू०
द० ग० प०
द० प्रा०
द० रू०
द० लिस्ट

दी० प्र०
ध्वन्या०
ध्व० लो०
ना० शा०
पी० म०
पू० रा०
पोए०
प्रा० हे०
बर्नियर
बि० र०
बि० स०
भा० प्र०
भा० भू०
भार० भू०
म० ग्र०
मन०
मनूची
मि० अ०
मि० ख०
मि० वि०
र० अ०
र० ग०
र० पी० नि०
र० प्र०
र० प्रि०
र० म०
र० मो०
र० र०
र० र०

जगद्विनोद (पद्माकर)
जायसी ग्रथावली (शुक्ल)
टाइस पर्सनल नैरेटिव
ट्रैवनियर
ट्रिबलाइट आव् द मुगल्स (परसीवल स्पियर्स)
डच डायरी (बैलेनटाइन)
तुलसीभूषण (रसरूप)
दक्खिनी का गद्य और पद्य (श्रीराम शर्मा)
द प्राब्लेम आव् स्टाइल
दशरूपक
द० लिस्ट आव् द सस्कृत राइटर्स आव् शाहजहाँज
रेन इन ए बिब्लियोग्रैफी आव् मुगल इंडिया
(श्रीराम शर्मा)

दीपप्रकाश (ब्रह्मदत्त)
ध्वन्यालोक
ध्वन्यालोकलोचन
नाट्यशास्त्र (भरत)
पीटर मडी
पृथ्वीराज रासो
पोएटिक्स (अरिस्टॉटल्)
प्राइवेट जर्नल आव् लाड हेस्टिगज
बर्नियर्स ट्रैवल्स
बिहारी रत्नाकर
बिहारी सतसई
भावप्रकाश
भाषाभूषण (श्रीधर)
भारतीभूषण (गिरिधरदास)
मतिराम ग्रथावली
मनरिकमा
मनूची
मिरातए अहमदी
मिरातउलखयाल
मिश्रबधु विनोद
रघुनाथ अलकार (सेवादास)
रसगगाधर
रसपीयूषनिधि (सोमनाथ)
रसप्रदीप (प्रभाकर भट्ट)
रसिकप्रिया (केशवदास)
रसमजरी
रसिकमोहन (रघुनाथ)
रसरग (ग्वाल)
रसरहस्य (कुलपति)

| | |
|----------------|--|
| र० रसा० | रसिकरसाल (कुमारमणि) |
| रसरज | रसरज |
| रा० फ्यू० | राजपूत फ्यूडैलिज्म |
| रा० स० सि० सा० | राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धांत और साहित्य |
| री० दे० | रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता (डा० नगेद्र) |
| री० भू० | रीतिकाव्य की भूमिका (डा० नगेद्र) |
| रै० रि० | रैबल्स ऐंड रिकलेक्शंस (स्लीमन) |
| लाहोरी | लाहोरी |
| वारिस | वारिस |
| ब० जी० | वक्रोक्तिजीवितम् |
| वि० प्र० | विद्यापति पदावली |
| व्य० कौ० | व्यंग्यार्थकौमुदी (प्रतापसाही) |
| शि० सि० स० | शिवसिंह सरोज |
| शृ० म० | शृंगारमजरी |
| श० र० | शब्दरसायन |
| शृ० प्र० | शृंगारप्रकाश |
| शृ० वि० | शृंगारविलास (सोमनाथ) |
| शि० भू० | शिवराजभूषण |
| स० पा० | संगीत पारिजात |
| स० क० भ० | सरस्वतीकठाभरण |
| सा० द० | साहित्यदर्पण |
| सा० सु० नि० | साहित्य सुधानिधि (जगतसिंह) |
| सि० मु० पे० | सिक्सटीथ ऐंड सेवेनटीथ सेचरी मैनेस्क्रिप्ट्स ऐंड ऐलबम्स आंव् मुगल पेंटिग्स |
| सुधा० | सुधानिधि |
| सु० वि० | सुजानविनोद |
| सू० सा० | सूरसागर |
| हमी० अह० | हमीदुद्दीस अहकाम |
| हि० दि० | हिस्ट्री आंव् शाहजहाँ आंव् दिल्ली (डा० बनारसी- प्रसाद) |
| हि० भा० सा० | हिंदी भाषा और साहित्य (श्यामसुंदरदास) |
| हि० त० | हित तरंगिणी |
| हि० सा० इ० | हिंदी साहित्य का इतिहास (रामचंद्र शुक्ल) |
| हि० सा० | हिंदी साहित्य (ह० प्र० द्विवेदी) |
| हि० का० इ० | हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास |
| हि० अ० सा० | हिंदी अलंकार साहित्य |
| हि० री० सा० | हिंदी रीति साहित्य |

विषयसूची

पृ० स०

प्राक्कथन

षष्ठ भाग के लेखक

लिखित पृष्ठों का विवरण

बृहत् इतिहास की योजना

संपादकीय वक्तव्य

संकेतसारिणी

प्रथम खंड

भूमिका

प्रथम अध्याय : परिस्थितियाँ

३-२३

- १ कला तथा साहित्य का राजकीय संरक्षण ३
- २ शाहजहाँ के बाद ५
- ३ मुगल दरबार से हिंदी का सबधविच्छेद ८
- ४ राजनीतिक और सामाजिक दुर्व्यवस्था ९
- ५ विलासप्रधान जीवनदर्शन तथा पतनोन्मुख युगधर्म ११
- ६ धार्मिक परिस्थितियाँ १३
- ७ कला की स्थिति १५
 - (१) चित्रकला १५
 - (२) स्थापत्यकला १८
 - (३) संगीतशास्त्र तथा कला २१

द्वितीय अध्याय : रीतिकाव्य का शास्त्रीय पृष्ठाधार

२४-११०

- १ रीतिशास्त्र का आरंभ २४
 - (१) वेद वेदांग २४
 - (२) व्याकरणशास्त्र २४
 - (३) दर्शन २५
 - (४) कव्यशास्त्र का वास्तविक आरंभ २५
- २ रस संप्रदाय २५
 - (१) प्रचलित भेद २६
 - (२) अप्रचलित भेद २६
 - (३) भट्ट लोल्लट २७
 - (४) शकुन ३१
 - (५) भट्ट नायक ३३
 - (६) अभिनवगुप्त ३५
 - (७) भरतसूत्र की व्याख्या ३५
- ३ अलंकार संप्रदाय और रस ३७
 - (१) अलंकारवादी आचार्य ३७
 - (२) अलंकारवादियों द्वारा रस की महत्वस्वीकृति ३७

| | |
|---|----|
| (३) अलंकारवादिषो द्वारा रस का अलंकार में अंतर्भाव | ३८ |
| (४) रसवादिषो तथा कुतक द्वारा अलंकारवादिषो का खंडन | ४१ |
| ४ ध्वनि संप्रदाय और रस | ४३ |
| (१) ध्वनिवादी आचार्य और रस | ४३ |
| (२) रस ध्वनि का एक भेद | ४४ |
| (३) रसध्वनि ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट भेद | ४४ |
| ५ अलंकार संप्रदाय | ४७ |
| (१) उपक्रम | ४७ |
| (२) अलंकारवादी आचार्य | ४७ |
| (३) ध्वनिवादी आचार्य और अलंकार | ४६ |
| (४) अलंकार का लक्षण | ४६ |
| (५) अलंकारो की संख्या | ५० |
| (६) अलंकारो का वर्गीकरण | ५१ |
| (७) अलंकारो के प्रयोगो मे औचित्य | ५३ |
| (८) अलंकार संप्रदाय और हिंदी रीतिकालीन आचार्य | ५६ |
| ६ रीति संप्रदाय | ५८ |
| (१) रीति की परिभाषा और स्वरूप | ६० |
| (२) रीति सिद्धांत का अन्य सिद्धांतो के साथ संबंध | ६१ |
| (अ) रीति तथा अलंकार | ६१ |
| (आ) रीति और वक्रोक्ति | ६३ |
| (इ) रीति और ध्वनि | ६४ |
| (ई) रीति और रस | ६४ |
| (३) रीति सिद्धांत की परीक्षा | ६५ |
| (४) रीति के मूलतत्व | ६७ |
| (५) रीति के प्रकार | ६६ |
| (६) बाह्य आधार | ७१ |
| ७ वक्रोक्ति संप्रदाय | ७२ |
| (१) कुतकप्रस्तुत वक्रोक्ति संप्रदाय | ७६ |
| (२) वक्रोक्ति और रस | ७६ |
| (३) रस और वक्रोक्ति का संबंध | ८० |
| (४) अलंकार सिद्धांत और वक्रोक्ति सिद्धांत | ८१ |
| (अ) साम्य | ८१ |
| (आ) वैषम्य | ८१ |
| (५) वक्रोक्ति सिद्धांत और ध्वनि सिद्धांत | ८२ |
| (अ) भेदप्रस्तारगत साम्य | ८३ |
| (६) वक्रोक्ति और व्यंजना | ८४ |
| (७) निष्कर्ष | ८४ |
| (८) वक्रोक्ति सिद्धांत की परीक्षा | ८५ |
| ८ ध्वनि संप्रदाय | ८७ |
| (१) पूर्ववृत्त | ८७ |
| (२) ध्वनि का अर्थ और परिभाषा | ८८ |
| (३) ध्वनि की प्रेरणा स्फोट सिद्धांत | ९० |
| (४) ध्वनि की स्थापना | ९२ |

| | |
|--|---------|
| (५) अभिधार्थ और ध्वन्यर्थ का पार्थक्य | ६४ |
| (६) अन्वित अर्थ की व्यजना | ६५ |
| (७) ध्वनि के भेद | ६७ |
| (अ) लक्षणामूलाध्वनि | ६७ |
| (आ) अभिधामूलाध्वनि | ६८ |
| (८) ध्वनि की व्यापकता | ६८ |
| (९) ध्वनि और रस | ६९ |
| (१०) ध्वनि के अनुसार काव्य के भेद | ६९ |
| (११) ध्वनि में अन्य सिद्धांतों का अंतर्भाव | ६९ |
| (१२) उपसंहार | १०० |
| ६ नायकनायिकाभेद | १०१ |
| (१) पृष्ठाधार | १०१ |
| (२) नायक नायिकाभेद निरूपक आचार्य और ग्रन्थ | १०२ |
| (३) नायक तथा नायिका के भेदोपभेद | १०४ |
| (अ) नायकभेद | १०४ |
| (आ) नायिकाभेद | १०४ |
| (४) नायकनायिकाभेद परीक्षण | १०६ |
| (५) नायकनायिकाभेद और पुरुष | ११० |
| तृतीय अध्याय : रीतिकाव्य का साहित्यिक आधार | ११२-११७ |

द्वितीय खंड

सामान्य विवेचन

| | |
|---|---------|
| प्रथम अध्याय : सामान्य विवेचन | १२१-१२५ |
| १ साहित्य का काल विभाग | १२१ |
| २ नामकरण का दुहरा प्रयोजन और नामकरण का आधार | १२१ |
| ३ रीति कवियों की व्यापक प्रवृत्ति | १२२ |
| (१) प्रधान रस शृंगार | १२२ |
| (२) शृंगारसवलित भक्ति | १२३ |
| ४ रीतिमुक्त प्रवाह | १२४ |
| ५ नामकरण की उपयुक्तता | १२४ |

| | |
|-------------------------------|---------|
| द्वितीय अध्याय : सीमानिर्धारण | १२६-१३१ |
|-------------------------------|---------|

| | |
|--|---------|
| तृतीय अध्याय : उपलब्ध सामग्री के मूल स्रोत | १३२-१३६ |
|--|---------|

| | |
|----------------------------------|---------|
| चतुर्थ अध्याय : रीति की व्याख्या | १३७-१४० |
|----------------------------------|---------|

| | |
|---|-----|
| १ 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति, लक्षण और इतिहास | १३७ |
| २ रीतिकाव्य की प्रेरणा और स्वरूप | १३९ |

| | |
|---|---------|
| पंचम अध्याय : रीतिकालीन कवियों की सामान्य विशेषताएँ | १४१-२१३ |
|---|---------|

| | |
|-----------------------------------|-----|
| १ वातावरण - मनोवैज्ञानिक परिवर्तन | १४१ |
| २ प्रमुख प्रतिपाद्य | १४३ |
| ३ नायिकाभेद | १४४ |
| ४ संयोग | १४७ |
| (१) कल्पना या स्मृतिजन्य अनुभाव | १४९ |
| (२) हासपरिहास | १५० |

| | |
|---------------------------------------|-----|
| ५ वियोग | १५१ |
| (१) मान (धीरादि, खंडिताएँ और मानवती) | १५३ |
| (२) प्रवास | १५४ |
| ६ नखशिख वर्णन | १५५ |
| ७ ऋतुवर्णन | १५७ |
| (१) निरपेक्ष ऋतुवर्णन | १५७ |
| (२) सापेक्ष ऋतुवर्णन | १५८ |
| (३) ऋतु और सयोग वर्णन | १५८ |
| (४) ऋतु और वियोग वर्णन | १६२ |
| ८ भक्ति और नीति | १६३ |
| ९ जीवनदर्शन | १६४ |
| १० काव्यरूप | १६४ |
| (१) दोहा | १६६ |
| (२) सवैया | १६७ |
| (अ) भेद | १६७ |
| (आ) सामान्य विशेषताएँ | १६८ |
| (३) कवित्त (घनाक्षरी) | १७० |
| ११ अभिव्यजना पद्धति | १७४ |
| (१) शैली | १७४ |
| (अ) शब्द - नए संबंध और नवीन अर्थवत्ता | १७५ |
| (आ) वातावरण निर्माण . शब्दध्वनि | १७५ |
| (इ) विशेषण | १७६ |
| (ई) आँख | १७७ |
| (उ) वक्षोदेश | १७७ |
| (ऊ) कुछ अन्य विशेषण | १७७ |
| (२) मुहावरे | १७८ |
| (अ) आँख सबधी मुहावरे | १७८ |
| (आ) मन सबधी मुहावरे | १७८ |
| (इ) हृदय, चित्त या दिल सबधी मुहावरे | १७८ |
| (ई) कुछ अन्य मुहावरे | १७८ |
| (३) चित्रयोजना | १८० |
| (४) लक्षित चित्रयोजना | १८१ |
| (अ) रेखाचित्र | १८१ |
| (आ) वर्णचित्र | १८३ |
| (इ) वर्णों की गतिशीलता | १८४ |
| (ई) वर्णों का मिश्रण | १८५ |
| (उ) विरोधी वर्ण योजना | १८७ |
| (ऊ) वर्णपरिवर्तन | १८७ |
| (ए) उपलक्षित चित्रयोजना | १८८ |
| (५) अलंकारयोजना | १८३ |
| (अ) रूपसादृश्य | १८४ |
| (आ) धर्मसादृश्य | १८५ |
| (इ) प्रभावसादृश्य | १८६ |

| | |
|--|---------|
| (ई) सभावनामूलक अप्रस्तुत योजना | १६७ |
| (उ) चमत्कारमूलक अलंकार | १६६ |
| (ऊ) अतिशयमूलक अलंकार | २०० |
| १२ भाषा | २०१ |
| (१) विशेषताएँ | २०३ |
| (२) मिलीजुली भाषा | २०४ |
| (३) व्यापक शब्दभांडार | २०४ |
| (४) बोलियों का सनिवेश | २०५ |
| (५) व्याकरण | २०७ |
| (अ) कारक | २०८ |
| (आ) क्रियारूप | २०६ |
| (इ) वाक्यविन्यास | २११ |
| (ई) लिंग की गड़बड़ी | २१३ |
| षष्ठ अध्याय : रीतिबद्ध कवियों का वर्गीकरण | २१४ |
| तृतीय खंड | |
| आचार्य कवि | |
| प्रथम अध्याय : लक्षणबद्ध काव्य की सामान्य विशेषताएँ | २१७-२२६ |
| १ सस्कृत में रीतिशास्त्र (काव्यशास्त्र) की परंपरा | २१७ |
| २ हिंदी रीतिकालीन लक्षणबद्ध काव्य | २१८ |
| (१) विवेच्य विषय एवं स्रोत | २१८ |
| (२) सस्कृत के आचार्यों और हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों की उद्देश्यभिन्नता | २२० |
| ३ प्रतिपादन शैली | २२२ |
| ४ विषयसामग्री के चयन में सरल मार्ग का अवलंबन | २२४ |
| ५ शास्त्रीय विवेचन में असफलता के कारण | २२५ |
| द्वितीय अध्याय : रीतिकालीन रीतिशास्त्र के वर्ग | २२७ |
| १ रस विषयक ग्रंथ | २२७ |
| २ अलंकार ग्रंथ | २२७ |
| ३ विविध काव्यांग निरूपक ग्रंथ | २२७ |
| ४ पिंगल निरूपक ग्रंथ | २२७ |
| तृतीय अध्याय : सर्वांग (विविधांग) निरूपक आचार्य | २२८-२६१ |
| १ केशवदास | २२६ |
| (१) आचार्यत्व | २३० |
| (२) कवित्व | २३५ |
| (३) भाषाशैली | २३७ |
| २ चिंतामणि | २३७ |
| (१) कवित्व | २४१ |
| ३ कुलपति मिश्र | २४२ |
| (१) कवित्व | २४५ |
| ४ पंडुमनदास | २४६ |
| (१) कवित्व | २४६ |
| ५ देव | २५० |
| (१) जीवनवृत्त | २५१ |

| | |
|-------------------------------------|---------|
| (२) ग्रंथ | २५१ |
| (अ) प्रेमचन्द्रिका | २५२ |
| (आ) रागरत्नाकर | २५२ |
| (इ) देवशतक | २५२ |
| (ई) विचरित | २५२ |
| (उ) देवमायाप्रपञ्च | २५२ |
| (ऊ) काव्यशास्त्रीय ग्रंथ | २५२ |
| (३) काव्यस्वरूप | २५३ |
| (अ) शब्दशक्ति | २५३ |
| (आ) रस | २५५ |
| (इ) नायकनायिकाभेद | २५६ |
| (ई) अलंकारप्रकरणा | २५६ |
| (उ) पिङ्गल | २५७ |
| (४) कवित्व | २५७ |
| ६ सूरति मिश्र | २५६ |
| ७ कुमारमणि शास्त्री | २५६ |
| (१) कवित्व | २६२ |
| ८ श्रीपति | २६४ |
| ९ सोमनाथ | २६६ |
| (१) कवित्व | २६६ |
| १० भिखारीदास | २७० |
| (१) जीवन | २७० |
| (२) ग्रंथ तथा वर्ण्यविषय | २७० |
| (अ) आधार | २७२ |
| (आ) ग्रंथपरीक्षण | २७२ |
| (३) कवित्व | २७५ |
| ११ जनराज | २७६ |
| (१) कवित्व | २७७ |
| १२ जगतसिंह | २७८ |
| (१) कवित्व | २८२ |
| १३ रसिक गोविंद | २८३ |
| १४ प्रतापसाहि | २८४ |
| (१) जीवनवृत्त | २८४ |
| (२) रचनाएँ | २८४ |
| (३) कवित्व | २८६ |
| १५ ग्वाल | २८७ |
| (१) जीवनवृत्त | २८७ |
| (२) ग्रंथ परिचय | २८८ |
| (३) कवित्व | २९० |
| चतुर्थ अध्याय : रसनिरूपक आचार्य | २९२-३३३ |
| १ उपक्रम | २९२ |
| २ विषय प्रवेश | २९४ |
| ३ सर्वरसनिरूपक आचार्य और उनके ग्रंथ | २९६ |

| | |
|--|---------|
| (१) केसवदासकृत रसिकप्रिया | २६६ |
| (२) तोष का सुधानिधि | २६६ |
| (३) सुखदेवकृत रसरत्नाकर और रसार्णव | २६६ |
| (४) करन कविकृत रसकल्लोल | २६७ |
| (५) कृष्णभट्ट देवऋषिकृत शृंगाररसमाधुरी | २६८ |
| (६) याकूब खाँ का रसभूषण | ३०० |
| (७) भिखारीदासकृत रस साराश और शृंगार निर्णय | ३०० |
| (८) सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' | ३०० |
| (९) समनेसकृत रसिक विलास | ३०४ |
| (१०) शम्भुनाथ मिश्र कृत रसतरंगिणी | ३०५ |
| (११) शिवनाथकृत रसवृष्टि | ३०६ |
| (१२) उजियारेकृत जुगल रसप्रकाश और रसचन्द्रिका | ३०७ |
| (१३) महाराजा रामसिंहकृत रसनिवास | ३०८ |
| (१४) सेवदासकृत रसदर्पण | ३०८ |
| (१५) बेनी बदीजनकृत रसविलास | ३०९ |
| (१६) पद्माकर का जगतविनोद | ३१० |
| (१७) बेनी 'प्रवीन' कृत नवरसतरंग | ३११ |
| (१८) नवीन कविकृत रगतरंग | ३१२ |
| (१९) चन्द्रशेखर वाजपेयीकृत रसिक विनोद | ३१५ |
| (२०) ग्वाल | ३१८ |
| ४ शृंगाररसनिरूपक आचार्य और उनके ग्रंथ | ३१८ |
| (१) मङ्गनकृत रसरत्नावली | ३१८ |
| (२) मतिरामकृत रसराज | ३१८ |
| (३) देव | ३१९ |
| (४) सोमनाथ | ३२१ |
| (५) उदयनाथकृत रसचन्द्रोदय | ३२१ |
| (६) भिखारीदास | ३२२ |
| (७) चन्द्रदासकृत शृंगारसागर | ३२२ |
| (८) रामसिंहकृत रसशिरोमणि | ३२३ |
| (९) यशवतिसिंहकृत शृंगारशिरोमणि | ३२५ |
| (१०) कृष्णकविकृत गोविन्दविलास | ३२५ |
| ५ नायिकाभेदनिरूपक आचार्य और उनके ग्रंथ | ३२६ |
| (१) आचार्य चिंतामणिकृत शृंगारमञ्जरी | ३२८ |
| (२) कालिदासकृत वधूविनोद | ३२८ |
| (३) यशोदानन्दनकृत नायिकाभेद | ३३० |
| (४) प्रतापसाहिबकृत व्यंग्यार्थकौमुदी | ३३१ |
| (५) गिरिधरदासकृत रसरत्नाकर उत्तरार्ध नायिकाभेद | ३३१ |
| (६) उपसंहार | ३३३ |
| पञ्चम अध्याय : अलंकारनिरूपक आचार्य | ३३४-३६१ |
| १ विषय प्रवेश | ३३४ |
| (१) केशवदास | ३३७ |
| (२) जसवतसिंह | ३३८ |
| (३) मतिराम | ३३८ |

| | |
|---------------------|-----|
| (४) भूषण | ३४२ |
| (५) सूरति मिश्र | ३४४ |
| (६) श्रीधर ओझा | ३४४ |
| (७) श्रीपति | ३४५ |
| (८) गोप कवि | ३४५ |
| (९) याकूब खाँ | ३४६ |
| (१०) रसिक मति | ३४६ |
| (११) भूपति | ३४७ |
| (१२) दलपतिराय | ३४७ |
| (१३) रघुनाथ | ३४८ |
| (१४) गोविंद कवि | ३४९ |
| (१५) शिबकवि | ३५० |
| (१६) दूलह | ३५० |
| (१७) शम्भुनाथ मिश्र | ३५२ |
| (१८) रसरूप | ३५२ |
| (१९) बैरीसाल | ३५४ |
| (२०) हरिनाथ | ३५४ |
| (२१) दत्त | ३५४ |
| (२२) ऋषिनाथ | ३५४ |
| (२३) रामसिंह | ३५५ |
| (२४) सेवादास | ३५६ |
| (२५) रतन कवि | ३५७ |
| (२६) देवकीनन्दन | ३५७ |
| (२७) चन्दन | ३५७ |
| (२८) बेनी बदीजन | ३५८ |
| (२९) मान कवि | ३५८ |
| (३०) ब्रह्मदत्त | ३५८ |
| (३१) पद्माकर | ३५९ |
| (३२) शिवप्रसाद | ३६० |
| (३३) रणधीरसिंह | ३६१ |
| (३४) काशिराज | ३६१ |
| (३५) रसिक गोविंद | ३६१ |
| (३६) गिरिधरदास | ३६१ |
| (३७) ग्वाल कवि | ३६२ |

षष्ठ अध्याय : पिंगलनिबन्ध आचार्य

| | |
|-----------------|---------|
| केशव | ३६३-३७३ |
| चितामणि | ३६३ |
| मतिराम | ३६३ |
| (१) वृत्तकौमुदी | ३६३ |
| सुखदेव मिश्र | ३६५ |
| (१) वृत्त विचार | ३६५ |
| माखन कवि | ३६६ |

| | |
|--|---------|
| (१) श्रीनार्गपिंगल छंदबिलास | ३६६ |
| ६ जयकृष्ण भजुग | ३६७ |
| ४ भिखारीदास | ३६७ |
| ८ सोमनाथ | ३६७ |
| ९ नारायणदास | ३६७ |
| १० दशरथ | ३६८ |
| (१) वर्ण्यविषय | ३६८ |
| ११ नदकिशोर | ३६८ |
| १२ चेतन | ३६९ |
| १३ रामसहायदास | ३६९ |
| १४ हरिदेव | ३७२ |
| १५ अयोध्याप्रसाद वाजपेयी | ३७२ |
| १६ सर्वेक्षण | ३७३ |
| सप्तम अध्याय : भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में रीति आचार्यों का योगदान | ३७४ |
| चतुर्थ खंड काव्य कवि | ३८५ |
| प्रथम अध्याय : रीतिबद्ध काव्य कवियों की विशेषताएँ | |
| १ हिंदी काव्य में मुक्तक परंपरा | ३८२ |
| द्वितीय अध्याय : कवि परिचय | ३८६-४१३ |
| १ बिहारी लाल | ३८६ |
| (१) जीवनवृत्त | ३८६ |
| (२) बिहारी सतसई | ३९० |
| (३) बिहारी की शास्त्रीय दृष्टि | ३९२ |
| (४) नायिकाभेद | ३९५ |
| (५) भावपक्ष | ३९६ |
| (६) अलंकार योजना | ३९७ |
| (७) सूक्तिकाव्य | ३९८ |
| (८) बिहारी की भाषा | ३९९ |
| (९) मूल्यांकन | ४०१ |
| २ बेनी | ४०२ |
| ३ कृष्णकवि | ४०२ |
| ४ रसनिधि | ४०४ |
| ५ नृपशम्भु | ४०५ |
| ६ नेवाज | ४०६ |
| ७ हठीजी | ४०७ |
| ८ रामसहाय दास | ४०८ |
| ९ पजनेस | ४०९ |
| १० राजा मानसिंह (द्विजदेव) | ४१० |
| तृतीय अध्याय : काव्य कवियों का योगदान उपसंहार | ४१३-४१ |
| अनुक्रमणिका | ४१५ |
| | ४१६-४६६ |

प्रथम खंड

भूमिका

प्रथम अध्याय

परिस्थितियाँ

कला तथा साहित्य का राजकीय संरक्षण

जीवन के सूक्ष्म शाश्वत उपादानों के रूपनिर्माण में भौतिक बाह्य परिस्थितियों का कितना महत्वपूर्ण योग रहता है, इसका अनुमान रीतियुगीन परिस्थितियों तथा उस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण द्वारा लगाया जा सकता है। युग-चेतना की बहिर्मुखी अभिव्यक्ति साहित्य का प्रयोजन है अथवा नहीं, इस विषय पर चाहे कितना ही मतभेद हो, परन्तु यह निर्विवाद है कि युगचेतना से विच्छिन्न साहित्य के प्रेरक तत्व का अस्तित्व अकल्पनीय है—चाहे वह साहित्य जितना भी अतर्मुखी और वैयक्तिक क्यों न हो। हिंदी साहित्य में रीतिकाल का आरंभ सवत् १७०० से माना जाता है। इस समय मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था का आधार था व्यक्तिवादी निरकुश राजतंत्र। इस प्रकार की व्यवस्था में शासक ही राष्ट्र के भाग्य का विधाता, युगचेतना का नियामक तथा कुछ सीमा तक एक विशिष्ट जीवनदर्शन का प्रतिपादक भी होता है। उसके सार्वभौम व्यक्तित्व में समस्त अधिकार केन्द्रित रहते हैं। जब शासक विजातीय हो तो इस वैयक्तिक तत्व की निरकुशता और भी बढ़ जाती है। उसकी दृष्टि यदि समन्वयवादी न हुई तो शासक तथा शासित का सबंध केवल शोषक और शोषित का ही रह जाता है।

रीतिकाल के पूर्व सम्राट् अकबर की दूरदर्शिता ने हिंदू मुसलमानों के सांस्कृतिक एवं धार्मिक विचारों तथा भावनाओं के समन्वय द्वारा एक बृहत् राज्य की प्रतिष्ठा की थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् जहाँगीर ने राज्य सबंधी गंभीर समस्याओं के समाधान में कोई महत्वपूर्ण योग नहीं दिया, हाँ, मदिरा की सुराहियों और नारीसौंदर्य के प्रति उसकी असंतुलित और लोलुप वृत्तियाँ उसके उत्तराधिकारियों को विरासत के रूप में अवश्य प्राप्त हुईं। जहाँगीर के बाद शाहजहाँ के सिंहासनारूढ होने पर स्थिति में कुछ परिवर्तन आया। उसकी रंगों में यद्यपि राजपूती रक्त था, तथापि धर्म के नाम पर वह अत्यंत असहिष्णु था। सत्कारों का यह मिश्रण उसके व्यक्तित्व की ग्रथियाँ बनकर दो विरोधी तत्वों के रूप में प्रकट हुआ। एक ओर उसकी धार्मिक असहिष्णुता थी और दूसरी ओर सांस्कृतिक तथा कलागत उदारता। शाहजहाँ के समय की सबसे बड़ी विशेषता उस काल की शांतिपूर्ण समृद्धि है। इसी कारण उसे अपने जीवन की सबसे बड़ी महत्वाकांक्षाओं और प्रदर्शनप्रधान वृत्तियों की अभिव्यक्ति का अवसर मिला। जैसा पहले कहा जा चुका है, निरकुश राजतंत्र में शासक ही एक विशिष्ट जीवनदर्शन का नियामक होता है। शाहजहाँ की प्रदर्शनवृत्ति से प्रेरणा प्राप्तकर अलकरण तथा प्रदर्शन का स्वर उस युग में प्रधान हो गया। रीतिकाल का आरंभ शाहजहाँ के शासनकाल के उत्तरार्ध से होता है। प्रदर्शन-प्रधान, रीतिबद्ध काव्यशैली तथा काव्य में शृंगारपरक जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति का श्रेय काफी सीमा तक इस युग में प्रधान इसी प्रदर्शनवृत्ति को है। देशव्यापी शांति तथा सम्राट् की व्यक्तिगत अभिरुचि साहित्य तथा कला की उन्नति और विकास में बहुत सहायक हुई। अनेक कवि, संगीतज्ञ, चित्रकार और वास्तुशिल्पी उसके दरबार में शरण लेने

आते थे और प्रतिभावान् कलावतो को निराश नहीं लौटना पड़ता था । राजतन्त्र सामंत-शाही का पोषक होता है, अतः तत्कालीन कलावतों को सामंतों की छत्रछाया भी सहज ही प्राप्त हो जाती थी । उस युग के सामंतों में कलावतों को आश्रय प्रदान करने के लिये भी पारस्परिक प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा चला करती थी ।

जब धर्म तथा दर्शन का विशाल सरक्षण प्राप्तकर हिंदी सामान्य जनता को राम और कृष्ण के चरित्र पर मुग्ध कर रही थी, अकबर के समय में ही सम्राट् के दरबार की शोभा बढ़ानेवाले अनेक कवियों का प्रादुर्भाव हो चुका था । मुगल दरबार की भाषा फारसी थी । इस भाषा के विकास में जिस शैली का अनुगमन किया गया उसका स्पष्ट प्रभाव भी हमें हिंदी पर दिखाई देता है । शाहजहाँ के समय में लिखे गए फारसी के साहित्य को शैली की दृष्टि से दो शैलियों में विभाजित किया जाता है—(१) भारतीय ईरानी शैली, और (२) विशुद्ध ईरानी शैली । प्रथम वर्ग का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार अबुलफजल पहले ही फारसी भाषा तथा शैली को भारतीय वातावरण के अनुसार ढाल चुका था । उसकी श्रमसिद्ध और अलंकृत शैली में अभिव्यजनाकौशल के लिये भावतत्त्व की उपेक्षा की गई थी । अबुलफजल की कृतियों में व्यक्त इस अलंकरण प्रवृत्ति के प्रति शाहजहाँ का आकर्षित होना स्वाभाविक था । उसकी यही इच्छा रहती थी कि मेरे शासनकाल के समस्त विवरण अबुलफजल की अलंकृत शैली में ही लिखे जायँ । परंतु तत्कालीन कवियों का बौद्धिक स्तर बिल्कुल साधारण कोटि का था, उनमें मौलिक प्रतिभा का अभाव था, श्रेष्ठ साहित्य के उदात्त तत्त्व उनमें नाम को नहीं थे, विचार के नाम पर वे शून्य थे । चमत्कारपूर्ण शब्दनियोजन तथा अन्य प्रकार के अभिव्यजनाकौशल का प्रदर्शन ही उनका प्रधान ध्येय रहता था । मौलिक प्रतिभा के अभाव के कारण उन्हें फारसी की परंपराबद्ध शैली का अनुसरण करना पड़ा । तत्कालीन गजलों में फारसी से गृहीत गुलोलुबुल, शीरीफरहाद, लैलामजनूँ इत्यादि का वर्णन ही प्रधान है । दूसरा प्रचलित तथा लोकप्रिय काव्यरूप था कसीदा, जिसे प्रशस्तिगान का फारसी रूप कहा जा सकता है । सम्राट् शाहजहाँ आत्मप्रशंसा सुनने का बड़ा प्रेमी था । वह कवियों को स्वर्ण तथा रजतराशि के तुल्यदान से पुरस्कृत करता था । विभिन्न पर्वों तथा उत्सवों के अवसर पर कवितापाठ द्वारा पुस्तकास्त्राप्ति के लिये प्रत्येक कवि के मन में महत्वाकांक्षा रहती थी । जन्मदिवस, सिंहासनाभिषेक, राजपुत्रजन्म इत्यादि अवसरों की वे प्रतीक्षा में रहते थे^१ ।

शाहजहाँ के अहं तथा प्रदर्शनभावना की परिपूर्ति के लिये उसके दरबार में फारसी शायरों का अच्छा जमाव था, परंतु एक तो अकबर द्वारा स्थापित परंपरा की उपेक्षा संभव न थी, दूसरे, भावी युवराज द्वारा की सहिष्णु नीति का प्रभाव भी शाहजहाँ के दरबार पर पड़ रहा था । ऐसी स्थिति में शासित विधर्मियों के प्रति कट्टरता की नीति अपनाकर भी उनके साहित्य तथा संस्कृति की उपेक्षा करना कठिन था । शाहजहाँ के जीवन की महत्वाकांक्षा थी मुगल गरिमा की अमर स्थापना । उसके समस्त कार्य इसी साध्य की सिद्धि के लिये किए गए थे । मुगल रंगिनियों में अपने दरबार को रंग देने के महत्वाकांक्षी शाहजहाँ द्वारा हिंदी और संस्कृत विद्वानों का सरक्षण कुछ आश्चर्य की वस्तु अवश्य है, पर यह सत्य है कि उसने भारतीय कलाविदों को भी सरक्षण प्रदान किया । सुंदरदास तथा चिंतामणि उसके द्वारा पुरस्कृत किए गए थे^२ । उसके शासनकाल में रचित कमलाकर

१. हिंदी शब्द शाहजहाँ आज़ दिल्ली, डा० बनारसीप्रसाद, पृ० २४६-५० ।

२. सिंहासनाभिषेक ।

भट्ट कृत निर्णयसिंधु तथा कवीद्राचार्य कृत ऋग्वेद की व्याख्या इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। पंडितराज जगन्नाथ ने दाराशिकोह तथा आसफ खॉ का प्रशस्तिगान किया। आसफ खॉ के संरक्षण में नित्यानंद ने ज्योतिष शास्त्र के दो ग्रंथ लिखे और शाहजहाँ के संरक्षण में वेदांगराज ने ज्योतिष शास्त्र तथा सामुद्रिक विद्या में प्रयुक्त होनेवाले फारसी तथा अरबी शब्दों का कोश संस्कृत में प्रस्तुत किया। मित्र मिश्र, जिनके द्वारा व्याख्यात हिंदू विधानों की मान्यता अब भी भारत के विशिष्ट न्यायालयों में स्वीकार की जाती है, शाहजहाँ के समकालीन थे^१।

इस प्रकार शाहजहाँ की यशलाभ की महत्वाकांक्षा तथा दारा की सहिष्णुता के फलस्वरूप शाहजहाँ के शासनकाल में भारतीय कला तथा साहित्य को संरक्षण प्राप्त हुआ और मुगल दरबार में पोषित दरबारी काव्य का गहरा प्रभाव हिंदी साहित्य पर पड़ने लगा। जीवन के व्यापक उपादानों को छोड़कर वह राजप्रशस्ति और शृंगारवर्णन तक ही सीमित रह गया। पांडित्यप्रदर्शन के लिये समसामयिक भारतीय ईरानी काव्यपरंपरा ने फारसी की प्राचीन परंपराओं से प्रेरणा ग्रहण की। उसके समानांतर हिंदी कवियों के समक्ष संस्कृत के प्राचीन काव्यशास्त्र की विकसित परंपरा थी। प्रदर्शन तथा शृंगार-प्रधान जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति के लिये किसी परंपरा का अवलंबन आवश्यक था, क्योंकि शून्य वर्तमान अतीत का सहारा लेकर आगे बढ़ता है। मुगल दरबार तथा उसके प्रभाव से सामंतीय संरक्षण में जो हिंदी कविता पल्लवित हुई उसे फारसी की स्पर्धा में रखे जाने योग्य तत्वों का अनुशोधन अपने देश की साहित्यिक परंपराओं में करना पड़ा। गजल की शृंगारिकता, गुल्लोबुलबुल, शीरीफरहाद और लैलामजनूँ के साहसिक प्रेम की परंपरा भारत में नहीं थी। भारतीय नायक के आदर्श राम और कृष्ण थे और नायिकाओं की सीता तथा राधा। राधा के परकीया रूप में भी मासलता और चांचल्य की अपेक्षा भावना और मार्दव अधिक था। फारसी काव्य की विलासमयी नायिकाओं की तुलना में नायिकाभेद की श्रेणियों में बद्ध नारीसौंदर्य को ही रखा जा सकता था। इसी प्रकार 'कसोदा' की स्पर्धा में हिंदी में राजस्तुति का महत्व बढ़ने लगा। शैलीगत अलंकरण और प्रदर्शन का उल्लेख और उनके कारणों की विवेचना तो पहले ही की जा चुकी है। व्यक्तिवादी राजतंत्र में राजदरबार की रुचि का प्रभाव तत्कालीन साहित्य, कला तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में स्पष्ट लक्षित हो रहा था।

शाहजहाँ के बाद

किंतु यह तो रीतिकाल का केवल आरंभ था। उसका पूरा इतिहास तो मुगल वैभव के पतन के साथ सबद्ध है। मयूरसिंहासन और ताजमहल के निर्माण द्वारा शाहजहाँ का मुगल गरिमा की स्थायी स्थापना का स्वप्न पूरा हो गया परंतु उसके शासनकाल के उत्तरार्ध से ही साम्राज्य की शांति और वैभव पर आघात आरंभ हो गए तथा सर्वत्र सर्व-व्यापी अज्ञाति के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। एक ओर मध्य एशिया के आक्रमणों से मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा, दूसरी ओर साम्राज्य की गंभीर समस्याओं के प्रति जहाँगीर की उदासीनता और शाहजहाँ के अपव्यय के कारण उसकी आर्थिक स्थिति भी अनुदिन क्षीण होती गई। स० १७१५ में शाहजहाँ भयंकर रोग से श्वस्त हो गया। रोगशय्या पर पड़े व्यथित पिता की आँखों ने अपने पुत्रों को राजगद्दी के लिये वनपशुओं की तरह रक्त बहाते देखा और युवराज दारा की पराजय के साथ ही मुगल

इतिहास के पृष्ठों से सहिष्णुता और उदारता का नाम मिट गया। दारा की पराजय में भारत के भाग्य के प्रति नियति का बड़ा भारी व्यग्य छिपा हुआ था।

दारा की हत्या के साथ ही मध्यकालीन भारतीय वातावरण में अपवाद रूप में उदित सहज मानवता की ही हत्या कर डाली गई। शानोशौकत, वैभव और ऐश्वर्य का सम्राट, 'पृथ्वी के स्वर्ग' का निर्माता शाहजहाँ सात वर्ष तक साधारण बंदी के रूप में जीवित रहा, यह शाहजहाँ ही नहीं समस्त उत्तरापथ के प्रति नियति का व्यग्य था। भाइयों के रक्त में स्नान कर और गजेब को तलवार को प्यास बढ़ती ही गई। धर्म के नाम पर काफ़िरो का खून बहाकर बहिश्त में चाहे उसकी आत्मा को शांति मिल गई हो, परंतु अपने दीर्घ शासनकाल में उसे कभी चैन से बैठने का अवसर नहीं मिला। एक ओर उसकी कठोर अमानवीय धार्मिक नीति के कारण अनेक देशों में नरेश उसके विरुद्ध हो गए, दूसरी ओर उसे सिक्खों तथा मराठों की जनशक्ति से लोहा लेना पड़ा। इस्लामी सल्तनत स्थापित करने की महत्वाकांक्षा में उसने मानवीय मूल्यों तथा अपनी नीति के व्यावहारिक परिणामों की चिंता नहीं की। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था और इस संप्रदाय में जीवन्त के रागात्मक तत्वों के प्रति एक प्रकार का कठोर भाव मिलता है। सौंदर्य, ऐश्वर्य और विलास का त्याग उसमें अनिवार्य है। फलतः जीवन के रागात्मक तत्वों को अभिव्यक्ति प्रदान करनेवाली कलाओं तथा साहित्य के लिये और गजेब के 'आदर्श राज्य' में कोई स्थान नहीं था। और गजेब के सिंहासनारोहण के पश्चात् ग्यारह वर्ष तक कुछ कलावंत और कवि किसी प्रकार उसके दरबार में बने रहे, परंतु अततो गत्वा उन्हें बिल्कुल निकाल दिया गया^१। संगीत तथा नृत्यप्रदर्शन अवैधानिक ठहरा दिए गए। शाहजहाँ के बिल्कुल विपरीत और गजेब के व्यक्तित्व में शुष्क सादगी थी जिसका मूल कारण कदाचित् धर्म में अध-विश्वास ही था। नैतिक दृष्टि से जनता के सुधार का प्रयत्न भी उसने किया। वैश्यावृत्ति तथा मद्यपान के पूर्ण निषेध की घोषणा कर दी गई परंतु नैतिक विधान का बाहर से आरोपण इतना आसान नहीं है। परंपरा से चले आते हुए संस्कारों को बादशाह के फरमान इतनी आसानी से नहीं मिटा सकते थे। उस समय अनेक सामंतों के घर में उनके अपने हरेम थे जिनमें अपने मनोरंजन के लिये वे मनमानी सख्या में रक्षिताएँ और नर्तकियाँ रखते थे। ऐसी स्थिति में वैश्यावृत्ति का निषेध होने पर भी उसका क्या परिणाम निकल सकता था^२? रागात्मक का उसके व्यक्तित्व में इतना अभाव था कि संगीत समेलनों तथा मुशायरों की मनाही के साथ ही हजरत मुहम्मद साहब के जन्मदिवस पर गाए जानेवाले संगीत को भी उसने निषिद्ध घोषित कर दिया। काव्यकला से तो उसे इतनी घृणा थी कि काजी अब्दुल अजीज की मोहर के पद्यबद्ध होने के कारण ही उसने उन्हें पदच्युत कर दिया था। क्षमाप्रार्थना के समय उन्हें बादशाह को यह विश्वास दिलाना पड़ा कि काव्यकला जैसी हेय वस्तु से उनका कोई संबंध नहीं है^३।

काफ़िरो के प्रति उसकी घृणा उत्कृष्ट शिल्प के मदिरों के विनाश के रूप में व्यक्त हुई। परंतु धर्मांधता का इतिहास क्रियात्मक दृष्टि से सदैव विफल रहा है। और गजेब की कट्टरता तथा धर्मांधता ने उसके लिये अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर दीं। मुगल साम्राज्य के प्रत्येक भाग में उठी हुई असंतोष और विद्रोह की चिंगारियाँ दिन पर दिन भड़कती ही गईं। ऐसी अवस्था में कला और संस्कृति की स्थिति बड़ी ही शोचनीय हो गई। न तो

१ खफी खाँ, ११-२१२, ५६१।

२ मिरातए अहमदी, १-२५०।

३ मिरात उल् खयाल, १७५-८।

औरगजेब के शुष्क व्यक्तित्व में इन रसात्मक वृत्तियों के लिये स्थान था और न तत्कालीन अव्यवस्था में राजकीय सरक्षण की संभावना । मुगल दरबार के द्वारा सरक्षण के अभाव के कारण अनेक कलाविदों ने विभिन्न सामंतों तथा नरेशों की शरण ली क्योंकि उनके दरबार में कलावतों तथा कवियों की उपस्थिति उनके गौरव की प्रतीक थी । मुगल दरबार के अनुकरण पर अपने दरबारों को अलंकृत करने की प्रवृत्ति हमें उस समय के अनेक नरेशों तथा सामंतों में दिखाई पड़ती है । जहाँ मुगल दरबार में भारतीय ईरानी काव्यपरंपरा को प्रश्रय मिला वहाँ राजस्थान के नरेशों तथा सामंतों की छत्रछाया में हिंदी कविता का दरबारी रूप पनपा । ओरछा, कोटा, बूंदी, जयपुर, जोधपुर और यहाँ तक कि महाराष्ट्र के राज-दरबारों में भी वही प्रदर्शनप्रधान और शृंगारपरक जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति में काव्य-धारा चलती रही ।

औरगजेब के हुकम से पृथ्वी के नीचे गहरे में दफनाई हुई कला ने यद्यपि उसके समय तथा उसके राज्य की सीमा में सिर नहीं उठाया, परंतु दरबारी कविता की विशेषताओं में रजित विभिन्न राजाओं के आश्रय में वह बराबर विकसित होती रही । मुगल आक्रमण-कारियों के भय से वृंदावन के गोवर्धन मंदिर के अधिकारी तथा पुरोहित मंदिर की मूर्तियों को लेकर चुपचाप निकल गए । राजस्थान में राजा जसवंतसिंह ने सम्राट् के भय से उन्हें अपने यहाँ आश्रय देने से इन्कार कर दिया, परंतु सिसोदिया वंश के राजा राजसिंह ने सिहोर में नाथद्वारा की स्थापना करके प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की और इस प्रकार मेवाड़ वैष्णव धर्म का केंद्र बन गया । सिहोर और काँकरोली में नए वृंदावन की स्थापना हुई और इसके साथ ही धर्म के सरक्षण में पल्लवित होती हुई साहित्य की परंपरा राजस्थान में भी विकसित होने लगी । परंतु धीरे धीरे धर्म की पवित्रता शृंगारप्रधान युगधर्म में लुप्त हो रही थी ।

औरगजेब की मृत्यु के उपरांत मुगल सिंहासन के अनेक उत्तराधिकारी उठ खड़े हुए । मुगल साम्राज्य के इस अंतिम चरण की कहानी अव्यवस्था, रक्तपात और घोर नैतिक पतन की कहानी है । लेकिन इन उत्तराधिकारियों में से अनेक कला, साहित्य तथा संगीत के पारखी भी हुए । उनके सरक्षण में कला पनपी तो अवश्य, परंतु गंभीर प्रेरक तत्वों के अभाव के कारण उसका स्तर छिछला ही बना रहा । जीवन के प्रति एक अगंभीर और विलासप्रधान दृष्टि के कारण साहित्य और कला का प्रयोजन अनुरजन मात्र ही रह गया । संगीत, वास्तुशिल्प और चित्रकला आदि में भी अभिव्यजना का रूप परंपरागत और कृत्रिम प्रदर्शनप्रधान रहा, उसके आधारभूत विषयों में गांभीर्य का अभाव रहा । औरगजेब के उत्तराधिकारियों में महान् व्यक्तित्व के गुणों का अभाव था । शौर्य, तेज तथा चरित्र के नाम पर उनका व्यक्तित्व शून्य था परंतु मुगल वंश के तेज का अवशेष उनकी मिथ्या गौरवभावना और प्रदर्शनप्रवृत्ति के रूप में अब भी विद्यमान था । अंतिम दिनों में मुगल परंपराओं और ऐश्वर्य के निर्वाह की उन तथाकथित सम्राटों द्वारा दयनीय चेष्टाएँ उदासीन पाठकों के हृदय को भी द्रवित कर देती हैं । दरबार के शिष्टाचारों का निर्वाह बे यथार्थ अंतिम दिनों तक करते रहे । जहाँ मुगल ऐश्वर्य की गरिमा और गांभीर्य का सजीव परिचय बर्नियर^१, मनुची^२ और ट्रैवर्नियर^३ इत्यादि के उल्लेखों में मिलता है, वही उसके अवसान की कसूरुपूर्ण गाथा भी अनेक विदेशियों द्वारा लिखी गई है ।

१ बर्नियर, पृ० २०२ ।

२ मनुची, भाग १, पृ० २०६ ।

३ ट्रैवर्नियर, भाग १, अध्याय ८ और ९ ।

शाहजहाँ के राज्यकाल में दिए जानेवाले रत्नजटित उपहारों के स्थान पर स्वर्णमुद्राएँ दी जाती थी। स्वर्णखचित खिलअत का स्थान नकली जरी के वस्त्रों तथा अमूल्य रत्नों का स्थान चमकीले पत्थरों और कृत्रिम मुक्ताओं ने ले लिया था। राजकीय जुलूस की गरिमा प्रदर्शित करनेवाली अश्वसेना तथा गजसेना के स्थान पर एकाध घोड़े और हाथी शेष रह गए थे। शिष्टाचारनिर्वाह के लिये अतिथि के साथ ये घोड़े भेज दिए जाते थे और फिर लौटाकर उन्हें अश्वशाला में बाँध दिया जाता था^१। अतीत की गरिमा का यह अवशेष और उसके प्रति यह मोह कितना कारुणिक रहा होगा।

मुगल दरबार से हिंदी का संबन्धविच्छेद

शाहजहाँ के समय से ही हिंदी कवियों ने हिंदू राजाओं के दरबार में आश्रय लेना आरम्भ कर दिया था। औरंगजेब की कट्टर नीति के फलस्वरूप तो मुगल दरबार से हिंदी का बहिष्कार ही हो गया। इस प्रकार साधारणतः रीतिकालीन कविता को सामंतों के आश्रय में ही पोषण मिला। यहाँ की स्थिति और भी दयनीय थी। मुगल सम्राटों के सामने तो अनेक आंतरिक और बाह्य समस्याएँ बनी रहती थी। अतएव विलम्ब और ऐश्वर्य के साथ ही साथ कुछ उद्यम भी करना आवश्यक हो जाता था परंतु उनके कदमों पर चलने-वाले सामंत और नरेश निर्विघ्न वैभव और विलास में ही तल्लीन रहते थे क्योंकि उनकी समस्याएँ अपेक्षाकृत कम जटिल थी। धीरे धीरे उनमें से भी आत्मनिर्भरता, देशभक्ति, प्राचीन कुलमर्यादा की भावना इत्यादि, जो शताब्दियों से राजपूत जाति के विशेष गुण माने जाते थे, लुप्त होते जा रहे थे। स्वातंत्र्यप्रेम, जिसकी अनेक कहानियाँ भारत के कोने कोने में फैली हुई थी, मिथ्या आत्मसमान के रूप में ही शेष रह गया था। राजपूतों की दृढ़ स्नायुओं में भी मुगल दरबार की नजाकत और कोमलता प्रवेश कर गई थी। राजस्थानी जौहर का स्थान अष्टाचार ने तथा सबल पौरुष का स्थान अनैतिक विलास ने ले लिया था। सवाई राजा जयसिंह के उत्तराधिकारी पैरो में घुँघरू बाँधकर अपने अंत पुर में नृत्य करते थे^२ और कला का प्रयोजन केवल विलासपरक जीवन के उद्दीपन के रूप में ही शेष रह गया था। इन असमर्थ और अयोग्य शासकों की परिषदों में भी अभिजात वर्ग के दूरदर्शी तथा बुद्धिमान सामंत नहीं रह गए थे। इनके स्थान पर नाई, दर्जी, महावत, भिखारी जैसे निम्न बौद्धिक स्तर के व्यक्ति उनके विश्वासपात्र बन गए थे। इस प्रकार के आश्रयदाताओं की सरक्षा में रहनेवाले कवि के लिये स्वाभाविक था कि वह अपने वैदग्ध्य और कल्पना के बल पर उनके भोगपरक जीवन और वैभवविलास के अतिरजनापूर्ण चित्र अंकित करे। यही कारण है कि रीतिकाल में कला का विकास इन्हीं राजाओं की रूचि के अनुसार हुआ। राजपूत राजाओं के सरक्षण में संगीत कला का भी विकास हुआ परंतु संगीत के विशद और गंभीर तत्वों की अपेक्षा उन्हें आलंकारिक गिटकिरियों में ही विशेष आनंद आता था^३। कर्नल टाड के शब्दों में—‘अफीम के मद में टप्पे की धुन पर मस्त होकर राजपूत स्वर्गिक आनंद का अनुभव करते थे’^४। उन्हीं के शब्दों में, मस्तिष्क के परिमार्जन तथा सुंदरतर जीवन व्यतीत करने की कला सदैव किसी जातिविशेष की समृद्धि पर निर्भर रहती है। एक की अवनति के साथ दूसरे का पतन अनिवार्य हो जाता है। उत्तर मध्यकाल के समाप्त

१ दिवलाइट आबू द मुगल्स, परसीवल स्पियर, पृ० ८२।

२ राजपूत फ्यूडलिज्म।

३ कुक, भाग २, पृ० ७५२-५५।

४ टाड्स पर्सनल नैरेटिव।

होते होते राजस्थान में ज्योतिष, काव्य, संगीत अथवा सांस्कृतिक मूल्य की अन्य कलाओं को आश्रय देने योग्य कोई संरक्षक शेष नहीं रह गया था^१।

निष्कर्ष यह है कि मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था में राजतंत्र तथा सामंतवाद के प्राधान्य ने कला तथा साहित्य को ऐश्वर्य और अलंकार के रूप में स्वीकार किया। ऐसी स्थिति में साहित्यसर्जना का क्षेत्र अभिव्यजनागत चमत्कार और आश्रयदाता के रुचि-प्रसादन तक ही सीमित हो गया। औरंगजेब की सकीर्णता ने दिल्ली से हिंदी का उन्मूलन अवश्य किया, परंतु हिंदी जनभाषा होने के कारण धर्म और जीवन के अन्य व्यापक आधारों के सहारे पनपती रही। सामंतीय वातावरण में जो काव्य पल्लवित हुआ उसमें चाहें स्थूल शृंगार की नग्नता कितनी ही हो परंतु इस तथ्य को भी हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि प्राचीन की पुनः स्थापना का श्रेय भी तत्कालीन राजकीय संरक्षण की प्रदर्शनप्रियता तथा शृंगारप्रधान दृष्टि को ही था। पुरातन के इस नूतन उद्घाटन के पीछे यदि प्रदर्शन-वृत्ति न होकर जिज्ञासुवृत्ति होती तो हिंदी की रीतिकाव्य परंपरा भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में एक अपूर्व घटना होती, परंतु पराधीन देश का वर्तमान हमें नहीं अतीत भी गुलाम बन जड़ता है—उसका पुनराख्यान भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में विजेता की अभिरुचि के अनुसार ही किया जाता है। रीतिकाव्य में मौलिकता और नवीन उद्भावनाओं के अभाव का यही मूल कारण था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विवेकहीन विलास उस युग के जीवन का प्रधान स्वर हो गया था। यही कारण है कि राजाश्रित कवियों की वाणी वैभव और विलास की मदिरा पीकर बेसुध हो उठी।

राजनीतिक और सामाजिक दुर्व्यवस्था

शाहजहाँ के शासनकाल के उत्तरार्ध में जो अशांति तथा अव्यवस्था आरंभ हुई, उसकी समाप्ति मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही हुई। राष्ट्रीय प्रगति के लिये जहाँ एक ओर बाह्य शांति तथा अनुकूल वातावरण की आवश्यकता होती है वही एक आंतरिक प्रेरणा की भी अनिवार्य आवश्यकता होती है। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय की समृद्धि के कारण भारतीय वैभव की धाक विदेशों तक में जम गई थी। पानीपत के दूसरे युद्ध के बाद मुगल शक्ति से टक्कर लेने की क्षमता किसी में नहीं रह गई थी। मुगल साम्राज्य अविजित तथा उसकी शक्ति अमोघ मानी जाती थी। औरंगजेब के काल में शिवाजी के प्रबल आक्रमणों से मुगल साम्राज्य की नींव हिल उठी और एक सार्वजनिक अरक्षा भाव तथा अनुशासनहीनता के कारण भारत की आर्थिक व्यवस्था भी बिगड़ गई। दूसरी ओर दक्षिण में पचीस वर्षों तक अनवरत युद्ध होते रहने का प्रभाव भी बहुत घातक सिद्ध हुआ। डेढ़ लाख मुगल सैनिकों का अभियान जिस ओर होता वहाँकी सारी फसल नष्ट हो जाती^२। मराठे भी विजय प्राप्त करने की धूँ में इन बातों की परवाह नहीं करते थे। श्रमिक वर्ग केवल आततायियों के अत्याचार, बेगार और क्षुधा से ही पीड़ित नहीं था, अनेक महामारियों के फैलने से भी जनघन की बहुत हानि हुई। जो कृषक इन आपत्तियों

१ ऐनल्स ऑफ राजस्थान, टाड।

२ ही लेफ्ट विहाइड हिम द फील्ड्स ऑफ दीज प्राविसेज डिवएमड ऑब् ट्रीज ऐंड लीब्ज ऑफ क्रॉप्स, देयर प्लेसेज बीइंग टेकेन बाई द बोन्स ऑफ मेन ऐंड बीस्ट्स। —सूची।

मुगल सम्राटों के इस विलासप्रधान दृष्टिकोण का प्रभाव उनके सामंतों पर पड़ा, फलस्वरूप उनका दृढ़ पौरुष दिन पर दिन क्षीण होता गया। अभिजात सस्कृति के नाम पर केवल विलास और प्रदर्शन ही अवशिष्ट रह गए। धीरे धीरे निम्न वर्ग के व्यक्ति उनका आसन ग्रहण करने लगे और समाज का बौद्धिक स्तर बहुत नीचा हो गया। तत्कालीन सामंतों के नैतिक पतन का ज्वलत उदाहरण औरंगजेब के प्रधान मंत्री के पौत्र मिर्जा तफ्कुर का है जो अपने गुंडे साथियों के साथ बाजार की दुकानें लूट लेता था और राजमार्ग पर चलती हुई हिंदू स्त्रियों का अपहरण किया करता था; लेकिन उसके दंड की व्यवस्था की शक्ति किसी न्यायाधीश में नहीं थी^१। इन सामंतों का असीम वैभव विलास के इतने साधन जुटाने में समर्थ था जिनकी कल्पना फारस का सम्राट भी नहीं कर सकता था। तृतीय वर्ग के सामंतों की आय भी बलख के सम्राट की आय से अधिक थी^२। स्वभावतः विलास की मात्रा औचित्य का अतिक्रमण कर गई थी। अधिकतर सामंतों के अंतःपुर में विभिन्न वर्गों और जातियों की अनेक स्त्रियाँ रहती थी। मुगलवश की सतिति जिस वातावरण में पल रही थी उसमें उनका बाल्यकाल से ही ईर्ष्याद्वेष से युक्त अश्लील आचार-विचारों से संपर्क आरंभ हो जाता था। जिस युग में नारी का अस्तित्व अनुरजन मात्र के लिये था उसमें महान् व्यक्तित्वों के निर्माण की संभावना कैसे की जा सकती थी? राज-पुत्रों तथा सामंतपुत्रों की उपयुक्त शिक्षादीक्षा का तो प्रश्न ही नहीं था। जीवन के सघर्षों से अपरिचित, हिजडों तथा दामियों द्वारा सरक्षित, वे ऐसा जीवन व्यतीत करते थे जहाँ उनकी शय्या पर फूलों की पखुडियाँ भी चुभ जाने के भय से चुन चुनकर रखी जाती थी। जीवन के आरंभ से ही अनेक विकृतियों से उनका परिचय हो जाता था। इस उच्छृंखल वातावरण का फल यह हुआ कि उस युग का अभिजात वर्ग बहुत ही शीघ्र तथा अनियंत्रित रूप से पतन की ओर उन्मुख होने लगा। यौन सबंधों के विषय में तो उनके लिये नियंत्रण था ही नहीं, मद्य तथा द्यूत का व्यसन भी उनके जीवन का अंग बन गया था।

‘यथा राजा तथा प्रजा’। साधारण जनता में भी विलास अपनी चरम सीमा पर पहुँच रहा था। मद्यपान हिंदुओं तथा मुसलमानों में समान रूप से प्रचलित था। राजपूत, कायस्थ और खत्री कोई भी इस दोष से अछूता नहीं था। मध्य तथा निम्न वर्ग के राज-कर्मचारियों के यहाँ भी छोटे छोटे हरम रहते थे जिनमें अनेक रक्षिताएँ रहती थी। उच्च तथा साधारण दोनों ही वर्गों की जनता में अधविश्वास प्रचुर रूप से बढ़ रहा था। ज्योतिषियों की भविष्यवाणी और सामुद्रिक शास्त्र के द्वारा उनकी कार्यविधियों का परिचालन होता था। खफी खॉं ने तो नरबलि जैसी अमानुषिक वस्तु के अस्तित्व का भी उल्लेख किया है। मनूची के अनुसार दीर्घ भुजाओंवाले व्यक्तियों की पूजा उन्हें हनुमान का अवतार मानकर की जाती थी। जनता में नागरिक भाव का पूर्ण अभाव हो गया था। स्वार्थांध होकर विलास के उपकरण एकत्रित करना ही उनके जीवन लक्ष्य रह गया था।

मुगल सम्राटों का यह दुर्भाग्य रहा कि उनकी आँखों को राजसिंहासन के लिये अपने पुत्रों का खून बहते देखना पड़ता था। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के जीवन में यह विभीषिका तो थी ही, उनका दुर्भाग्य उन्हें विवेकहीन विलास की ओर भी खींचे लिए रहा था। जहाँदारशाह के समय में यह विवेकहीनता पराकाष्ठा पर पहुँच गई जब राजकार्य उसकी रक्षिता लालकुँवर के सकेतो पर चलने लगा। उस निम्नवर्ग की स्त्री के सकेतो पर अन्न का भाव बढ़ा दिया गया तथा उसके मनोरंजन के लिये यात्रियों से

१ ‘हमीदुद्दीन अहकाम’।

२ अब्दुल हमीद, जि० २, पृ० ५४२।

भरी हुई नौका जलमग्न कर दी गई^१। लालकुँवर के अनेक सबधियों की नियुक्ति उच्च तथा उत्तरदायी पदों पर हो गई थी। वे जनता पर मनमाना अत्याचार किया करते थे। नगर के सर्वश्रेष्ठ प्रासाद उन्हें दे दिए गए थे। इस प्रसंग में एक प्रसिद्ध इतिहासकार के शब्द उल्लेखनीय हैं— 'गिद्धों के नीड़ों में उल्लू रहने लगे तथा बूलबूलों का स्थान कागो ने ले लिया^२, सारंगीवादक और तबलचियों की नियुक्ति उच्च पदों पर हो गई थी। जाहिरा कुँजडिन को बड़ी बड़ी जागीरें तथा उच्च पद प्रदान किए गए थे'। लालकुँवर की इन साथियों की नैतिक उच्छृंखलताओं की अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। स्त्रियों के इशारों पर नाचनेवाले इन सम्राटों की असमर्थता और अयोग्यता की कल्पना सहज ही की जा सकती है। जहाँदारशाह ने मुगल वंश की मर्यादा और गरिमा को मिट्टी में मिला दिया। सार्वजनिक स्थलों में उन्मुक्त विलासक्रीड़ा उसकी दिनचर्या थी। सतानोत्पत्ति की इच्छा से वे शेख नासिरुद्दीन अवधो की दरगाह में नमन स्नान करते थे। रात में लालकुँवर के अनेक निम्न वर्ग के प्रेमी मद्यपान के लिये एकत्र होते, मत्त होकर बादशाह को ठोकरो और थप्पड़ों से बेहाल कर देते। लालकुँवर की प्रसन्नता के लिये जहाँदारशाह यह सब सहता था^३। मुगल साम्राज्य ऐसे शासकों की छाया में कितने दिनों तक लडखड़ाता चल सकता था। जहाँदारशाह के समान अयोग्य शासक कितने दिनों तक इस गंभीर उत्तरदायित्व को सभाल सकते थे। अंत में स्थिति विषमता को इस सीमा पर पहुँची कि दिल्ली के लालकिले में मुगल वंशजों की एक भीड़ की भीड़ ग्रद्धनग्न और क्षुधापीडित रहने लगी—मुगल गरिमा और ऐश्वर्य के नाम पर एक करुण अवसाद ही शेष रह गया। अंग्रेजों द्वारा नजरबंद मुगल वंश के युवराज में 'बिगड़े बादशाह' के 'छैल रूप' का परिचय स्लीमैन तथा लार्ड हेस्टिंग्स के उल्लेखों में मिलता है^४।

धार्मिक परिस्थितियाँ

नैतिक तथा बौद्धिक ह्रास के इस युग में धर्म की उदात्त भावना पूर्ण रूप से लुप्त हो गई थी। धर्म का उद्देश्य होता है व्यक्ति और समाज के नैतिक स्तर को उच्च बनाना तथा जनता में लौकिक सवर्षों से टक्कर लेने की शक्ति उत्पन्न करना। परंतु रीतिकाल में धर्म के नाम पर भी अनेक विकृतियाँ ही अवशिष्ट रह गई थी। उस युग में अधविश्वास,

१ खुशहालचंद, ३६० बी।

२ डबारलनामा, ४६ बी, कामराज।

३ डच डायरी, वैलेनटाइन, ४, २६४।

४ दिस (चेरी ब्रैडी) ही वुड से टु मी इज रियली द ओनली लिकर दैट यू इगलिशमैन हैं वर्थ ड्रिंकिंग, ऐंड इट्स ओनली फाल्ट इज दैट इट मेक्स वन ड्रक टू सून्। टु प्रोलाग दिस प्लेजर ही यूज्ड टु लिमिट हिमसेल्फ टु वन लार्ज ग्लास एव्री आवर टिल ही गाट डेड ड्रक। टु थ्रार थ्री सेट्म आव् डासिंग वीमेन यूज्ड टु रिलीव ईच अदर इन ऐम्प्युजिंग हिम ड्यूरिंग दि इनटर्वल। —स्लीमैन, डब्ल्यू० एच०, रैबल्स ऐंड रिकलेक्शंस, वी० स्मिथ द्वारा संपादित, पृ० ५०६।

ही वाज इन टारटार ड्रेस, द रोब क्रिमजन सैटिन, द वेस्ट ब्ल्यू, लाइड विद फर, दो द वेदर वाज ओवरपार्वर्ग्ली हाट। आन हिज हेड बोर ए हाई कोनिकल कैप, आनमिटेड विद फर ऐंड ज्युवेल्स। हिज हेयर वाज लाग ऐंड फिज्ड ऐट द साइड्स जस्ट एनफ टु प्रिवेट इट्स हेगिंग आन हिज शोल्डर्स।

—आइजेट जर्नल आव् लार्ड हेस्टिंग्स, पृ० १५३-५४।

रुदियो का अनुसरण और बाह्याडंबरों का पालन ही धर्म की परिभाषा थी। ईश्वर और खुदा की प्रेरणामय भावनाओं के स्थान पर पड़ितों और मुनाओं का स्थूल और लौकिक अस्तित्व स्थापित हो गया था जिनकी समर्पण और वारों अश्विवास से युक्त प्रशिक्षित जनता के लिये वेदवाक्य अथवा खुदा की आवाज का काम करती थी। यही नहीं, ईश्वर और खुदा के प्रतिनिधि एक दूसरे को अपना प्रतिद्वंद्वी समझते थे, अतः दोनों में समझौते की भावना का पूर्ण अभाव हो गया था।

भक्तिकालीन माधुर्य भक्ति की उदात्त भावनाओं और उसके सूक्ष्म तत्व इस काल तक आते आते पूर्ण रूप में निरोद्धित हो चुके थे। लीलापुरुष श्रीकृष्ण के प्रति माधुर्य भक्ति अब राधाकृष्ण के स्थूल, मामूल शृंगार का रूप धारण कर चुकी थी। कृष्ण-भक्ति परंपरा के अनेक संप्रदायों में माधुर्य भक्ति की स्निग्ध मधुर उपासना के नाम पर स्थूल शृंगारपरक उपासना ही शेष रह गई थी जिसकी आड में नैतिक भ्रष्टाचार धर्म के क्षेत्र में उतनी ही प्रबलता में व्याप्त हो रहा था जैसे समाज के अन्य क्षेत्रों में। रागात्मिका भक्ति की उदात्त भावना को समझने और उसका अनुसरण करने की नतीजा तत्कालीन जनता के मस्तिष्क में परिष्कृत थी, न उदात्त भावना। प्रेमनक्षत्रा भक्ति को माधुर्य भक्ति और शृंगार रस को उज्ज्वल रस की सजा देकर चैतन्य संप्रदाय के आचार्य श्रीरूप-गोस्वामी ने अपने ग्रंथों में लौकिक शृंगार और प्रेम के उन्नत रूप की अभिव्यक्ति की थी और कृष्णभक्ति का एक दिव्य रूप स्थापित करके शृंगार तत्व की स्थूलताओं का परि-माजर्जन भी किया था, परंतु आगे चलकर इस भक्ति में से भावतत्त्व तो पूर्ण रूप से लुप्त हो गया, केवल स्थूल कामवेष्टाओं की अभिव्यक्ति में ही भक्तिपरक ग्रंथों की रचना की जाने लगी। पुण्यप्रेम के स्थान पर कामुक लोलुपता धार्मिक साहित्य और धर्म के ठेकेदार महंतों के जीवन में भी व्याप्त हो गई। चैतन्य और राधावल्लभ संप्रदायों की गहिर्याँ रसिक जीवन का केंद्र बन गई। रामभक्ति के विभिन्न संप्रदायों की भी यही गति थी। दनुजदलन, लोकरक्षक, मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्र अब सरयू किनारे कामक्रीड़ा करने लगे। धनुष उनका शृंगार बन गया, सीता के व्यक्तित्व का मार्ग और आदर्श युग की शृंगारिकता में लुप्त हो गया और सीता का भी केवल रमणीय रूप ही शेष रह गया। रसिक संप्रदाय के भक्त उनकी सयोगलीलाओं को भी सखी बनकर निहारने लगे। माधुर्यसाधना में निहित पुण्यभावना पूर्ण रूप से नष्ट हो गई, केवल भक्तजनों का स्त्री रूप, उनकी स्त्रैण चेष्टाएँ और शारीरिक स्थूल आकांक्षाएँ धर्म की विकृति बनकर ही रह गई। इन विकृतियों को 'उन्नयन' का नाम देना ईश्वरभावना का अपमान करना होगा। प्रायः सभी भक्ति का आध्यात्मिक रूप निरोद्धित हो गया और सर्वत्र एक स्थूल पाथिवता व्याप्त दिखाई देने लगी। कुछ संप्रदायों में गुरुपूजा को जो महत्व प्रदान किया गया उसमें गोपीभाव के प्राधान्य के कारण अनाचार के प्रचार में बहुत सहायता मिली। भक्ति में वित्तसेवा का भी बड़ा महत्व था, फलस्वरूप बड़े बड़े महंतों की गहिर्याँ छत्रवान् राजाओं के वैभव से टक्कर लेने लगी। एक प्रसिद्ध इतिहासकार के शब्दों में—'उनके विनास के लिये जो साधन एकत्रित किए जाते थे, अवध के नवाब तक को उनसे ईर्ष्या हो सकती थी या कुतुबशाह भी अपने अंतःपुर में उनका अनुसरण करता गर्व की बात समझते। मदिरों और मठों में देव-दासियों का सौंदर्य और उनके धुंवरुओं की झनकार मठाधीशों की सेवा और मनोरंजन के लिये सर्वदा प्रस्तुत रहती थी ? सूक्ष्म आध्यात्मिकता की विकृति का यह स्थूल रूप वास्तव में धर्म के इतिहास में एक अधकारपूर्ण पृष्ठ है।

निर्गुण भक्तिपरंपरा के अनुयायी अपेक्षाकृत अधिक सघटित और सयमी थे। बाह्याडंबर, ईश्वरीय भावना के प्रति सकीर्णता इत्यादि धर्म के पतनमूलक तत्वों का उनमें अभाव तो नहीं था परंतु सगुण मतवादियों की विकृतियों की तुलना में उनकी मात्रा

बहुत कम थी। सत्रहवीं शताब्दी में लालदासी, सतनामी और नारायणी पथ हुए। अठारहवीं शती में प्राणनाथ, धरनीदास, चरनदाम इत्यादि सत्तो ने अपने मत का प्रचार किया। मुसलमानों में भी चिश्तिया, निजामिया, कादिरिया आदि पथ प्रचलित थे परंतु इन सभी सत्तों में मौलिक प्रतिभा का पूर्ण अभाव हो गया था। सूक्ष्म मनन विवेचन की क्षमता इन सत्तों में न थी। किसी भी संप्रदाय में ऐसा महापुरुष नहीं हुआ जो समाज की गतिविधि को अपनी वारणी के ओज अथवा अपनी आत्मा की शक्ति द्वारा बदल देता। युग की विलासपरक दृष्टि से ये भी अप्रभावित न रह सके और इनके जीवन में भी ऐश्वर्य की तृप्णा जाग उठी। सूफी सिद्धांतों पर आद्धत धार्मिक रचनाओं में भी स्थूल शृंगार, नखशिखवर्णन और नायिकाभेदों का समावेश होने लगा।

कला की स्थिति

चित्रकला—रीतियुगीन काव्य के समान ही उस युग की चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ अधिकतर सामंतों और राजाओं के संरक्षण में विकसित और पल्लवित हुईं। डा० कुमारस्वामी ने राजपूत तथा मुगल शैली को विल्कुल पृथक् मानकर प्रथम को जनभावनाओं की प्रतीक तथा दूसरी को दरबारी स्वीकार किया था। परंतु नई शोधों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया गया है कि दोनों शैलियाँ एक दूसरे से काफी प्रभावित हैं। पहाड़ी शैली भी, स्थानीय वातावरण के चित्रण के पार्थक्य के साथ, राजस्थान शैली की ही एक प्रशाखा है^१।

रीतिकाल की दो शताब्दियों में प्राप्त चित्रफलकों के प्रतिपाद्य और शैली दोनों में ही एक परंपराबद्ध दृष्टिकोण दृष्टिगत होता है। जिस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में नूतन मौलिक प्रतिभा के अभाव और शृंगारप्रधान युगदर्शन के कारण रीतिबद्ध नायिकाभेदों का चित्रण प्रधान हो गया था उसी प्रकार चित्रकला के विकास में भी इन तत्वों का महत्वपूर्ण योग रहा। तत्कालीन चित्रकला के प्रतिपाद्य को प्रधान रूप से चार भागों में विभाजित किया जा सकता है

१—नायक तथा नायिकाभेदों के परंपराबद्ध चित्र

२—पौराणिक उपाख्यानो पर आद्धत चित्र

३—रागरागिनियों के प्रतीक चित्र

४—व्यक्तिचित्र।

कला जब स्वात मुखाय न होकर व्याख्यान तथा प्रदर्शन वृत्ति की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त होती है तब उसका रूप शुद्ध कला का नहीं होता। मध्यकालीन चित्रकला के उपर्युक्त सभी प्रतिपाद्य रूढ़ रूप में ग्रहण किए गए हैं। उनमें कलाकार का आत्मसंवेदन बहुत ही गौण है। उस युग के विलासपरक तथा प्रदर्शनप्रधान जीवनदर्शन को जिन परंपरागत मान्यताओं में अभिव्यक्ति मिली, चित्रकार की त्विका ने उन्हीं को चित्रों में उतार लिया। चित्रकला का विकास भी संरक्षकों की रुचि के अनुसार हुआ, इसलिये उसमें भी शृंगारिकता तथा प्रदर्शनवृत्ति का प्राधान्य है। प्रथम श्रेणी के चित्र अधिकतर राजपूत और पहाड़ी शैली में मुख्य रूप से प्राप्त होते हैं। इन चित्रों द्वारा स्त्रियों के नग्न-

१ मुगल आर्ट इज नो मोर मोहम्मडन।

—सिक्सटीथ ऐंड सेवेनटीथ सेंचरी मैनेस्क्रिप्ट्स ऐंड ऐलबम्स ऑफ़ मुगल पैंटिंग्स। राजपूत आर्ट कार्ड्स मुगल आर्ट। —गेट्ज।

सौंदर्य के चित्रण में कलाकार की नूतन कल्पना का आविर्भाव हुआ। फलस्वरूप एक कोमल ऐंद्रिय भावना की अभिव्यक्ति हुई जिसमें पूर्वकालीन विशदता और गाभीर्य का अभाव हो गया और एक नई शृंगारिक शैली का प्रादुर्भाव हुआ। उत्कठिता, वासकसज्जा, अभिमारिका इत्यादि सब प्रकार की नायिकाओं का चित्रण परंपराभूत वातावरण में ही किया गया। प्रगीनमय माधुर्य का स्पष्ट आभास इन चित्रों में मिलता है। नायिकाओं के चित्र अधिकतर नायिकाभेद काव्य के आधार पर बनाए गए हैं। संकेतस्थल पर पुष्प-शय्या बनाकर प्रियतम से मिलन के लिये उत्कठिता नायिका, विषम प्रकृति की चुनौती स्वीकार करके आगे बढ़ती हुई अभिमारिका इत्यादि शृंगार नायिकाओं के परंपराबद्ध रूप हैं। शृंगार की विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण इन रचनाओं का ध्येय है और शृंगार उनकी आत्मा। कृष्ण तो उस युग में शृंगारनायक थे ही, काँगड़ा (पहाड़ी) तथा राजस्थानी शैली में पौराणिक उपाख्यानो पर आद्धत जो चित्र बनाए गए उनमें शिव और पार्वती के शृंगारचित्रण में भी उस युग के कलाकार की वृत्ति अधिक रमी है। भानुदत्त की रसमजरी में चित्रित विभिन्न शृंगारिक परिस्थितियों का चित्रण भी हुआ। परंतु भावविभक्तिके अभाव में ये प्रयास ऐसे जान पड़ते हैं जैसे सहानुभूति से अनभिज्ञ कोई व्यक्ति रुढ़िगत मान्यताओं के आधार पर रस का विश्लेषण करने का प्रयास कर रहा हो। इसके अतिरिक्त उस युग के शृंगारनायक तथा रूपनायिका बाजबहादुर और रूप-मती बेगम के भी शृंगारपूर्ण चित्र अंकित किए गए।

शृंगार वातावरण की अभिव्यक्ति प्रायः बारहमासा और ऋतुचित्रण के रूप में हुई है। वसंत और वर्षा को उद्दीपन रूप में अंकित करनेवाले अनेक चित्र हैं। जयदेव के गीतों के चित्रण में भी उस युग के रसिक कलाकार को नग्न नारीसौंदर्य और शृंगार की अभिव्यक्ति का अवसर मिला। राधा के अनावृत सौंदर्य का जो अकन उसके स्नान संबंधी चित्रों में हुआ है वह जयदेव और विद्यापति की सद्यः स्नाता का प्रत्यकन है।

मुगल सम्राटों के संरक्षण में अनेक व्यक्तिचित्रों की रचना हुई। अकबर के समय से ही व्यक्तिचित्रों का निर्माण आरंभ हो गया था। उधर जहाँगीर की तो यह महत्वाकांक्षा थी कि वह अपने जीवन की समस्त प्रमुख घटनाओं को चित्रबद्ध करा ले। इसी इच्छा की पूर्ति के लिये मुगल दरबार तथा शिकार के अनेक दृश्यों के चित्र उसने बनवाए। वास्तव में इन चित्रों में मुगल गरिमा अपने मौलिक रूप में सुरक्षित है परंतु जहाँगीर की मृत्यु के बाद ही भारतीय चित्रकला की आत्मा मर गई। बाह्य सौंदर्य की गरिमा कुछ समय तक बनी रही, आगे चलकर मात्र अलकरण ही चित्रकला का ध्येय बन गया।

उत्तर मध्यकालीन चित्रकला के प्रतिपाद्य पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर हिंदी काव्य की शृंगारभावना का समानांतर रूप शृंगारिक चित्रों में अपने समस्त उपकरणों के साथ थोड़े बहुत अंतर से विद्यमान है, दूसरी ओर रीतिकालीन काव्य का दूसरा प्रधान स्वर प्रशस्तिगान का रूप भी व्यक्तिचित्रों, दरबारी गरिमा और ऐश्वर्य-चित्रण की प्रवृत्ति में विद्यमान है। मुगल दरबार के चित्रों के अनुकरण पर अनेक राजपूत राजाओं के दरबार, उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं तथा उनके व्यक्तित्व से संबंधित अनेक चित्र खींचे गए। राजकीय संरक्षण के कारण उनमें दरबारी कला की सब विशेषताएँ मिलती हैं।

तत्कालीन चित्रकला की अभिव्यजना शैली में भी काव्य में प्रचलित शैलियों से काफी साम्य है। परंपराबद्ध, अलंकृत, अमसिद्ध और अमत्कारपूर्ण शैली इस युग की चित्रकला की भी प्रधान विशेषता थी। शाहजहाँ के समय से ही चित्रकला में अलकरण की अतिशयता का आरंभ हो गया था जिसके कारण कला की आत्मा बुझने लगी थी।

चित्रविचित्र फूलपत्तो, तितलियो आदि से युक्त सुंदर अलंकृत हाशिए और सुनहले वर्णों की आभा का स्पर्श ही चित्रकला के साध्य बन गए थे। प्रतिपाद्य महान् होता है तो शैली भी उसी के अनुरूप होती है। शाहजहाँ के प्रदर्शनप्रिय व्यक्तित्व के फलस्वरूप चित्रकलाविदों का ध्येय उसके दरबार के ऐश्वर्य, विशेष उत्सवों के आयोजन तथा रत्नजटित पर्दों इत्यादि का चित्रण करना ही रह गया। आंतरिक प्रेरणा के अभाव के कारण उनमें भावाभिव्यक्ति की सजीवता नहीं रह गई थी क्योंकि शाहजहाँ के ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति के लिये कलाकार को संवेदना की नहीं, सुनहले रंगों और आलंकारिक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती थी। श्रीरायकृष्णदास के शब्दों में—‘अब चित्रों में हृद से ज्यादा रियाज महीनकारी, रंगों की खूबी एवं अग्रप्रत्यंगों की लिखाई, विशेषतः हस्तमुद्राओं में बड़ी सफाई है और कलम में कहीं फमजोरी न रहने पर भी दरबारी अदबकायदों की जकडबदी और शाही दबदबे के कारण इन चित्रों में भाव का सर्वथा अभाव, बल्कि एक प्रकार का सन्नदा पाया जाता है, यहाँतक कि जी ऊबने लगता है।’

औरंगजेब के युग में अन्य कलाओं की भाँति चित्रकला का भी ह्रास हुआ है। कलाओं के प्रति उसकी उपेक्षा तथा उसके उत्तराधिकारियों की अक्षमता के कारण अनेक कलावतों को राजाओं और सामंतों का आश्रय लेना पड़ा। इसी के फलस्वरूप शाहजहाँ के समय में अभिव्यजना को साध्य मान लेने की जो प्रवृत्ति आरंभ हुई थी वह अब राजस्थान तथा कोंगडा शैली में दिखाई पड़ने लगी। नारीसौंदर्य के चित्रण में ऐंद्रिय भावनाओं का प्राधान्य तो रहा ही, नारी के अवयवों से मिलती जुलती रेखाओं के द्वारा प्रकृतिचित्रण करने के प्रयोग भी किए गए। वृक्षों की पत्तहीन शाखाओं को नारीरूप देकर नाजूक-छायी से उनका चित्रण किया गया। शृंगार के उद्दीपन रूप को जितना महत्व कविताओं में प्रदान किया गया उतना ही चित्रकला में भी। यहाँ भी प्रकृति का चित्रण शृंगार के उद्दीपन रूप में ही किया गया है। प्रकृति कला के प्रेरक संवेद्य के रूप में तो आई ही नहीं है। उदाहरण के लिये गढ़वाल शैली में चित्रित रूपमती और बाजबहादुर की क्रीडा के चित्र में रूपमती के शरीर की वक्रताओं से होड लेती हुई वृक्षों की टहनियों, उसके गौर वर्णों को चुनौती देती हुई बिजली की चमक उद्दीपन रूप में ही चित्रित की गई है। इसी प्रकार ‘अभिसारिका’ चित्र का वातावरण मान्य रूढ़ियों के आधार पर ही अंकित है। समस्त प्रकृति पर ही मानवीय चेतना के आरोपण में जिस अभिव्यजना कौशल का परिचय मिलता है उसमें कहीं मौलिक उद्भावना के सहारे रसाभिव्यक्ति की भी क्षमता होती तो ये चित्र छायावादी कला के अनुपम प्रेरणास्रोत बन जाते। परंतु इन चित्रों में तो प्रकृति के विविध उपकरणों को रूढ़िगत प्रतीकों के रूप में ग्रहण किया गया है। अभिसारिका के चित्रण में बिजली की क्षीण रेखा में नायिका का सौंदर्य, मूसलधार वर्षा, सर्प, तूफानी झंझा, उसकी विह्वल कामनाओं के प्रतीक रूप में ही ग्रहण किए गए हैं।

उधर कृष्णलीला के विभिन्न प्रसंगों पर लिखे गीतों के आधार पर कुछ चित्र अंकित किए गए जिनकी पृष्ठभूमि विशद है। परंतु उनमें चित्रित स्त्रीपुरुषों में भी उचित भावाभिव्यक्ति का अभाव है। कठपुतलियों अथवा गुड़ियों के समान भावशून्य मुखकृतियों में अधिकतर रसाभास की सी स्थिति आ गई है। भानुदत्त की रसमजरी पर आद्धत ‘एक स्थिति’ नामक चित्र में नायक की गोद में बैठी हुई दो नारियाँ शृंगाररस की अभिव्यक्ति करने के बदले नायक से हाथ छुड़ाकर भागती हुई सी जान पड़ती है। नायक और नायिकाओं की आवृत्तियाँ वहाँ पूर्ण रूप से भावशून्य हैं।

अभिव्यजना शैली में चमत्कारवाद की विकृति के उदाहरण भी इस युग की कला में विद्यमान है। हयनारी, गजनारी, नवनारीकुजर ऐसे चित्र हैं जिनमें उस युग के स्थूल श्रृंगार और चमत्कारवादी प्रवृत्ति दोनों की संयुक्त अभिव्यक्ति मिलती है। अनेक नारियों के बहुरंगी वस्त्रों तथा उनके विविध अंगों के संयोजन द्वारा ये चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। स्त्रियों के अंग प्रत्यंगों को सुविधानुसार तोड़ मरोड़कर हाथी और घोड़े के चित्र बनाए गए हैं जिनपर कही कृपा आरोहित है तो कही कोई मुगल सम्राट्।

मध्यकालीन चित्रकला के विशेषज्ञ श्री गेट्ज के शब्दों में, ईसा की १९वीं शताब्दी के मध्य से ही भारतीय चित्रकला का अवमान होने लगा था। उस युग के कलाकार को न तो रेखाओं का परिष्कृत ज्ञान था और न रंग के सतुलित प्रयोगों का। उनके चित्र भावशून्य तथा निर्जीव प्रतिमाओं के समान होते थे। चरम उत्थान की प्रतिक्रिया अवमान में होती तो अवश्य है, परंतु उस युग की कला तो गहन जीवनदृष्टि और आध्यात्मिक शक्ति के अभाव में पूर्ण रूप से पगु हो गई थी।

स्थापत्य कला

मुगल स्थापत्य कला का सर्वप्रथम उदाहरण है हुमायूँ का मकबरा। इसके निर्माण से भारतीय स्थापत्य कला के इतिहास में एक नए युग का आरंभ हुआ। एक देश की प्रचलित शैली को दूसरे देश की परिस्थितियों के अनुसार ढालने की चेष्टा करने में कुछ परिवर्तन अवश्यभावी होते हैं। फारसी वास्तुशैली को भारतीय शिल्पियों ने सग-मर्मर और लाल पत्थरों में काटकर जो परिवर्तन किए उससे भारत में नए वास्तुशिल्प-विधान का प्रादुर्भाव हुआ। मुगल बादशाहों ने इसी शैली के अनुकरण पर अपनी इमारतों का निर्माण कराया। यहाँ तक कि विश्व के चमत्कार 'ताज' के निर्माण में भी इसी शैली का प्रयोग किया गया है। रीतिकाल के पहले मुगल भवननिर्माण शैली में प्रभावोत्पादक और विशद सिद्धांतों का आधार ग्रहण किया गया था। अकबर द्वारा निर्मित आगरा और लाहौर के किलों की लाल पत्थर की दीवारों की जोड़ में से एक बाल निकलने का भी अवकाश नहीं था^१। हाथीपोल की कुशल निर्माणकला के द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि उसके शिल्पी अपनी कृतियों में कलात्मक तथा प्रभावात्मक गरिमा का समन्वय करने के लिये कितने जागरूक थे। इस स्थापत्य में कला का एक समन्वित और सतुलित रूप पाया जाता है। बुलंद दरवाजे के विराट् गभीर स्वरूप में, एक संपूर्ण और व्यापक जीवनदृष्टि व्याप्त है, पर इस गभीर व्यापकता के साथ ही अकबर के समय की कुछ इमारतों में अलकरण और चमत्कार की प्रवृत्ति भी धीरे धीरे आरंभ हो गई थी। मरियम बेगम और राजा बीरबल के प्रासादों तथा शेख सलीम चिश्ती के मकबरे की पच्चीकारी कलाशिल्प के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। राजा बीरबल के महल की अलंकृत पच्चीकारी तो आश्चर्यजनक है। अकबर द्वारा निर्मित दीवानेखास में भी एक चमत्कारपूर्ण प्रभावोत्पादन की चेष्टा सी दिखाई पड़ती है। प्रस्तर के अर्धचंद्रों पर आर्द्रत अलिद तथा मध्य स्तंभ के साथ उनका संयोजन देखकर चित्त चमत्कृत हो उठता है। लेकिन इतनी बोझिल आकृति के होते हुए भी उसमें गंभीर्य का अभाव नहीं है। 'ज्योतिषी मंच' तथा स्तूपाकार पंचमहल के विन्यास और भ्रमसिद्ध पच्चीकारी में यही प्रवृत्ति प्रधान है। परंतु तद्दुगीन वास्तुकारों ने चमत्कार तथा अलकरण को साध्य रूप में नहीं स्वीकार किया, यही कारण है कि उनकी इमारतों का प्रभाव आकर्षक होने के साथ साथ विशद, गभीर तथा व्यापक भी है।

मुगल बादशाहों के सरक्षण में विकसित होती हुई मुगल इमारतों की शैली के अनुकरण पर अनेक मदिरों तथा प्रासादों का निर्माण हुआ। जोधपुर, औरंगा, दतिया इत्यादि के राजभवनों की शैली में मुगल शैली का अनुकरण किया गया है। लेकिन अलकरण उनका अपना है। अलकरणविधान के आतिरिक्त उनके विन्यास में मौलिक सृजनप्रतिभा का भी परिचय मिलता है। मुगल शैली के साथ हिंदू वास्तुशिल्प के अलकरण के सामंजस्य के ज्वलत उदाहरण अबर तथा जोधपुर के राजभवन हैं।

जहाँगीर के समय से वास्तुकला के क्षेत्र में हमें उन सभी प्रवृत्तियों का आभास मिलने लगता है जो विलासप्रधान और ऐश्वर्यपरक जीवनदृष्टि के लिये अनिवार्य होती है। जहाँगीर के समय में जहाँ एक ओर वास्तुशिल्प का आदर्श अलकरण मान लिया गया, वही विशद, व्यापक तथा गंभीर प्रभावोत्पादन के स्थान पर पाषाण के माध्यम से ललित और कोमल अभिव्यक्ति ही शिल्पी का प्रधान लक्ष्य बन गई। जहाँगीर चित्रकला का प्रेमी था, वास्तुशिल्प का नहीं, अतः उसकी रुचि के प्रभाव के कारण 'बुलद दरवाजा' के निर्माता अकबर का मकबरा उसके व्यक्तित्व के अनुरूप गंभीर नहीं बन पाया। अकबर के मकबरे की आखिरी मजिल, जो जहाँगीर के आदेश से ढहाकर फिर से बनाई गई, अलकरण तथा लालित्य में अनुपमेय है परंतु उसमें गंभीर्य का अभाव है। जहाँगीर के पश्चात् वास्तुकला में अलकरण के उपकरण अनुदिन बढ़ते गए तथा उसकी निर्माणशैली में एक स्वरूप सस्पष्ट आता गया। जहाँगीर के मकबरे में गंभीर्य का अभाव है। सगमर्मर का अपव्यय और भित्तिचित्रों में अलकरण के होने हुए भी उसकी गरिमा कृत्रिम जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त जहाँगीर ने भारतीय और फारसी निर्माणशैलियों के समन्वय के स्थान पर परंपराबद्ध फारसी निर्माणशैली को ही प्रोत्साहन दिया। अब्दुर्रहमान खानखाना का मकबरा हुमायूँ के मकबरे के अनुकरण पर बना। इस इमारत के निर्माण द्वारा जहाँ एक ओर नई मौलिक प्रतिभा के अभाव का प्रमाण मिलता है, वहाँ दूसरी ओर एतमाद-उद्दौला के मकबरे में वास्तुकला ने पूर्ण स्वरूप धारण कर लिया है। इसकी निर्माण-योजना साआज़ी नूरजहाँ ने की थी। श्वेत सगमर्मर में फिलिमिल पच्चीकारी तथा मूल्यवान पत्थरों के अलकरण के कारण ऐसा जान पड़ता है मानो कोई बहुमूल्य आभूषण भवन के रूप में खड़ा कर दिया गया है।

शाहजहाँ के शासनकाल में स्थापत्य कला का चरम विकास हुआ। निर्माण-शैली तथा अलकरण दोनों ही क्षेत्रों में नए प्रयोग किए गए। अकबर द्वारा निर्मित लाल पत्थर के अनेक भव्य भवनों को ढहाकर उनके स्थान पर सगमर्मर के मंडपों का निर्माण किया गया। सगमर्मर के कटावदार महराब, मूल्यवान पत्थरों की जड़ाई, परिष्कृत सज्जा तथा सूक्ष्म अलकरण शाहजहाँ द्वारा निर्मित भवनों की मुख्य विशेषताएँ हैं। दीवाने आम, दीवाने खास, खासमहल, शीशमहल, मुसम्मन बुर्ज तथा मच्छीभवन शाहजहाँ द्वारा बनवाई गई मुख्य इमारतें हैं। इन सभी की आत्मा शृंगारिक है। सूक्ष्म पच्चीकारी, चित्रलिखित सी सजीवता, सुनहले तथा रंगीन स्तंभ, इन सभी में एक विलासपरक, ऐश्वर्यप्रधान जीवनदृष्टि का परिचय मिलता है। मोतीमहल, हीरामहल, रंगमहल, नहरेबहिश्त तथा शाहबुर्ज नाम ही इस तथ्य की पुष्टि के लिये यथेष्ट हैं।

निर्माणयोजना की दृष्टि से शाहजहाँ की प्रमुख इमारतों में भी मौलिकता का अभाव है। जामामस्जिद तथा ताजमहल दोनों की योजना हुमायूँ के मकबरे के अनुकरण पर हुई है जो मुगलस्थापत्य परंपरा की प्रथम इमारत है। ताज की गरिमा तथा वैभव उसकी सज्जा तथा अलकरण पर अधिक निर्भर है। रंगीन प्रस्तरखंडों द्वारा निर्मित नमूने, प्रवेशद्वारों पर खचित सुंदर हाथिए विलक्षण कलासौष्ठव के उदाहरण हैं। वास्तव

मे शाहजहाँ के शिल्पी ने अपनी कला के द्वारा पुष्पवदना मुमताज की प्रस्तरसमाधि में भी फूल की सी कोमलता ला दी है। सफेद सगममर की आत्मा में शाहजहाँ का ऐश्वर्य तथा उसके कोमल प्रभाव में उसका प्रेम सदा के लिये अमर हो गया है।

शाहजहाँ काल में स्थापत्यकला का चरम विकास हुआ। औरंगजेब के समय में मानो उसकी प्रतिक्रिया हुई और उसमें पतन के चिह्न दृष्टिगम्य होने लगे। शाहजहाँ कालीन मच्छीभवन के लालित्य में ही मुगल स्थापत्य के पतन का संकेत मिल जाता है। औरंगजेब कला से घृणा करना था, परन्तु फिर भी उसके संरक्षण में कुछ मस्जिदों और मकबरों का निर्माण हुआ। शिल्पी अताउद्दौला ने रनिया बेगम के मकबरे का निर्माण ताजमहल की शैली पर किया परन्तु इस मकबरे को देखने से ही उसकी हीन रूचि तथा अल्प ज्ञान का परिचय मिल जाता है। निम्नराज अलकगण के अतिचार तथा रूचिविहीन निर्माणयोजना के कारण यह इमारत बिल्कुल ही साधारण बनकर रह गई है। बनारस की मस्जिद भी तद्युगीन कला की अस्थिर तथा दुर्बल प्रकृति का परिचय देने के लिये काफी है। इन सभी इमारतों का निर्माण फारस की परंपराबद्ध शैली के अनुकरण पर हुआ है। सफदरजंग के मकबरे की योजना हुमायूँ के मकबरे की शैली के ढंग पर हुई है। परन्तु दोनों के प्रभाव में आकाश पाताल का अंतर है^१।

१६वीं शताब्दी में लखनऊ के एक मकबरे में ताज की अनुकृति बनाने की चेष्टा की गई जो हीन तथा अपरिष्कृत रूचि का साकार उदाहरण है। यह समझना कठिन हो जाता है कि बाह्य रूप में इतना साम्य होते हुए भी दोनों का प्रभाव इतना भिन्न कैसे है? ताजमहल तथा ताजमहल की इस अनुकृति के द्वारा मुगल स्थापत्य कला के चरम विकास और उसके अवसान का मूल्यांकन किया जा सकता है। औरंगजेब के मकबरे में न मार्दव है, न गाभीर्य और न ऐश्वर्य। अनेक सामंतों के मकबरे भी इससे उत्कृष्ट हैं। न जाने कैसे काफ़िरो के भयकर शत्रु औरंगजेब की समाधि पर तुलसी का एक पौधा अपने आप निकल आया है।

इस युग में निर्मित लखनऊ की इमारतों की हीन रूचि तथा अपरिष्कृति को देखकर भी युगप्रतिभा के ह्रास का परिचय मिलता है। लखनऊ की प्रायः सभी इमारतों में ऐसा जान पड़ता है मानो शिल्पी ने उस लिपि का अनुकरण करने का प्रयास किया हो जिसका न तो वह अर्थ समझता है और न जिसकी वर्णमाला से ही उसका परिचय है।

इस प्रकार रीतियुगीन स्थापत्य कला के विकास पर दृष्टि डालने से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि रीति साहित्य की समानांतर प्रवृत्तियाँ ही इस क्षेत्र में भी चलती रही हैं। परंपराबद्ध शैली, अलकरण की अतिशयता, चमत्कारवृत्ति तथा अनुदिन शृंगारी और रोमानी वातावरण की सृष्टि का प्रयास, ये सभी प्रवृत्तियाँ रीतियुगीन साहित्य में भी थोड़े बहुत अंतर के साथ विद्यमान हैं।

१ हुमायूँ टूँब एक्सप्रेसज इन एनी लाइन इट्स पावर ऐंड एक्जल्टेंट बाइटलिटी—दैंट 'ड्यू आर्व् मार्निंग' ह्विच मार्क्स द बिगिनिंग आर्व् एनी न्यू मूवमेंट। टूँब आर्व् सफदरजंग सीम्स टु बी स्ट्राइविंग बाई आर्टिफिशेल मोन्स टु रिप्रोड्यूस दि ओरिजिनल विंगर, ह्वाइल इन रियालिटी इट इज़ डिकेडेंट। देयर इज नो बेलैस्ड प्रोपार्शन् ऐंड ब्राड सिंपुल प्लेन। इट बाज ए फाइन एफर्ट टु रीकैप्चर दि ओल्ड स्पिरिट आर्व् मुगल स्टाइल, बट बाई दिस टाइम दि आर्ट हैड गान बियाड एनी होप आर्व् रिकाल।

—पर्सौ ब्राउन, मान्युमेन्स आर्व् द मुगल्स, केब्रिज हिस्ट्री आर्व् इंडिया।

संगीत शास्त्र तथा कला

रीतियुग में संगीत कला की स्थिति भी अत्यंत शोचनीय हो गई थी। मुगल साम्राज्य की स्थापना के पहले भारतवर्ष में संगीत की एक सबल शास्त्रीय पृष्ठभूमि का निर्माण हो चुका था। ग्वालियरनरेश मानसिंह के संरक्षण में भारतीय संगीत उत्थान की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। संगीत की सबसे विशद और गंभीर शैली 'ध्रुपद' का आविष्कारक इन्हीं को माना जाता है। संगीत कला और शास्त्र दोनों को ही विदेशियों के आक्रमण द्वारा बहुत आघात पहुँचा। संगीत कला तो अनेक व्यवधानों से टक्कर लेती हुई तथा विदेशी प्रभावों को आत्मसात् करती हुई पनपती रही, परंतु शास्त्र के क्षेत्र में मौलिकता का पूर्ण अभाव हो गया। सिद्धांत अथवा शास्त्र कला के व्यावहारिक रूप के आधारस्तंभ होते हैं। एक के ध्वंस के साथ दूसरे का पतन अनिवार्य हो जाता है। मुगल दरबार में अधिकांशतः मुसलमान कलाकारों को संरक्षण प्राप्त हुआ। आईने-अकबरी में उल्लिखित ३६ संगीतज्ञों में से केवल ४ हिंदू हैं, परंतु अकबरकालीन संगीत का इतिहास पूर्णतः अधकारमय नहीं है। जहाँ तानसेन आज भी सर्वश्रेष्ठ कलावत के पद पर आसीन हैं, वही शास्त्र के क्षेत्र में पुंडरीक विट्ठल का स्थान भी उतना ही महत्वपूर्ण है। जहाँगीर के समय में पंडित दामोदर ने संगीतदर्पण की रचना की जो संगीत शास्त्र का अमर ग्रंथ है।

शाहजहाँ के समय में संगीत के क्षेत्र में भी वही प्रदर्शनप्रियता और अलंकरण की प्रवृत्ति दिखाई देती है। अहोबल का प्रसिद्ध शास्त्रग्रंथ संगीतपारिजात इसी समय का माना जाता है। इसमें मान्य २९ विकृत स्वरों के नाम ही तत्कालीन संगीत की अलंकरण प्रवृत्ति का परिचय देने के लिये यथेष्ट है।^१ व्यावहारिक रूप में यद्यपि उनका प्रयोग इतने रूपों में नहीं हुआ^२ तथापि सिद्धांत रूप में इन सुक्ष्मताओं की स्वीकृति से भी उसकी आलंकारिक प्रवृत्ति का परिचय तो मिलता ही है। शाहजहाँ के दरबार में अनेक गायक हुए जो तानसेन की गंभीर शैली में आलंकारिक गिटकियाँ जोड़कर उन्हें अपने युग की प्रवृत्तियों में रजित कर रहे थे।

औरंगजेब अपने दरबार से संगीत कला का चिह्न तक मिटा देना चाहता था। उसका युग संगीत के अपकर्ष का युग था। उस युग के संगीतज्ञों का जीवन औरंगजेब की धार्मिक सकीर्णता और कट्टर गंभीर्य के बिल्कुल विपरीत था, अतएव वे केवल दिल्ली दरबार से ही बहिष्कृत नहीं किए गए बल्कि साधारण संगीतगोष्ठियों पर भी राजकीय प्रतिबंधों के कारण उनका जीवननिर्वाह दूभर हो गया। फलस्वरूप संगीतज्ञ शाही संरक्षण छोड़कर नवाबों और राजाओं की शरण में जाने के लिये विवश हो गए। इस काल के केवल एक ही संगीताचार्य भावभट्ट का उल्लेख मिलता है। वे बीकानेरनरेश अनूपसिंह के आश्रय में थे। अनूप संगीतरत्नाकर, अनूपविलास तथा अनूपाकुश उनके मुख्य ग्रंथ हैं, परंतु इन सभी रचनाओं में मौलिकता का पूर्ण अभाव है।

इस युग के सिद्धांत सबंधी ग्रंथों में मौलिकता का पूर्ण अभाव है। अहोबल ने नए स्वरनामों का उल्लेख अवश्य किया है परंतु ये स्वर अनेक पुराने स्वरों के नए नाम मात्र हैं। अहोबल ने इस तथ्य को स्वयं स्वीकार किया है^३। इसके अतिरिक्त आधुनिकवासी

१ संगीतपारिजात, श्लोक ४६३-४६७।

२ वही, श्लोक ३२४-३२६।

३ वही (रागाध्याय, श्लोकसंख्या ४६४-४६७)।

प० सोमनाथ तथा व्यंकटभरवी का नाम इस प्रमग मे उल्लेखनीय है । यद्यपि इन दोनों संगीताचार्यों का सबध दक्षिण की संगीतपद्धति से ही रहा है, तथापि उत्तर भारतीय संगीत-पद्धतियों का प्रभाव उनकी रचनाओं पर स्पष्ट दिखाई देता है । इस काल मे लिखी हुई कुछ ऐसी रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं जिनकी रचना हिंदी के प्रसिद्ध कवियों ने की थी । इन रचनाओं का उद्देश्य तत्त्वान्वेषण की अपेक्षा मनोरंजन ही अधिक जान पड़ता है । उदाहरण के लिये देव कवि कृत रागरत्नाकर को लिया जा सकता है । इस रचना पर दामोदर पंडित कृत संगीतदर्पण का प्रभाव सर्वत्र दिखाई पड़ता है ।

औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के दरबार मे संगीत को प्रोत्साहन मिला । परंतु तबतक संगीत की आत्मा बहुत कुछ मर चुकी थी । मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार मे उच्च श्रेणी के प्रतिष्ठित संगीतज्ञ रहत थे । परंतु इस पुनरुत्थान मे अनुरजन, अलकरण तथा चामत्कारिक प्रयोग का ही प्राधान्य है । ध्रुपद का स्थान खयाल, ठुमरी, टप्पा और दादरा ने ले लिया । अदरग और सदरग के खयाल से दिल्ली दरबार की विलासयुक्त रंगीनी मे योग मिला । शोरी के टप्पों के आलंकारिक स्वर बहुत लोकप्रिय हुए । तराना, रेखता, कव्वाली इत्यादि प्रणालियों का प्रचार इसी युग मे अधिक हुआ । इसमे से अधिकांश श्रृंगारिक है ।

रीतियुग मे संगीत कला तथा संगीत शास्त्र की गतिविधि पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है कि संगीत के प्रतिपाद्य तथा शैली का भी वही रूप था जो तत्कालीन हिंदी काव्य का था । अकबर के समय मे ही लोचन की राजतरंगिणी, पुंडरीक विट्ठल के सद्भागचंद्रोदय, रागमजरी, रागमाला तथा नर्तननिर्णय लिखे जा चुके थे । रीतियुग मे तथा उसके कुछ समय बाद भावभट्ट, हृदयनारायण देव, मुहम्मद रजा, महाराजा प्रतापसिंह तथा कृष्णानंद व्यास द्वारा प्रणीत संगीत शास्त्र सबधी अन्य ग्रंथ भी निर्मित हुए, जिनमे रीतियुगीन लक्षणग्रंथों की प्रवृत्तियों का ही प्राधान्य रहा । काव्य और चित्रकला मे जिस प्रकार नायिकाभेद का चित्रण अबाध गति से होने लगा उसी प्रकार विविध रागरागिनियों को उनके गुण तथा प्रभाव के आधार पर नायक तथा नायिकाओं के रूप मे बद्धकर उनकी व्याख्या की गई । परंतु इन सब विवेचनाओं मे नूतन मौलिकता का प्रायः अभाव ही रहा । हिंदी काव्यशास्त्र के समान ही तत्कालीन संगीत शास्त्र का आधार भी संस्कृत ही है । उस समय के संगीतशास्त्रकार भी सामान्य टीकाकार मात्र थे ।

तत्कालीन संगीत की शैली तथा प्रतिपाद्य मे चमत्कारसृष्टि की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है । अनेक स्थलों पर रागों के देवरूप चित्रण मे श्लेष द्वारा आधार तथा आधेय मे धर्मसाम्य और गुणसाम्य की स्थापना की गई है । यही नहीं, विविध गायनशैलियों को एक ही गीत मे गुंफित करते हुए चमत्कारसृष्टि करना उस युग की संगीत कला की चरम सिद्धि समझी जाती थी । तराना, दादरा, ठुमरी इत्यादि का एक ही गीत के अतर्गत समावेश इसी चमत्कारवादी प्रवृत्ति का द्योतक है ।

संगीत के द्वारा श्रृंगारिक भावनाओं का उद्दीपन करना ही संगीतज्ञों का मुख्य उद्देश्य रह गया था । फलस्वरूप उनकी शब्दयोजना भी अधिकतर श्रृंगारपरक ही होती थी । चमत्कारप्रदर्शन की प्रवृत्ति भी तत्कालीन संगीत मे प्रधान रूप से दिखाई पड़ती है । रीतिकाल की लोकप्रिय संगीतशैलियों के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट रूप मे प्रमाणित हो जाती है । खयाल शैली की तानों, खटकों, मुरकियों तथा अन्य आलंकारिक प्रयोगों मे चमत्कार तत्त्व ही अधिक रहता था । खयाल के गीत अधिकतर श्रृंगारिक होते हैं और उनमे अधिकतर किसी स्त्री की ओर से प्रणय अथवा विरह की अभिव्यक्ति की जाती है । वास्तव मे रीतिकालीन कवि और संगीतज्ञ दोनों की एक ही दशा थी, दोनों ही आश्रय-

दाता की रुचि पर पल रहे थे, अतएव उनकी प्रसन्नता के लिये दोनों को ही शृंगारपरक प्रतिपाद्य और कलाप्रधान चमत्कारवादिता को अपनाना पड़ा। रीतिकालीन चमत्कार-प्रदर्शन की वृत्ति चतुरंग शैली में भी दिखाई पड़ती है जिसमें ख्याल, तराना, सरगम और त्रिवट (मृदंग के बोल) सबके मिश्रण से संगीत की वैचित्र्यपूर्ण रचना की जाती है। तरानों में भी लय का चमत्कार और द्रुत तानों का प्रयोग उस युग की चमत्कारिक वृत्ति का ही परिचय देते हैं। शब्दयोजना के बिना 'ताना', 'दे', 'दिना', 'दानी' तथा 'तोम' इत्यादि अर्थहीन शब्दों के द्वारा संगीतयोजना में चमत्कारप्रदर्शन का ही बाहुल्य रहता है। टप्पा भी अपनी शैली के हल्केपन के लिये प्रसिद्ध है। इसकी गति क्षुद्र और चपल होती है। ये केवल उन्हीं रागों में गाए जाते हैं जिनका विस्तार अपेक्षाकृत सक्षिप्त होता है। रीतिकालीन संगीत में गभीर और विशद तत्वों के अभाव का यह भी एक ज्वलत प्रमाण है। टप्पा पहले पंजाब में ऊँट हॉकनेवाले गाया करते थे। पहले कहा जा चुका है कि मुहम्मदशाह ने उसकी संगीतयोजना में आलंकारिक गिटकियों का योग देकर उसे रीतिकालीन वातावरण के अनुकूल बना दिया। नवाब वाजिदअली शाह के संरक्षण में ठुमरी शैली का प्रचलन हुआ जो अतिशय चपल, स्त्रैण और शृंगारप्रधान थी। डा० श्यामसुंदरदास ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है—'अवध के अधीश्वर वाजिदअली शाह ने ठुमरी नामक गानशैली की परिपाटी चलाई। यह संगीतप्रणाली का अन्यतम स्त्रैण और शृंगारिक रूप है। इस समय अकबर के समय के ध्रुपद की गभीर परिपाटी, मुहम्मदशाह द्वारा अनुमोदित ख्याल की चपल शैली तथा उन्हीं के समय में आविष्कृत टप्पे की रसमय और कोमल गायकी और वाजिदअली शाह के समय की रंगीली ठुमरी अपने अपने आश्रय-दाताओं की मनोवृत्ति की ही परिचायक नहीं, लोक की प्रौढ़ रुचि में जिस क्रम से पतन हुआ उसका इतिहास भी है।'

रीतिकाल की अन्य मुख्य शैलियाँ हैं गजल और त्रिवट। इनमें भी चमत्कार और स्थूल शृंगारिकता का प्राधान्य था। त्रिवट में मृदंग इत्यादि के बोलों को रागबद्ध करके चमत्कार उत्पन्न किया जाता था और गजल की शृंगारपरक प्रवृत्ति तो प्रसिद्ध ही है।

संगीत, कला तथा साहित्य की ये समानांतर प्रवृत्तियाँ तथा उनमें व्याप्त ऐक्य उस युग के जीवनदर्शन का प्रमाण बनने के लिये यथेष्ट है। स्वार्थपरायण राजनीतिक व्यवस्था, सामंतीय वातावरण, राजनीतिक विकेंद्रीकरण और समाजिक अव्यवस्था तथा विलासमूलक, वैभवजन्य, प्रदर्शनप्रधान अलंकरण प्रवृत्ति का तत्कालीन साहित्य एवं विविध ललित कलाओं की गतिविधि पर बड़ा गहरा प्रभाव रहा है। तदयुगीन कलाकार की आत्मा पर ये बाह्य परिस्थितियाँ एक प्रकार से हावी हो गई थीं। चेतना के सूक्ष्म, सार्वभौम और नित्य तत्व बाह्य जीवन की स्थूल साधना में लुप्त हो गए थे। स्थूल की सूक्ष्म पर इस विजय के कारण ही इस युग में 'रीतिकाव्य' लिखा गया।

द्वितीय अध्याय

रीतिकाव्य का शास्त्रीय पृष्ठाधार

१ रीतिशास्त्र का आरंभ

भारतीय आस्तिकता को जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति का मौलिक सबध किसी न किसी प्रकार से अलौकिक शक्तियों से स्थापित करने का अभ्यास रहा है। प्रत्येक विद्या किसी न किसी प्रकार ब्रह्म अथवा उसके किसी रूप से उद्भूत हुई है—ऐसी उसकी आस्था रही है। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में साहित्य शास्त्र की उत्पत्ति का अत्यंत रोचक वर्णन किया है। सरस्वतीपुत्र काव्यपुरुष को ब्रह्मा की आज्ञा हुई कि तुम तीनो लोको में साहित्य शास्त्र के अध्ययन का प्रचार करो। निदान, उसने सबसे पूर्व अपने मानसजात सत्रह शिष्यों के समक्ष इसका व्याख्यान किया और फिर इन ऋषियों ने शास्त्र को सत्रह अधिकरणों में विभक्त करके अपने अपने विषयों पर स्वतंत्र रीतिग्रंथ लिखे— 'तत्र कविरहस्य सहस्राक्ष समाप्तासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भं, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाम, आनुप्रासिक प्रचेतायनं, यमकानि चित्रं चित्रागदं, शब्दश्लेष शेष, वास्तव पुलस्त्य, औपम्ययौपकायनं, अतिशय पाराशरं, अर्थश्लेषमतथ्य, उभयालंकारिक कुबेरं, वैनोदिक कामदेवं, रूपक निरूपणीय भरतं, रसाधिकारिक नन्दिकेश्वरं, दोषाधिकारिक विषणं, गुणोपादानिकमुपमन्युं, औपनिषदिक कुचुमार इति।'।

विद्वानों की राय है कि यह सूची अधिक विश्वसनीय नहीं है। वैसे भी, कुछ नाम तो स्पष्टतः सगति बैठाने को गड़े गए मालूम पड़ते हैं। परंतु कुछ नामों का उल्लेख यत्रतत्र अवश्य मिलता है, जैसे 'कामसूत्र' में 'औपनिषदिक' के व्याख्याता कुचुमार और 'साम्प्रयोगिक' के व्याख्याता सुवर्णनाम के नाम आते हैं। 'रूपक' या 'नाट्यशास्त्र' पर भरत का ग्रंथ तो किसी न किसी रूप में आज भी उपलब्ध है। नदिकेश्वर के नाम से काम-शास्त्र, गीत, नृत्य और तत्र सबंधी ग्रंथों का उल्लेख तो मिलता है परंतु रस पर उनका कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं है। इस प्रकार राजशेखर का यह काव्यमय वर्णन रीतिशास्त्र की उत्पत्ति का इतिहास जुटाने में हमारी कोई सहायता नहीं करता।

(१) वेद वेदांग—ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय ज्ञान का प्राचीनतम कोश वेद है। वैदिक ऋचाओं के रचयिता वागी के रस से तो स्पष्टतः अभिज्ञ थे ही, इसमें कोई संदेह नहीं, इसके साथ ही नृत्य, गीत, छंदरचना आदि के सिद्धांतों का सम्यक् विवेचन और 'उपमा' शब्द का प्रयोग भी वेदों में मिलता है। परंतु साहित्य शास्त्र का निश्चित आरंभ वेदों में ढूँढना क्लिष्ट कल्पना मात्र होगी। वेदों के अतिरिक्त वेदांग, संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् आदि भी इस विषय में मौन हैं।

(२) व्याकरण शास्त्र—भारत का व्याकरण शास्त्र जितना प्राचीन है उतना ही पूर्ण भी है। उसे तो वास्तव में भाषा का दर्शन कहना चाहिए। व्याकरण के आदि ग्रंथ हैं 'निरुक्त' और 'निघटु'। यास्क ने वैदिक उपमा का विवेचन करते हुए उसके कुछ भेदों का विवरण दिया है जैसे—भूतोपमा, जिसमें उपमित उपमान बन जाता है, रूपोपमा, जिसमें उपमित और उपमान में रूपसाम्य होता है, सिद्धोपमा, जिसमें उपमान

सर्वस्वीकृत और सिद्ध होता है, रूपक की समानार्थी लुप्तोपमा या अर्थोपमा जिसमें साम्य व्यक्त न होकर अव्यक्त ही होता है। पाणिनि के समय तक उपमा का स्वरूप निर्धारित हो चुका था। उन्होंने उपमित, उपमान, सामान्य आदि पारिभाषिक शब्दों का स्पष्ट प्रयोग किया है। पाणिनि के उपरांत पतञ्जलि का 'माहाभाष्य' भी इन रूपों की सम्यक् व्याख्या करता है। वास्तव में व्याकरण शास्त्र हमारे काव्यशास्त्र का एक प्रकार से मूलाधार है। वाणी के अलकरण के जो सिद्धांत काव्यशास्त्र में स्थिर किए गए, उनपर व्याकरण के सिद्धांतों का स्पष्ट प्रभाव है। भामह, वामन तथा आनंदवर्धन जैसे आचार्यों ने अपने ग्रंथों में व्याकरण की स्थान स्थान पर सहायता ली। ध्वनि का प्रसिद्ध सिद्धांत व्याकरण के 'स्फोट' सिद्धांत से ही ग्रहण किया गया है।

(३) दर्शन—व्याकरण के उपरांत काव्यशास्त्र का दूसरा आधार दर्शन है। उसके कतिपय प्रमुख सिद्धांतों का सीधा सबंध विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों से है। उदाहरण के लिये शब्द की तीन शक्तियों—अभिधा, लक्षणा, व्यजना—का सकेत न्यायशास्त्र के शब्दविवेचन में मिलता है। नैयायिकों के अनुसार शब्द के अभिधार्थ से व्यक्ति, जाति और गुण, तीनों का बोध हो जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने शब्दार्थ को गौण, भक्त, लाक्षणिक और औपचारिक आदि अर्थों में विभक्त किया है। शब्दप्रमाणा के सबंध में न्याय और मीमांसा, दोनों में शब्द और वाक्य का वर्गीकरण तथा अर्थवाद आदि का सूक्ष्म विवेचन मिलता है। वास्तव में एक प्रकार से न्याय और मीमांसा से ही व्याख्यात्मक आलोचना का उद्भव समझना चाहिए। इसी प्रकार अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद साध्य के परिणामवाद से बहुत दूर नहीं है, जिसके अनुसार सृष्टि का अर्थ उत्पादन या सृजन न होकर केवल अभिव्यक्ति ही होता है। इससे भी अधिक स्पष्ट है वेदांतियों के मोक्षसिद्धांत का प्रभाव। इसके अनुसार मोक्ष का आनंद बाहर से नहीं प्राप्त होता, वह तो आत्मा का ही शुद्धबुद्ध रूप है जो माया का आवरण हट जाने के उपरांत स्वत आनंदमय रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। परंतु यह वास्तव में सकेत अथवा अनुमान मात्र है, इससे काव्यशास्त्र की उत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित सिद्धांत स्थिर नहीं हो पाता।

(४) काव्यशास्त्र का वास्तविक आरम्भ—निदान, काव्यशास्त्र का वास्तविक आरम्भ हमें दर्शन और व्याकरण के मूल ग्रंथों की रचना के बहुत बाद का मालूम होता है। डा० सुशीलकुमार दे, कारगे आदि विद्वानों का मत है कि ईसा की पहली पाँच शताब्दियों में ही उसका जन्म माना जा सकता है। शिलालेखों की काव्यमयी प्रशस्तियाँ, अश्वघोष और भास के ग्रंथ तथा कालिदास का अलंकृत काव्य आदि सब इसी ओर सकेत करते हैं। भरत के 'नाट्यशास्त्र' का मूल रूप तो स्पष्टतः इसी काल की अत्यंत आरम्भिक रचना है। इतिहासज्ञ उसका रचनाकाल ईसा की पहली शताब्दी के आसपास स्थिर करते हैं। भरत ने कृशाश्व और शिलालिन् के नामों का उल्लेख किया है, उधर भामह ने मेघाविन् का और दंडी ने कश्यप आदि का, परंतु अभी तक इनके ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। अतएव इनके विषय में चर्चा करना व्यर्थ है। भरत के उपरांत काव्य और काव्यशास्त्र दोनों ही समृद्ध होने गए। काव्यशास्त्र में क्रमशः अनेक वादों और संप्रदायों की प्रतिष्ठा हुई जिनमें से पाँच अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हुए—रस संप्रदाय, अलंकार संप्रदाय, रीति संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय और ध्वनि संप्रदाय। मान्यता तथा ऐतिहासिकता दोनों की दृष्टि से सबसे पहले रस संप्रदाय ही आता है।

२ रस संप्रदाय

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में आदि से अंत तक रसनिरूपण को किसी न किसी

रूप में स्थान अवश्य मिला है। भरत ने रस विषयक प्रायः सभी सामग्री प्रस्तुत की है। उनके बाद लगभग सात सौ वर्षों तक यद्यपि अलंकार संप्रदाय का महत्व बना रहा, परन्तु एक तो स्वयं अलंकारवादी आचार्यों ने रस की महत्ता स्थान रथान पर घोषित की है, और दूसरे, संभवतः इसी अंतराल काल में ही भट्ट लोत्लट आदि आचार्यों ने रसस्वरूप-निर्देशक भरतसूत्र की गंभीर व्याख्या प्रस्तुत करके रस संप्रदाय की धारा को अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होने में सहयोग दिया है। अलंकारवादियों के बाद आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त जैसे युगप्रवर्तक ध्वनिवादियों का समय आता है। इनके अनुकरण पर मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ सरीखे महान् आचार्यों ने रस को ध्वनि के एक भेद के रूप में स्वीकार किया है।

रस नाटक का अनिवार्य तत्व है। इस दृष्टि में भरत मुनि के लिये अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में रस विषयक चर्चा का समावेश करना अनिवार्य था। यही कारण है कि रस सबंधी सभी आवश्यक उपकरणों का विवरण इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है।

जनश्रुति के आधार पर नन्दिकेश्वर को रस का प्रवर्तक होने का श्रेय दिया गया है, और भरत को नाट्यशास्त्र का^१। पर फिर भी भरत का रस के प्रति समादर भाव कुछ कम नहीं है। उक्त ग्रंथ के 'रसविकल्प' और 'भावव्यञ्जक' नामक अध्यायों में उन्होंने रस और भाव के स्वरूपों का उल्लेख किया है, इनके पारस्परिक संबंध का निर्देश किया है। आठों रसों का परिचय देते हुए उन्होंने प्रत्येक रस के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव और सात्विक भावों का नामोल्लेख किया है, रसों के वर्णों और देवताओं से अवगत कराया है तथा रसों के भेदों की चर्चा की है।

भरत ने मूल रूप में रस चार माने हैं—शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स। फिर इनसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति मानी है^२। शृंगार और हास्य, वीर और अद्भुत तथा वीभत्स और भयानक रसयुग्म का पारस्परिक कारण-कार्य-भाव होने के कारण उत्पाद्योत्पादक संबंध स्वतः सिद्ध है। रौद्र और करुण में भी यह संबंध मनस्थिति के आधार पर परिपुष्ट है। सबल पक्ष का निर्बल पक्ष पर अकारण और निर्दयतापूर्ण क्रोध सामाजिक के हृदय में कर्मणा की ही उत्पत्ति करता है।

इसी प्रकरण में भरत ने रसों के विभिन्न भेदों का भी उल्लेख किया है^३। आगे चलकर इनमें से कुछ तो प्रचलित रहे और कुछ अप्रचलित हो गए।

(१) प्रचलित भेद—शृंगार के सभोग और विप्रलभ दो भेद। हास्य के (उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के व्यक्तियों के प्रयोगानुसार) स्मित, विहसितादि छह भेद, तथा वीर के दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर, तीन भेद।

(२) अप्रचलित भेद—शृंगार के वादनेपथ्यक्रियात्मक तीन भेद, हास्य के आत्मस्थ और परस्थ दो भेद। हास्य और रौद्र के अग्नेपथ्यवाक्यात्मक तीन तीन भेद। करुण के धर्मोपधातज, अपचयोद्भव और शोककृत तीन भेद। भयानक के स्वभावज, सत्त्वसमुत्थ और कृतक तीन भेद, तथा व्याजअपराधज्ञासगत तीन भेद। वीभत्स के क्षोभज शुद्ध और उद्वेगी तीन भेद। अद्भुत के दिव्य और आनंदज दो भेद।

भरत के कथनानुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति। उनके इस

१. रूपकनिरूपणीय भरत, रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर।—का० मी०, १म अ०, पृ० ४।

२. ना० शा० ६।३६-४१।

३. वही, ६।४८ वृत्ति, ६।७७-८३।

सिद्धांत कथन में यद्यपि स्थायी भाव को स्थान नहीं मिलता, पर जैसा उनकी अपनी व्याख्या से स्पष्ट है, उन्हें अभीष्ट यही है कि स्थायी भाव हो उत्तर विभावादि के द्वारा रसत्व को प्राप्त होते हैं^१। नाट्यजगत् में विभावादि का यह संयोग रस (आस्वाद) का जनक उसी प्रकार है जिस प्रकार लौकिक समार में नाना प्रकार के व्यंजनो, मिष्टान्नां और रासायनिक द्रव्यों का पारस्परिक संयोग हर्षोत्पादक षड्रसास्वाद उत्पन्न कर देता है। स्थायी भावों का यह आस्वाद तभी संभव है, जब ये नाना प्रकार के भावों के (नाटकीय) अभिनय में प्रकट किए गए हों, और वाग् (वाचिक), अंग (आंगिक) तथा सत्व (सात्विक) अभिनयों से संयुक्त हों।

यथा हि नाना व्यंजन-मस्कृतमन्नं भुजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसं पुरुषा हर्षादीश्चाप्यधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यजितान् वागगसत्वोपेतान् स्थायि-भावानास्वादयन्ति सुमनसं प्रेक्षका । (ना० शा०, पृ० ७१) ।

उक्त भरतसूत्र की यह व्याख्या रसस्वरूप पर एक क्षीण सा प्रकाश डालती है—‘नानाभावाभिनय’ और ‘वाग् अंग’ को अनुभाव के अंतर्गत माना जा सकता है, और ‘सत्व’ को सात्विक भाव के अंतर्गत ।

भरतप्रतिपादित सूत्र निस्संदेह व्याख्यापेक्ष है। इसकी व्याख्या परवर्ती विद्वान् आचार्य, जिनमें से भट्ट लोल्लट, श्रीशंकर, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं, अपनी अपनी प्रतिभा के अनुसार करते करते, रस का मूल भोक्ता कौन है, इस प्रश्न के साथ-साथ इस जटिल समस्या को भी सुलभाने में प्रवृत्त हो गए कि उसमें किस क्रम और किस विधि से रस का आस्वाद प्राप्त होता है। भरत से पूर्ववर्ती किसी आचार्य अथवा स्वयं भरत को भी इस कथन की इतनी विशद और विवादपूर्ण व्याख्या अभीष्ट रही होगी, आज तक के अनुसंधानों के बल पर निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है। इस कथन में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का जो स्वरूप भरत को अभीष्ट है, वही परवर्ती आचार्यों को भी है, पर विवादग्रस्त दो शब्द हैं—संयोग और निष्पत्ति, जिनपर आद्धृत विभिन्न व्याख्यानों का उल्लेख अवैक्यानीय है।

३ भट्ट लोल्लट

नाट्यशास्त्र की प्रसिद्ध टीका ‘अभिनव भारती’ के अनुसार भरतसूत्र के प्रथम व्याख्याता भट्ट लोल्लट के मत में

(१) उपचितावस्था अर्थात् परिपक्वता को प्राप्त स्थायिभाव ही ‘रस’ नाम से अभिहित होते हैं। स्थायिभाव, जो स्वयं तो अनुपचित (अपरिपक्व) है, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का संयोग पाकर जब उपचित होते हैं, तब इनका नाम ‘रस’ पड़ जाता है।^२

(२) यह रस अनुकार्य—वस्तविक रामादि—में भी रहता है, और अभिनय-कौशल के बल पर रामादि का अनुकरण करनेवाले नट में भी।

भट्टलोल्लटस्तावदेव व्याचक्षे विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिन ततो रसनिष्पत्तिः । स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रस । स्थायी त्वनुपचितः ।

१ एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुयन्ति ।—ना० शा०, पृ० ७१।

२ कुछ इसी प्रकार की धारणा अलंकारवादी दंडी पहले ही प्रकट कर चुके थे।

रति शृंगारता याता, रूपबाहुल्ययोगतः । आरुह्य च परा कोटिं कोपो रौद्रात्मता गतः ॥

—अ० भा०, पृ० २८४, का० द० २।२८१, २८३

स चौभयोरपि अनुकार्ये, अनुकर्तयंपि चानुसन्धानबलात् । —ना० शा० (अ० भा०)
पृ० २७४।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उपर्युक्त सिद्धांत के द्वितीय अंश में थोड़ा सशोधन उपस्थित करते हुए वास्तविक रामादि में मुख्य रूप से रस की स्थिति मानी है और नट में गौण रूप से । सिद्धांत के प्रथम अंश को उन्होंने भरतसूत्र स्थित 'सयोग' और लोल्लट प्रतिपादित 'उपचित' शब्दों के आधार पर विशद व्याख्या करते हुए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का स्थायिभावों के साथ सयोगसंबंध निम्नलिखित प्रकार से जोड़ा है

- (क) आलंबनोद्दीपन विभावो तथा स्थायिभाव मे जनकजन्य संबध है,
- (ख) अनुभाव तथा स्थायिभाव मे गम्यगमक संबध है, और
- (ग) व्यभिचारिभावो तथा स्थायिभाव मे पोषकपोष्य संबध है ।

इस प्रकार मम्मट के व्याख्यानानुसार स्थायिभाव विभावादिके द्वारा क्रमशः जन्य, गम्य और पुष्ट होकर 'रस' रूप में प्रतीयमान होता है^१। मम्मट को इस त्रिसंबधनिर्देश की प्रेरणा निस्संदेह अभिनवभारती से मिली होगी ।

भट्ट लोल्लट ने अपने सिद्धांत में यद्यपि सहृदय का उल्लेख नहीं किया, पर निश्चित ही उसे अभीष्ट यही है कि सहृदय तो रस का भोक्ता है ही । वह नट नटी के माध्यम से उसी रस को प्राप्त करता है, जिसे वास्तविक रामसीतादि नायकनायिका ने प्राप्त किया होगा ।

भट्ट लोल्लट के सिद्धांत पर आगे चलकर भरतसूत्र के अन्य व्याख्याता शकुन ने अनेक आक्षेप किए । उनका एक आक्षेप यह है कि उपचित स्थायिभाव को रस नाम से पुकारने पर यह निश्चित कर सकना असंभव है कि रति, हास आदि स्थायिभाव कितनी मात्रा तक उपचित होकर रस कहाते हैं । मात्रानिर्धारण के लिये यदि यह मान लिया जाय कि उच्चतम पराकाष्ठा तक ही उपचित 'स्थायिभाव' रस कहाता है तो भरतसमत हास्य-रस के स्मित, अवहसित आदि छह भेद, तथा शृंगाररसातर्गत निरूपित काम की अभिलाषा आदि दस अवस्थाएँ असंगत हो जायँगी क्योंकि इन दोनों रसों में स्थायिभाव केवल उच्चतम कोटि की उपचितावस्था के सूचक न होकर उत्तरोत्तर प्रकर्ष के सूचक हैं^२ । अतः लोल्लट का मत सीमानिर्धारक न हो सकने के कारण शिथिल है ।

शकुन का एक अन्य आक्षेप है कि लोल्लट द्वारा प्रतिपादित विभाव और स्थायिभाव में उत्पादकोत्पाद्य रूप कारणकार्य भाव संबध की स्थापना भी निम्नलिखित दो कसौटियों पर खरी नहीं उतरती—(१) कारण (कुभकारादि) के नष्ट हो जाने पर भी कार्य (घट) की स्थिति बनी रहती है, और (२) कारण (चदनावलेपन) और कार्य (सुगंध सुखानुभव) की एकसाथ स्थिति कदापि संभव नहीं है, इनमें थोड़ा बहुत पूर्वापर भाव बना ही रहता है । पर इधर एक तो विभाव के नष्ट हो जाने पर (स्थायिभावात्मक)

१ का० प्र० ४।२८ (ब०)

२ अनुपचितावस्था स्थायी भावः, उपचितावस्थो रस इत्युच्यमाने एकैकस्य स्थायिनो मन्दतममन्दतरमन्दमध्येत्यादिविशेषापेक्षया आनन्त्यापत्तिः । एव रसस्यापि तीव्रतीव्रतस्तीव्रतादिभिरसंख्यत्व प्रपद्यते । अथोपचयकाष्ठा प्राप्त एव रस उच्यते, तर्हि 'स्मितमवहसित विहसितमुपहसित चापहसितमतिहसितम्' इति षोडशत्व हास्य-रसस्य कथं भवेत् ।

—का० अनु०, पृ० ६६, टीका भाग

रस भी नष्ट हो जाता है, और दूसरे, विभाव तथा रस दोनों साथ साथ अवस्थित रहते हैं, उनमें पूर्वापर सबध कदापि संभव नहीं है^१ ।

शकुन का एक अन्य प्रबल आक्षेप है कि लोल्लट का यह सिद्धांत कि सामाजिक नायकनायिका द्वारा अनुभूत रस का आस्वादन नटनटी के माध्यम से प्राप्त करता है, अतिव्याप्ति दोष से दूषित है । जिसमें रति आदि स्थायिभाव होगा, रस भी उसी में होगा, न कि किसी अन्य में—इस व्याप्ति के अनुसार केवल नायकनायिका ही रसास्वादन प्राप्ति के अधिकारी ठहरते हैं, न कि नटनटी और न उनके माध्यम से सामाजिक ही । और फिर, सामाजिक मूल नायक के रति, हासादि भावों से तो आनंदमूलक रस प्राप्त कर भी ले, पर शोक, भयादि भावों से रस प्राप्त करने में वह नितात असमर्थ रहेगा । लोल्लट के पक्षपाती यदि यह कहें कि सामाजिक नट में ही रामादि का ज्ञान प्राप्त करके रामगत मूल रस का आस्वादन प्राप्त कर लेते हैं, तो फिर उन्हें यह भी मान लेना होगा कि लौकिक शृंगार आदि को देखकर प्रथवा 'शृंगार' शब्द को सुनकर भी सामाजिकों को रस का आस्वादन प्राप्त हो जाता है^२ ।

शकुन के उपर्युक्त आक्षेपों से प्रेरणा प्राप्तकर काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने नट को रसोपभोक्ता न मानने के लिये एक अन्य तर्क भी प्रस्तुत किया है कि लोक में क्रोध, शोक आदि चित्तवृत्तियों का उत्तरोत्तर ह्रास होते रहने के कारण नट के लिये, जो न तो सर्वज्ञ है और न योगी है, यह जान सकना नितात असंभव है कि राम आदि नायक ने अमुक अवसर पर कितनी मात्रा तक रति, शोक, क्रोध, आदि का अनुभव किया होगा और अमुक अवसर पर कितनी मात्रा तक^३ । अतः लोल्लट के मतानुसार सामाजिक के लिये नट के माध्यम से रामादि द्वारा आस्वादित मूल रस का आस्वादन कर सकना नितात असंभव है ।

निष्कर्ष रूप में लोल्लट पर किए गए आक्षेपों में से एक आक्षेप है विभाव और रस में कारणकार्य सबध की लौकिक सीमा का उल्लंघन, और दूसरा आक्षेप है नायकगत रसास्वादनप्राप्ति के लिये नटरूप माध्यम की व्यर्थता । लोल्लट के पक्षपातियों के पास उक्त दोनों प्रधान आक्षेपों को छिन्नभिन्न करने के लिये एक ही प्रबल तर्क है—काव्यकृति को सर्वांश रूप में अलौकिक मानना । मूल नायक और उसके रत्यादि स्थायिभाव, जो निस्संदेह लौकिक हैं और जिन्हें काव्य नाटकादि में वर्णित हो जाने पर क्रमशः विभाव और रस नामों से अभिहित किया जाता है, अलौकिक बनकर अब लौकिक कारणकार्य सबध की परिभाषा और सीमाओं के बधन से नितात विनिर्मुक्त हो जाते हैं । माना कि नट मूल रामादि नायक की चित्तवृत्तियों का चित्रण कर सकने में नितात असमर्थ है, पर उसका

१ कार्यत्वे घटादिवत् विभावादिनिमित्तनाशेऽपि रसानुवृत्तिप्रसंग इति भावः ।

न चास्यालौकिकस्य स्वप्रकाशानन्दात्मकस्य लौकिकप्रमाणगम्यत्वम् ॥

—एकावली (टीका भाग), पृ० ८७

तुलनार्थं नहि चन्दनस्पर्शज्ञानं तज्जन्यसुखज्ञानं चैकदा संभवति ।

—सा० द०, ३, २० वृत्ति

२ सामाजिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभवविरोधात् । न च तज्ज्ञानमेव चमत्कारहेतुः । शाब्दतज्ज्ञानेऽपि तदापत्तेः । लौकिकशृंगारादिदर्शनेनापि चमत्कारप्रसंगात् ।

—का० प्र० (प्रदीप) टीका, पृ० ६१ ।

३ अन्ययैवोपपत्त्या तादृशकल्पनाया मानाभावाच्च । —वही ।

तुलनार्थं . रसप्रदीप (प्रभाकर भट्ट), पृ० २२, पंक्ति ४-७ ।

सबध तो रामायणादि काव्यनाटकगत अलाकिक नायकादि के साथ है। अभ्यासपटु नट नाट्यसंगीतशास्त्रादि में निर्धारित नियमों के आधार पर काव्यनाटकादि में चित्रित पात्रों की उन्हीं मार्मिक चित्तवृत्तियों का, जो काव्यसौंदर्य प्रदान करने की क्षमता रखती है, सफलतापूर्वक प्रचुरण करके सामाजिक के लिये रसास्वादप्राप्ति का कारण बन जाता है। सामाजिक इस रसास्वाद को अपने परंपरागत संस्कारों की प्रबलता के कारण रामायणादि काव्यों के पात्रों का रसास्वाद न समझकर ऐतिहासिक रामादि का रसास्वाद समझने लग जाते हैं। पर इसमें बेचारे 'नट' का क्या अपराध और उसकी माध्यम रूप में स्वीकृति पर क्या आक्षेप? यही स्थिति कल्पित आख्याननिरूपक नाटकों पर भी घटित होती है। सामाजिक नट के अभिनयकौशल में प्रवृत्त पात्र के रसास्वाद को लोक में वर्तमान तत्सदृश अन्य व्यक्ति का रसास्वाद समझकर स्वयं भी वैसा ही आस्वाद प्राप्त कर लेता है^१।

किंतु लोल्लट के पक्षपाती काव्यनाटकादि के पात्रों को बीच में लाकर लोल्लट के विरोधियों को करारा जवाब देने का प्रयास करते करते लोल्लटसमत धारणा को अन्य रूप में उपस्थित कर देते हैं। लोल्लट को नट के माध्यम से ऐतिहासिक रामादि नायक द्वारा आस्वादित रस की प्राप्ति असीम है, न कि रामायणादि में कविनिर्मित रामादि द्वारा आस्वादित रस की। अस्तु^१। कुछ विद्वान् लोल्लट के इस सिद्धांत को 'आरोपवाद' के नाम से पुकारते हैं। उनके अनुसार सामाजिक नट में मूल नायक का आरोप करके—उसे मूल नायक ही समझकर—रसास्वादन करते हैं^२। पर इसे 'आरोपवाद' कहना समुचित नहीं है क्योंकि, आरोप में उपमान और उपमेय दोनों का ज्ञान बराबर बना रहता है। पर लोल्लट के मत में नट को नट न समझकर अभिनयकौशल के बल से भ्रान्तवश रामादि समझ लिया जाता है, अतः इस सिद्धांत को 'भ्रातिवाद' कहना कही अधिक सगत है।

हमारे विचार में लोल्लट का सिद्धांत उतना भ्रांत नहीं है जितना बाल की खाल निकालनेवाले उसके विरोधियों ने उसे सिद्ध करने का प्रयास किया है। स्वयं शकुन ने भी, जैसा हम आगे देखेंगे, लोल्लट के समान अपना मत इसी भित्ति पर खड़ा किया है कि जबतक सामाजिक नट को, उसके अभिनयकौशल के बल पर, रामादि नहीं समझ पाता तबतक उसे रसास्वाद प्राप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः इस धारणा में तनिक भी सदेह नहीं है। शेष रहा सिद्धांत का दूसरा पक्ष—वास्तविक रामादि को रसप्राप्ति मुख्य रूप से होती है और नट को गौण रूप से। यह पक्ष अवश्य शिथिल है। वास्तविक नायक लौकिक था, उसका रत्यादिजन्य आनंद अथवा शोकादिजन्य दुःख भी लौकिक था, अतः उसे शृंगाररस अथवा करुणरस की सज्ञा देना शास्त्रसमत नहीं है। शेष रहा नट की रसास्वादप्राप्ति का प्रश्न। सफल अभिनेता तत्क्षण के लिये तो निश्चित ही यह भूल जाता है कि वह अभिनेता मात्र है—ठीक उसी क्षण वह सामाजिक के ही समान रसास्वाद प्राप्त करने लग जाता है^३, और तभी हम उसे वास्तविक रामादि समझने लगते हैं—रग-

१ रसप्रदीप, पृ० २२।

२ (क) मुख्यतया दुष्यतादिगत एव रसो रत्यादि

अनर्कतैरि नटे समारोप्य साक्षात्क्रियते। —रसगंगाधर, पृ० ३३

(ख) नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशाद् आरोप्यमाणं सामाजिकानां चमत्कारहेतु।

—का० प्र० (प्रदीप टीका), पृ० ६१

३ विश्वनाथ ने रसास्वादभोक्ता नट को भी 'सामाजिक' की सज्ञा दी है—

काव्यार्थभावनैर्नायकमपि सभ्यपदास्पदम्। —सा० द० १।२०

मच की यही तो महत्ता है। इतना सब स्वीकार करते हुए भी लोल्लट के अनुसार हम रत्यादि स्थायिभाव को विभावोत्पन्न और इस सिद्धांत को 'उत्पत्तिवाद' के नाम से स्वीकार नहीं करते। स्थायिभाव हर व्यक्ति के हृदय में वासना रूप से सदा रहते हैं, विभावों के द्वारा उत्पन्न नहीं होते, इनसे आविष्कृत अवश्य हो जाते हैं। इस प्रकार हमारे विचार में शकुन की धारणा सर्वांश रूप में अमान्य, भ्रात अथवा निर्मूल नहीं है, अपितु भावी भरतसूत्र-व्याख्याताओं के लिये मार्गप्रदर्शन का कार्य करती है।

४ शंकुक

भरतसूत्र के दूसरे व्याख्याता शकुन ने भट्ट लोल्लट के सिद्धांत का जितनी सूक्ष्मता और सतर्कता के साथ खंडन करने के लिये महान् प्रयास किया है, अपनी व्याख्या में उन्होंने उसी अनुपात से कोई विशेष नवीनता प्रस्तुत नहीं की। इनका सिद्धांत नितांत मौलिक न होकर लोल्लट के ही सिद्धांत की मूल भित्ति—नट पर माध्यम रूप से स्वीकृति—पर अवस्थित है। दोनों के दृष्टिकोणों में अंतर अवश्य है—लोल्लट के मत में समाजिक नट पर मूल नायकादि का 'आरोप' कर लेता है और शकुन के मत में 'अनुमान' कर लेता है। परंतु दोनों दृष्टिकोणों का परिणाम एक है—सामाजिक द्वारा उसी रस की आस्वादप्राप्ति जिसका आस्वादन ऐतिहासिक अथवा प्रसिद्ध कथानको में रामादि और काल्पनिक कथाओं में किसी भी लौकिक व्यक्ति ने प्राप्त किया होगा। लोल्लट ने इस स्वतः सिद्ध परिणाम का संभवतः जानबूझकर उल्लेख न किया हो, पर शकुन ने इसका स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करते हुए इसके मूलभूत साधन पर भी प्रकाश डाला है।

शकुन ने इस अनुमान को अन्य लौकिक अनुमानों से विलक्षण माना है। अन्य अनुमानों की प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, सशयात्मक अथवा सादृश्यात्मक होती है, पर नट को रामादि समझने का अनुमान उसी प्रकार का है जिम प्रकार 'चित्रतुरंग न्याय' से चित्र में अंकित 'भागता हुआ अश्व' जीवित अश्व न होता हुआ भी भागता सा प्रतीत होता है। यह अनुमान तभी संभव है जब नट स्वयं भी कविविवक्षित अर्थ की गंभीरता तक पहुँचकर अभिनय की शिक्षा और अभ्यास के बल पर मूल नायकादि का सफल अनुकरण करते हुए अपने आपको रामादि समझने लग जाय^१। इस प्रकार शकुन के सिद्धांतानुसार भरतसूत्र-स्थित 'संयोग' शब्द विभावादि और रस के बीच लोल्लट के मतानुसार उत्पाद्योत्पादक संबंध का द्योतक न होकर 'अनुमापक' 'अनुमाप्य' (गमक गम्य) संबंध का द्योतक है। उदाहरणार्थ इस अनुमान की सिद्धि इस प्रकार होगी—रामोऽयं सीताविषयकरतिमान्, सीताविषयक कटाश्रादिमत्त्वात्। शकुन के मत में सामाजिक नट के सफल अभिनय को देखकर उसमें रामादि के रत्यादि भावों की विद्यमानता अनुमित कर लेता है। अब उसे नट संबंधी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव कृत्रिम न दिखाई देकर स्वाभाविक से प्रतीत होने लगते हैं^२। पर मूल समस्या अब भी शेष रह जाती है—सहृदय का नट के इन रत्यादि भावों से क्या संबंध है? उत्तर स्पष्ट है—नटगन रत्यादि स्थायिभाव अनुमित होते हुए भी रगमचीय सौंदर्य के कारण इतने प्रबल होते हैं कि सहृदय इनके द्वारा स्वतः रस की चर्चणा करने लग जाता है, और इस चर्चणा में सहायक होती है उसकी अपनी वासनाएँ अर्थात् पूर्वजन्म के स्स्कार^३। लोल्लट इस स्वतः सिद्ध धारणा के विषय में मौन

१ का० प्र०, चतुर्थ उल्लास, शकुन का मत।

२ वही।

३ वही।

थे, पर शकुन ने न केवल मूल विषय का स्पष्टीकरण कर दिया है, अपितु परवर्ती सु-विख्यात आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा स्वीकृत रसानुभूति के मूलभूत साधन सहृदयगत 'वासना' पर भी प्रकाश डाला है ।

स्पष्टतः शकुन के सिद्धान्त के दो भाग हैं—(१) सामाजिक द्वारा नट में—उस नट में जो कुशल अभिनय की तल्लीनता में अपने आपको भी नायक रामादि समझने लग जाता है—रामादि के रत्यादिभावों की अनुमिति, और (२) तभी सामाजिक को अपनी वासना द्वारा उन भावों के रंगमंचोय सौंदर्यप्रभाव के बल पर रसानुभूति की प्राप्ति । परवर्ती आचार्यों ने शकुन ने अनुमानवाद पर भी अनेक आक्षेप किए । ध्वनिवादी आनन्द-वर्धन के महान् अनुयायी मम्मट ने अनुमान को ध्वनि के अंतर्गत माना है और इस प्रकार उन्होंने शकुनसिद्धान्त की जड़ ही काट दी है । आनन्दवर्धन से भी पूर्व भट्ट तौत और भट्ट नायक इस सिद्धान्त का खंडन कर चुके थे । भट्ट तौत का प्रहार सिद्धान्त के प्रथम भाग पर है और भट्ट नायक का दूसरे भाग पर ।

भट्ट तौत के कथनानुसार यथार्थ (अथवा मिथ्या भी) साधन से तत्संबन्धी साध्य का तो अनुमान हो जाता है, पर वास्तविक साध्य के सदृश किसी अन्य साध्य का अनुमान नहीं होता । उदाहरणार्थ धूम अथवा कुञ्जटिका से अग्नि का तो अनुमान संभव है, अग्नि-सदृश रक्तवर्ण जपाकुसुमों का अनुमान हास्यास्पद है । किंतु इधर अनुमानवाद की इस कसौटी पर शकुन का सिद्धान्त खरा नहीं उतरता । नट के कृत्रिम रत्यादि स्थायिभावों द्वारा सामाजिक को भले ही लोक में वर्तमान किसी रतिमान् व्यक्ति की अनुमिति हो जाय, पर तत्सदृश भूतकालीन राम की अनुमिति, जिसे किसी सामाजिक अथवा नट ने नहीं देखा, अनुमान का विषय नहीं । इस प्रकार वास्तव में अक्रुद्ध नट का क्रोधव्यवहार भी समाज के किसी क्रुद्धप्रकृति व्यक्ति का अनुमान तो करा सकता है, पर भूतकालीन अदृष्ट-पूर्व क्रोधी भीमसेन का नहीं ।

तदिदमप्यन्तस्तत्त्वशून्य विमर्दक्षममिति भट्ट तौत । तथा हि न हि वाष्पधूम-त्वेन ज्ञानादग्न्युकारानुमान तदनुकारत्वेन प्रतिभासमानादपि लिङ्गान्न तदनुकारानुमान युक्तम्, धूमानुकारत्वेन हि ज्ञायमानाग्नीहाराग्नाग्न्यनुकारजपापुजप्रतीतिर्दृष्टा । ननु अक्रुद्धोऽपि नट क्रुद्ध इव भाति । —का० अनु०, पृ० ७१-७२, अ० भा०, पृ० २७६-७७ ।

भरतसूत्र के अन्य व्याख्याता भट्ट नायक के कथनानुसार वादितोष न्याय से सामाजिक द्वारा नट पर राम की अनुमिति स्वीकार की भी जाय, तो भी इससे सामाजिक को रसप्राप्ति होना संभव नहीं है । अनुमान प्रक्रिया द्वारा न रामसीता अथवा न दुष्यत-शकुंतला और न उसके परस्पोद्दीपक व्यवहार हमारे विभाव बन सकते हैं । उनके प्रति हमारा संस्कारनिष्ठ श्रद्धाभाव हमारी रसत्वप्राप्ति में बाधक सिद्ध होगा । सीता और शकुंतला को अनुमानप्रक्रिया द्वारा न तो हमारे लिये अपनी प्रेयसी के रूप में मान लेना संभव है, और न उसके स्थान पर हमें अपनी प्रेयसी की स्मृति हो जाना संभव है । इसी प्रकार राम सखी देवता आदि के साथ भी सामाजिकों का साधारणीकरण अनुमान द्वारा संभव नहीं है—राम के ही समान समुद्रोल्लस्यन जैसे असंभव कार्यों को कर सकने की कल्पना तक क्षुद्र सामाजिक अपने मन में नहीं ला सकता^१ । काल्पनिक कथानकयुक्त

१ न च सा प्रतीतिर्युक्ता सीतादेरविभावत्वात् । स्वकान्तास्मृत्यसंबेदनात् ।

देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात् । समुद्रोल्लसनादेरसाधारण्यात् ।

—का० अनु०, पृ० ७३

नाटको के इहलौकिक पात्रों के साथ भी अनुमान द्वारा समानानुभूति रूचिवैचित्र्य के कारण संभव नहीं है। अतः अनुमान द्वारा रसप्राप्ति में न तटस्थ (नट और रामादि) सहायक सिद्ध हो सकते हैं और न स्वयं सामाजिक ही अवास्तविक विभावादि रससामग्री से इस प्रक्रिया द्वारा रसास्वादन प्राप्त कर सकते हैं^१। स्पष्टतः आनन्दवर्धन और भट्ट तौत का खडन मूलतः सिद्धांतों पर आदृत है, और भट्टनायक का व्यवहारमूलक तर्कों पर। भट्टनायक के तर्क वस्तुतः उनके वक्ष्यमाण भावकत्व व्यापार की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। अनुमान द्वारा सामाजिक नट को रामादि भले ही समझ ले, पर नट के माध्यम से रामादि के साथ साधारणीकरण (समानानुभूति) अनुमान द्वारा संभव न होकर भट्टनायक के मत में भावकत्व व्यापार द्वारा संभव है, जो रसानुभूतिप्राप्ति की पूर्ववस्था है।

वस्तुतः अनुमान का विषय प्रत्यक्ष रूप से पूर्वदृष्ट घटनाओं पर अवलंबित है। अतः सफल अभिनय को देखकर सामाजिक का नट को अदृष्टपूर्व दुष्यतादि के रूप में अनुमित कर लेना अनुमान का विषय नहीं है, किसी अन्य प्रत्यक्षदृष्ट व्यक्ति का अनुमान भले ही वह कर रहा हो। इसके अतिरिक्त कभी कभी वह यह भी अनुमान लगा सकता है कि नट-नटी का रगमचीय जगत् से बाहर भी ऐसा ही रत्यादि सबध चलता होगा, पर निस्संदेह ये दोनों अनुमान लौकिक हैं। और यदि शकुन के अनुमानवाद को खींच तानकर देशकाल की परिधि से बाहर का विषय मान ले, तो सामाजिक यह भी अनुमान लगा सकता है कि इस नटनटी के ही समान दुष्यतशकुतला आदि में रतिसबध होगा। पर इससे आगे सामाजिक के रसास्वाद पर शकुन का सिद्धांत घटित नहीं होता। शकुन के विरोधियों को सबसे बड़ी आपत्ति यही है। निस्संदेह, आजतक किसी भी सामाजिक ने रसानुभूति के समय निम्नांकित अनुव्यवसायमूलक कथन का न तो कभी प्रयोग किया होगा और न कभी किसी के लिये कर सकना संभव है—‘मेरा अनुमान है कि मैं स्वयं दुष्यत या शकुतला बनकर रसानुभूति को प्राप्त कर रहा हूँ।’ ऐसे कथन का प्रयोक्ता निश्चित ही एक प्रक्षिप्त व्यक्ति समझा गया होगा अथवा समझा जायगा।

शकुन का सिद्धांत लोल्लट के सिद्धांत से अनुप्रेरित है अतः भट्टनायक द्वारा प्रदर्शित त्रुटियाँ भी दोनों सिद्धांतों पर लागू होती हैं। इस दृष्टि से तो दोनों सिद्धांत समान हैं। पर सामाजिक के प्रश्न को स्पष्ट रूप में उठाकर तथा सामाजिक की वासना को, जो भट्टनायक की ‘भावना’ और अभिनवगुप्त की ‘चित्तवृत्ति’ की पर्याय है, रसानुभूति का साधन मानकर शकुन एक ओर तो लोल्लट से आगे बढ़ गए हैं और दूसरी ओर भावी आचार्यों के लिये पृष्ठभूमि तैयार कर गए हैं। इस प्रकार पूर्वापर सिद्धांतों के बीच शृंखलास्थापन में ही शकुन के सिद्धांत का महत्व निहित है।

५ भट्टनायक

भरतसूत्र के तीसरे व्याख्याता भट्टनायक ने रसानुभूति की समस्या को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। लोल्लट का ‘आरोपवाद’ और शकुन का ‘अनुमानवाद’ सामाजिक को नट के माध्यम से मूल नायक रामादि द्वारा अनुभूत रस की प्राप्ति कराने के पक्ष में था। पर उसमें प्रमुख दो आपत्तियाँ थी—अदृष्टपूर्व (रामादि) चरित्रों की रसानुभूति की मात्रा के सबध में अज्ञान, और दूसरे के व्यवहारों के प्रति हमारी संस्कारनिष्ठ परंपरागत श्रद्धा, घृणा अथवा रूचिवैचित्र्य के कारण तादात्म्य सबध की स्थापना।

१ न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रस प्रतीयते नोत्पद्यते।

—का० प्र०, चतुर्थ उल्लास, पृ० ६०

भट्ट नायक ने दोनों आपत्तियों का समाधान अनूठे ढंग से प्रस्तुत किया। उनके मत में काव्य अर्थात् शब्द के तीन व्यापार हैं—अभिधा, भावकत्व और भोग। अभिधा व्यापार, जिसमें अभिधा और लक्षणा दोनों शब्दशक्तियाँ अंतर्भुक्त हैं, सामाजिक को काव्यार्थ का बोध कराता है। काव्यार्थबोध होते ही साधारणीकरणात्मक 'भावकत्व' व्यापार के द्वारा स्थायिभाव और विभावादि व्यक्तिविशेष से सबद्ध न रहकर साधारण रूप धारण कर लेते हैं। उदाहरणार्थ दुष्यंत और शकुंतला के पारस्परिक रतिव्यवहार को रंगमंच पर अभिनीत देखकर अथवा काव्य में पढ़कर सामाजिक को यह ज्ञान नहीं रहता कि यह व्यवहार ऐतिहासिक दुष्यंतशकुंतला का है, अथवा रंगमंचीय नटनटी का या उसका अपना और उसकी प्रेयसी का है वा किसी पड़ोसी दंपति अथवा अन्य प्रेमीप्रेमिका का। भावकत्व व्यापार काव्यनाटकीय उक्त व्यवहार को सार्वकालिक और सार्वदेशिक प्रेमी प्रेमिकाओं के रति-व्यवहार का साधारण रूप दे देता है। परिणामस्वरूप सामाजिक को अब न तो दुष्यंत-शकुंतला के वास्तविक रतिव्यवहार के मात्राबोध की आवश्यकता शेष रह जाती है और न उनके प्रति परंपरागत श्रद्धाजन्य संस्कारों के कारण रमानुभूति की प्राप्ति में कोई अन्य बाधा। साधारणीकरण होते ही सामाजिक का सत्वगुण उसके हृदयस्थ अन्य सब प्रकार के रजोगुण और तमोगुण सबधी भावों का तिरस्कार करके स्वयं उद्विर्गन्त (प्रादुर्भूत) हो जाता है। इसी सत्वोद्रेक से प्रकटित आनंदमय अनुभव को, जो तन्मयता के कारण अन्य सासारिक भावों से शून्य, अतएव अलौकिक रहता है, भट्टनायक ने शब्द के तीसरे व्यापार 'भोग' अथवा 'भोजकत्व' नाम से पुकारा है। इसी के द्वारा सामाजिक रस का भोग अथवा आस्वादन प्राप्त करता है^१। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शब्द के उक्त तीनों व्यवहार इतनी त्वरित गति से संपन्न होते हैं कि 'शतपत्रपत्रभेदनन्याय' से काल-व्यवधानसूचक होते हुए भी व्यवधानरहित समझे जाते हैं।

अभिधा व्यापार के द्वारा काव्यार्थबोध के उपरांत भट्टनायक का भोजकत्व (साधारणीकरण) व्यापार रसास्वादन प्रक्रिया में निस्संदेह एक अनिवार्य कड़ी है। इसी व्यापार के बल पर एक ही काव्य अथवा नाटक से सभी देशों और कालों के विभिन्न वर्ग के सहृदय सामाजिक रागद्वेष, श्रद्धाश्रद्धा, स्नेहघृणा आदि द्वंद्वों से निर्लिप्त होकर काव्यरसास्वादन की पूर्वस्थिति तक पहुँच जाते हैं, और तभी भोगव्यापार उन्हें रसास्वादन करा देता है। भट्टनायक को उक्त तीनों व्यापार काव्यनाटकीय शब्द के ही अभीष्ट हैं, लोकवार्तागत शब्द के नहीं। कवि का महामहिमशाली कवित्वकर्म ही सामाजिक को साधारणीकरण की अलौकिक अवस्था तक पहुँचा देता है। तुलसी का कवित्व नास्तिको अथवा विदेशिया के हृदय में भी, तत्क्षण के लिये ही सही, भारतीय अवतार राम के प्रति श्रद्धाभाव जगा देता है। भवभूति का कवित्व जननी सीता के भक्त सामाजिकों को भी, एक क्षण के लिये ही सही, सीता के प्रति

परिमृदितमृगालीर्दुर्बलान्यंगकानि

त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ।

की स्मृति दिलाते दिलाते उसे साधारण कामिनी के रूप में उपस्थित कर देता है, और कालिदास का कवित्व पार्वती माता के पुजारी सामाजिकों को भी पार्वती का अपूर्व यौवन सौंदर्य दिखाते दिखाते, कुछ क्षणों तक ही सही, उनके परंपरानिष्ठ श्रद्धाभाव को धराशायी करके, उन्हें सामान्य सुदरी के स्तर पर पहुँचा देता है। और, सबसे बढ़कर, कवि के कवित्व

का ही प्रभाव है कि वाल्मीकि और तुलसी का काव्य एक ही दाशरथि राम के प्रति हमारे हृदय में समय समय पर भिन्न भिन्न भावों को जगा देता है। भट्टनायक समत भावकत्व व्यापार के पीछे भी निस्सदेह कवित्वकर्म का महामहिमशाली प्रभाव भाँक रहा है, क्योंकि उनके सिद्धांतवाक्य में 'काव्ये नाट्ये च' का प्रयोग हुआ है, जिनका कर्ता 'कवि' कहाता है। संभवतः भावकत्व व्यापार की प्रेरणा भट्टनायक को भरत से मिली है जिन्होंने 'भाव' को कवि के अभीष्ट भावों पर आद्धृत स्वीकार किया है।

कवेरन्तर्गतं भाव भावयन् भाव उच्यते। —ना० शा० ७।२

रसानुभूति की समस्या को सुलभाने में भट्टनायक का भावकत्व व्यापार पर आश्रित 'साधारणीकरण' नामक तत्व इतना सत्य, चिरतन और मर्मस्पर्शी है कि अभिनव-गुप्त जैसे तत्वविद् आचार्य ने न केवल इसे स्वीकार किया, अपितु इसकी व्याख्या भी वक्ष्यमाण विभिन्न रूप में प्रस्तुत करके इस तत्व की अनिवार्यता घोषित कर दी।

भट्टनायक के 'साधारणीकरण' तत्व से सहमत होते हुए भी अभिनवगुप्त इनके द्वारा प्रतिपादित शब्द के भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों से सहमत नहीं हुए। उनके मत में प्रथम तो दोनों व्यापार किसी अन्य शास्त्र अथवा काव्यशास्त्रीय किसी अन्य आचार्य द्वारा कभी भी प्रतिपादित नहीं किए गए, और दूसरे भावकत्व व्यापार का ध्वनि में और भोजकत्व व्यापार का रसास्वाद में अंतर्भाव बड़ी सरलता के साथ किया जा सकता है^१।

किंतु किसी नवीन सिद्धांत को केवल इसी आधार पर खंडित अथवा स्वसमत सिद्धांत में अंतर्भूत कर देना कदापि युक्तिसंगत नहीं है कि यह आज तक पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित और अनुमोदित नहीं हुआ। इसके लिये प्रबल तर्कों की अपेक्षा रहती है। अभिधा व्यापार का तो शब्द के साथ प्रत्यक्ष संबन्ध है, पर भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों का यह संबन्ध प्रत्यक्ष नहीं है। इनके स्वरूप में भी स्पष्ट अंतर है—अभिधा व्यापार स्थूल और बाह्य है, पर शेष दो व्यापार सूक्ष्म और आन्तरिक हैं। भावकत्व व्यापार शब्द से प्रेरित न होकर विभावादि संपूर्ण सामग्री से प्रेरित होता है—साधारणीकरण जैसे मानसिक व्यापार को कोरे शब्द का व्यापार मान लेना मनोविज्ञान के विपरीत है। इसी प्रकार भोजकत्व व्यापार को भी, जो एक तो भावकत्व जैसे मानसिक व्यापार का अनुवर्ती है, और दूसरे सत्वोद्रेक जैसे उत्कृष्ट मनोव्यापार का उद्गमयिता होने के कारण एक प्रकार का सूक्ष्म ज्ञान है, स्थूल शब्द का व्यापार मान लेना असंगत है। यही कारण है कि अभिनव-गुप्त भावकत्व व्यापार को ध्वनित (न कि भावित) स्वीकार करते हुए भट्टनायक से पूर्ववर्ती आचार्य आनंदवर्धन द्वारा प्रचलित 'ध्वनि' में अंतर्भूत करते हैं और भोजकत्व व्यापार को 'रसप्रतीति' में। पर हमारे विचार में ध्वनिवादियों ने भावकत्व व्यापार को ध्वनि के अंतर्गत मानकर जितना अपने सिद्धांत के प्रति पक्षपात प्रकट किया है, उतना ही भट्टनायक के प्रति अन्याय भी किया है। स्वयं ध्वनिवादी भी तो ध्वनि (व्यजना) को शब्द का व्यापार स्वीकार करते हैं। भट्टनायक को निस्सदेह 'शब्द' का केवल स्थूल रूप अभीष्ट नहीं होगा, अपितु सूक्ष्म रूप भी अवश्य होगा।

६. अभिनवगुप्त

(१) **भरतसूत्र की व्याख्या**—भरतसूत्र के चौथे व्याख्याता अभिनवगुप्त के मत में भरतसूत्र का सार रूप में अर्थ है विभावादि और स्थायिभावों में परस्पर व्यञ्ज-

व्यग्य-रूप सयोग द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् विभावादि व्यजको के द्वारा रत्यादि स्थायिभाव ही साधारणीकृत रूप में व्यग्य होकर शृंगारादि रसों में अभिव्यक्त होते हैं, और यही कारण है कि जबतक विभावादि की अवस्थिति बनी रहती है, तबतक रसाभिव्यक्ति भी होती रहती है, इसके उपरांत नहीं।

उपर्युक्त सिद्धांत के निरूपणप्रसंग में अभिनवगुप्त ने निम्नलिखित तथ्यों को भी स्थान दिया है

(अ)—सहृदय कहाने और रसानुभूति प्राप्त करने का अधिकारी वही सामाजिक ठहरता है जिसमें पूर्वजन्म के संस्कारों, इस जन्म के निजी अनुभवों अथवा लौकिक व्यवहारों के दर्शनाभ्यास के बल पर रत्यादि स्थायिभाव वासना रूप से सदा वर्तमान रहते हैं।

(आ)—काव्यनाटकादि में जिन रामसीतादि तथा उद्धानचंद्रादि कारणों, भ्रूविक्षेप-भुजप्रचालनादि कार्यों तथा लज्जा, हर्ष, आवेग आदि सहकारी कारणों का वर्णन किया जाता है, वे लोक में भले ही कारणादि नामों से पुकारे जायें, पर काव्यनाटक में अलौकिक रूप धारण कर लेने के कारण उन्हें क्रमशः विभाव, अनुभाव और सचारिभाव की सज्ञा दी जाती है (चाहे तो इन्हें अलौकिक कारणादि भी कह सकते हैं)।

(इ)—(१) लौकिक कारणादि को विभावादि नामों से पुकारने का एक ही प्रमुख कारण है—लोक में इनका मूल रामादि रूप व्यक्तिविशेष से नियत संबध रहते हुए भी काव्यनाटकादि में सहृदयनिष्ठ रत्यादि वासना के द्वारा सर्वसाधारण के लिये प्रतीतियोग्य होना। दूसरे शब्दों में, ये कारणादि अब व्यक्तिविशेष से संबध खोकर साधारण रूप से सकल सहृदयसंबध हो जाते हैं।

(२) विभावादि की साधारण रूप से प्रतीति की एक पहचान यह है कि उस समय सामाजिक इतना तन्मय, आत्मविभोर और आनंदविह्वल हो जाता है कि उसे न तो यह कहते बनता है कि ये विभावादि अमुक (रामादि) व्यक्ति के ही हैं अथवा मेरे ही हैं, या किसी अन्य व्यक्ति के, और न यही कहते बनता है कि ये विभावादि अमुक व्यक्ति के नहीं हैं, या मेरे नहीं हैं, या किसी भी व्यक्ति के नहीं हैं। और दूसरी पहचान यह है कि सामाजिक किसी भी अन्य ज्ञान के संपर्क से शून्य हो जाता है। बस, इन्हीं अवस्थाओं के द्योतक साधारणीकरण के होते ही सामाजिक को रसाभिव्यक्ति हो जाती है।

वस्तुतः अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद भट्टनायक के भुक्तिवाद का ही ध्वनि-सिद्धांत में ढाला हुआ रूपांतर मात्र है। भट्टनायक समत अभिधा व्यापार के अतर्भूत अभिधा और लक्षणा नामक दोनों शब्दव्यापारों को ध्वनिवादी भी स्वीकृत करते हैं। भट्टनायक समत 'भावकत्व' नाम से न सही, पर इसके साधारणीकरणात्मक स्वरूप से अभिनवगुप्त पूर्णतः सहमत है। भट्टनायक का 'भोजकत्व' अभिनवगुप्त के मत में 'रसाभिव्यक्ति' नाम से अभिहित हुआ है। रस को 'वेद्यांतरसंपर्कशून्य' मानने के लिये अभिनवगुप्त को भट्टनायक के 'सत्त्वोद्रेक' तत्त्व से प्रेरणा मिली प्रतीत होती है, क्योंकि सत्त्व के उद्रेक का सहज परिणाम है मन की समाहिता और मन की समाहिता ही प्रकारांतर से वेद्यांतरस्पर्शशून्यता है। शेष रहा अभिनवगुप्त द्वारा स्थायिभावों की सामाजिक के अंतःकरण में वासना रूप में स्थिति का प्रश्न। इस ओर भट्टनायक ने तो निस्संदेह कोई संकेत नहीं किया, पर शकुंतल स्पष्ट शब्दों में इस ओर पहले ही संकेत कर चुके थे। संभवतः भट्टनायक ने स्थायिभाव को भरतसूत्र में स्थान न मिलने के कारण सामाजिक के अंतःकरण में स्थित स्थायिभावों की ओर जान बूझकर कोई संकेत न किया हो, अथवा भरत के समय से ही प्रचलित स्थायिभावों की सामाजिक के अंतःकरण में अवस्थिति को निर्विवाद

और स्वतः सिद्ध मानकर इस ओर संकेत करने की कोई आवश्यकता ही न समझी हो, पर सामाजिक के लिये साधारणीकरण जैसे मनोवैज्ञानिक तत्व को स्वीकृत करनेवाले भट्ट-नायक को सहृदयगत स्थायिभाव की स्थिति अवश्य ही मान्य होगी, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। हाँ, अभिनवगुप्त का श्रेय विषय को स्पष्टतापूर्वक सुलझाने में अवश्य निहित है। इनके मत में शृंगारादि रस की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, अपितु सामाजिक के अंतःकरण में वासना रूप में स्थित रत्यादि स्थायिभाव ही साधारणीकृत विभावादि के द्वारा व्यजित होकर शृंगारादि रस रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं। और लगभग इसी तथ्य को प्रकारांतर से भरतसूत्र के प्रथम व्याख्याता भट्ट लोल्लट ने इन शब्दों में प्रकट किया था 'स्थायैव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी (भावः) त्वनुपचितः।' (अ० भा०, पृ० २७४)।

७ अलंकार संप्रदाय और रस

(१) अलंकारवादी आचार्य—अलंकार संप्रदाय के प्रमुख दो स्तंभ हैं—भामह और दंडी। इन आचार्यों ने इसकी महत्ता स्वीकार करते हुए भी रस, भाव आदि को रसवत् आदि अलंकारों के अंतर्गत समिलित करके अलंकार संप्रदाय की पुष्टि की है। उद्भट भी निस्संदेह अलंकारवादी आचार्य रहे होंगे—अपने 'काव्यालंकार सारसंग्रह' में भामह द्वारा निरूपित सभी अलंकारों का लगभग भामह समत विवेचन सरल शैली में प्रस्तुतकर उन्होंने अलंकारवादी आचार्य भामह का अनुकरण करते हुए प्रकारांतर से अलंकारवाद का समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त इनका 'भामह विवरण' नामक विख्यात (पर अप्राप्य) ग्रंथ तो इन्हें भामह का अनुयायी सिद्ध करता ही है।

रुद्रट की स्थिति उपर्युक्त तीनों आचार्यों से भिन्न है। वह एक ओर भामह आदि के अलंकार संप्रदाय और दूसरी ओर परवर्ती आनंदवर्धन आदि के रसध्वनि संप्रदाय से प्रभावित है। निस्संदेह उनका भुक्ताव रस संप्रदाय की ओर अधिक है। यही कारण है कि एक ओर तो उन्होंने रसवत् आदि अलंकारों को अपने ग्रंथ में स्थान नहीं दिया, और दूसरी ओर रसवादियों के ही समान रस की महत्ता स्वीकार करते हुए उसका पूरे चार (१२-१५) अध्यायों में विशद रूप से निरूपण किया है।

(२) अलंकारवादियों द्वारा रस की महत्वस्वीकृति—भामह और दंडी ने रस का महत्व स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। दोनों आचार्यों ने रस को महाकाव्य के लिये एक आवश्यक तत्व ठहराया है^१। भामह के कथनानुसार नीरस और शृङ्ख शास्त्रीय चर्चा भी रससयुक्तता के कारण उसी प्रकार सरलग्राह्य बन जाती है जिस प्रकार मधु (अथवा शर्करा) से आवेष्टित कटु ओषधि^२। दंडी ने स्वसमत वैदर्भमार्ग के प्राणस्वरूप^३ गुणों में से माधुर्य गुण के दोनों रूपों—वाक्मात और वस्तुगत—को रस पर ही अवलंबित माना है। उनके शब्दों में माधुर्य गुण की मधु के समान 'रसवत्ता' ही मधुपों के समान

१ युक्त लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ॥ —का० अ० १।२१

अलंकृतमसक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ॥ —का० द० १।१८

२ स्वादुकाव्यरसोन्मिश्र शास्त्रमप्युपयुज्यते ।

प्रथमालीढमधु पिवन्ति कटु ओषधिम् । —का० अ० ५-३

३ का० द० १।४२

सहृदयो को प्रमत्त बना देती है^१। वाक्यगत माधुर्य का प्रपर नाम श्रुत्यनुप्रास है^२, और वस्तुगत माधुर्य का अग्राभ्यता। अग्राभ्यता ही काव्य में रससेचन के लिये सर्वाधिक शक्तिशाली अलंकार (गुण) है^३। दंडी ने अग्राभ्यता के दोनो उपरूपो—शब्दगत और अर्थगत (विशेषतः अर्थगत)—को भी रस पर ही अवलंबित माना है^४।

इस प्रकार अलंकारवादी भामह और दंडी ने रस के प्रति समुचित समादरभाव प्रकट किया है। इसके कारण अनेक हो सकते हैं। दोनो आचार्यों (विशेषतः दंडी) का कविहृदय 'रस' के प्रति आकृष्ट होकर उसका गुणगान करने को बाध्य हो गया हो। अथवा भरत के समय से (लगभग पिछले छह-सात सौ वर्षों से) लेकर भामह और दंडी के समय तक चले आ रहे रस संप्रदाय का अक्षुण्ण प्रभाव अलंकार संप्रदाय के कट्टर पक्षपातियो को—कुछ सीमा तक ही सही—प्रभावित करने से विरत न हो सका हो। रुद्रट का भुकाव रस संप्रदाय की ओर अधिक है, यह हम पीछे कह आए हैं। भामह और दंडी के समान इन्होंने भी रस को महाकाव्य के लिये आवश्यक तत्त्व माना है^५। प्रथम बार इन्होंने ही वैदर्भी आदि रीतियो और मधुरा, ललिता नामक वृत्तियो के रसानुकूल प्रयोग की ओर निर्देश किया है^६, शृंगार रस के अंतर्गत नायकनायिका भेद का निरूपण किया है^७ और शृंगार रस का प्राधान्य स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है^८। इन्होंने रस के ही आधार पर काव्य और शास्त्र में एक स्पष्ट विभाजनरेखा खींच दी है। काव्य में रस के प्रयोग के लिये कवि को महान् प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा वह (नीरस) शास्त्र के समान उद्वेजक रह जायगा^९। रस का औचित्यपूर्ण प्रयोग करने पर भी रुद्रट ने बल दिया है। उनके कथनानुसार प्रसंगानुकूल रस के स्थान पर अन्य रस का अनुचित प्रयोग अथवा प्रसंगानुकूल भी रस का निरंतर (सीमातिशय) प्रयोग 'विरसता' नामक दोष कहता है^{१०}। स्पष्ट है कि रुद्रट का उपर्युक्त दृष्टिकोण रसवादियो के ही अनुकूल है।

(३) अलंकारवादियो द्वारा रस का अलंकार में अंतर्भाव—भामह, दंडी और उद्भट तीनों आचार्यों ने रस, भाव, रसाभास और भावाभास को क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत् और ऊर्जस्वि अलंकारों के नाम से अभिहित किया है, तथा उद्भट ने 'समाहित' नामक अन्य अलंकार को भावशांति का पर्याय माना है। भामह और दंडी ने भी 'समाहित' अलंकार का निरूपण किया है, पर उसका सबंध 'रस' के साथ खींच तानकर ही स्थापित किया जा सकता है।

१ मधुर रसवद् वाचि, वस्तून्पि रसस्थिति ।

येनमाद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रता ॥ —का० द० १।५१

२ वही १।५२

३ काम सर्वाङ्ग्यलंकारो रसमर्थं निषिञ्चति ।

तथाप्यग्राभ्यतैवैनं भार वहति भूयसा ॥ —वही १।६२

४ अग्राभ्योर्ज्यो रसावहं शब्देऽपि ग्राभ्यताऽस्त्येव । —का० द० १।६४, ६५

५ का० अ० १।६१, ५

६ वही, १।३७, १।५।२०

७ का० अ०, १२वाँ—१३वाँ अध्याय

८ का० अ० १।३८

९ तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।

उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात् ॥ —का० अ० १२।२

१० का० अ० १।१।१२, १४

यद्यपि दडी को भामह से और उद्भट को भामह और दडी से यह विषय प्रस्तुत करने में प्रेरणा मिली है, पर उदाहरणों की दृष्टि से दडी और उद्भट का यह निरूपण क्रमशः उत्तरोत्तर प्रबल है और परिभाषाओं की दृष्टि से उद्भट इन सबसे आगे बढ़ गए हैं। उद्भट द्वारा प्रतिपादित परिभाषाएँ विषय को अत्यंत स्पष्ट और विकसित रूप में प्रस्तुत करती हैं।

रसवत् अलंकार की परिभाषा दडी के यहाँ अत्यंत सीधीसादी और सक्षिप्त है—
रसवद् रसपेशलम् (का० आ० २।३७५)। उद्भट ने भामह के ही शब्दों को अपनाकर उसमें रस के अवयवभूत पाँच साधनों की ओर भी निर्देश कर दिया है।

रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसाद्यम्।

स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥

—का० सा० ४।३

इन पाँच साधनों में से स्थायी, संचारी और विभाव तो रस संप्रदाय द्वारा स्वीकृत हैं। चौथा साधन 'अभिनय' भरतसमस्त आंगिकादि चार प्रकार के अभिनयों का पर्याय है। इस साधन की परिगणना से प्रतीत होता है कि उद्भट को या तो भरत के अनुसार केवल नाटक को ही रस का विषय मानना अभीष्ट है, काव्य के अन्य अंगों को नहीं, या फिर उद्भट के समय तक केवल नाटक को ही रस का विषय माना जाता रहा होगा। पाँचवाँ साधन है—'स्वशब्द'। प्रतिहारेदुराज की व्याख्या के अनुसार इसका अर्थ है शृंगारादि रसों, रत्यादि स्थायिभावों और औत्सुक्यादि संचारिभावों की स्वशब्दवाच्यता^१। स्वयं उद्भट ने रसवत् अलंकार के उदाहरण में स्थायिभाववाची कदर्प (रति) और संचारि-भाववाची औत्सुक्य, चिता तथा प्रमोद (हर्ष) शब्दों का प्रयोग किया है^२। रस के उदाहरणों में 'स्वशब्दवाच्यता' की यह शर्त उद्भट के समय में संभवतः अनिवार्य रही होगी, जिसका आगामी आचार्यों को खंडन करके उसे रसदोष मानना पड़ा होगा^३।

प्रेय (प्रेयस्वत्) की परिभाषा भामह ने प्रस्तुत नहीं की। दडी द्वारा प्रस्तुत परिभाषा 'प्रेय प्रियतराख्यानम्' (का० आ० २।२७५) को रसध्वनिवादियों द्वारा समस्त 'भाव' के निकट खींच तानकर लाया जा सकता है। उद्भट की परिभाषा कहीं अधिक स्पष्ट और विषयानुकूल है—अनुभाव आदि के द्वारा रति आदि स्थायिभावों का काव्य में बध्ना प्रेयस्वत् का विषय है^४। दूसरे शब्दों में, वह काव्य जिसमें स्थायिभावों को रसावस्था तक नहीं पहुँचाया गया, प्रेयस्वत् अलंकार कहाता है। निस्संदेह रसध्वनिवादियों को ऐसे काव्य में ही 'भाव' की विद्यमानता अभीष्ट है, पर वही जहाँ 'भाव' अंगीभूत रूप में वर्णित न होकर अंगभूत रूप में वर्णित हो।

ऊर्जस्वि अलंकार के भामह और दडी द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों से प्रकट होता है कि इस अलंकार का संबंध केवल ऊर्जस्वि वचनों के कथन से है, रस और भाव संबंधी किसी अनौचित्य से नहीं है^५। दडी द्वारा प्रस्तुत परिभाषा 'ऊर्जस्वि रूढाह्वारम्' (का०

१ का० सा० स० (टीका भाग), पृ० ५३

२ वही

३ का० प्र० ७।६०

४ रत्यादिकाना भावानामनुभावादिसूचनै ।

यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥ —का० सा० ४।२

५ का० अ० ३।७, का० आ० २।२८२, २८५

द० २।२७५) भी ऊर्जस्वि के वास्तविक स्वरूप—रसभावाभासत्व—को स्पष्ट शब्दों में प्रकट नहीं करती। पर उद्भट निस्सदेह ऊर्जस्वि के इस रूप को परिभाषा और उदाहरण दोनों में स्पष्ट कर सके हैं—काम, क्रोध आदि कारणों से रसों और भावों का अनौचित्य रूप में प्रवर्तन ऊर्जस्वि अलंकार का विषय है^१। उदाहरणार्थ शिवजी के काम का वेग इतना बढ़ गया कि वे सन्मार्ग को छोड़कर पार्वती को बलपूर्वक पकड़ने को उद्यत हो गए^२। उद्भट की परिभाषा रसध्वनिवादिसमत परिभाषा से मेल खाती है। अतः इतना है कि रसध्वनिवादी अग्रभूत रसाभास, भावाभास को ऊर्जस्वि अलंकार मानते हैं और उद्भट अग्रभूत रसाभास, भावाभास को। प्रतीत ऐसा होता है कि भामह और दंडी के समय में ऊर्जस्वि अलंकार का जो स्वरूप था वह उद्भट के समय तक आते आते रसध्वनिवादियों के उदीयमान प्रभाव से बदल गया।

समाहित की परिभाषा में उद्भट ने रस, भाव, रसाभास और भावाभास की शांति को—इतनी अधिक शांति जिसमें (समाधि अवस्था के समान) अन्य किसी रसादि के अनुभवों की प्रतीति न हो—इस अलंकार का विषय माना है^३। रसध्वनिवादी आचार्यों और उद्भट की धारणा में यहाँ भी वही प्रधान अंतर है जिसका पीछे प्रेयस्वृत् और ऊर्जस्वि अलंकार के निरूपण में उल्लेख किया जा चुका है। समाहित का अर्थ है एक भाव का परिहार अथवा शांति। समाधि और समाहित शब्दों में प्रत्ययभेद के अतिरिक्त और कोई अंतर नहीं है। यही कारण है कि भामह और विशेषतः दंडी द्वारा प्रस्तुत समाहित अलंकार का उदाहरण तथा दंडिसमत इस अलंकार का लक्षण भी रसध्वनिवादी मम्मट के समाधि अलंकार का ही रूप प्रस्तुत करता है^४। यदि अलंकारवादी आचार्य उद्भट ने इस अलंकार के निरूपण में भी भामह और दंडी का अनुकरण न करके रसध्वनिवादियों का ही अनुकरण किया है, तो इसका श्रेय रस संप्रदाय के वर्धमान प्रभाव को ही मिलना चाहिए।

इसी सबंध में उद्भट द्वारा प्रस्तुत उदात्त अलंकार का एक भेद अवैश्वर्याण्य है जिसमें उन्होंने और उनके ग्रंथ के व्याख्याता प्रतिहारेदुराज ने अग्रभूत रसादि को द्वितीय उदात्त अलंकार के अंतर्गत समिलित किया है^५। उनके इस कथन का अनुमोदन आगे चलकर अलंकारसर्वस्व के प्रणेता रुय्यक ने भी किया है

यत्र यस्मिन् दर्शने वाक्यार्थोभूता रसादयो रसवदालंकाराः ।

तत्रांगभूतरसादिविषये द्वितीय उदात्तालंकारः ॥—अ० सर्व०, पृ० २३३

१ अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।

भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥ —का० सा० ४।५

२ तथा कामोऽस्य ववृधे यथा हिमगिरे सुताम् ।

सग्रहीतुं प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम् ॥ —का० स०, पृ० ५४

३ रसाभावतदाभासवृत्ते प्रथमबन्धनम् ।

अन्यानुभावनिश्चयनरूपं यत्तत् समाहितम् ॥ —का० सा० ४।७

४ का० अ० ३।१०, का० आ० २।२६८, का० प्र० १०।११२ (सूत्र). ५३४ (पद्य-संख्या)

५ उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम् ।

उपलक्षणता प्राप्त नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥

यत्र च रसास्तात्पर्येणाऽवगम्यन्ते तत्र तेषां रसवदलंकारो भवति । तेन उवाच च यत् क्रोडे इत्याद्युदात्तालंकारोदाहरणे कुतोऽत्र रसवदलंकारगन्धोऽपि । तदुक्तम् उपलक्षणता प्राप्तमिति । —का० सा० ४।८ (वृत्ति)

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अलंकारवादी आचार्य

(१) अगीभूत रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावशांति को क्रमशः रसवद्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों से अभिहित करते हैं, और

(२) अगभूत रसादि को द्वितीय उदात्त अलंकार से ।

(४) रसवादियों तथा कुतक द्वारा अलंकारवादियों का खंडन—अलंकारवादी आचार्यों का दृष्टिकोण रसध्वनिवादी आचार्यों के दृष्टिकोण से नितात भिन्न है । अलंकारवादियों के यहाँ काव्य के सभी अंग—गुण, रीति, वृत्ति, रस आदि—उसके शोभाकारक धर्म हैं, और ये धर्म अलंकार नाम से अभिहित होते हैं । इनसे प्रभावित होकर रीतिवादी वामन ने अलंकार को न केवल सौंदर्यजनक धर्म कहा, अपितु सौंदर्य को ही अलंकार की संज्ञा दी । अलंकारवादी 'अलंकार' को काव्य का 'सर्वेसर्वा' मानते हैं, पर इधर रसवादी इसे सौंदर्योत्पादन का साधन मात्र कहते हैं । इनके मत में साध्य रस है । सौंदर्यवर्धन की प्रक्रिया इस प्रकार है—अलंकार प्रत्यक्ष रूप से शब्दार्थ रूप शरीर को शोभित करते हुए भी मूलतः रसरूप आत्मा का ही उपकार (शोभावर्धन) करते हैं । पर यह नितात आवश्यक नहीं कि वे सदैव इसका उपाकर करें, कभी नहीं भी करते । दृष्टिकोण की यह विभिन्नता ही रस को एक ओर गौण स्थान और दूसरी ओर प्रधान स्थान देने का प्रमुख कारण है ।

उपर्युक्त दृष्टिकोण रसवादि अलंकारों और रसादि के पारस्परिक संबंध पर भी लागू होता है । रसवादी, रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावशांति को क्रमशः रसवद्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों से तभी अभिहित करते हैं जब ये अगी (प्रधान) रूप से वर्णित न होकर अंग (गौण) रूप से वर्णित किए गए हों

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्रागन्तु रसादयः ।

काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥—ध्व० २।५

यही कारण है कि प्रायः सभी रसवादी आचार्य इन्हे गुणीभूत व्यंग्य के 'अपर-स्याग' नामक भेद के अंतर्गत निरूपित करते हैं, न कि अनुप्रासोपमादि चित्रालंकारों के साथ । रसध्वनिवादियों द्वारा अगभूत रसादि को रसवादि अलंकारों में अंतर्भूत कर लेने पर उद्भट, समत द्वितीय उदात्तालंकार संबंधी धारणा भी स्वतः ही असामान्य सिद्ध हो जाती है ।

रसादीनामङ्गत्वे रसवदाद्यलङ्कारः ।

अङ्गत्वे तु द्वितीयोदात्तालंकारः—तदपि परास्तम् ॥

—सा० द० १०।६७ (वृत्ति)

रसवादी आचार्य अलंकारवादियों की इस धारणा से किसी अवस्था में सहमत नहीं हैं कि अगीभूत रसादि को अलंकारों के अंतर्गत समिलित किया जाय । इनके मत में रसादि अलंकार हैं और उपमादि अलंकार । अलंकार का कार्य है अलंकार का चमत्कारोत्पादन । यदि रसादि को ही अलंकार मान लिया जाय, तो फिर वह किसके चारुत्व को बढ़ाते हैं । भला कोई स्वयं अपना भी कभी चारुत्व हेतु हो सकता है

यत्र च रसस्य वाक्यार्थोभावस्तत्र कथमलंकारत्वम् । अलंकारो हि

चारुत्वहेतुप्रसिद्धः । न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः ।—ध्व० २।५ (वृत्ति)

अतः अलकार्य तो अलकार से सदा ही भिन्न रहेगा^१ ।

रसवादियों की उपर्युक्त धारणा से वक्रोक्तिवादी कुतक भी पूर्ण रूप से सहमत है । भामह, दंडी और उद्भट के उपर्युक्त मत का खंडन करते हुए रसवादियों के समान उन्होंने भी रसादि को अलकार का विषय नहीं माना । इस सबंध में उन्होंने दो प्रमुख तर्क उपस्थित किए हैं

पहला तो यह कि रस अलकार्य है । उसे रसवदादि अलकार मान लेने पर अपने में ही क्रिया का विरोध हो जायगा—अलकार्य अपना अलकरण क्या करेगा ? क्या कभी कोई अपने कंधे पर स्वयं भी चढ़ सकता है । वस्तुतः रस से अपने स्वरूप के अतिरिक्त किसी अन्य (अलकार आदि) तत्व की प्रतीति नहीं हो सकती, फिर उसे अलकार कैसे मान लिया जाय ? और दूसरा तर्क यह है कि 'रसवदलकार' इस पद के शब्दार्थ की सगति नहीं बैठती । इस पद के दो विग्रह संभव हैं (क) रस जिसमें रहता है वह रसवत्, उस रसवत् का अलकार = रसवदलकार । (ख) जो रसवान् भी है और अलकार भी, वह रसवदलकार^२ । पर ये दोनों विग्रह रस (अलकार्य) को अलकार सिद्ध करने में सगत नहीं हो सकते

अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।

स्वरूपादतिरिक्तस्य, शब्दार्थासंगतेरपि ॥ —व० जी० ३१११

पर कुतक अलकारवादियों का खंडन करते हुए भी रसवत् अलकार के स्वरूप के विषय में रसवादियों से सहमत नहीं है कि अगभूत रस को इस अलकार की सजा दे दी जाय । उन्होंने यहाँ परंपराविरुद्ध भी एक नितात मौलिक धारणा प्रस्तुत की है । 'रसवत्' का उन्होंने सीधा सा अर्थ किया है—जो अलकार रस के तुल्य रहता है, उसे 'रसवत्' अलकार कहते हैं । अलकार की यह स्थिति तभी संभव है, जब रसवत्ता के विधान से वह संहृदयो को आह्लाद प्रदान करने का कारण बन जाय

रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः ।

योऽलकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिमित्तः ॥ —व० जी० ३११५

और इसी कारण उन्होंने रसवत् अलकार को सब अलकारों का 'जीवित' माना है^३ ।

कुतक का अभिप्राय यह है कि उपमादि अलकार यदि केवल कोरी कल्पना की ही सृष्टि करते हैं, तब तो वे (साधारण) अलकार मात्र हैं, पर जब वे विशिष्ट चमत्कारयुक्त विषयसामग्री को—इतनी विशिष्ट कि वह 'रसवत्ता' के निकट पहुँच जाय—प्रस्तुत करके संहृदयो को आह्लाद देते हैं तो वहाँ वे उपमादि अलकार रसवदलकार नाम से पुकारे जाते हैं^४ ।

१ रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रम ।

भिन्नो रसाद्यलकारादलकार्यतया स्थित ॥ —का० प्र० ४१२६

२ क रसो विद्यते तिष्ठति यस्येति मत्प्रत्यये विहिते तस्यालकार इति षष्ठीसमास क्रियते ।

ख रसवाश्चासावलकारश्चेति विशेषणसमासो वा । —व० जी०, पृ० ३४७

३ यथा स रसवन्नाम सर्वालकारजीवितम् । —व० जी० ३११४

४ यथा रस काव्यस्य रसवत्ता तद्विदाह्लादच विदधाति एवमुपमादिरप्युभय निष्पादयन् भिन्नो रसवदलकार सम्पद्यते । —व० जी० ३११६ (वृत्ति), पृ० ३८५

निष्कर्ष यह कि कुतक के मत में

(१) उपमादि अलंकार सामान्य स्थिति में तो अपने अपने नामों से पुकारे जाते हैं,

(२) पर जब वे सरस रचना के तुल्य आल्लाददायक सामग्री प्रस्तुत करते हैं तब 'रसवदलकार' से अभिहित होते हैं ।

(३) रसवदलकार रस के तुल्य आल्लादक होने के कारण सब अलंकारों का जीवित (सर्वोत्तम अलंकार) है, पर साक्षात् रस नहीं है । उदाहरणार्थ किसी रसविहीन रचना में उपमा का प्रयोग उपमा अलंकार कहा जायगा, पर किसी अन्य रचना में यही प्रयोग शृंगाररस अथवा किसी अन्य (वस्तु अथवा अलंकार सबंधी) चमत्कृति का आभासक, अतएव सहृदयाल्लादकारी होने के कारण 'रसवदलकार' नाम से पुकारा जायगा ।

कुतक ने उपर्युक्त विग्रह के आधार पर रसवत् अलंकार के विषय में जैसी नवीन धारणा उपस्थित की है, वैसी प्रेयस्वत् आदि अन्य अलंकारों के विषय में उपस्थित नहीं की । कारण यह हो सकती है कि 'प्रेयस्वदलकार' आदि पदों का शाब्दिक अर्थ अथवा विग्रह उनकी धारणा पर इतना चरितार्थ नहीं हो सकता जितना कि 'रसवदलकार' का उपर्युक्त विग्रह । पर फिर भी इन अलंकारों के विषय में भी उन्हें यही धारणा अभीष्ट होगी, इसमें किंचिन्मात्र संदेह नहीं है ।

कुतक की यह धारणा मौलिक और नवीन होते हुए भी हमारी दृष्टि में वैज्ञानिक नहीं है । प्रथम तो कोरा अलंकारप्रयोग, जो किसी भी (वस्तु, अलंकार अथवा रस) के चमत्कार का प्रदर्शन नहीं करता, 'काव्य' संज्ञा से अभिहित होने का वास्तविक अधिकारी ही नहीं है । और दूसरे, चमत्कार के प्रदर्शक अतएव सहृदयाल्लादक अलंकारप्रयोगों को यदि 'रसवदलकार' से अभिहित किया जायगा, तो शुद्ध रस के उदाहरण नितांत दुर्लभ हो जायेंगे । जिस किसी भी काव्यस्थल में अलंकार के सैकड़ों भेदोपभेदों में से किसी भी एक भेद के कारण चमत्कारोत्पादन होगा, वही 'रसवदलकार' की स्वीकृति प्रकारांतर से यह सिद्धांत मानने को बाध्य कर देती है कि शुद्ध रस का स्थल अलंकारप्रयोगरहित होना चाहिए । अलंकारवादियों का मत एक दृष्टि से रसवादियों से केवल बाह्य रूप से ही भिन्न है, आंतरिक रूप से नहीं । अंतर केवल संज्ञाविभिन्नता का है । अगीभूत रसादि को 'रसादि' नाम से न पुकारकर वे 'रसवदलकार' नाम से पुकारते हैं और अगभूत रसादि को द्वितीय उदात्त अलंकार नाम से । इधर रसवादी अगीभूत रसादि को अलंकार की संज्ञा देने के पक्ष में नहीं है, अगभूत रसादि को भले ही वे रसवादि अलंकार नाम से अभिहित कर ले । इस प्रकार कुतक 'रसवदलकार' की नवीन धारणा समुपस्थित करके हमारे विचार में अलंकारवादियों से भी एक पग पीछे ही हटे हैं, आगे नहीं बढ़े । अलंकारध्वनि काव्यचमत्कार को ध्वनि का एक प्रकार न मानकर अलंकार मान लेना मनस्तोषक नहीं है ।

८. ध्वनि संप्रदाय और रस

(१) ध्वनिवादी आचार्य और रस—भरत मुनि और अलंकारवादी आचार्यों के उपरांत ध्वनिवादी आचार्यों का युग आता है । ध्वनिसिद्धांत के मूल प्रवर्तक आचार्य आनंदवर्धन हैं और ध्वनिनिरूपक प्रमुख आचार्य हैं—मम्मट और जगन्नाथ । रसवादी विश्वनाथ ने भी अपने ग्रंथ में ध्वनिप्रकरण को स्थान दिया है । हेमचंद्र, विद्याधर और विद्यानाथ ने भी ध्वनि का निरूपण किया है । पर इनमें विशेष नवीनता नहीं है । मम्मट और जगन्नाथ ने आनंदवर्धन के अनुकरण पर ध्वनि के एक भेद असलक्ष्यक्रम व्याख्य के अंतर्गत रसभावादि का प्रतिपादन किया है । पर विश्वनाथ ने रसादि को उक्त ध्वनि-

भेद का समानार्थक स्वीकार करते हुए भी इनका विस्तृत निरूपण ध्वनिप्रकरण से पूर्व ही प्रस्तुत किया है। कारण स्पष्ट है विश्वनाथ द्वारा ध्वनि की अपेक्षा रस की काव्यात्मा रूप में स्वीकृति। पर इतना साहस यह भी नहीं कर सके कि ध्वनि के असलक्ष्यक्रम व्यंग्य (रसादि) नामक भेद को अस्वाकृत करके ध्वनिवादियों की पुष्ट परंपरा का उल्लंघन कर दें।

(२) रस : ध्वनि का एक भेद—रस, भाव, रसाभासादि को ध्वनि का एक भेद स्वीकृत करने में आनंदवर्धन का प्रमुख तर्क है कि रसादि की अनुभूति व्यजना वृत्ति (ध्वनि) द्वारा होती है, न कि अभिधा वृत्ति के द्वारा। अतः ये वाच्य न होकर व्यंग्य ही है। इस तर्क की पुष्टि में एक प्रमाण तो यह है कि किसी भी रचना में विभावादि की परिपक्व सामग्री के अभाव में रस, स्थायिभाव और विभावादि, अथवा इनके विभिन्न प्रकारों में से एक अथवा अनेक का नामोल्लेख मात्र कर देने से रसानुभूति नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ

- (क) तामुद्वीक्ष्य कुरंगाक्षी रसः नः कोऽप्यजायत ।
- (ख) चन्द्रमण्डलमालोक्य शृंगारे मग्नमन्तरम् ।
- (ग) अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे ।
- (घ) जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने^१ ।

इन वाक्यों में रस, शृंगार, रति और लज्जा शब्दों की विद्यमानता होने पर भी अलौकिक चमत्कारजनक रसादि की प्रतीति नहीं होती। और दूसरा प्रमाण यह है कि विभावादि की संयुक्त सामग्री का व्यजना (ध्वनि) द्वारा प्राप्य व्यंग्यार्थ ही रसानुभूति कराने में समर्थ है, न कि अभिधा द्वारा प्राप्त वाच्यार्थ^२। उदाहरणार्थ शून्य वासगृह विलोक्य शयनाद्—इत्यादि शृंगाररसयुक्त रचना में विभावादि सामग्री के संयोग की वाच्यार्थता चारुत्वोत्पादक नहीं है, अपितु नायक नायिका के उल्लास और आवेगपूर्ण प्रणय की प्रतीति रूप व्यंग्यार्थ ही चमत्कार का कारण है। हाँ, वाक्यार्थ साधन अवश्य है, पर साध्य तो व्यंग्यार्थ ही है।

(३) रसध्वनि : ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट भेद—ध्वनिवादियों के मतानुसार ध्वनि के प्रमुख दो भेद हैं—लक्षणामूला ध्वनि और अभिधामूला ध्वनि। लक्षणामूला

- १ रसादिलक्षण प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद् विभिन्न एव । —ध्वन्या०, १।४ (वृत्ति)
- २ न हि शृंगारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्व-प्रतीतिरस्ति । —ध्वन्या० १।४ (वृत्ति)
- ३ क—उस मृगाक्षी को देखकर हमें कोई विचित्र रस उत्पन्न हो गया ।
ख—इस चंद्रमंडल को देखकर हमारा मन शृंगार में मग्न हो गया ।
ग—तुम्हें देख लेने पर उसमें रति उत्पन्न हो गई ।
घ—प्रिय के चुंबन करने पर वह मुग्धा लज्जावती हो गई ।
- ४ यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीना प्रतीतिः । तस्मात् . अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम् । न त्वभिधेयत्व कथञ्चित् । —ध्वन्या० १।४ (वृत्ति), पृ० २७
- ५ का० प्र० ४।३०

ध्वनि के दो भेद हैं—अर्थांतरसंक्रमितवाच्य और अत्यंततिरस्कृत वाच्य । अभिधामूला ध्वनि के भी दो भेद हैं—असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य (अर्थात् रसादि), और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य । संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के भी प्रमुख दो भेद हैं—वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि । इस प्रकार कुल मिलाकर प्रमुख पाँच भेद हैं । पर इन भेदों में से ध्वनिवादियों ने यत्नतः न केवल रसादिध्वनि की सर्वोत्कृष्टता घोषित की है, अपितु अन्य भेदों के चमत्कार को रसादिध्वनि पर आलंबित माना है^१ ।

ध्वनिवादियों द्वारा प्रस्तुत रसादिध्वनि के उदाहरणों से यदि शेष चार ध्वनि-भेदों के उदाहरणों की तुलना की जाय, तो रसादिध्वनि की उत्कृष्टता स्वतः सिद्ध हो जाती है । रसादिध्वनि के उदाहरणों में वाच्यार्थ के ज्ञान के उपरांत व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये सहृदय को क्षण भर भी रुकना नहीं पड़ता, पर शेष चार भेदों के उदाहरणों में व्यंग्यार्थ-प्रतीति के लिये सहृदय को कुछ न कुछ आक्षेप करना पड़ता है, जिसके लिये उसे कही अधिक अथवा कही थोड़े क्षणों के लिये रुकना अवश्य पड़ता है । उदाहरणार्थ

(क) अर्थांतरसंक्रमित वाच्य ध्वनि के—

‘मैं कठोरहृदय राम हूँ, सब कुछ सहन करूँगा’^२ इस उदाहरण में राम शब्द का ‘दुःखातिशयसहिष्णु’ रूप ध्वन्यर्थ,

(ख) अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि के—

‘आपने बहुत उपकार किया है, आपकी सुजनता के क्या कहने^३ ।’ इस उदाहरण में ‘उपकार’ का ‘अपकार’ और सुजनता का ‘खलता’ रूप ध्वन्यर्थ,

(ग) वस्तुध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) के —

‘हे पथिक ! इन उन्नत पयोधरों को देखकर यदि बिछौना आदि सुखसाधनों से रहित इस घर में रात बिनाना चाहते हो तो रह जाओ’^४ । इस उदाहरण में ‘कामुकी ग्रामीणा का निमग्नता’ रूप ध्वन्यर्थ, तथा—

(घ) अलंकारध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) के—

‘हे सखि ! प्रियसंगम के समय विश्रब्ध होकर सैकड़ों मधुर बचन बोल सकने के कारण तू धन्य है, पर मैं तो नितांत सज्ञाहीन हो जाती हूँ’^५, इस उदाहरण में ‘तू तो अधन्य है, पर मैं धन्य हूँ’, व्यतिरेकालंकारगत यह ध्वन्यर्थ वाच्यार्थप्रतीति के तुरंत बाद प्रतीत नहीं होते । इन उदाहरणों में व्यंग्यार्थप्रतीति के लिये कुछ क्षण अपेक्षित रहते हैं और साथ ही अपनी ओर से आक्षेप भी करना पड़ता है, पर ‘शून्य वासगृह विलोक्य शयनाद्’^६ इत्यादि रसध्वनि के उदाहरणों में नायकनायिका की प्रणयातिशय रूप व्यंग्यार्थप्रतीति त्वरित और बिना अधिक आक्षेप किए हो जाती है । हमारे विचार में रसध्वनि की सर्वोत्कृष्टता का यही प्रमुख कारण है । गौरव कारण एक और भी है—ध्वनि के अन्य भेदों के

१ प्रतीयमानस्य चाऽन्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवापेक्षणा प्राधान्यात् ।

—ध्वन्या० १।५ (वृत्ति)

२ स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्त । —ध्वन्या०, द्वितीय उ० ।

३ उपकृत बहु तत्र किमुच्यते सुजनता । —का० प्र० ४।२४

४ पथिअ एत्थ । —का० प्र० ४।५८

५ धन्यासि या कथयसि । —का० प्र० ४।६१

६ का० प्र० ४।३०

उदाहरण व्यापक अर्थ में रस, भाव आदि में से किसी न किसी के उदाहरणस्वरूप उपस्थित किए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, हिमालय के आगे नारद ऋषि द्वारा पार्वती के विवाह-प्रसंग की चर्चा चलने पर पार्वती मुख नीचा करके लीलाकमल की पखुडियाँ गिनने लगी^१। आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्तुत सलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के इस उदाहरण में 'लीलाकमल की पखुडियाँ गिनना' वाच्यार्थ है, और 'लज्जा का आविर्भाव' व्यंग्यार्थ। निस्संदेह प्रथम और द्वितीय अर्थों की प्रतीति में थोड़े क्षणों का व्यवधान अवश्य भावी है, पर फिर भी इस कथन को (पूर्वराग विप्रलभ शृंगार) 'भाव' का उदाहरण बड़ी सरलता से माना जा सकता है। अतः रसादिध्वनि की सर्वोत्कृष्टता स्वतः सिद्ध है।

काव्य (शब्दार्थ) और काव्यचमत्कार के बीच ध्वनि वस्तुतः एक माध्यम है। ध्वनिवादियों ने इस काव्यचमत्कार को भी ध्वनि अर्थात् व्यंग्यार्थ की सजा दे दी है। ध्वनि अर्थात् काव्यचमत्कार के विभिन्न भेदों में एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है—रसादिध्वनि चरम कोटि का काव्यचमत्कार है, तो ध्वनि के अन्य भेद उससे कम काव्यचमत्कार के उत्पादक हैं।

रस (रसध्वनि) की महत्ता ध्वनिवादियों ने एक अन्य रूप में भी उपस्थित की है। उन्होंने काव्य (शब्दार्थ) के सभी चारुत्वहेतुओं—गुण, रीति, अलंकार—को रसध्वनि के साथ सबद्ध कर दिया है

वाच्यवाचकचरुत्वहेतूना विविधात्मनाम् ।

रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः^२ ॥ —ध्व० २।४

और अब दंडितसमत वेदार्थ मार्ग के प्राणभूत 'गुण' रस के उत्कर्षक मान लिए गए^३, वामनसमत काव्य की आत्मा 'रीति' की सार्थकता अब रसादि की अभिव्यक्ती अथवा उपकर्त्री के रूप में स्वीकार कर ली गई^४। सबसे अधिक दयनीय दशा अलंकार की हुई। भामहादिसमत काव्यसर्वस्व अलंकार अब शब्दार्थ के धर्म बनकर परंपरा सबंध से रस के ही उपकारक मात्र घोषित कर दिए गए, और वह भी अनिवार्य रूप से नहीं^५। इतना ही नहीं, कोरे 'अलंकार' को 'चित्र' अर्थात् अधम काव्य कहकर इसके प्रति अवहेलना भी प्रकट की गई।

निष्कर्ष यह कि रस की सर्वोत्कृष्टता और महत्ता की सिद्धि में ध्वनिवादियों ने अपना पूर्ण बल लगा दिया, यहाँ तक कि 'दोष' की परिभाषा भी उन्होंने रस के अपकर्ष पर आद्धृत की^६ और दोष के नित्यानित्य रूप को भी रस के ही अपकर्ष अथवा अनपकर्ष पर

१ एव वादिनि देवर्षौ पाशर्वे पितुरधोमुखी ।

लीलाकमलपद्माणि गगनयामास पार्वती ॥ —ध्वन्या० २।२२ (वृत्ति)

२ जहाँ नाना प्रकार के शब्द और अर्थ तथा उनके चरुत्वहेतु (शब्दालंकार और अर्थालंकार) रस आदि परक (रसादि के अंग) होते हैं वह ध्वनि का विषय है ।

३ का० प्र० ८।६६

४ ध्वन्या० ३।६, सा० द० १।१

५ का० प्र० ८।६७

६ वही, ७।४६

अवलंबित किया^१। इस धारणा का परिणाम यह हुआ कि विश्वनाथ ने 'रस' को काव्य की आत्मा घोषित कर दिया।

६. अलंकार संप्रदाय

(१) उपक्रम—भरत से लेकर जगन्नाथ तक लगभग दो सहस्र वर्ष के इस सुदीर्घ काल में अलंकार को किसी न किसी रूप में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में स्थान मिलता आया है, भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में केवल चार अलंकारों का निरूपण किया है—उपमा, दीपक, रूपक और यमक। एक स्थल पर इन्होंने अलंकारों के रससंश्रयत्व का भी उल्लेख किया है। पर इन लघु एवं सामान्य सी चर्चाओं से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि भरत के समय में 'अलंकार' नामक काव्यांग इतना विकसित तथा प्रतिष्ठित नहीं हो पाया था जितना भरत के कई सौ वर्ष उपरांत भामह, दंडी, उद्भट आदि अलंकारवादी आचार्यों के समय में हुआ। पर इस काव्यांग की यह प्रतिष्ठा अभूषण नहीं रही। ध्वनि-वादी आचार्य आनंदवर्धन ने इसे 'चित्रकाव्य' कहकर ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य काव्य की अपेक्षा निकृष्ट माना और कुछ एक अपवादों को छोड़कर यही धारणा जगन्नाथ तक निरंतर मान्य होती चली गई। इतना होते हुए भी इन परवर्ती आचार्यों ने इसी काव्यांग को अपने ग्रंथों का अधिकांश कलेवर समर्पित किया है। निष्कर्ष यह है कि

१—भरत के समय अलंकार नामक काव्यांग पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं हो पाया था।

२—भामह आदि अलंकारवादियों ने इसे काव्य का सर्वप्रतिष्ठित अंग स्वीकृत किया।

३—आनंदवर्धन ने इसकी सर्वातिशय महत्ता को अस्वीकार किया।

४—आनंदवर्धन के परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने आनंदवर्धन का अनुकरण करते हुए भी इसका विशद एवं विस्तृत निरूपण किया।

(२) अलंकारवादी आचार्य—भामह, दंडी और उद्भट अलंकार संप्रदाय के आचार्य हैं। इनमें से प्रथम दो आचार्यों के ग्रंथ क्रमशः काव्यालंकार और काव्यादर्श प्राप्य हैं, पर उद्भट प्रणीत ग्रंथों में से केवल एक ही ग्रंथ 'काव्यालंकारसारसंग्रह' अद्यावधि उपलब्ध है। इस ग्रंथ के कुछेक स्थलों से यह अवश्य ज्ञात होता है कि वे अलंकारवाद के समर्थक रहे होंगे। इधर इनके परवर्ती आचार्यों अथवा टीकाकारों ने इन्हें अलंकारवादी आचार्यों के रूप में स्मरण किया है तथा इस संबंध में इनकी कतिपय मान्यताओं का भी उल्लेख किया है। इनका एक ग्रंथ 'भामहविवरण' बताया जाता है, जो संभवतः स्वतंत्र ग्रंथ न होकर भामहप्रणीत 'काव्यालंकार' की व्याख्या है। इधर इनका 'काव्यालंकारसारसंग्रह' नामक ग्रंथ भी अधिकांशतः 'काव्यालंकार' में निरूपित अलंकारों का सुबोध रूप प्रस्तुत करता है। इस प्रकार अलंकारवादी भामह के व्याख्याता उद्भट भी अलंकारवाद के ही समर्थक रहे होंगे—अनुमानतः यही ठीक सिद्ध होता है।

उक्त तीनों आचार्यों को अलंकारवाद के समर्थक मानने का प्रधान कारण यह है कि ये सभी आचार्य किसी न किसी रूप में रस की महत्ता स्वीकार करते हुए भी इसे 'अलंकार' में अंतर्भूत करने के पक्ष में हैं। इन तीनों ने रस, भाव और रसाभास तथा भावाभास को क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत् और ऊर्जस्वि अलंकारों के नाम से अभिहित किया है, तथा उद्भट ने समाहित नामक अन्य अलंकार को भावशांति का पर्याय माना है। भामह

और दंडी ने भी समाहित अलंकार की चर्चा की है, पर उसका सबंध रस के साथ खीच तानकर ही स्थापित किया जा सकता है। इसी सबंध में उद्भट द्वारा प्रस्तुत उदात्त अलंकार का एक भेद अवलोकनीय है, जिसमें उन्होंने और उनके व्याख्याता प्रतिहारद्वारा ने अगभूत रसादि को द्वितीय उदात्त अलंकार के अंतर्गत समिलित किया है। उनके इस कथन का अनुमोदन प्रागे चलकर अलंकारभवंस्व के प्रणेता रुद्रक ने भी किया है^१। निष्कर्ष यह है कि अलंकारवादी आचार्य

(१) अगभूत रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावशांति को क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों से अभिहित करते हैं, और

(२) अगभूत रसादि को द्वितीय उदात्त अलंकार से।

भामह आदि तीनों आचार्यों को अलंकारवादी मानने का दूसरा कारण है अलंकार के सबंध में इनकी प्रशस्तियाँ तथा 'अलंकार' में अन्य काव्यों की स्वीकृति।

(१) भामह के कथनानुसार जिस प्रकार सहज सुंदर होने पर भी वनितामुख भूषणों के बिना शोभित नहीं होता, उसी प्रकार सुंदर वाक् (काव्य) भी अलंकारों के बिना शोभा नहीं पाता।

(२) दंडी के मतानुसार वैदर्भ भाग के प्राणभूत माधुर्य आदि दस गुण 'अलंकार' ही हैं। मुख आदि पाँच संधियों, उपक्षेप आदि ६४ सध्यगो, कौशिकी आदि ४ वृत्तियों, नर्मतत् आदि १६ वृत्त्यगो तथा भूषण आदि ३६ लक्षणों तथा विभिन्न नाट्यालंकारों को भी दंडी ने 'अलंकार' माना है। इनमें से विषय के आग्रह के अनुसार किन्हीं का 'स्वभावाख्यान' आदि अलंकारों में अंतर्भाव हो जाता है और किन्हीं का 'भाविक' अलंकार में।

'रस' के अतिरिक्त इन आचार्यों ने जान बूझकर अथवा अनजाने 'ध्वनि' का भी कुछ अलंकारों में अंतर्निवेश सूचित किया है। इस सबंध में भामहसमत प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति और पर्यायोक्ति अलंकार, दंडिसमत द्वितीय व्यतिरेक और पर्यायोक्ति अलंकार, तथा उद्भटसमत पर्यायोक्ति अलंकार द्रष्टव्य हैं।

(३) उद्भट के सबंध में प्राप्त कुछेक उक्तियों से ज्ञान होता है कि वे गुण और अलंकार में कोई अंतर नहीं मानते थे तथा रूपक आदि वाच्य अलंकारों को उन्होंने अनेक स्थलों पर प्रतीयमान (व्यंग्य) रूप में भी दिखाया है। अतः स्पष्ट है कि गुण तथा ध्वनि नामक काव्यांगों को वे अलंकार का ही पर्याय स्वीकृत करने के पक्ष में थे।

अलंकारवादी आचार्यों में रुद्रक की भी चर्चा करना वाछनीय है। इसके अनेक कारण हैं। इनके ग्रंथ 'काव्यालंकार' का नामकरण ही 'अलंकार' के प्रति इनके भुकाव का सूचक है। उक्त ग्रंथ का अधिकांश कलेवर अलंकारनिरूपण को ही समर्पित हुआ है। पर इन सबसे प्रमुख और प्रबल कारण यह है कि इनके द्वारा निरूपित, रूपक अपह्नुति, तुल्ययोगिता, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के लक्षणों में व्यंजना के बीज निहित हैं। किंतु फिर भी प्रतीत ऐसा होता है कि रस की स्वतंत्र सत्ता उन्हें अवश्य स्वीकृत थी। न केवल इतना ही कि उन्होंने रस आदि को रसवादित अलंकारों में अंतर्भूत करने की ओर कोई संकेत नहीं किया, अपितु भरत के पश्चात् सर्वप्रथम इन्होंने ही रस का स्वतंत्र निरूपण किया है, शृंगार रस के एक आवश्यक प्रसंग नायकनायिका भेद की यथेष्ट चर्चा की है, तथा 'प्रेयान्' नामक रसभेद का भी सर्वप्रथम उल्लेख किया है। फिर भी समग्र रूप में

अलंकार संप्रदाय की ओर इनकी प्रवृत्ति अधिक प्रतीत होती है। इस क्षेत्र में उनकी एक मौलिक और महत्वपूर्ण देन है अलंकारों का चार वर्गों में विभाजन, जिसका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

(३) ध्वनिवादी आचार्यों और अलंकार—भामह आदि आचार्यों के अलंकार-सिद्धांत का खडन आनंदवर्धन ने प्रबल शब्दों में किया। अपने ग्रंथ ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ही समासोक्ति, आक्षेप, दीपक, अरहन्तुति, अनुक्तनिमित्तक विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति और सकर अलंकार के उदाहरणों में व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य का प्राधान्य दिखाते हुए उन्होंने यह सिद्ध किया है कि (व्यंग्यप्रधान) ध्वनि का (वाच्यप्रधान) अलंकारों में अंतर्भाव मानना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि अलंकार और ध्वनि में महान् अंतर है। अलंकार शब्दार्थ पर आश्रित है, पर ध्वनि व्यंग्यव्यंजक भाव पर। शब्दार्थ के चारुत्व-हेतुभूत अलंकार ध्वनि के अग्रभूत है और ध्वनि उनकी अंगी है। ध्वनि काव्य की आत्मा है, अलंकार्य है, अतः वह न तो अलंकार का स्वरूप धारण कर सकती है, और न अलंकार में उसका अंतर्भाव ही संभव है।

आनंदवर्धन ने रस आदि को रसवदादि में अंतर्भूत करने का खडन भी प्रकारांतर से किया है। उनके मत में रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावशांति को क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों से तभी अभिहित किया जाता है जब ये अंगी (प्रधान) रूप में वर्णित न होकर अंग (गौण) रूप में वर्णित हों

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यन्नागन्तु रसादयः ।

काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥—ध्वन्या० २।५

यही कारण है कि मम्मट ने रसवत् आदि अलंकारों को गुणीभूतव्यंग्य काव्य के 'अपरस्याग' नामक भेद के अंतर्गत निरूपित किया है, न कि अनुप्रास, उपमा आदि चित्र-काव्य के साथ। रस और अलंकार के परस्पर संबंध का निर्देश करते हुए आनंदवर्धन ने इसी स्थल पर कहा है कि रसादि अलंकार्य है और उपमादि अलंकार। अलंकार का कार्य है अलंकार्य का चमत्कारोत्पादन। यदि रसादि को ही अलंकार मान लिया जाय, तो फिर वह किसके चारुत्व को बढ़ाते हैं? भला कोई स्वयं अपना भी कभी चारुत्वहेतु हो सकता है? अतः अलंकार्य तो अलंकार से सदैव भिन्न ही रहेगा^१।

इस प्रकार आनंदवर्धन ने अलंकार की प्रतिष्ठा कम कर दी और उनके अनुयायी मम्मट ने अपने काव्यलक्षण में 'अनलकृती पुन क्वापि' शब्दों द्वारा 'अलंकार' की अनिवार्यता की घोषणा की और विश्वनाथ के शब्दों में 'अलंकार शब्दार्थ का केवल उत्कर्षक मात्र होने के कारण काव्य के लक्षण में स्थान पाने योग्य नहीं है।'।

(४) अलंकार का लक्षण—संस्कृत के काव्यशास्त्रियों में आनंदवर्धन के पूर्व दंडी और वामन ने अलंकारलक्षण प्रस्तुत किया है और इनके पश्चात् मम्मट और विश्वनाथ ने। शेष परवर्ती आचार्यों में मम्मट आदि की छाया है।

दंडी और वामन के अलंकारलक्षणों में तारतम्य का अंतर है। दंडी के मत में

१ यत्र च रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलंकारत्वम् । अलंकारो हि चारुत्वहेतुप्रसिद्धः । न त्वसावात्मैवाऽऽत्मनश्चारुत्वहेतुः । —ध्वन्या० २।५ (वृत्ति)

२ रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।

भिन्नो रसादलंकारादलंकार्यतया स्थितः ॥ —का० प्र० ४।२६

काव्य (शब्दार्थ) की शोभा उत्पन्न करनेवाला धर्म अलंकार है तो वामन के मत में यह कार्य 'गुणा' का है, अलंकार उस शोभा का वर्धक धर्म है

काव्यशोभाकारान् धर्मनिलकारान् प्रचक्षते । —दंडी, का० द० २।१

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः । तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ॥

—वामन, का० सू० ३।१।१, २

आनंदवर्धन ने अपने अलंकारलक्षण में अलंकार को शब्दार्थ का आभूषक धर्म कहा है^१। इस लक्षण में उन्होंने अलंकार का रस के साथ कोई सबंध निर्दिष्ट नहीं किया यद्यपि यह सबंध उन्हें अभीष्ट अवश्य था। यह कार्य मम्मट और विश्वनाथ ने किया^२। इनके मत में अलंकार शब्दार्थ की शोभा द्वारा परंपरा सबंध से रस का प्रायः उपकार करते हैं। इन आचार्यों ने अलंकार को शब्दार्थ का उसी प्रकार अनित्य धर्म माना जिस प्रकार कटक कुडल आदि शरीर के अनित्य धर्म हैं। इसी प्रकार जगन्नाथ ने भी अलंकारों को काव्य की आत्मा 'व्यंग्य' के रमणीयताप्रयोजक धर्म मानकर ध्वनिवादियों का ही समर्थन किया है^३। रसध्वनिवादी आचार्यों के मत में कुल मिलाकर अलंकार का स्वरूप दस प्रकार है

१—अलंकार शब्दार्थ के शोभाकारक धर्म हैं

२—ये शब्दार्थ के अस्थिर धर्म हैं

३—ये शब्दार्थ की शोभा द्वारा परंपरा सबंध से रस का भी उपकार करते हैं और

४—कभी रस का उपकार नहीं भी करते।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों के अलंकार-लक्षणों में जिस तत्त्व को किसी न किसी रूप में अवश्य स्थान मिला है वह है अलंकारिता—काव्य की शोभाजनकता 'अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकार'। दूसरी समानता यह है कि दोनों ने अलंकार को शब्दार्थ का ही शोभाकारक धर्म माना है। दोनों वर्गों के मतों का विभेदक धर्म यह है कि रसवादी अलंकार द्वारा शब्दार्थ की शोभा से रस का भी उपकार मानते हैं, पर अलंकारवादी 'शब्दार्थ' से आगे नहीं बढ़ते।

(५) अलंकारों की सख्या—भरतमुनि से लेकर अप्पय्य दीक्षित पर्यंत वाणी-विलास की ज्यो ज्यो सूक्ष्म विवेचना होती गई, अलंकारों की सख्या भी त्यो त्यो बढ़ती गई। इसी बीच पिछले आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकारों को अमान्य भी ठहराया गया। फिर भी नए अलंकारों के समावेश द्वारा सख्या में वृद्धि होती चली गई। भरत ने केवल ४ अलंकार माने थे, भामह ने ३६, दंडी ने ३५, उद्भट ने ४०, वामन ने ३३, रुद्रट ने ५२, भोजराज ने ७२, मम्मट ने ६७, रुय्यक ने ८१, जयदेव ने १००, विश्वनाथ ने ८२, अप्पय्य दीक्षित ने १२४ और जगन्नाथ ने ७१ अलंकार माने।

अलंकारों की सख्या को उत्तरोत्तर बढ़ाने के लोभ का परिणाम यह हुआ कि वे वस्तुगत वर्णन भी 'अलंकार' नाम से पुकारे जाने लगे जिनका सबंध अलंकार्य (रस) को

१ अगाधितास्त्वलंकाराः मन्तव्या कटकादिवत् । —ध्वन्या० २।६

२ (क) उपकुर्वन्ति तं सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।

हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ —का० प्र० ८।६७

(ख) शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिनः ।

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गादिवत् ॥

—सा० द० १०।१

३ काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकाराः । —र० ग०

किसी रूप में अलंकृत करने के साथ नहीं है। उदाहरणार्थ, जयदेव ने प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सभब और ऐतिह्य इन आठ प्रमाणों को 'प्रमाणालंकार' नाम दे दिया। इसी प्रकार दंडवृषिकान्याय पर आधृत काव्यार्थापत्ति अलंकार, क्रियाओं पर आधृत सूक्ष्म और पिहित अलंकार, कठ की भिन्न ध्वनि पर आधृत काकु वक्रोक्ति अलंकार, काल पर आधृत भाविक अलंकार स्वीकृत कर लिए गए। स्मरण, भ्रम, सदेह, प्रहर्षण, विषादन, तिरस्कार आदि हृदय की वृत्तियाँ हैं। इनमें अलंकारता मानना इनके प्रकृत रूप का तिरस्कार करना है। इसी प्रकार आदर, आश्चर्य, घृणा, पश्चात्ताप आदि भावों को भी प्रकट करने में बोध्या अलंकार मानना समुचित नहीं है।

दंडी के कथनानुसार—'ते चाद्यापि विहल्प्यते कस्मान् कात्स्न्येन वक्ष्यति' (का० द० २।१)—यदि अलंकार वाणी के प्रत्येक विलास का नाम है, तब तो उपरिगणिता सभी अलंकार 'अलंकार' सज्ञा से विभूषित हो सकते हैं पर यदि 'अलंकार' से अभिप्राय करणवाचक रूप—'अलंकृत्यतेऽनेनेत्यलंकार'—है तो प्रमाण, सूक्ष्म, पिहित आदि को उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के समकक्ष कभी नहीं रखा जा सकता। यही कारण है कि अलंकारों की संख्या को न्यून करने के प्रयत्न भी समय समय पर होते रहे। इस दिशा में कुतक का प्रयास विशेषतः उल्लेखनीय है। उन्होंने केवल २० अलंकारों का निरूपण किया और इनमें भी प्रतिवस्तूपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, अनन्वय, निदर्शना और परिवृत्ति—इन छह सादृश्यमूलक अलंकारों का उपमा में, समासोक्ति का श्लेष में तथा सहोक्ति का उपमा में अतर्भाव करके शेष १३ अलंकार ही मान्य ठहराए। अन्य आचार्यों द्वारा समत अलंकारों के सबंध में उनका कथन है कि या तो वे शोभाशून्य हैं, या इन्हीं अलंकारों में उनका अतर्भाव हो सकता है, अतः वे मान्य नहीं हैं। इस दिशा में कुतक के उपरांत जयदेव का नाम उल्लेख्य है। इन्होंने शुद्धि, ससृष्टि, सकर, मालोपमा और रशानोपमा अलंकारों की अस्वीकृति की है। इधर यही प्रयास टीकाकारों ने भी किया है। काव्यप्रकाश के टीकाकार भट्ट वामन भलकीकर ने ५४ अलंकारों को अस्वीकृत करते हुए कुछ का खंडन किया है और कुछ को मम्मटसमत अलंकारों में अतर्भूत करने का निर्देश किया है। पर इतना सब कुछ होते हुए भी वाणीविलास के भेदोपभेदों का नामकरण होता चला गया और अप्रप्य दीक्षित तक अलंकारों की संख्या १२४ तक पहुँच गई।

(६) अलंकारों का वर्गीकरण—भामह ने वाणी के समग्र व्यापार को दो वर्गों में विभक्त किया है—वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति। उनके मतानुसार वक्रोक्ति ही काव्यचमत्कार का बीज है, स्वभावोक्ति तो प्रकारांतर से वार्ता मात्र है। पर स्वभावोक्ति के प्रति भामह की यह अवहेलना दंडी को स्वीकृत नहीं है। उन्होंने समस्त वाङ्मय को उक्त दो वर्गों—वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति—में विभक्त करते हुए 'स्वभावोक्ति' को अलंकारों में प्रथम स्थान देकर इसके प्रति अपना समादर प्रकट किया है। पर स्वभावोक्ति के प्रति भामहसमत अवहेलना कम नहीं हुई। वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वस्व घोषित करनेवाले कुतक के समय में यह भावना उग्र रूप धारण कर गई, यहाँतक कि कुतक ने इसे अलंकार रूप में भी स्वीकृत नहीं किया। उनके एतद्विषयक तर्क का अभिप्राय है कि स्वभाव कहते हैं स्वरूप को और स्वभावोक्ति कहते हैं स्वरूप के आख्यान को। किसी भी वस्तु के काव्यगत वर्णन के लिये उसके स्वभाव (स्वरूप) का आख्यान अनिवार्य है, क्योंकि स्वभाव से रहित वस्तु तो निरूपाख्य (अस्तित्वहीन) है। अतः स्वभाव की उक्ति को भी यदि 'स्वभावोक्ति अलंकार' नाम दिया जाता है तो यह नितात असंगत है। वस्तुतः स्वभावोक्ति शरीर है, इसे ही अलंकृत करने के लिये अन्य अलंकार अपेक्षित हैं। स्वयं शरीर कभी भी अपना अलंकार नहीं बन सकता—भला स्वयं अपने कंधे पर चढ़ने में कौन समर्थ है ?

वाङ्मय (काव्यचमत्कार अथवा अलंकार) के भामह और दंडी द्वारा प्रस्तुत उक्त वर्गीकरण का परवर्ती किसी भी आचार्य ने उल्लेख नहीं किया। अलंकारों को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप देने का श्रेय रुद्रट को है। पर उनसे भी पूर्व उद्भट ने इसका प्रयास अवश्य किया था पर उसमें वे सफल नहीं हुए। इन्होंने अपने ग्रंथ काव्यालंकार-सार सग्रह में निरूपित ४० अलंकारों को छह वर्गों में विभक्त किया है, पर चतुर्थ वर्ग को छोड़कर शेष वर्गों के अलंकारों में ऐसा कोई आधारसाम्य लक्षित नहीं होता जिसके बल पर इन्हें पृथक् वर्गों में रखना उचित कहा जा सके। चतुर्थ वर्ग में भी प्रियस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वि और समाहित के अनिरिक्त उदात्त और पर्यायोक्ति अलंकारों का तो विषयसाम्य के आधार पर एक साथ रखा जाना युक्तिसंगत प्रतीत होता है, पर इसी वर्ग में श्लेष अलंकार को स्थान देने का कारण समझ में नहीं आता।

रुद्रट ने अर्थालंकारों को वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष, इन चार श्रेणियों में विभक्त किया। वस्तुस्वरूप कथन को वास्तव कहते हैं। सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य आदि अलंकार वस्तुगत हैं। उपमेयोपमान की सहायता का नाम औपम्य है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकार इसके अंतर्गत हैं। अर्थ और धर्म के नियमविपर्यय को अतिशय कहते हैं। पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना आदि अतिशयगत अलंकार हैं। अनेकार्थकता का नाम श्लेष है। अविशेष, विरोध, अधिक आदि श्लिष्ट अलंकार हैं।

रुद्रट ने कुछ अलंकारों को दो दो वर्गों में भी रखा है, जैसे, उत्तर और समुच्चय अलंकार वास्तवगत भी हैं और औपम्यगत भी, विरोध और अधिक अतिशयगत भी हैं और श्लेषगत भी, उत्प्रेक्षा औपम्यगत भी हैं और अतिशयगत भी, विषम वास्तवगत भी हैं और अतिशयगत भी।

रुद्रट के पश्चात् रुय्यक ने अलंकारों का वर्गीकरण किया। विद्याधर ने रुय्यक का प्रायः अनुकरण किया। विद्याधर के ग्रंथ एकावली की तरल नामक टीका के कर्ता मल्लिनाथ ने रुय्यक और विद्याधर के वर्गीकरण का स्पष्टीकरण करते हुए पाठकों के लिये उसे सुबोध रूप दे दिया। मल्लिनाथ के अनुसार उक्त आचार्यद्वय का वर्गीकरण इस प्रकार है

१—सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग—

(क) भेदाभेदप्रधान—उपमा-उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण

(ख) अभेदप्रधान—

अ—आरोपमूल—रूपक, परिणाम, सदेह आदि

आ—अध्यवसायमूल—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति

२—औपम्यगर्भ वर्ग—

(क) पदार्थगत—तुल्ययोगिता और दीपक

(ख) वाक्यार्थगत—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, निदर्शना

(ग) भेदप्रधान—व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति

(घ) विशेषणविच्छिन्ति—समासोक्ति, परिकर

(ङ) विशेष्यविच्छिन्ति—परिकराकुर

(च) विशेषणविशेष्य विच्छिन्ति—श्लेष

(छ) समासोक्ति से विपरीत होने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा को, अर्थात्तर-न्यास में अप्रस्तुतप्रशंसा के समान सामान्य विशेष की चर्चा होने के कारण अर्थात्तरन्यास को, और गम्यप्रस्ताव के कारण पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति और आक्षेप को भी इसी वर्ग में स्थान दिया गया है।

- ३—विरोधगर्भ अलंकार वर्ग—
विरोध, विभावना, विशेषोक्ति आदि
- ४—शृङ्खलाकर अलंकार वर्ग—
कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार
- ५—न्यायमूलक अलंकार वर्ग—
(क) तर्कन्यायमूल—काव्यलिङ्ग, अनुमान
(ख) वाक्यन्यायमूल—यथासंख्य, पर्याय आदि
(ग) लोकन्यायमूल—प्रत्यनीक, प्रतीप आदि
- ६—गूढार्थ प्रतीतिमूल अलंकार वर्ग—
सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति

विद्याधर के पश्चात् विद्यानाथ ने रुद्रट, रुच्यक और विद्याधर से सहायता लेते हुए अर्थालंकारों को प्रमुख चार प्रकारों में विभक्त किया है और फिर इन प्रकारों के कुल मिलाकर निम्नलिखित ६ भेद गिनाए हैं—

- प्रमुख चार—(१) प्रतीयमान वस्तुगत, (२) प्रतीयमान औपम्य, (३) प्रतीयमान रस, भाव आदि, एवं (४) अस्फुट प्रतीयमान।
- अवातर विभाग—(१) साधर्म्यमूल (भेदप्रधान, अभेदप्रधान, भेदाभेद प्रधान), (२) अध्यवसायमूल, (३) विरोधमूल, (४) वाक्यन्यायमूल, (५) लोकव्यवहारमूल, (६) तर्कन्यायमूल, (७) शृङ्खलावैचित्र्यमूल, (८) अपह्नवमूल, (९) विशेषणवैचित्र्यमूल।

संस्कृत काव्यशास्त्र में विभिन्न आचार्यों द्वारा उपरिनिर्दिष्ट वर्गीकरण किसी सीमा तक तर्कपूर्ण होते हुए भी एकात रूप से स्वीकार नहीं हो सकते। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से अलंकाराध्येता के लिये ये वर्गीकरण उपादेय अवश्य हैं।

(७) अलंकारों के प्रयोग में औचित्य—अलंकार शब्दार्थरूप काव्यशरीर का अलंकार है, पर इसकी अलंक्रियता इसके औचित्यपूर्ण प्रयोग की अपेक्षा रखती है। संस्कृत का प्राचीन और नव्य काव्यशास्त्री लौकिक एवं काव्यगत अलंकारों के इस प्रयोग-तत्त्व के संबंध में प्रारंभ से ही प्रकाश डालता चला आया है। भरत के शब्दों में 'विभिन्न शरीरावयव पर धारित आभूषण शोभा उत्पन्न करने के स्थान पर हास्योत्पादक ही होता है—जैसे उर स्थल पर मेखला का बधन।' वामन के शब्दों में 'आभूषणों के आदर्श प्रयोग के लिये एक ऐसा शरीर ही अधिकारी है जो हर प्रकार से सुपात्र हो। इस दृष्टि से न तो अचेतन शव अलंकारों का अधिकारी है, न किसी यति का शरीर, और न किसी नारी का यौवनवध्य वपुः'। भोजराज के शब्दों में 'सजीव, स्वस्थ, सुंदर शरीर पर भी आभूषणों का प्रयोग औचित्य की अपेक्षा रखता है—अजन की कालिमा बड़ी बड़ी आँखों में ही शोभित होती है, अन्यत्र नहीं। मुक्ताहार उन्नत पीन पयोधरो पर सुशोभित होता है, अन्यत्र नहीं'। पर इसके विपरीत क्षेमदे के कथनानुसार कठ में मेखला का, नितंबफलक पर सुंदर हार का, हाथों में नूपुरों का, चरणों में केयूरो का अवधारण कितना कुरूप, भद्दा और हास्यप्रद होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं है'।

१ का० सू० वृ० ३।२।२ पद्य।

२ दीर्घापाग नयनयुगल भूषयन्त्यजनश्री—

स्तुगाभोगौ प्रभवति कुचावचित्तु हारयष्टि ॥ —स० क० भ० १।१६

३ औ० वि० च०, पृ० १

उक्त कथनो से स्पष्ट है कि आभूषणों का प्रयोग जहाँ सजीव, सुंदर शरीर की अपेक्षा रखता है, वहाँ औचित्य भी उसके लिये एक अनिवार्य तत्व है। काव्यगत अलंकारों के शोभावह प्रयोग में भी इन्हीं दोनों तत्वों की अनिवार्यता अपेक्षित है—अलंकारों का सरस काव्य में प्रयोग, सरस काव्य में भी अलंकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग। शब्द, यतिशरीर अथवा यौवनवध्य वपु पर आभूषणों का अवधारण यदि कौतूहल मात्र है तो नीरस काव्य में भी अलंकारप्रयोग का दूसरा नाम उक्तिवैचित्र्य मात्र है—‘यत् तु नास्ति रस तत्त (अलंकारा) उक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः’^१। जिस प्रकार हाथों में नूपुरों का और चरणों में केयूरों का बधन समुचित नहीं है, उसी प्रकार विप्रलभ शृंगार में भी यमक आदि का बधन समुचित नहीं है। तात्पर्य यह कि लौकिक अलंकारों के समान काव्यगत अलंकारों का जीवन और उनकी अलंकारिता उचित स्थानविन्यास पर ही आश्रित है^२। फिर भी काव्यसौंदर्य शरीरसौंदर्य की अपेक्षा अधिक संवेदनशील है। उदाहरणार्थ ‘रंकार’ का अनुप्रास विप्रलभ शृंगार के एक उदाहरण में रस का उपकार करता है, तो ‘टंकार’ का अनुप्रास उसी रस के दूसरे उदाहरण में रस का उपकार नहीं करता^३। तभी मम्मट को अलंकारों के विषय में लिखना पड़ा—‘क्वचित्तु सतमपि नोपकुर्वन्नि’। स्पष्ट है कि एक ही रस के दो उदाहरणों में कोमल वर्ण ‘रंकार’ और कठोर वर्ण ‘टंकार’ की सह्यता अथवा असह्यता का उत्तरदायित्व औचित्य के ही सद्भाव अथवा अभाव पर आधृत है।

संस्कृत का काव्यशास्त्री शब्दालंकारों के प्रयोग के अनौचित्य के विषय में अपेक्षा-कृत अधिक आशंकित रहा है। यही कारण है कि दंडी जैसे अलंकारवादी ने भी अनुप्रास और यमक के प्रति अपनी अवहेलना प्रकट की है। उनके कथनानुसार अनुप्रास का अर्थ ‘शैथिल्य’ है और यह श्लेष नामक गुण के अभाव का दूसरा नाम है। गौडमार्ग (वैदर्भ-मार्ग की अपेक्षा निकृष्ट मार्ग) के अवलंबी ही इसे अपनाते हैं^४। यमक के संबंध में उनका कथन है कि उसका अकेला प्रयोग मधुरताजनक नहीं है^५। रुद्रट जैसे अलंकारप्रिय आचार्य ने अनुप्रास अलंकार की स्वसमत मधुरता, प्रौढ़ता आदि पाँच वृत्तियों के औचित्यपूर्ण प्रयोग पर विशेष बल दिया है। इसी प्रकार आनंदवर्धन ने अनुप्रास आदि शब्दालंकारों की अपेक्षाकृत हीनता प्रबल शब्दों में व्यक्त की है। उनके कथनानुसार शृंगार के सभी प्रभेदों में अनुप्रास का बंध सदा एकसा अभिव्यजक नहीं हुआ करता अतः कवि को इस अलंकार के औचित्यपूर्ण प्रयोग के लिये विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। ध्वन्यात्मक शृंगार, विशेषतः विप्रलभ शृंगार, में यमक आदि का निबधन कवि के प्रमाद का सूचक है। काव्य में अलंकारप्रयोग अप्रयत्नज होना चाहिए, पर यमकनिबधन के लिये तो कवि को विशेष शब्दों की खोज करनी ही पड़ती है। सरस रचना में यमक रस को अंग बना

१ का० प्र०, ढम उ०, पृ० ४६५

२ (क) काव्यस्यालमलंकारै कि मिथ्यागणितैर्गुणै ।

यस्य जीवितौचित्य विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥ —अ० वि० च० पृ० ४

(ख) उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृति । —वही, पृ० ६

३ देखिए, मम्मट द्वारा उद्धृत दोनों उदाहरण

(क) अपसारय धनसारम् ।

(ख) चित्ते विहृदि एण दुहृदि ।

—का० प्र०, ढम उ०, पृ० ४६७

४ का० द० १।४३, ४४

५ तत्तु नैकान्तमधुरम् । —वही १।६१

देता है और स्वयं अंगी बन जाता है^१। यमकप्रयोग के सबध में कुतक की भी यही धारणा है कि यह शोभाशून्य अलंकार है। इसके विस्तृत जाल में उलझने से क्या लाभ ? प्रथम तो अनुप्रासमयी रचना को अति निबद्ध नहीं बनाना चाहिए और यदि ऐसी रचना हो भी जाए, तो उसे असुकुमार न बनाना चाहिए^२। भट्ट लोल्लट के मत में यमक आदि शब्दालंकार रस के अति विरोधी हैं। इनका प्रयोग कवि के अभिमान का सूचक भेडचाल के समान है^३।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि शब्दालंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग को समझाते समझाते संस्कृत का आचार्य कही कही उनका विरोध और निषेध तक कर बैठा है। पर अर्थालंकारों के प्रयोग का निषेध वह किसी भी अवस्था में करने को उद्यत नहीं है। वह इन्हें स्वस्थ रूप में देखना चाहता है। आनन्दवर्धन के कथनानुसार अलंकार का स्वस्थ रूप है—रस, भाव आदि का अंग बनके रहना। उसे यह रूप देने के लिये एक प्रबुद्ध कवि को विशेष प्रकार के सभी क्षण की सदा अपेक्षा रखनी पड़ेगी^४। इसके अतिरिक्त अर्थालंकारों का प्रयोग करते चले जाना कवि की स्वेच्छा पर भी निर्भर नहीं है। ये ध्वनि के उपकारक तभी समझे जायेंगे, जब ये रस में दत्तचित्त प्रतिभावान् कवि के सामने हाथ बाँधे चले आएँ^५, और किसी प्रयत्न के बिना अनायास ही रचना में (रसानुकूल रूप में) समाविष्ट होकर स्वयं कवि को भी आश्चर्यचकित कर दें। निष्कर्ष यह कि अर्थालंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की कसौटी है अपृथग्यत्न रूप से रसानुकूलता की प्राप्ति :

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धश्शक्यक्रियो भवेत् ।

अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥

—ध्वन्या० २।१६

और यदि शब्दालंकारों का भी रसोपयोगी बनकर अपृथग्यत्न रूप से रचना में स्वतः समावेश सम्भव होता तो संस्कृत के आचार्यों ने अर्थालंकारों के समान इन्हें भी निश्चय ही समान महत्त्व दिया होता।

अर्थालंकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग करने के लिये आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित साधनों में से किसी एक का आश्रय लेने की समति दी है

१—रूपक आदि अलंकारों की अंगीभूत रस के प्रति अंग रूप से विवक्षा करना,

२—अंगी रूप में अलंकार की कभी भी विवक्षा न करना,

३—अवसर पर अलंकार का ग्रहण करना,

१ (क) शृंगारस्यागिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रास प्रकाशक ॥ —ध्वन्या० २।१४

(ख) ध्वन्यात्मभूतशृंगारे यमकादिनिबन्धनम् ।

शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ —वही, ३।१५

२ नातिनिबन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता । —व० जी० २।४

३ यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदो तिरसविरोधिन्य ।

अभिमानमात्रमेतद् गडुरिकादिप्रवाहो वा ॥ —का० ग्रनु० (हेम०) पृ० २५७

४ ध्वन्या० २।५ वृत्ति ।

५ अलंकरणान्तराणि × × × रस समाहित चेतसः प्रतिभावतैः कवेरहम्पूर्विकथा परायतन्ति । —ध्वन्या० २।१६ वृत्ति

४—अथवा त्याग करना,

५—आरंभ करके उसे अंत तक निभाने का प्रयत्न करना, और

६—यदि अनायास आद्यत निर्वह हो जाय तो उसे अग रूप में रसपोषक बनाने का यत्न करना ।

उक्त साधनों में से प्रथम दो तो एक ही हैं । पाँचवे का तीसरे और चौथे साधन में तथा छठे का पहले साधन में अंतर्भाव हो सकता है । इन सबका निष्कर्ष रूप में उद्देश्य यह है कि रचना में अलंकारों को रस के अग रूप में ही स्थान दिया जाय, प्रधान रूप में कभी नहीं, और ऐसा करने के लिये कवि समीक्षाबुद्धि से काम ले, तभी अर्थालंकार अपनी यथार्थता को प्राप्त कर सकेंगे

ध्वन्यात्मभूतेशृंगारे समीक्ष्य विनिवेशतः ।

रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ॥ —ध्वन्य० २।१७

(८) अलंकार संप्रदाय और हिंदी रीतिकालीन आचार्य—अलंकार संप्रदाय के मूल आधार हैं भामह, दंडी और उद्भट के अनुकरण पर अलंकार की काव्य के सर्वस्व एवं सर्वोपरि तथा अनिवार्य अग के रूप में स्वीकृति, काव्य के अन्य अगों का अलंकार में समावेश, यहाँ तक कि रस, ध्वनि जैसे महत्वपूर्ण काव्यागों का भी अलंकार रूप में ग्रहण । इस दृष्टि से कोई भी रीतिकालीन आचार्य एकांत रूप से अलंकारवादी सिद्ध नहीं होता । रीतिकाल में अलंकार का निरूपण दो प्रकार से हुआ है—चितामणि, जसवतसिंह, कुलपति, देव, सूरति मिश्र, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, जनराज, रणधीर सिंह आदि आचार्यों ने मम्मट, विश्वनाथ आदि के समान अलंकारप्रकरण को अपने विविधभाग निरूपक ग्रंथों का एक भाग बनाया है तथा मतिराम, भूषण, श्रीधर कवि, रसिक सुमति, रघुनाथ, गोविंद कवि, दूल्हा, पद्माकर, प्रतापसाहि आदि ने अप्रप्य दीक्षित के समान उसपर स्वतंत्र ग्रंथ लिखे हैं । इन दोनों प्रकार के आचार्यों ने इस प्रकरण के लिये मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव तथा अप्रप्य दीक्षित में से किसी एक, दो, तीन अथवा चारों आचार्यों का ही आधार ग्रहण किया है, भामह, दंडी और उद्भट का आधार किसी ने भी नहीं लिया । हाँ, देव इसके अपवाद हैं । इन्होंने भावविलास में प्रायः दंडिसमत अलंकारों का निरूपण किया है और शब्दरसायन में प्रायः अप्रप्य दीक्षित समत अलंकारों का । फिर भी भावविलास में निरूपित अलंकारों के आधार पर देव को अलंकारवादी नहीं मान सकते । कारण अनेक हैं । प्रथम यह कि देव ने दंडी के काव्यादर्श से सहायता न लेकर केशव की कविप्रिया से ही सहायता ली है जिसे वे यथावत् एवं विधिवत् प्रस्तुत नहीं कर पाए । दूसरा कारण यह कि इनका अपेक्षाकृत प्रौढ ग्रंथ शब्दरसायन मम्मट समत सिद्धांतों का प्रतिपादक है, न कि दंडिसमत सिद्धांतों का । इस ग्रंथ में शब्दशक्ति के अतर्गत व्यंजना शक्ति तथा रस जैसे काव्यागों की स्वीकृति एवं इनका स्वतंत्र निरूपण इन्हें मम्मट का अनुयायी मानने को बाध्य करता है, न कि दंडी का ।

इसी प्रसंग में रीतिकाल से पूर्ववर्ती हिंदी आचार्यों पर भी विचार कर लेना समुचित है । रीतिकाल से पूर्ववर्ती अलंकारनिरूपक तीन आचार्यों का नाम लिया जाता है—गोपा, करनेस और केशव । इनमें से प्रथम दो आचार्यों के ग्रंथ अनुपलब्ध हैं । केशव के 'कविप्रिया' नामक ग्रंथ के आधार पर इन्हें अलंकारवादी माना जाता है । इन्हें अलंकार संप्रदाय का आचार्य मानने के निम्नलिखित चार कारण हैं ।

१—केशव ने काव्य की सभी वर्णनीय सामग्री—वर्ण, वर्ण्य, भूश्री, राजश्री आदि को अलंकार के स्थान पर सामान्य अलंकार नाम दिया है ।

२—रसवत् अलंकार के अंतर्गत शृंगार आदि नौ रसों का निरूपण कर प्रकारांतर से केशव ने अलंकार्य 'रस' को ही अलंकार मान लिया है ।

३—इनके मत में उपमा आदि अलंकार काव्य के अनिवार्य अंग हैं । इनके बिना सर्वगुणसंपन्न रचना भी उस सुंदरी नारी के समान शोभाहीन है, जो आभूषण रहित हो ।

४—काव्य के सभी सौंदर्यविधायक तत्वों को इन्होंने प्रकारांतर से 'अलंकार' नाम दिया है ।

इनमें से अंतिम धारणाओं का स्रोत भामह, दंडी, उद्भट और वामन के ग्रंथों में उपलब्ध हो जाता है, पर प्रथम धारणा—वर्ण आदि वर्ण्य सामग्री को अलंकार कहना—कदाचित् केशव की निजी धारणा है । अमरचंद यदि तथा केशव मिश्र ने, जिनके ग्रंथों—काव्यकल्पलतावृत्ति और अलंकारशेखर—से केशव ने एतद्विषयक लगभग संपूर्ण सामग्री ली है, उक्त वर्ण्य सामग्री को किसी भी रूप में 'अलंकार' नाम से अभिहित नहीं किया । अमरचंद यति ने इस प्रकरण को 'वर्ण्यस्थिति स्तबक' नाम दिया है और केशव मिश्र ने 'वर्णनीय-मरीचि' । वस्तुतः केशव की यह धारणा न परंपरासमत है और न यथार्थ ही । इनके आदर्शभूत आचार्य दंडी ने काव्य के जिन अंगों—नाटकीय संधियों, सध्यगो, वृत्तियों, वृत्तगो, लक्षणों तथा गुणों—को 'अलंकार' में अंतर्भूत माना है, वे सभी काव्य के चमत्कारोत्पादक साधन हैं, न कि स्वयं वर्णनीय विषयसामग्री । वामन के 'सौंदर्यमलंकार' सूत्र का सबध भी काव्योपकारक साधनों से है, न कि वर्ण्य सामग्री से । वस्तुतः केशव की यह धारणा मनमानी, असंगत तथा भ्रामक है । केशव निस्संदेह अलंकारवादी आचार्य हैं, पर इस धारणा की उद्भावना के कारण इन्हें अलंकारवादी कहना समुचित नहीं है क्योंकि इस धारणा की स्वीकृति के बिना भी भामह, दंडी और उद्भट अलंकारवादी माने जाते हैं । केशव पर भी इन्हीं आचार्यों का पुष्ट प्रभाव है । इस पृष्ठाधार पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है ।

केशव के सामने भामह, दंडी, उद्भट आदि पूर्वध्वनिकालीन और आनंदवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि उत्तरध्वनिकालीन आचार्यों के दोनों मार्ग उन्मुक्त थे । वे भली-भाँति जानते होंगे कि अब अलंकार की व्यापक महत्ता रस और ध्वनि के आगे न केवल समाप्त हो चुकी है, अपितु इनमें अलंकारालंकार्य सबध स्थापित हो गया है, तथा अब भामह का यह कथन कि 'न कातमपि निर्भूष विभाति वनितामुखम्' निस्सार हो गया है । दंडी का यह मत कि काव्य के सौंदर्योत्पादक सभी तत्व, क्या गुण और क्या रस, 'अलंकार' नाम से पुकारे जाने चाहिए, अब अपना महत्व खो चुका है । उद्भट की यह धारणा कि रस, भाव आदि प्रधान रूप से वर्णित हो जाने पर भी रसवत्, प्रेय आदि अलंकार कहाते हैं, आनंदवर्धन द्वारा खंडित हो चुकी है । इन्हें अलंकार तभी माना जा सकता है जब ये किसी अन्य अंगीभूत रस के अंग में वर्णित हों, अन्यथा नहीं । मम्मट ने इन्हें अनु-प्रासोपमा आदि 'चित्रकाव्य' की कोटि से उठाकर गुणीभूत व्यंग्य के 'अपरस्याग' नामक भेद के अंतर्गत उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया है ।

संभवतः केशव यह भी जानते होंगे कि अब 'अलंकार' वामन के 'सौंदर्यमलंकार' सूत्र के अनुसार वर्ण्य विषय के चमत्कार (सौंदर्य) के सभी उपकरणों का पर्याय नहीं है, अपितु काव्यसौंदर्य का एक अस्थिर साधन मात्र रह गया है । इतना सब कुछ जानते हुए भी केशव ने यदि प्राचीन अलंकारवाद का समर्थन जान बूझकर किया है तो इसका कारण यही हो सकता है कि वे 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' के माननेवाले नहीं थे । संभव है, उनके हाथ केवल दंडी का ही ग्रंथ लगा हो, अथवा उन्होंने केवल इसी का अध्ययन

और मनन किया हो, या सभी ग्रंथों के पठनांतर भी उनके कविहृदय की प्रवृत्ति अलंकार-वाद की ही ओर रही हो। कारण जो भी हो, शताब्दियों पश्चात् उन्होंने इतिहास का पुनरावर्तन किया। यह विचित्र संयोग है कि संस्कृत के काव्यशास्त्र में जहाँ भामह, दंडी उद्भट आदि अलंकारवादियों के पश्चात् आनंदवर्धनादि रसध्वनिवादियों का आगमन हुआ था, वहाँ हिंदी के काव्यशास्त्र में भी अलंकारवादी केशव के पश्चात् चितामणि आदि रसध्वनिवादियों का ही आगमन हुआ।

४ रीति संप्रदाय

यद्यपि रीतिसिद्धांत की स्थापना नवीं शताब्दी के मध्य में या उसके आसपास आचार्य वामन द्वारा हुई तथापि रीति का अस्तित्व उनसे पहले भी निश्चिन् रूप से था, इसमें संदेह नहीं। भरत के नाट्यशास्त्र में रीति का प्रत्यक्ष विवेचन तो उपलब्ध नहीं होता परंतु उसमें भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित चार प्रवृत्तियों का उल्लेख मिलता है—भारत के पश्चिम भाग की प्रवृत्ति आवती थी, दक्षिण भारत की दाक्षिणात्य थी, उड़ु अर्थात् उड़ीसा तथा मगध, दूसरे शब्दों में पूर्व भारत की प्रवृत्ति उडुमागधी थी और पांचाल अर्थात् मध्यदेश की प्रवृत्ति पांचाली थी।

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः

आवती दाक्षिणात्या च पांचाली चौडु मागधी ।

—ना० शा० १४।३६

आगे चलकर दिशाओं के आधार पर काव्यशैली की चर्चा वाराणसीप्रणीत हर्ष-चरित में उपलब्ध होती है

श्लेषः प्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।

उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥

उदीच्य अर्थात् उत्तर भारत के कवि श्लेष का प्रायः प्रयोग करते हैं, प्रतीच्य अर्थात् पश्चिम भारत के कवि अर्थगौरव को महत्व देते हैं, दाक्षिणात्य उत्प्रेक्षा के प्रेमी हैं और गौड अर्थात् पूर्व भारत के कविजन अक्षरडंबर पर मुग्ध हैं।

उपर्युक्त दो उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकालना अस्वाभाविक नहीं है कि वाराणसी के समय (७वीं शताब्दी) तक विभिन्न काव्यशैलियाँ विभिन्न प्रदेशों पर आधृत थीं और इन शैलियों के विभाजक तत्व थे गण और अलंकार। यद्यपि वाराणसी ने कही यह उल्लेख नहीं किया कि वह स्वयं किस काव्यशैली के अनुकर्ता है, पर उनका निम्नलिखित श्लोक इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि वह स्वयं किसी एक शैली के पक्षपाती न होकर सब शैलियों के समुचित समन्वय के पक्षपाती थे—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः ।

विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस युग तक इन काव्यशैलियों का नामकरण प्रादेशिक आधार पर नहीं हो पाया था।

इस प्रकार का नामकरण सर्वप्रथम भामह के ग्रंथ 'काव्यालंकार' में उपलब्ध होता है। उन्होंने काव्य के दो भेद स्वीकृत किए हैं—वैदर्भ और गौड। इनके स्वरूप का निरूपण करते हुए भामह ने अग्रणी समय में प्रचलित इस धारणा को समुचित नहीं माना कि वैदर्भ काव्य गौडीय काव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट है। वे इस धारणा को गतानुगतिक न्याय से निर्बुद्धि जनो का कथन मात्र कहते हैं :

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियो परे ।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम् ॥
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक् ।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥

—काव्यालंकार १।३१, ३२

उनके विवेचनानुसार वैदर्भ काव्य में पुष्टार्थता और वक्रोक्ति, ये मुख्य गुण होने चाहिए और प्रसन्नत्व, ऋजुता तथा कोमलता, ये अमुख्य गुण । गौडीय काव्य में अलंकार-वृत्ता, अर्थवृत्ता और न्यायवृत्ता ये गुण होने चाहिए और यह काव्य ग्राम्य दोष और आकुलता से रहित होना चाहिए ।

भामह के उपरान्त दंडी ने रीतिविवेचन किया है । उन्होंने सर्वप्रथम काव्यशैली के अर्थ में 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है । उनके कथनानुसार वारों के अनेक मार्ग हैं जिनमें परस्पर अत्यंत सूक्ष्म भेद है । इनमें से वैदर्भ और गौडीय मार्गों का—जिनका परस्पर भेद अत्यंत स्पष्ट है—वर्णन किया जा सकता है । उन्होंने निम्नोक्त दस गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण मानते हुए सर्वप्रथम रीति (मार्ग) और गुण का पारस्परिक संबंध स्थापित किया

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, काति, तथा समाधि । गौड मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय लक्षित होता है^१ । दंडी का गुणविवेचन देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने विपर्यय शब्द से कभी 'विपरीत्य' अर्थ ग्रहण किया है, कभी 'अन्यथात्व' और कभी 'अभाव'^२ । उनकी विवेचना के अनुसार वैदर्भ और गौडीय मार्ग में गुणों और उनके विपर्यय की स्थिति इस प्रकार है

१—वैदर्भ मार्ग में श्लेष, प्रसाद, समता, सौकुमार्य और काति, ये पाँच गुण पाए जाते हैं और गौड मार्ग में क्रमशः इनके विपर्यय—शैथिल्य, व्युत्पन्न, वैषम्य, दीप्त और अत्युक्ति ।

२—वैदर्भ मार्ग के शब्दगत माधुर्य (श्रुत्यनुप्रास) का विपर्यय गौड मार्ग में वर्णानुप्रास है ।

३—वैदर्भ मार्ग में ओज गुण केवल गद्य में होता है और गौडीय मार्ग में गद्य और पद्य दोनों में ।

४—वैदर्भ और गौडीय दोनों मार्गों में निम्नलिखित चारों गुण समान रूप से पाए जाते हैं—अर्थगत माधुर्य (अग्राम्यता), अर्थव्यक्ति, औदार्य और समाधि ।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि दंडी गौडीय मार्ग को वैदर्भ मार्ग की अपेक्षा निम्न कोटि का काव्य मानते हैं, उसे सर्वथा सदोष और त्याज्य नहीं मानते ।

दंडी के उपरान्त रीतिसिद्धांत के प्रवर्तक वामन का युग आता है ।

१ अस्त्यनेको गिरा मार्गः सूक्ष्मभेद परस्परम् ।

तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरो ॥

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा स्मृता ।

एषा विपर्यय प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥ —काव्यादर्श १।४०, ४२

२ गौडवर्त्मनि एषा गुणानां विपर्ययः स च कुत्रचिदत्यन्ताभावरूपः कुत्रचिदशतः

संबधरूपश्च प्रायः दृश्यते । प्रायः इत्यनेन क्वचिदुभयो साम्यमप्यस्तीति सूच्यते^३ ।

—का० द० (प्रभा टीका), पृ० ४३

(१) रीति की परिभाषा और स्वरूप—वामन के अनुसार रीति की परिभाषा और स्वरूप इस प्रकार है रीति का अर्थ है विशिष्ट पदरचना—‘विशिष्टा पदरचना’ । विशिष्ट का अर्थ है गुणसंपन्न—‘विशेषा गुणात्मा’ । गुण से तात्पर्य है काव्य के शोभाकारक धर्म—‘काव्यशोभाया कर्तार गुणा ।’ इस प्रकार वामन के अनुसार रीति की परिभाषा हुई—काव्यशोभाकारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त पदरचना को ‘रीति’ कहते हैं ।

वामन के उपरांत आनंदवर्धन ने रीति का पर्याय ‘सघटना’ शब्द माना है । वामन का ‘पदरचना’ शब्द और आनंदवर्धन का ‘सघटना’ शब्द तो पर्याय ही है, अंतर केवल विशिष्ट और सम् (सम्यक्) विशेषणा में है, जो दोनो आचार्यों के विभेदक दृष्टिकोणों का परिचायक है । वामन के मतानुसार पदरचना में वैशिष्ट्य गुणों के कारण आता है और गुण पदरचना (रीति) पर आश्रित है, किन्तु उधर आनंदवर्धन के मतानुसार ‘घटना’ का ‘सम्यक्त्व’ तभी है जब वह गुणों के आश्रय में रहकर रस की अभिव्यक्ति करे ।

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन्, व्यनक्ति सा ।

रसादीन्

॥—ध्वन्या० ३।६

निष्कर्ष यह कि आनंदवर्धन की सघटना गुणों पर आश्रित है और वह रसाभिव्यक्ति का एक साधन है, वामन की रीति (पदरचना) पर गुण आश्रित है और वह स्वयं साध्या है । दूसरे शब्दों में, यदि पदरचना में शब्दगत और अर्थगत शोभाकारक धर्मों अर्थात् गुणों का समावेश हो गया तो उसकी सिद्धि हो गई ।

आनंदवर्धन के उपरांत राजशेखर ने और उनके अनुकरण पर भोज ने ‘शृंगार-प्रकाश’ में रीति को ‘वचनविन्यास क्रम’ कहा है जो पदरचना अथवा घटना का ही पर्याय है । कुंतक ने रीति के स्थान पर मार्ग शब्द का प्रयोग किया है जिसे इन्होंने कविप्रस्थान-हेतु भी कहा है । भोज ने सरस्वतीकटाभरण में रीति शब्द की व्युत्पत्ति ‘रीड गतौ’ धातु से बताकर इस शब्द का समाधान भी प्रकारांतर से कर दिया है कि रीति शब्द मार्ग, वृत्त, पंथा आदि का पर्याय क्यों माना जाता है

वैदर्भादिकृताः पन्थाः काव्ये मार्गा इतिस्थिताः ।

रीडगताविति धातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥

अर्थात् वैदर्भादि पन्था (पथ) काव्य में मार्ग कहलाते हैं और गत्यर्थक रीड धातु से निष्पन्न होने के कारण वे ही ‘रीति’ कहलाते हैं ।

इनके उपरांत ध्वनिवादी मम्मट और रसवादी विश्वनाथ ने रीति का स्वरूप प्रतिष्ठित करते हुए इसे रस के साथ संबद्ध कर दिया । मम्मट ने वैदर्भी, गौडी और पांचाली नामक रीतियों को उद्भट के अनुकरण पर क्रमशः उपनागरिका, पुरुषा तथा कोमला नामक वृत्तियों से अभिहित किया है । इनकी वर्णयोजना में भी इन्होंने उद्भट-समत वर्णों की स्वीकृति की है तथा उद्भट के ही समान उक्त वृत्तियों का अनुप्रास अलंकार के अंतर्गत वर्णन किया है । आनंदवर्धन के समान इन्होंने वृत्तियों को रस की उपकारक सिद्ध करने के लिये वृत्ति को ‘नियत वर्णगत रसविषयक व्यापार’ कहा है तथा प्रथम दो वृत्तियों का सबध क्रमशः माधुर्य और अजि गुणों के अभिव्यजक वर्णों के साथ स्थापित किया है । ऐसी ही स्थिति विश्वनाथ की है । इन्होंने भी रीति को ‘रसोपकर्त्री’ कहा है तथा आनंदवर्धन के समान समस्तपदता की अधिकता अथवा न्यूनता के साथ रीतिप्रकारों को संबद्ध किया है ।

है

आनदवर्धन और उनके अनुयायियों के मतानुसार रीतिस्वरूप का सार इस प्रकार

- १—पदों की सघटना का नाम 'रीति' है ।
- २—रीतियाँ रस की अभिव्यक्ति में साधक हैं ।
- ३—इनकी रचना गुणव्यजक नियत वर्णों से होती है ।
- ४—समस्तपदता को मात्रा इनका बाह्य रूप है ।
- ५—काव्य में रीति का स्थान वही है जो मानवशरीर में अगसस्थान अर्थात् अगो की बनावट का है, न कि आत्मा का ।

रीति के उपर्युक्त स्वरूपविक्रम से एक तथ्य स्पष्ट रूप से हमारे सामने आता है कि यद्यपि वामन से लेकर विश्वनाथ तक रीति के महत्व में आकाश पाताल का अंतर हो गया—वह आत्मपद से च्युत होकर अगसस्थान मात्र रह गई—तथापि उसके स्वरूप में कोई मौलिक अंतर नहीं हुआ । वामन की विशिष्ट पदरचना ही रीति की सर्वमान्य परिभाषा रही—यह विशिष्टता भी प्रायः शब्द और अर्थ के चमत्कार पर आश्रित मानी गई, और वामन के निर्देशानुसार गुणों के साथ भी रीति का नित्य संबन्ध रहा । अंतर केवल यह हुआ कि वामन ने जहाँ शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्मों के रूप में गुणों को और उनसे अभिन्न रीति को अपने आप में सिद्ध माना, वहाँ आनदवर्धन तथा परवर्ती आचार्यों ने गुणों को रस का धर्म माना—और उनके आश्रय से रीति को भी रसाभिव्यक्ति के माध्यम रूप में ही स्वीकार किया । उनके अनुसार रीति शब्द और अर्थ पर आश्रित रचनाचमत्कार का नाम है जो माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रसदशा तक पहुँचाने में साधन रूप से सहायक होती है ।

(२) रीति सिद्धांत का अन्य सिद्धांतों के साथ संबंध—रीति संप्रदाय, जैसा अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, भारतीय काव्यशास्त्र का देहवादी संप्रदाय है अतएव वह अलंकारवाद तथा वक्रोक्तिवाद का सहयोगी और रस तथा ध्वनिवाद का प्रतियोगी है । रीति सिद्धांत के स्वरूप को सम्यक् रूप से व्यक्त करने के लिये इन सहयोगी तथा प्रतियोगी सिद्धांतों के साथ उसके संबंध पर प्रकाश डालना आवश्यक है ।

(अ) रीति तथा अलंकार—अलंकार संप्रदाय की स्थापनाएँ इस प्रकार हैं

- १—काव्य का सौंदर्य शब्दार्थ में निहित है ।
- २—शब्दार्थ के सौंदर्य के कारण है अलंकार—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते ।' —दंडी, काव्यादर्श २।१

३—अलंकार के अतर्गत काव्यसौंदर्य के सभी प्रकार के तत्त्व आ जाते हैं । काव्य का विषयगत सौंदर्य सामान्य अलंकार के अतर्गत आता है और शैलीगत सौंदर्य विशेष अलंकार के अतर्गत । इस प्रकार गुण, रीति आदि भी अलंकार हैं ।

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ता. प्राग्व्यलक्रिया । —दंडी, काव्यादर्श, २।३

अर्थात् वैदर्भ तथा गौडीय मार्गों का भेद करने के लिये (श्लेष, प्रसाद आदि) कुछ अलंकारों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है । संधि, सध्यग, वृत्ति, लक्षण आदि भी अलंकार हैं

यच्च संध्यग-वृत्यंग लक्षणाद्यागमान्तरे ।

व्याख्यातमिदं चेष्ट अलंकारतयैव नः ॥ —दंडी

रीति संप्रदाय के प्रवर्तक वामन की स्थापनाएँ इससे मूलतः भिन्न न होती हुई भी परिणामतः भिन्न हो जाती हैं ।

१—वामन भी काव्य का सौंदर्य शब्द अर्थ में निहित मानते हैं।

२—वामन भी अलंकार का प्रयोग काव्यसौंदर्य के पर्याय रूप में करते हैं—सौंदर्यमलंकार। परन्तु उनका आशय ढडी आदि से भिन्न है।

३—वे अलंकार को दो कोटियाँ मान लेते हैं, गुण और अलंकार। माधुर्यादि गुण सौंदर्य के मूल कारण अर्थात् काव्य के नित्यधर्म हैं और उपमादि अलंकार उसके उत्कर्ष-वर्धक अर्थात् प्रतित्य धर्म। दूसरे शब्दों में, गुण नित्य अलंकार हैं और प्रसिद्ध 'अलंकार' अनित्य। इस प्रकार वामन अलंकार की परिधि सकुचिन कर देते हैं और उसकी कोटि अपेक्षाकृत हीन हो जाती है। वामन स्पष्ट कहते हैं कि अनेकाल गुण काव्य को शोभासपन्न कर सकता है किन्तु अनेकाल अलंकार नहीं कर सकता। काव्य में यदि गुण का मूल सौंदर्य ही न हो तो 'अलंकार' उसे और भी कुरूप बना देता है।

बस, यही आकर अलंकार सिद्धांत और रीति सिद्धांत में अंतर पड़ जाता है। दोनों का दृष्टिकोण मूलरूप में समान है—दोनों ही काव्यसौंदर्य को शब्दार्थ में निहित मानते हैं, दोनों ही अलंकारों को ममष्टि रूप में काव्यसौंदर्य का पर्याय मानते हैं। परन्तु अलंकार संप्रदाय जहाँ उपमा आदि अलंकारों को मुख्य रूप से और अन्य—गुण, वृत्ति, लक्षण आदि—को उपचार रूप से अलंकार मानता है, वहाँ रीति संप्रदाय रीति और गुण को मुख्य रूप से और उपमादि का गुण रूप से अलंकार मानता है। अर्थात् रीति संप्रदाय में गुण अथवा गुणात्मा रीति की प्रधानता है और उपमादि 'अलंकारों' की स्थिति अपेक्षाकृत हीन है। किन्तु अलंकार संप्रदाय में उनकी स्थिति यदि गुण आदि से श्रेष्ठतर नहीं तो कम से कम उनके समकक्ष अवश्य है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि पारिभाषिक शब्दों के आवरण को हटाकर देखा जाय तो गुणात्मा रीति और अलंकार में वस्तुगत भेद क्या है। और स्पष्ट शब्दों में, शब्दार्थ का कौन सा प्रयोग रीति है, कौन सा 'अलंकार' ? वामन ने रीति का लक्षण किया है 'विशिष्टा पदरचना'—अर्थात् गुणमयी पदरचना। गुण के दो भेद हैं, शब्दगुण और अर्थ-गुण। शब्दगुण में वर्णयोजना तथा समासप्रयोग पर आश्रित सौंदर्य और अर्थगुण में उपयुक्त सार्थक शब्दचयन एवं रागात्मक तथा प्रज्ञात्मक तथ्यों के सुचारु क्रमबद्ध आदि का अंतर्भाव है। इस प्रकार रीति से अभिप्राय ऐसी रचना से है जो अपनी वर्णयोजना, समस्त पदों के कुशल प्रयोग, उपयुक्त अर्थवान् शब्दों के चयन तथा भावों एवं विचारों के सुचारु क्रमबद्ध के कारण मन का प्रसादन करती है। अतएव रीति में रचना अर्थात् व्यवस्था एवं अनुक्रम का सौंदर्य है। अलंकार का सौंदर्य अनेक अंशों में इससे भिन्न है। अलंकारों को अलंकारवादियों ने शब्दार्थ (काव्य) का शोभाकर धर्म कहा है। धर्म शब्द से सबसे पहले तो स्फुटता का द्योतन होता है, अर्थात् अलंकार रचना का व्यवस्थित सौंदर्य न होकर स्फुट सौंदर्यविधायक तत्व है। दूसरे, उसमें चमत्कार का भी आभास है। आधुनिक शब्दावली में रीति वस्तुगत शैली का पर्याय है और अलंकार उक्तिचमत्कार का अथवा शब्दार्थ के प्रसाधन का। वामन उसको अतिरिक्त प्रसाधन ही मानते हैं। इन दोनों में परस्पर क्या संबंध है, अब प्रश्न यह है। इसका उत्तर यह है कि रीति का क्षेत्र अधिक व्यापक है—अलंकार रीति का अंग है—वामन ने और पाश्चात्य आचार्यों ने भी उसे रीति या शैली का ही अंग माना है। इसके अतिरिक्त, यद्यपि रीति का विधान भी प्रायः वस्तुपरक ही है, फिर भी अर्थगुण काति या अर्थगुण माधुर्य में व्यक्तित्व का सद्भाव रहता है। अलंकार में भी रसवत् तथा ऊर्जस्वि आदि अलंकारों का अंतर्भाव व्यक्तित्व के समावेश का ही प्रयास है, परन्तु वहाँ रसवत् आदि अलंकारों का कोई विशेष महत्व नहीं है। रीति संप्रदाय में अन्य गुणों के साथ अर्थगुण काति भी वैदर्भी रीति अथवा सत्काव्य का अनिवार्य

तत्व है—इस प्रकार रस का भी सत्काव्य के साथ अनिवार्य सबंध अप्रत्यक्ष रूप में हो जाता है। अतएव अलंकार सिद्धांत की अपेक्षा रीति सिद्धांत में व्यक्ति या आत्मतत्त्व अधिक है।

(आ) रीति और वक्रोक्ति—कुतक के अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ है—वैदग्ध्य-भगीभरिति। वैदग्ध्य का अर्थ है काव्य या कलानैपुण्य जो अर्जित विद्वत्ता या शास्त्र-ज्ञान से भिन्न प्रतिभाजन्य होता है। भगीभरिति का अर्थ है उक्तिचास्त्व। अतएव वक्रोक्ति का अर्थ हुआ कविप्रतिभाजन्य उक्तिचास्त्व। यह वक्रता या चास्त्व छह प्रकार का होता है—वर्णवक्रता, पद-पूर्वार्ध वक्रता अर्थात् पर्याय शब्दों तथा विशेषण आदि का चार प्रयोग, पदपरार्ध वक्रता अर्थात् प्रत्ययवक्रता, वाक्यवक्रता अर्थात् अर्थालंकारप्रयोग, प्रकरणवक्रता या कथा के किसी प्रकरण की चार कल्पना, प्रबंधवक्रता या प्रबंधविधान-कौशल। इस प्रकार वक्रोक्ति का क्षेत्र रीति की अपेक्षा अत्यंत व्यापक है। वर्णों से लेकर प्रबंधविधान तक का चास्त्व उसके अंतर्गत समाविष्ट है। रीति का क्षेत्र तो वास्तव में वक्रता के पहले चार भेदों तक ही सीमित है। वर्णवक्रता रीति के शब्दगुणों की वर्ण-योजना है, पदपूर्वार्ध तथा पदपरार्ध वक्रता में अर्थगुण ओज, उदारता, सौकुमार्य आदि का अतर्भाव हो जाता है, वाक्यवक्रता में अर्थालंकार है ही। बस, रीति का अधिकारक्षेत्र यही समाप्त हो जाता है, वह वर्ण, पद तथा वाक्य से आगे नहीं जाती। प्रकरणकल्पना, प्रबंधकल्पना उसकी परिधि से बाहर है। अर्थात् वह काव्य की भाषाशैली तक ही सीमित है, काव्य की व्यापक वर्णनशैली तक उसकी पहुँच नहीं है। रीति में वर्णों का, पदों का तथा भावों और विचारों का क्रमबद्ध मात्र है, जीवन की घटनाओं का, जीवन के स्थिर दृष्टिकोणों का वह क्रमबद्ध या नियोजन नहीं आता जो वक्रोक्ति में आता है। और स्पष्ट शब्दों में, रीति केवल भाषाकाव्यशैली तक ही सीमित है, किंतु वक्रोक्ति समस्त काव्य-कौशल की पर्याय है। इस प्रकार, जैसा स्वयं कुतक ने ही निर्देश किया है, रीति या मार्ग वक्रोक्ति का एक अंग मात्र है। वक्रोक्ति कविकर्म है, रीति कविमार्ग है।

दोनों संप्रदायों का दृष्टिकोण कुछ अंशों में समान है। दोनों में कविकर्म की बहुत कुछ वस्तुपरक व्याख्या है। वर्णवक्रता से लेकर प्रबंधवक्रता तक वक्रोक्ति के सभी रूपों में काव्य को कवि का कौशल मात्र माना गया है—कविकर्म अतंतु नियोजन की कुशलता मात्र ठहरता है। उसमें कवि की प्रतिभा को तो आधार माना गया है, परंतु कवि की सवासनता अथवा हार्दिक विभूतियों की और उधर पाठक तथा श्रोता की सहृदयता की उपेक्षा है। इस प्रकार रस की उपेक्षा तो दोनों संप्रदायों में है, परंतु इसके आगे व्यक्तित्व की उपेक्षा दोनों में समान नहीं मानी जा सकती क्योंकि वक्रोक्ति को कुतक निसर्गत कवि-प्रतिभाजन्य मानते हैं। उसका प्राणतत्व है विदग्धता जो विद्वत्ता से भिन्न है। कहने का तात्पर्य यह है कि रीति संप्रदाय तथा वक्रोक्ति संप्रदाय के दृष्टिकोणों में यहाँतक तो मूल-भूत समानता है कि दोनों ही रस की उपेक्षाकर कविकर्म का वस्तुपरक विश्लेषण करते हैं। परंतु आगे चलकर वक्रोक्तिवाद व्यक्तित्व को 'कविप्रतिभा' के रूप में आग्रहपूर्वक स्वीकार कर लेता है। इसमें सदेह नहीं कि वक्रोक्तिवाद की 'कविप्रतिभा' आधुनिक शब्दावली में सहृदयता की अपेक्षा कल्पना की ही महत्वस्वीकृति है, परंतु फिर भी कुतक का दृष्टिकोण व्यक्तित्व की महत्ता को तो स्वीकार करता ही है। वक्रोक्ति को प्रतिभाजन्य, मानना, विदग्धता को वक्रता का प्राणतत्व मानना, और मार्ग (रीति) में कविस्वभाव को मूर्धन्य स्थान देना, यह सब व्यक्तित्व का ही आग्रह है। वास्तव में कुतक के समय तक ध्वनि संप्रदाय की प्रतिष्ठा ही चुकी थी और रस का उत्कर्ष फिर स्थापित हो चुका था, इसलिये वामन की अपेक्षा उनके सिद्धांत में व्यक्तित्व का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही था।

रीति और वक्रोक्ति का साम्य और वैषम्य संक्षेप में इस प्रकार है :

१—दोनों के मूल दृष्टिकोणों में पर्याप्त साम्य है—दोनों में काव्य का वस्तुपरक विवेचन है। दोनों सिद्धांत काव्य को रचनानैपुण्य मानते हैं, आत्ममूज्ज नही।

२—रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति की परिधि व्यापक है। रीति केवल वर्ण, पद, तथा वाक्य की रचना तक ही सीमित है, वक्रोक्ति का क्षेत्र प्राङ्गण तथा प्रबन्धरचना तक व्याप्त है।

३—रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति में व्यक्तित्व का कहीं अधिक समावेश है। वक्रोक्ति में कविप्रतिभा और कविस्वभाव को आधार माना गया है। इसी अनुपात से वक्रोक्ति रीति की अपेक्षा रस सिद्धांत के भी निकट है।

(इ) रीति और ध्वनि—रीति और ध्वनि सिद्धांतों के दृष्टिकोण परस्पर-विपरीत हैं। रीति संप्रदाय देहवादी है और ध्वनि संप्रदाय आत्मवादी। ध्वनि सिद्धांत की स्थापना रीति की स्थापना के लगभग अर्धशताब्दी उपरांत हुई है, अतएव प्रत्यक्ष रूप में रीति सिद्धांत पर ध्वनि का प्रभाव या रीति में उसका अनर्भाव आदि तो संभव नहीं हो सकता किंतु, जैसा आनंदवर्धन ने सिद्ध किया है, रीति सिद्धांत में ध्वनि के प्रच्छन्न सकेत निस्संदेह मिलते हैं। वामनकृत अर्थालंकार वक्रोक्ति के लक्षण—सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति—में व्यंजना की स्वीकृति है। स्वयं रीतिगुरु के विवेचन में ही अनेक स्थलों पर ध्वनि के सकेत ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं है। उदाहरण के लिये अनेक शब्दगुणों में वर्णध्वनि का सकेत है, अर्थगुण ओज के अनर्गत अर्थप्रौढि के कई रूपों में भी ध्वनि की प्रच्छन्न स्वीकृति है। 'समाम' भेद में केवल 'निमिपति' कह देने से ही दिवागना का व्यक्तित्व ध्वनित हो जाता है, इसी प्रकार 'साभिप्राय विशेषण' प्रयोग में पर्यायध्वनि (पिनाकी और कपाली के ध्वनिभेद) का ही प्रकारांतर से वर्णन है। अर्थगुण कांति में तो असलक्ष्य-क्रम ध्वनि की प्रत्यक्ष स्वीकृति है ही।

ध्वनिसंप्रदाय समन्वयवादी है। ध्वनिकार आरम्भ में ही प्रतिज्ञा करके चले हैं कि ध्वनि में सभी सिद्धांतों का समाहार हो जायगा, अतएव रीति का भी ध्वनि में समाहार हुआ है। रीति के बाह्य तत्वों—वर्णयोजन और समास—का अनर्भाव वर्णध्वनि और रचनाध्वनि में किया गया है। उधर दम गुण का अनर्भाव तीन गुणों के भीतर करने हुए उनका असलक्ष्यक्रम ध्वनि रस से अचल सबंध स्थापित किया गया है। वामन ने रीति को गुणात्मक मानते हुए उसे प्रधानता दी थी, कम से कम उसे गुण के समतुल्य अवश्य माना था। ध्वनिवादियों ने उसे सघटना रूप मानते हुए गुण की आश्रित माना। गुण की स्थिति अचल है, सघटना की चल है। इस प्रकार ध्वनिसिद्धांत में रीति का स्थान गौण भी हो जाता है।

(ई) रीति और रस—रीतिसिद्धांत की स्थापना करते समय वामन के समक्ष रससिद्धांत निश्चय ही विद्यमान था। वास्तव में रस को दृश्यकाव्योचित मानने के कारण ही अलंकार और रीति सिद्धांतों की उद्भावना हुई। वामन ने काव्य में रस को विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया और उसे रीति के गुणों में से केवल एक गुण अर्थगुण कांति का आधारतत्त्व माना। इस प्रकार उनके मत से रस रीति का एक अंग मात्र है। रस की दीप्ति रीति की शोभा में योगदान करती है, यही रस की सार्थकता है। अर्थात् रस अंग है, रीति अंगी। परंतु इसके विपरीत रसवाद रस को आत्मा और रीति को केवल अंगसंस्थान-वत् मानता है। वर्णगुण और समास से निर्मित रीति गुण पर आश्रित है और गुण रस का धर्म है, अतएव गुण के सबंध से रीति रसाश्रिता है। उसके स्वरूप का निर्णय रस के द्वारा ही होता है। आनंदवर्धन द्वे रसौचित्य को रीति का प्रधान नियामक माना है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार कीजिए। रस चित्त की आनन्दमयी स्थिति है। गुण भी चित्त की स्थितियाँ ही हैं। माधुर्य द्रुति है, ओज दीप्ति और प्रसाद परिव्याप्ति—ये रसदशा के पूर्व की स्थितियाँ हैं जो चित्त को उस आनन्दमयी परिणति के लिये तैयार करती हैं। वर्ण तथा शब्द मन की स्थितियों के प्रतीक हैं—वे स्वयं मन की स्थितियाँ तो नहीं हैं परन्तु विशेष मनोदशाओं के स्कार उनपर आरूढ हैं। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि कुछ वर्ण अथवा शब्द चित्त की द्रुति के अनुकूल पड़ें, कुछ दीप्ति के एव कुछ परिव्याप्ति के। इस प्रकार ये वर्ण और शब्द द्रुतिरूप माधुर्य के, दीप्तिरूप ओज के, और परिव्याप्तिरूप प्रसाद के अनुकूल या प्रतिकूल पड़ते हैं। यही इनकी सार्थकता है। अलंकार की तरह रीति भी रस का उपकार करती हुई काव्य में अपनी सार्थकता सिद्ध करती है। इसी लिये उसे अगसस्थान के समान माना गया है। सुंदर शरीररचना जिस प्रकार आत्मा का उत्कर्षवर्धन करती है, उसी प्रकार रीति भी रस का उपकार करती है।

इस प्रकार रीति और रस संप्रदायों के दृष्टिकोण भी मूलतः परस्पर विपरीत हैं। रीति संप्रदाय देह को ही जीवनसर्वस्व मानता हुआ आत्मा को उसका एक पोषक तत्व मात्र मानता है और उधर रस संप्रदाय आत्मा को मूल सत्य मानता हुआ देह को उसका बाह्य माध्यम मात्र समझता है। दोनों की ओर से समझोते का प्रयत्न हुआ है, परन्तु यह समझौता परस्पर समानसूचक नहीं है। रीति रस को अपने उपकरण के रूप में ग्रहण करती है और रस रीति को अपने अगसस्थान के रूप में स्वीकार करता है। वार्ता और अर्थ का वह काम्य समन्वय जिमका आवाहन कालिदास ने किया है, दोनों की सांप्रदायिक भावना के कारण मान्य नहीं हो सका। रीति ने अपने स्वरूप को आवश्यकता से अधिक वस्तुगत बना लिया है और रस ने व्यजना के द्वारा अपने स्वरूप को अत्यधिक व्यक्तिपरक। पाश्चात्य साहित्य में मनोविज्ञान के प्रभाववश आज अनुभूति और अभिव्यक्ति अथवा भाव और शैली का जो अनिवार्य सहभाव माना गया है वह संस्कृत काव्यशास्त्र में 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति में ही सीमित होकर रह गया, विधान रूप में मान्य नहीं हो सका।

(३) रीति सिद्धांत की परीक्षा—रीति सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र में अततः मान्य नहीं हुआ। अलंकार संप्रदाय तो फिर भी किसी न किसी रूप में वर्तमान रहा, परन्तु वामन के उपरांत रीति सिद्धांत प्रायः निःशेष हो गया। रीति को काव्य की आत्मा माननेवाला कोई बिरला ही पैदा हुआ, समस्त संस्कृत काव्यशास्त्र में वामन के पश्चात् केवल दो नाम ही इस प्रसंग में लिए जा सकते हैं—एक वामन के टीकाकार तिप्पभूपाल का—असवो रीतयः—और दूसरा अमृतानन्द योगिन् का—रीतिरात्मा (अलंकारसंग्रह)। इनमें से एक तो व्याख्याता मात्र है और दूसरे का कोई विशिष्ट स्थान नहीं।

यह स्वाभाविक भी था क्योंकि अपने उग्र रूप में रीतिवाद की नींव इतनी कच्ची है कि वह स्थायी नहीं हो सकता था। देह को महत्व देना आवश्यक है, परन्तु उसे आत्मा या जीवन का मूल आधार मान लेना प्रवचना है।

रीतिवाद में पदरचना (शैली) को ही काव्य का सर्वस्व माना गया है। रस को शैली का अंग माना गया है और वह भी महत्वपूर्ण अंग नहीं। एक तो उसका समावेश बीस गुणों में से एक गुण काति में ही है और दूसरे स्वयं काति अपने आप में कोई विशिष्ट गुण नहीं है क्योंकि काति और ओज गौडीया के गुण माने गए हैं और गौडीया को वामन ने निश्चय ही अप्रधान रीति माना है। इनमें से पहली अर्थात् वैदर्भी ही ग्राह्य है क्योंकि उसमें सभी गुण वर्तमान रहते हैं। शेष दो, अर्थात् गौडीया और पांचाली नहीं क्योंकि उनमें थोड़े से ही गुण होते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि इन दो का भी अभ्यास करना चाहिए

क्योंकि ये वैदर्भी तक पहुँचने के सोपान है। यह ठीक नहीं है क्योंकि अतत्त्व के अभ्यास से तत्त्व की प्राप्ति संभव नहीं है (काव्यालंकारसुत्र)। गोडीया के इस तिरस्कार से यह स्पष्ट है कि रीति सिद्धांत में कालि और उसके आध्यात्मिक रस का कोई विशेष महत्व नहीं है। रस का यह तिरस्कार या अवमूल्यन ही अंत में रीतिवाद के पतन का कारण हुआ और यही सगत भी था। काव्य का मूल गुण है रमणीयता, उसकी चरम सिद्धि है सहृदय का मन प्रसादन, और उद्दिष्ट परिणाम है चेतना का परिष्कार। ये सब भावों के ही व्यापार हैं—भावतत्त्व के कारण ही काव्य में रमणीयता आती है, भावतत्त्व ही सहृदय के भावों को उद्बुद्ध कर उन्हें उत्कृष्ट आनंदमयी चेतना में परिणत करता है, और उसी के द्वारा भावों का परिष्कार संभव है। शैली में भी रमणीयता का समावेश भावतत्त्व के द्वारा ही होता है। भावों की उत्तेजना से ही वाणी में उत्तेजना आती है—चित्त के चमत्कार से ही वाणी में चमत्कार का समावेश होता है। यह स्वन सिद्ध मनोवैज्ञानिक तथ्य है। सामान्य एवं व्यापक रूप में भी जीवन का प्रेरक तत्त्व राग ही है। अतएव राग या रस का तिरस्कार दर्शन भी नहीं कर सका, काव्य का तो समस्त व्यापार ही उसपर आश्रित है। रीति सिद्धांत ने रीति को आत्मा और रस को एक साधारण अंग मात्र मानकर प्रकृत क्रम का विपर्यय कर दिया और परिणामतः उसका पतन हुआ।

परंतु फिर भी रीतिवाद सर्वथा सारहीन अथवा निर्मूल्य सिद्धांत नहीं है। वामन अत्यंत मेधावी आचार्य थे—उनके अपने युग की परिमीमांसा थी, तथापि उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है और उनके सिद्धांत का अपना उज्ज्वल पक्ष भी है।

सबसे पहले तो वह इतना एकांगी नहीं है जितना प्रतीत होता है। उसके अनुसार काव्य का आदर्श रूप वैदर्भी में प्राप्त होता है जहाँ दस शब्दगुणों और दस अर्थगुणों की पूर्ण संपदा मिलती है। दस शब्दगुणों के विश्लेषण से, आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में, निम्नलिखित काव्यतत्त्व उपलब्ध होते हैं

१—वर्णयोजना का चमत्कार—

- (क) भ्रंश (सौकुमार्य तथा श्लेषगुणों में)
- (ख) औजस्य (कालि)

२—शब्दगुण का चमत्कार (ओज, प्रसाद, समाधि, समता, अर्थव्यक्ति)

३—स्फुट शब्द का चमत्कार (माधुर्य, कालि)

४—लय का चमत्कार (उदारता)

उधर दस गुणों का विश्लेषण निम्नलिखित काव्यतत्त्वों की ओर निर्देश करता है

१—अर्थप्रौढ़ि—अर्थात् समास तथा व्यास शैलियों का सफल प्रयोग, साभिप्राय विशेषणप्रयोग, आदि (ओज)।

२—अर्थवैमल्य—अन्यून अनतिरिक्त शब्दों का प्रयोग, आनुगुणत्व (प्रसाद)।

३—उक्तिवैचित्र्य (माधुर्य)।

४—प्रक्रम (समता)।

५—स्वाभाविकता तथा यथार्थता (अर्थव्यक्ति)।

६—अग्राम्यत्वा—अभद्र, अमंगल तथा अश्लील शब्दों का त्याग (औदार्य और सौकुमार्य)।

७—अर्थगौरव (समाधिश्लेष)।

८—रस (कालि)।

इतने से अर्थगौरव, रस, अग्राम्यत्व तथा स्वाभाविकता वर्ण्य विषय के गुण है और अर्थवैमल्य, उक्तिवैचित्र्य, प्रक्रम, अर्थप्रौढि अर्थात् समास और व्यास शैली तथा साभिप्राय विशेषणप्रयोग वर्णनशैली के गुण है।

इस प्रकार वामन के अनुसार आदर्श काव्य के मूल तत्व निम्नांकित हैं

शैलीगत—अर्थवैमल्य (आनुगुणत्व), उक्तिवैचित्र्य, प्रक्रम अर्थप्रौढि अर्थात् समासशक्ति, व्यासशक्ति तथा साभिप्राय विशेषणप्रयोग।

विषयगत—अर्थगौरव, रस, परिष्कृति (अग्राम्यत्व) तथा स्वाभाविकता।

आधुनिक आलोचना शास्त्र के अनुसार काव्य के चार तत्व हैं—रागतत्व, बुद्धितत्व, कल्पना और शैली। उपर्युक्त गुणों में ये चारो तत्व यथावत् समाविष्ट हैं। रस, परिष्कृति (अग्राम्यत्व) तथा स्वाभाविकता रागतत्व है, अर्थगौरव बुद्धितत्व है, उक्तिवैचित्र्य तथा साभिप्राय विशेषण कल्पनातत्व है और अर्थवैमल्य, समासगुण तथा प्रक्रम शैली के तत्व हैं।

अतएव दामन का रीतिवाद वास्तव में सर्वथा एकांगी नहीं है, उसमें भी अपने ढंग से काव्य के सभी मूल तत्वों का समावेश है।

इसके अतिरिक्त रीति अथवा शैली की महत्वप्रतिष्ठा अपने आप में भी कोई नगण्य सिद्धांत नहीं है। वाणी के बिना अर्थ गुंगा है। शैली के अभाव में उस कोकिल के समान असहाय है जिसे विद्याज्ञा ने हृदय का मिठास देकर भी रसना नहीं दी। कल्पना उस पक्षी के समान असमर्थ है जिसे पर बाँधकर पिंजड़े में डाल दिया गया हो। वास्तव में काव्य को शास्त्र से पृथक् करनेवाला तत्व अनिवार्यतः शैली ही है। शास्त्र में विचार की समृद्धि तो रहती ही है, कल्पना का भी प्रचुर उपयोग हो सकता है। इसी प्रकार भाव का सौंदर्य भी लोकवार्ता में निस्संदेह रहता है, परंतु अभिव्यजना कला शैली के अभाव में वे काव्यपद के अधिकारी नहीं हो सकते। इस दृष्टि से शैलीतत्त्वा की अनिवार्यता असंदिग्ध है, और रीतिवाद ने उसपर बल देकर काव्यशास्त्र का निस्संदेह उपकार ही किया है।

(४) रीति के मूल तत्व—रीति का स्वरूपनिरूपण करने के लिये उसके मूल तत्वों का निर्धारण कर लेना आवश्यक है।

दंडी ने गुणों को ही रीति का मूल तत्व माना है। उनके गुण शब्दसौंदर्य और अर्थसौंदर्य दोनों के ही प्रतीक हैं। उनके श्लेष, समता, सौकुमार्य और ओज पदबद्ध अथवा शब्दगुण के आश्रित हैं तथा माधुर्य, उदारता, कांति, प्रसाद, अर्थव्यक्ति और समाधि अर्थसौंदर्य के। वामन ने भी रीति को पदरचना मानते हुए गुणों को ही उसका मूल तत्व माना है। उन्होंने शब्द और अर्थ के आधारभेद से गुणों के दो वर्ग कर दिए हैं—शब्द-गुण और अर्थगुण। उनके प्रायः सभी शब्दगुण वर्णयोजना, पदबद्ध या शब्दगुण के ही चमत्कार हैं और अर्थगुणों का आधार अर्थसौंदर्य है। उदारता, सौकुमार्य, समाधि और ओज के अनेक रूपों में लक्षणव्यजना का चमत्कार है, अर्थव्यक्ति में स्वाभाविकता अथवा यथार्थता का सौंदर्य है, कांति में रस का, माधुर्य में वक्रता अथवा विदग्धता का, श्लेष में गोपन आदि के द्वारा क्रियाओं का चतुर्य के साथ वर्णन रहता है। वास्तव में यह चमत्कार प्रायः अर्थश्लेष के अंतर्गत आ जाता है। प्रसाद में आवश्यक के ग्रहण और अनावश्यक के त्याग द्वारा अर्थवैमल्य या स्पष्टता की सिद्धि होती है। समता में बाह्य तथ्यों के क्रम का अभग रहता है। परवर्ती आचार्यों ने प्रसाद, समता आदि को दोषाभाव मात्र माना है। उनका भी तर्क असंगत नहीं है, तथापि अर्थवैमल्य (ल्यूसिडिटी) आदि भी अपने आप में गुण हैं, चाहे आप उन्हें अभावात्मक गुण ही मान लीजिए। (संस्कृत काव्यशास्त्र में भी खट्ट आदि ने दोषाभाव को गुण माना है)। इस प्रकार वामन के अर्थगुणों के मूल में रस,

ध्वनि, अर्थालंकार तथा शब्दशक्ति का भावात्मक सौंदर्य और दोषाभाव का अभावात्मक सौंदर्य विद्यमान रहता है—इनके अतिरिक्त परपरामान्य तीनों गुणों—प्रसाद, ओज और माधुर्य—का अंतर्भाव तो वामनीय गुणों में है ही। निष्कर्ष यह निकला कि केवल शब्दगुण ही नहीं, परपरामान्य तीन गुणों के अतिरिक्त रस, ध्वनि, अर्थालंकार, शब्दशक्ति और उधर दोषाभाव भी वामनीय रीति के मूल तत्व हैं। और स्पष्ट शब्दों में, परवर्ती काव्य-शास्त्र की शब्दावली में, वामन के मत में रीति के बहिरंग तत्व हैं शब्दगुण और अंतरंग तत्व हैं गुण, रस, ध्वनि (यद्यपि उस समय तक ध्वनि का आविर्भाव नहीं हुआ था), अर्थालंकार और दोषाभाव।

वामन के उपरांत रुद्रट ने इस प्रश्न पर विचार किया और समास को रीति का मूल तत्व माना। उन्होंने लघु, मध्यम और दीर्घ समासों के अनुसार पाचाली, लाटीया और गौडीया रीतियों का स्वरूपनिरूपण किया। वैदर्भी ग्रममासा होती है। आनंदवर्धन ने रुद्रट की लाटीया रीति को तो स्वीकार नहीं किया, परंतु समास को रीति के कलेवर का मुख्य तत्व अवश्य माना। उनकी परिभाषा है—‘रीति माधुर्यादि गुणों के आश्रय में स्थित रहकर रस को अभिव्यक्त करती है।’ इसका अर्थ यह हुआ कि माधुर्यादि गुणों को वे रीति का आश्रय अथवा मूल आंतरिक तत्व मानते हैं, और रीति को रस की अभिव्यक्ति का साधन मात्र समझते हैं। इस प्रकार आनंदवर्धन के अनुसार प्रसाद, माधुर्य और ओज गुण रीति के मूल आंतरिक तत्व हैं और समास उनका बाह्य तत्व। अपने समग्र रूप में रीति रसाभिव्यक्ति की माध्यम है।

ध्वन्यालोक के पश्चात् तीन ग्रंथों में इस प्रश्न को उठाया गया—राजशेखर की काव्यमीमांसा में, भोज के सरस्वतीकठाभरण में और अग्निपुराण में। राजशेखर ने इस प्रसंग में कुछ नवीनता की उद्भावना की है। उन्होंने समास के साथ ही अनुप्रास को भी रीति का मूल तत्व माना है। वैदर्भी में समास का अभाव और स्थानानुप्रास होता है, पाचाली में समास और अनुप्रास का ईषद् सद्भाव रहता है और गौडीया में समास और अनुप्रास प्रचुर रूप में वर्तमान रहते हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने तीनों रीतियों के तीन, और नए आधारतत्वों की कल्पना की—वैदर्भी योगवृत्ति, पाचाली उपचार, और गौडीया योगवृत्तिपरंपरा।

भोज ने भी प्रायः राजशेखर का ही अनुसरण किया। उन्होंने समास और गुण दोनों को ही रीति का मूल तत्व मानते हुए राजशेखर के योगवृत्ति आदि आधारभेदों को और भी द्विस्तार दिया। अग्निपुराण में गुण और रीति का कोई सबंध स्वीकार नहीं किया गया। उसमें रीति के मूल तत्व तीन माने गए हैं—समास, उपचार (लाक्षणिक प्रयोग अथवा अलंकार) और मर्दव की मात्रा। पाचाली रीति मृद्वी, उपचारयुता और ह्रस्वविग्रहा अर्थात् लघुसमासा होती है, गौडीया दीर्घविग्रहा और अनवस्थितसदर्भा होती है अर्थात् उसका सदर्थ एव अर्थ सर्वथा व्यक्त नहीं होता। वैदर्भी को मुक्तविग्रहा माना गया है, अर्थात् उसमें समास का अभाव रहता है, वह नातिकोमलसदर्भा होती है अर्थात् उसकी पदरचना अतिकोमला नहीं होती और उसमें औपचारिक अथवा आलंकारिक (लाक्षणिक) प्रयोगों की बहुलता नहीं रहती।

उत्तर ध्वनिकाव्य के आचार्यों में मम्मट और विश्वनाथ ने विशेष रूप से प्रस्तुत प्रसंग पर प्रकाश डाला है। मम्मट ने वृत्ति या रीति को वर्णव्यापार ही माना है, और फिर वर्णसचटव या गुण का गुण के साथ नियत सबंध स्थापित किया है। उन्होंने माधुर्य और ओज गुणों के लिये वर्णगुण नियत कर दिए हैं, और फिर इन गुणों को ही वृत्तियों का प्रधानत्व माना है। इस प्रकार मम्मट के अनुसार गुणव्ययक वर्णगुण ही रीति के मूल

तत्व है। विश्वनाथ ने प्रायः मम्मट का ही अनुसरण किया है। परंतु उनकी रीतियों का आधार मम्मट की अपेक्षा अधिक व्यापक है। उनका रीतिनिरूपण इस प्रकार है

वैदर्भी { माधुर्यव्यजकैर्बर्णैः रचना ललितालम्बिका ।
अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥ —सा० ६०, ६१२

अर्थात् वैदर्भी के तीन आधारतत्व हैं—माधुर्यव्यजक वर्ण, ललित पदरचना, समास का अभाव अथवा अल्पसमास।

गौडी { ओजः प्रकाशकैर्बर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ।
समासबहुला गौडी । —सा० ६०, ६१३

अर्थात् गौडी के तत्व हैं ओजप्रकाशक वर्ण, आडम्बरपूर्ण बंध अथवा पदरचना, और समासबहुल्य।

विश्वनाथ ने वर्णसंयोजना और शब्दगुण दोनों को ही रीति का तत्व माना है और उधर समास को भी ग्रहण किया है। उन्होंने भी गुण और वर्णसंयोजना का नियत संबंध माना है और गुण को रीति का आधारतत्व स्वीकार किया है। और अंत में आनंदवर्धन के समान विश्वनाथ ने भी रीति को रसाभिव्यक्ति का साधन माना है।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन का सारांश यह है कि पूर्व ध्वनिकाल के वामनादि आचार्य, जो अलंकार और अलंकार्य में भेद न कर समस्त शब्द तथा अर्थगत सोदर्य को अलंकार सजा देते थे, शब्द और अर्थ के प्रायः सभी प्रकार के चमत्कारों को रीति के तत्व मानते थे। वामन के विवेचन से स्पष्ट है कि वे पदबंध को रीति का बहिर्गग आधारतत्व और माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण के अतिरिक्त रस, ध्वनि (यद्यपि यह नाम उस समय तक आविष्कृत नहीं हुआ था), शब्दशक्ति, अलंकार तथा दोषाभाव को अंतरंग तत्व मानते थे। उत्तर ध्वनि आचार्यों ने अलंकार और अलंकार्य, वस्तु और शैली, अथवा प्राण और देह का अंतर स्पष्ट किया और रसध्वनि को काव्य का प्राणतत्व तथा रीति को बाह्यभाग माना। जिस प्रकार अगस्त्यस्थान आत्मा का उपकार करता है उसी प्रकार रीति रस की उपकर्त्री है। उन्होंने रीति को काव्य का माध्यम मानते हुए वर्णसंयोजन तथा पदरचना अर्थात् शब्दगुण तथा समास को उसका बहिर्गग तत्व और गुण को अंतरंग तत्व स्वीकार किया जिसके आश्रय से वह रस की अभिव्यक्ति करती है।

(५) रीति के प्रकार—भामह ने कदाचित् 'काव्य' नाम से और दंडी ने 'मार्ग' नाम से रीति के दो प्रकार माने हैं—वैदर्भ और गौडीय। भामह ने इन दोनों के पार्थक्य को तो स्वीकार किया है—वैदर्भ मार्ग में पेशलता, ऋजुता आदि गुण रहते हैं और गौडीय में अलंकार आदि—परंतु वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि वैदर्भ सत्काव्य का और गौडीय असत्काव्य का पर्याय है। काव्य के मूलभूत गुणों के संयोग से और अपने अपने गुणों के सयत् प्रयोग से दोनों ही सत्काव्य हो सकते हैं। केवल नाम के आधार पर ही एक को उत्कृष्ट और अपर को निकृष्ट कह देना गतानुगतिकता है। दंडी ने इसके विपरीत यह माना है कि वैदर्भ दस गुणों से अलंकृत होता है और गौडीय में इनके विपर्यय मिलते हैं। किंतु दंडी ने गुणविपर्यय को दोष नहीं माना है। क्योंकि उस स्थिति में तो गौडीय मार्ग काव्य सजा का अधिकारी ही नहीं रहेगा। उन्होंने, जैसा आगे चलकर भोज ने अपने ढंग से स्पष्ट किया है, स्वाभावोक्ति और रसोक्ति को वैदर्भ के मूल गुण और वक्रोक्ति को, अर्थात् वैचित्र्य तथा अलंकार आदि को, गौडीय की मूल विशेषता स्वीकार किया है। हाँ, यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि दंडी गौडी की अपेक्षा वैदर्भी को उत्कृष्ट काव्य मानते थे।

वामन ने रीति शब्द का सर्वप्रथम उपयोग करते हुए तीन रीतियाँ मानी—(१) वैदर्भी, (२) गौडीया और (३) पाचाली । (१) समस्त गुणों से भूषित रीति वैदर्भी कहलाती है । दोष के लेशमात्र से भी अस्पृष्ट, समस्त गुण गुफित, वीणा के स्वर सी मधुर रीति वैदर्भी कहलाती है । (२) ओज और काति से विभूषित गौडीया रीति होती है । इसमें माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव रहता है, ममासो का बाहुल्य होता है और पदावली कठोर होती है । (३) माधुर्य और सौकुमार्य से उपपन्न रीति का नाम है पाचाली । ओज और काति के अभाव में इसकी पदावली अकठोर होती है और यह रीति कुछ निष्प्राण (श्रीहीन) सी होती है । कवियों ने उस रीति को पाचाली सज्ञा दी है जो श्लथबध, पुराण-शैली की अनुवर्तनी, मधुर तथा सुकुमार होती है (काव्यालकार सूत्रवृत्ति) ।

वामन के उपरांत रुद्रट ने रीतियों की संख्या चार कर दी । उन्होंने लाटीया नामक एक चौथी रीति की उद्भावना और की । रुद्रट ने रीतियों के दो वर्ग कर दिए, एक वर्ग में वैदर्भी और पाचाली आती है तथा दूसरे में गौडी और लाटीया । उन्होंने समास को रीतिभेद का आधार माना । वैदर्भी में समास का अभाव रहता है । पाचाली में लघु समास अर्थात् दो तीन समास, लाटीया में मध्यम समास अर्थात् पाँच सप्त और गौडीया में दीर्घ समास का प्रयोग होता है । रुद्रट ने रीति और रस का स्पष्ट सबध स्वीकार किया है । वैदर्भी तथा पाचाली शृंगार, करुण, भयानक तथा अद्भुत रसों के और गौडी तथा लाटीया रौद्र के अनुकूल रहती हैं^१ । शेष चार रसों के लिये रीति का नियम नहीं है । यह रीतिरस-सबध भरत से अनुप्रेरित है । भरत ने रीतियों की समानधर्मी वृत्तियों का रस के साथ सहज सबध माना है ।

शिगभूपाल ने केवल तीन ही रीतियों का अस्तित्व माना । कोमला, कठिना तथा मिश्र जो क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाचाली की पर्याय मात्र है । राजशेखर ने भी सामान्यतः वामन की इन्हीं तीन रीतियों को ग्रहण किया है । काव्यमीमांसा के काव्य-पुरुषप्रसंग में इन्हीं तीन का उल्लेख है । उधर कर्पूरमजरी के मंगलश्लोक में भी नामभेद से तीन ही रीतियों का स्मरण किया गया है—वच्छोमी, मागधी तथा पाचाली । इनमें वच्छोमी वत्सगुल्मी का प्राकृत रूप है जो विदर्भ की राजधानी वत्सगुल्म के नाम पर आधृत होने के कारण वैदर्भी की ही पर्याय है । इसी प्रकार पूर्व से सबद्ध गौडी और मागधी कदाचित् एक ही है । यह तो हुई तीन रीतियों की बात । परंतु राजशेखर ने बालरामायण में एक चौथी रीति मैथिली का भी उल्लेख किया है जिसके गुण इस प्रकार हैं—(१) अर्थातिशय (अर्थचमत्कार) होने पर भी जगन्मर्यादा का अनतिक्रमण अर्थात् कोरी अत्युक्तियों का परिहार जिसे दंडी ने कातिगुण माना है, (२) समास का ईषत् प्रयोग, तथा (३) योगपरपरा ।

मैथिली का राजशेखर के पूर्व किसी ने वर्णन नहीं किया । उनके उपरांत भी केवल श्रीपाद नामक एक विद्वान् ने इसका उल्लेख किया और उन्होंने भी इसे मागधी का पर्याय माना है । विस्तारप्रिय भोज ने रीतिक्षेत्र में भी अपनी प्रवृत्ति का परिचय दिया । उन्होंने सब मिलाकर छह रीतियाँ मानी । वैदर्भी, पाचाली, लाटीया, गौडीया, अवतिका और मागधी । इनमें से वैदर्भी तथा गौडीया भामह तथा दंडी की अथवा उनसे भी पूर्व की रीतियाँ हैं, पाचाली वामन की तथा लाटीया रुद्रट की उद्भावना है । मागधी का उल्लेख राजशेखर और श्रीपाद में मिलता है । अवतिका अवती के राजा भोज की नवीन कल्पना

१. वैदर्भीपाचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयो ।

लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद्यथौचित्यम् ॥—काव्यालकार, १५।२०

है जो कदाचित् स्वदेशप्रेम आदि व्यक्तिगत कारणों से प्रेरित है। इस नवीन उद्भावना का कोई सगत आधार नहीं है। भोजराज ने इसे वैदर्भी और पाचाली की अतरालवर्तिनी माना है जिसमें तीन चार समास होते हैं। लाटीया के विफल होने पर खडरीति मागधी होती है। यह रीतिविस्तार भोज पर ही प्रायः समाप्त हो जाता है। केवल सिंहदेवगणि नामक एक अप्रसिद्ध लेखक ने भोज की अवतिका का त्याग करते हुए वच्छोमी को स्वतंत्र रीति माना है और अपनी छह रीतियों का रस के साथ, कुछ मनमाने ढंग से, समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है, यथा—लाटी = हास्य, पाचाली = करुण और भयानक, मागधी = शांत, गौडी = वीर और रौद्र, वच्छोमी = वीभत्स और अद्भुत एवं वैदर्भी = शृंगार^१।

रसध्वनिवादियों ने विस्तार को महत्व न देकर सदा व्यवस्था को ही महत्व दिया है अतएव उन्होंने रीतिविस्तार का भी नियमन ही किया। आनंदवर्धन तथा मम्मट आदि ने प्रायः वामन की तीन रीतियों को ही स्वीकार्य माना है—उपनागरिका, परुषा और कोमला वैदर्भी, गौडी और पाचाली। कविस्वभाव को आधार मानते हुए प्रायः इसी प्रकार के तीन मार्ग कुतक ने माने हैं—सुकुमार, विचित्र और मध्यम।

उपर्युक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रायः वामन की तीन रीतियाँ ही मान्य हुईं। रसध्वनिवादी तथा अन्य गंभीरचेता आचार्यों ने इन्हें ही मान्यता दी है और वास्तव में यही उचित भी है। यदि रीति के आंतरिक आधार गुण को प्रमाण माना जाय तब भी तीन गुणों के अनुसार उपर्युक्त तीन रीतियाँ ही मान्य हो सकती हैं। मनोविज्ञान के अनुसार भी कोमल और परुष, स्वभाव के दो स्पष्ट भेद हैं। किंतु इनके अतिरिक्त एक तीसरा भेद इतना ही स्पष्ट है—प्रसन्न, जिसमें इन दोनों का सतुलित मिश्रण रहता है। इसे ही चित्त की निर्मलता अथवा प्रसाद कहा गया है। अतएव तीन प्रकार के स्वभावों की माध्यम तीन रीतियों का अस्तित्व ही मान्य है। वैसे, मानवस्वभाव अनतरूप है—उसका कोई पार नहीं पाया जा सकता। परंतु उसकी मूल प्रवृत्तियाँ प्रायः ये ही हैं। इसी प्रकार, जैसा दंडी ने कहा है और कुतक ने पुष्ट किया है, वार्या की रीतियाँ भी अनेक हैं। परंतु उनके मूल भेद दो तीन से अधिक नहीं हो सकते।

(६) बाह्य आधार—समास, वर्णगुण आदि को प्रमाण मानकर भी स्थिति यही रहती है। समास की दृष्टि से रचना असमासा या लघुसा मासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा, तीन प्रकार की हो सकती है। अब इनमें समासों की गणना से और भी भेदप्रस्तार करना विशेष तर्कसगत नहीं है। रुद्रट की लाटीया तथा भोजराज की अवतिका आदि का आधार इसी लिये पुष्ट नहीं है। इसी प्रकार वर्ण भी मूलतः तीन प्रकार के ही हो सकते हैं—कोमल, परुष और इनके अतिरिक्त शेष अन्य वर्ण जो न एकांत कोमल होते हैं और न सर्वथा परुष। कहने का तात्पर्य यह है कि रुद्रट की लाटीया और भोज की अतिरिक्त रीतियाँ अनावश्यक हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है—मेरे मन में भी उठा है—वैदर्भी और गोडी ही अल क्यो नहीं है, क्या पाचाली की कल्पना भी अनावश्यक नहीं है? इसका उत्तर यह है कि वैदर्भी में पाचाली का यदि अतर्भाव मान लिया जाता है तो फिर गोडी भी उसकी परिधि से बाहर नहीं पड़ती क्योंकि समग्र गुणसपदा से अलंकृत वैदर्भी में जिस प्रकार माधुर्य और सौकुमार्य का समावेश रहता है, उसी प्रकार ओज और कांति का भी। अतएव वैदर्भी गोडी की विपरीत रीति नहीं। गोडी की विपरीत रीति पाचाली ही है। जिस

प्रकार मानवस्वभाव के दो छोर है नारीत्व और पुरुषत्व, इसी प्रकार अभिव्यजना के भी दो छोर है स्तैरा पाचाली और गरुपा गोटी । नारीत्व की अभिव्यजक पाचाली और पुरुषत्व की अभिव्यजक गरुपा । इनके अनिरिक्त इन दोनों के समन्वय से समृद्ध व्यक्तित्व की माध्यम वैदर्भी । वम, इस प्रकार वामन ने पाचाली की उद्भावना द्वारा वासन मे एक अभाव ग्रथवा असगति का ही निराकरण किया है, अनावश्यक नवीनता का प्रदर्शन नहीं ।

मम्मट के आधार पर भी यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो भी रीतियो या वृत्तियो की सख्या तीन ही ठीक बैठती है—माधुर्यगुणविशिष्ट उपनागरिका और ओजमयी पुरुषा क्रमशः द्रवणशील, मधुरस्वभाव और दीप्तिमय ओजस्वी स्वभाव की प्रतीक है । मधुर और ओजस्वी के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार का भी स्वभाव होता है जिसमे न माधुर्य का अतिरेक होता है और न ओज का, वरन् इन दोनों का सतुलन रहता है । इसको सामान्य (नार्मल) या स्वस्थप्रसन्न (विशद) स्वभाव कह सकते हैं । मानवस्वभाव का यह भेद भी उतना ही स्पष्ट है जितने कि मधुर और ओजस्वी । अतएव इसकी अभिव्यजक कोमल रीति या वृत्ति का भी अस्तित्व मानना उचित है ।

५. वक्रोक्ति संप्रदाय

हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों ने यद्यपि वक्रोक्ति संप्रदाय के सबंध में कुछ नहीं लिखा पर, जैसा हम आगे यथास्थान निर्दिष्ट करेंगे, रीतिकालीन कवियों की रचनाओं में कुतकसमत वक्रता के अनेक निदर्शन उपलब्ध हो जाते हैं, तथा घनानंद के कवित्तो में वक्रोक्ति के सिद्धांत पक्ष पर भी अनायास और अनजाने ही प्रकाश पड़ गया है । अतः रीतिकालीन रीतिग्रंथों के परिचय से पूर्व इस संप्रदाय की परिचित कराना भी आवश्यक है । वक्रोक्ति संप्रदाय के विषय में हिंदी के रीतिआचार्यों के मौन का प्रधान कारण यही है कि संप्रदाय के प्रवर्तक कुतक के उपरांत इस संप्रदाय का प्रचार नहीं हुआ क्योंकि ध्वनि जैसे भावपक्षप्रधान काव्याग की तुलना में वक्रोक्ति जैसा कलापक्षप्रधान काव्याग संस्कृत के भी आचार्यों को स्वीकार्य नहीं हुआ । परिणामतः मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ जैसे परवर्ती आचार्यों के ग्रंथों की तुलना में कुतकप्रणीत 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रंथ धीरे धीरे विस्मृत होते होते लुप्तप्राय हो गया । इतना सब होते हुए भी 'वक्रोक्ति संप्रदाय' अपने दृष्टिकोण में नितांत मौलिक तथा अत्यंत सबल और भाषिक तत्वों से परिपूर्ण है । इस दृष्टि से भी काव्यशास्त्रीय प्रस्तावना में इस संप्रदाय की परिचित आवश्यक है ।

वक्रोक्ति संप्रदाय का प्रवर्तन आचार्य कुतक द्वारा दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ, पर इस काव्याग के बीज उनसे पूर्ववर्ती अनेक काव्यों तथा काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में यत्नतः बिखरे हुए मिल जाते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्य सिद्धांतों की भांति वक्रोक्ति सिद्धांत का आविर्भाव भी आकस्मिक घटना न होकर एक विचारपरंपरा का ही परिणाम था । इस पूर्वपरंपरा की गति देनेवाले कवियों में बाणभट्ट का नाम उल्लेखनीय है एव आचार्यों में भामह और दंडी के अतिरिक्त वामन तथा आनंदवर्धन का । इन लेखकों के वक्रोक्ति संबंधी उल्लेखों के दिग्दर्शन से पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि 'वक्रोक्ति' नामक काव्याग एक अलंकार के रूप में अद्यावधि प्रचलित है, पर यह इसका सकुचित अर्थ है । इस अर्थ में इसका प्रयोग रुद्रट (११वीं शती) के समय से उपलब्ध होना प्रारंभ हो जाता है । कुतक ने इस काव्याग का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया, जिसके बीज उपर्युक्त लेखकों की रचनाओं में सनिहित हैं ।

बाणभट्ट ने कादंबरी में एक स्थान पर शूद्रक का विशेषण दिया है

वक्रोक्तिनिपुणं च आख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरंग ।

यहाँ वक्रोक्ति शब्द से वाराणभट्ट का अभिप्राय इसके सीमित अर्थ 'शब्दालंकार रूप' से न होकर व्यापक अर्थ से है, और शायद इसी अर्थ को लक्ष्य में रखकर उन्होंने अपने दूसरे ग्रंथ 'हर्षचरित' में काव्य की इस प्रौढ शैली के विभिन्न अवयवों की गणना की है :

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः ।

विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥

वाराणभट्ट का उपर्युक्त 'वक्रोक्ति' शब्द अपने व्यापक अर्थ का ही द्योतक होगा, इसकी पुष्टि उनके दोनों ग्रंथों की शैली से हो जाती है। यही बात उनके पाँच छह सौ वर्ष उपरांत कविराज ने उनकी स्तुति में भी कही थी

सुबन्धुबाराणभट्टश्च कविराज इति त्रयः ।

वक्रोक्तिमार्गानिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा ॥—राघवपाण्डवीयम् ।

भामह ने अपने काव्यालंकार में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग जहाँ भी किया है वहाँ उन्हें इसका व्यापक अर्थ ही अभीष्ट है। उदाहरणार्थ

१—वाराणिका अलंकार अर्थात् काव्यगत चमत्कार वही अभीष्ट है, जिसमें वक्र अभिधेय (अर्थ) का और वक्र शब्द का कथन हो^१ ।

२—वाराणिका का वक्र अर्थ और वक्र शब्दकथन, ये दोनों 'अलंकार' के लिये, अर्थात् काव्यालंकार के उत्पादन में, समर्थ हैं^२ ।

३—वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति दोनों एक ही हैं। अतिशयोक्ति कहते हैं लोक के सामान्य कथन से अतिशय वचन को अथवा जिस (उक्ति) में साधारण गुणों के स्थान पर अतिशय गुणों का योग हो^३ ।

४—हर प्रकार का काव्यचमत्कार वक्रोक्ति के ही कारण होता है। इसी के द्वारा काव्यार्थ का विभावन होता है। कवि को इसी में प्रयत्न करना चाहिए। वस्तुतः इसके बिना कोई अलंकार (काव्यचमत्कार) है ही नहीं^४ ।

५—वक्रोक्तिविहीन तथाकथित अलंकारों को अलंकार नहीं मानना चाहिए। यही कारण है कि हेतु, सूक्ष्म और श्लेष अलंकार नहीं हैं, क्योंकि ये वक्रोक्ति का कथन नहीं करते, समुदायमात्र अर्थात् वार्तासमूह का अभिधान करते हैं। उदाहरणार्थ—'सूर्य अस्त हो गया, चंद्रमा चमक रहा है, पक्षी अपने नीडों को जा रहे हैं।' क्या यह कोई काव्य है, यह तो वार्ता मात्र है^५ ।

१ वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलकृति ॥—का० अ० १।६

२. वाचा वक्रार्थ शब्दोक्तिरलंकारायकल्पते ।—का० अ० ५।६

३ (क) निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्त गोचरम् ।

मन्यतेऽतिशयोक्ति तामलंकारतया यथा ॥

(ख) इत्येवमादिरुदिता गुणातिशय योगत ।

सर्वेवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् ता यथागमम् ॥

(ग) सेषा सर्वेव वक्रोक्ति ।

४. सेषा सर्वेव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।

यत्लोऽस्या कविना कार्यं कोऽलंकारोऽनया विना ॥

५. हेतु सूक्ष्मोऽथ लेशश्च नालंकार तया मत ।

समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानत ॥

गतोऽस्तमर्क भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिण ।

इत्येवमादि किं काव्यम् वात्तमिना प्रचक्षते ॥

६—न केवल मुक्तक काव्यो मे अपितु प्रबध काव्यो मे भी वक्रोक्ति का ही चमत्कार है^१ ।

उपर्युक्त उद्धरणों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भामह को वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ अभीष्ट है । वे इसे अतिशयोक्ति का पर्याय मानते हैं । हर प्रकार की काव्यचमत्कारप्राप्ति के लिये इसका समावेश अनिवार्य है । इसके बिना रचना यथार्थ काव्य न होकर कथनसमुदाय मात्र अथवा वार्ता मात्र है । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भामह ने वक्रोक्ति का किसी अलंकारविशेष के रूप में निरूपण नहीं किया ।

भामह के उपरांत दंडी ने भी 'वक्रोक्ति' को अलंकारविशेष न मानकर इसका व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है । इस सबध में ये भामह से भी एक पग और आगे बढ़ गए । वक्रोक्ति और इससे सबद्ध उनकी शास्त्रीय चर्चा का सार इस प्रकार है । समस्त वाङ्मय के दो भाग हैं—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति । वक्रोक्ति से इनका अभिप्राय है काव्य के चमत्कारोत्पादक तत्व अर्थात् स्वभावोक्ति (जाति) को छोड़कर उपमा आदि सभी अलंकार । स्वभावोक्ति भी एक प्रकार का अलंकार है जिसके द्वारा पदार्थों का साक्षात् स्वरूपवर्णन किया जाता है पर यह वक्रोक्तिप्राणित अलंकारों की अपेक्षा कम चमत्कारोत्पादक है । वस्तुतः इसका प्रयोग शास्त्रो—पदार्थस्वरूपनिरूपण प्रधान शास्त्रो—के लिये अत्यंत उपयोगी है, उनमें तो इसका साम्राज्य ही है । काव्य में भी इसका प्रयोग कर लिया जाता है । वक्रोक्तियों अर्थात् उपमादि अलंकारों में (न कि स्वभावोक्ति अलंकार में) श्लेष का प्रयोग शोभावर्धक होता है^२ ।

इस सबध में अतिशयोक्ति के महत्व की चर्चा करना भी अभीष्ट है । दंडी ने इसे सब अलंकारों का परायण अर्थात् परम आश्रय माना है ।^३ दूसरे शब्दों में, सब वक्रोक्तियों (अलंकारों) में अतिशयता अर्थात् लोकसीमातिक्रान्ति का तत्व विद्यमान रहता है, पर अपने अपने वैचित्र्य के कारण अन्य अलंकार अपने अपने अभिधान विशेष से अभिहित किए जाते हैं । जहाँ अन्य कोई वैचित्र्य नहीं होता वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है^४ । निष्कर्ष यह कि दंडी के अनुसार पदार्थों का साक्षात् वर्णन करना स्वभावोक्ति कहा जाता है । यह वर्णनप्रकार शास्त्रीय निरूपण का माध्यम है । काव्य में भी इसका प्रयोग कर लिया जाता है । पर काव्य में चमत्कारोत्पादक तत्व स्वभावोक्ति से भिन्न अन्य अलंकार हैं जो वक्रोक्ति कहाते हैं, क्योंकि इनके द्वारा पदार्थवर्णन साक्षात् न करके वक्रता से किया जाता है । इन वक्रोक्तियों में एक समानता यह है कि इनमें अतिशयता का तत्व किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहता है । अतिशयोक्ति वक्रोक्ति का एक प्रभाग है अवश्य, पर यह इसके अन्य प्रभागों की अपेक्षा सर्वोपरि है, क्योंकि इसका तत्व उन सबमें विद्यमान रहता है । इसके विपरीत अन्य प्रभागों का तत्व अतिशयोक्ति में विद्यमान नहीं रहता ।

१. युक्त वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ।

२. (क) भिन्न द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ।

(ख) नानावस्थ पदार्थानां रूप साक्षाद् विवृण्वती ।

स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंक्रुतिर्यथा ॥

(ग) शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्य काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ।

(घ) श्लेष सर्वासु पुष्पाति प्रायो वक्रोक्तिषुश्रियम् ।

३. अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।

वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ।

४. काव्यादर्श, २।२२०, प्रभा टीका, पृ० २२५ ।

इधर सभी अलंकार—अतिशयोक्ति भी तथा अन्य भी—वक्रोक्ति कहाते हैं क्योंकि इनके द्वारा पदार्थवर्णन असाक्षात् अर्थात् वक्रता से किया जाता है ।

दडी के उपरांत वामन ने सर्वप्रथम वक्रोक्ति का एक अर्थालंकार के रूप में निरूपण किया—सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति । अर्थात् सादृश्यनिबधना लक्षणा वक्रोक्ति कहाती है । पर आगे चलकर इस स्वरूप का किसी ने उल्लेख नहीं किया । निस्संदेह लक्षणा का स्वरूप वक्रोक्ति के साथ किसी न किसी रूप में सबद्ध अवश्य है, पर केवल सादृश्यनिबद्ध लक्षणा को ही इससे सबद्ध करने में वामन का तात्पर्य क्या था, यह कहना कठिन है । इनके उपरांत रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार के रूप में निरूपित किया और इसके प्रचलित दो रूपों का उल्लेख किया—काकु वक्रोक्ति और सभग वक्रोक्ति ।

रुद्रट के उपरांत आनंदवर्धन ने अपने ग्रंथ ध्वन्यालोक में वक्रोक्ति का उल्लेख दो स्थलों पर किया है । एक स्थल पर इन्होंने इसे अलंकार रूप में स्वीकृत किया है^१ । दूसरे स्थल पर अतिशयोक्ति की सर्वालंकाररूपता के सबद्ध में इन्होंने भामह का पूर्वांकित कथन उद्धृत किया है 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति' । इन प्रसंगों से यह निष्कर्ष निकालना कदाचित् अनुचित न होगा कि आनंदवर्धन को अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को एक दूसरे का पर्याय मानना अभीष्ट होगा, तथा इन्हें इनका व्यापक अर्थ भी स्वीकृत होगा ।

यहाँ यह निर्देश कर देना आवश्यक है कि वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रवर्तक कुतक ने ध्वनि संप्रदाय को अपने संप्रदाय में अंतर्भूत करने के लिये ही इतना महान् एव मौलिक प्रयास किया था और इसी कारण उन्होंने ध्वनि के अवयवों के अनुरूप वक्रोक्ति के विभिन्न अवयवों—सुप्, तिङ्, वचन, सबद्ध, कृदन्त, तद्धित, समास आदि—का भी निर्माण किया तथा इनके उदाहरणों के लिये ध्वन्यालोक से भी सहायता ली । इस दृष्टि से यदि दोनों ग्रंथों में परस्पर साम्य परिलक्षित होता है तो इसका दायित्व कुतक पर ही है, आनंदवर्धन पर किसी रूप में नहीं है ।

आनंदवर्धन के पश्चात् भोज ने वक्रोक्ति का उल्लेख अपने दोनों ग्रंथों—सरस्वती-कंठाभरण और शृंगारप्रकाश—में विभिन्न स्थलों पर किया है । अन्य प्रसंगों के समान इस प्रसंग में भी उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति लक्षित होती है । उनके उल्लेखों का निष्कर्ष इस प्रकार है :

(क) शास्त्र और लोक में तो अवक् वचन का प्रयोग होता है और काव्य में वक् वचन का—

यदवक् वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत् ।

वक् यदर्थवादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ॥ —शृंगारप्रकाश ।

भोज के इस कथन में दडी का प्रभाव स्पष्ट झलकता है । वे जिसे स्वभावोक्ति कहते हैं, उसे इन्होंने 'अवक् वचन' अथवा 'वचन' कहा है, वे जिसे वक्रोक्ति कहते हैं, उसे इन्होंने 'वक् वचन' अथवा 'काव्य' कहा है ।

(ख) सब अलंकार जातियों 'वक्रोक्ति' नाम से कथनीय है । भामह के कथनानुसार वक्रता ही काव्य की परम शोभा है—

सर्वालंकारजातयो वक्रोक्त्यभिधानवाच्या भवन्ति ।

तदुक्तम्-वक्रत्वमेव काव्यानां पराभूषेति भामहः ॥

१. न चाक्षिप्तोऽलंकारो यत्र पुन शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न शब्दशक्त्युद्भवानुरागानुरूपव्यंग्यध्वनिव्यवहार । तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालंकारव्यवहार एव ।

(ग) भोज ने अपने समय तक की एतत्सबधी मान्यताओं का वर्गीकरण करते हुए कहा कि समस्त वाङ्मय तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ।

इनमें से रसोक्ति वर्ग को छोड़कर शेष दोनों दंडिप्रस्तुत ही हैं । रसोक्ति से उनका तात्पर्य है—

विभावानुभावव्यभिचारि संयोगात्तुरसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति ।

भोज के समय तक अलंकारवाद अपनी महत्ता खो चुका था और उसका स्थान रसवाद ले चुका था, अतः इसे भी विशिष्ट स्थान देने के लिये भोज ने इन वर्गों में समिलित कर दिया । 'वक्रोक्ति' से उनका तात्पर्य है उपमादि अलंकार—

'तन्नोपमाद्यलंकारप्राधान्ये वक्रोक्तिः ।'

यह धारणा दंडिसमत ही है । गुणप्रधान रचना को उन्होंने स्वभावोक्ति वर्ग में रखा है—

सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वाभावोक्तिः ।

'गुण' से उनका अभिप्राय यदि पदार्थों के साक्षात् गुणनिर्देश से है तो भी यह परिभाषा दंडिसमत ही है, और यदि 'गुण' से वे वामनसमत दस गुणों अथवा आनंदवर्धनसमत तीन गुणों का तात्पर्य लेते हैं, तो निस्संदेह उनकी यह परिभाषा चित्य है ।

कुतक भोज के ही समकालीन माने जाते हैं । कुतक के उपरांत मम्मट तथा उनके परवर्ती सभी आचार्यों ने वक्रोक्ति को एक विशिष्ट अलंकार के रूप में ही ग्रहण किया, पर कुछ अंतर के साथ । मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इसे शब्दालंकार माना है और रुय्यक, विद्यानाथ तथा अप्पय्य दीक्षित ने अर्थालंकार । दंडी का काव्यादर्श पाठग्रन्थ होने के कारण अब भी उनकी यह धारणा विस्मृत नहीं हुई थी कि 'वक्रोक्ति' शब्द सामान्य रूप से 'अलंकार' शब्द का वाचक है, पर अब यह धारणा बदल गई थी और इसका ग्रहण अलंकारविशेष के रूप में होने लग गया था । रुय्यक के ये शब्द देखिए

वक्रोक्तिशब्दश्चालंकार सामान्यवचनोऽपि इह अलंकारविशेष संज्ञितः ।

—अलंकारसर्वस्व

(१) कुतकप्रस्तुत वक्रोक्ति संप्रदाय—कुतक के शब्दों में वक्रोक्ति का स्वरूप इस प्रकार है

'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभरिति रूच्यते ।

वक्रोक्ति, प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा ।

कीदृशी वैदग्ध्यभंगीभरितिः । वैदग्ध्यं विदग्धभाव ।

कविकर्मकौशलम्, तस्य भंगी विच्छित्तिः, तया भरितिः ।

विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते ।'

अर्थात् कविकर्मकौशलजन्य शोभा से युक्त अथवा उसपर आश्रित वर्णनशैली को वक्रोक्ति कहते हैं । इसे एक प्रकार की विचित्र अभिधा भी कह सकते हैं, क्योंकि यह प्रसिद्ध (मुख्य) अर्थ की अपेक्षा व्यतिरिक्त (अतिशय अथवा विशिष्ट) अर्थ से समन्वित होती है । कुतक ने वक्रोक्ति को एक प्रकार का अलंकार भी माना है, जिसके अलंकार्य है शब्द और अर्थ

उभावेतालंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ।

वक्रोक्तिरेक ...

निष्कर्ष यह कि कुतक की वक्रोक्ति कविकौशलजन्य चारुता पर आधृत है। इसे इन्होंने एक ओर 'विचित्रा अभिधा' कहकर ध्वनि संप्रदाय से संबद्ध करने का प्रयास किया है और दूसरी ओर 'अलंकार' मानकर अलंकार संप्रदाय से। इन दोनों प्रचलित संप्रदायों के समान इसे भी व्यापक रूप देने अथवा एक संप्रदाय के रूप में प्रचलित करने के उद्देश्य से इन्होंने इसके अनेक भेदोपभेदों का निर्माण किया और इस प्रकार समस्त प्रकार के काव्यसौंदर्य का—विशेषतः सभी ध्वनिभेदों के काव्यसौंदर्य का—इसी में अंतर्भाव करने का अद्भुत एवं मौलिक प्रयास किया।

वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेद हैं—वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबधवक्रता। इन प्रमुख भेदों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

१—वर्णविन्यासवक्रता—इसके तीन उपभेद हैं—एकवर्णावृत्ति, द्विवर्णावृत्ति और अनेकवर्णावृत्ति। इसे पूर्वाचार्यों ने 'अनुप्रास' नाम से अभिहित किया है। स्वयं कुतक ने इसे स्त्रीकार किया है। एतदेव वर्णविन्यासवक्रत्व चिदतनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्। इसी भेद के अंतर्गत उपनागरिका, परुषा और कोमला नामक वृत्तियों के अतिरिक्त यमक की चर्चा भी हुई है।

२—पदपूर्वार्धवक्रता—इसके ८ उपभेद हैं—रूढिवैचित्र्यवक्रता, पर्यायवक्रता, उपचारवक्रता, विशेषणवक्रता, सवृत्तिवक्रता, वृत्तिवक्रता, लिंगवैचित्र्यवक्रता और क्रियावैचित्र्यवक्रता। इनमें से प्रथम उपभेद आनंदवर्धन की अर्थातिरसकर्मित वाच्यध्वनि है, दूसरा उपभेद परिकर अलंकार है। उपचारवक्रता लक्षणा शब्दशक्ति का एक रूप है। मवृत्ति का अर्थ है गोपन। वैचित्र्यकथन की इच्छा से वस्तुगोपन का नाम सवृत्तिवक्रता है। वृत्ति से कुतक का तात्पर्य है—समास, तद्धित, सुबद्धातु आदि। इनसे संबद्ध वृत्तिवक्रता कहाती है। अन्य उपभेदों का स्वरूप इन्हीं के नामों से संबधित है।

३—पदपरार्धवक्रता—इससे कुतक का तात्पर्य प्रत्ययवक्रत से है। इसके छह मुख्य भेद हैं—कालवैचित्र्यवक्रता, कारकवक्रता, वचनवक्रता, पुरुषवक्रता, उपग्रह (धातु) वक्रता और प्रत्ययवक्रता।

४—वाक्यवक्रता अथवा वस्तुवक्रता—किसी वस्तु का वैचित्र्यपूर्ण वर्णन वाक्यवक्रता (वाच्यवक्रता) अथवा वस्तुवक्रता कहाता है। इसके दो भेद हैं—सहजा और आहार्या। सहजा से कुतक का तात्पर्य है स्वभावोक्ति, जिसे उन्होंने अलंकार न मानकर अलंकार्य माना है। इसके द्वारा वस्तुचित्रण यथावत् रूप में किया जाता है। आहार्या से उनका तात्पर्य उपमा आदि अर्थालंकारों से है।

५—प्रकरणवक्रता—प्रकरण से कुतक का तात्पर्य है प्रबध का एक देश, अर्थात् प्रबधगत कथा का एक प्रसंग। इस वक्रता के कतिपय उपभेद हैं जिनका हिंदी रूपांतर इस प्रकार है—भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना, उत्पाद्य लावण्य, प्रधान कार्य से संबद्ध प्रकरणों का उपकार्यउपकारकभाव, विशिष्ट प्रकरण की अतिरजना, जलक्रीडा, उत्सव आदि रोचक प्रसंगों का विशेष विस्तार से वर्णन, प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिये सुंदर अप्रधान प्रसंग की उद्भावना, गर्भांक, प्रकरणों का पूर्वपर अन्वितिक्रम।

६—प्रबधवक्रता—इस भेद की परिधि में समग्र प्रबधकाव्य—महाकाव्य, नाटक आदि—का वास्तुकौशल अंतर्निहित है। इसके छह भेद हैं जिनका हिंदी रूपांतर इस प्रकार है—मूलरस परिवर्तन, नायक के चरित्र का उत्कर्ष करनेवाली चरम घटना पर कथा का उपसंहार, कथा के मध्य में ही किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि, नायक

द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति, प्रधान कथा का द्योतक नाम, एक ही कथा पर आश्रित प्रबंधों का वैचित्त्य ।

उपर्युक्त भेदोपभेदों पर एक दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रबंध-वक्रता और प्रकरणवक्रता के भेदोपभेदों के अंतर्गत यद्यपि कतिपय नवीन काव्यतत्त्वों का समावेश किया गया है, फिर भी अपने मूलरूप में ये दोनों काव्यांग, प्रबंध और प्रकरण, कोई नूतन काव्यांग नहीं हैं । भरत, भामह, दंडी, रुद्रट, आनंदवर्धन आदि सभी ने इनका शास्त्रीय निरूपण किया है । इन्हें विस्तृत और कुछ मात्रा तक नवीन रूप देने का श्रेय कुतक को है । शेष रही चार वक्रताएँ—वर्णविन्यास, पदपूर्वार्ध, पदपरार्ध और वाक्य (वस्तु) की वक्रता । ये सभी अलंकार, रस अथवा ध्वनि आदि पूर्ववर्ती काव्यांगों में से किसी न किसी के साथ किसी न किसी रूप में सबद्ध की जा सकती हैं । अलंकार से संबंधित उनके वक्रोक्तिभेद तो बाह्यपरक हैं ही, जहाँ उन्होंने ध्वनिभेदों को वक्रोक्ति के अंतर्गत समाविष्ट करने का प्रयास किया है, वहाँ भी ये भेद बाह्यपरक ही हैं । अपने दृष्टिकोण से कुतक भले ही सफल रहे हों पर इन प्रसंगों में उनकी वक्रोक्ति ध्वनि के समान भावपक्ष-प्रधान न रहकर कलापक्ष प्रधान मात्र रह गई है । एक उदाहरण लीजिए । आनंदवर्धन ने—‘काम सतु दृढ कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे । वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ।’ इस श्लोकार्ध में ‘राम’ शब्द से सकलदुःखसहिष्णु रूप व्यंग्यार्थ लेते हुए इसे अर्थांतरसंक्रमित वाच्यध्वनि नाम दिया है । इधर इस श्लोकार्ध में इसी अर्थ के कारण कुतक को भी काव्यवक्रता (काव्यचमत्कार) अभीष्ट है, पर वे इसे ‘पदपूर्वार्धवक्रता’ के नाम से अभिहित करते हैं, क्योंकि यह वक्रता (चमत्कार) ‘राम’ पद के पूर्वार्ध अर्थात् प्रातिपदिक पर आश्रित है । इस वक्रोक्तिभेद का उपभेद है रूढिवैचित्त्यवक्रता । कुतक ने इसी के उदाहरण स्वरूप राम का उक्त कथन उद्धृत किया है, क्योंकि ‘राम’ प्रातिपदिक का रूढार्थ है दशरथपुत्र, पर यहाँ उसका भिन्नार्थ वक्रतोत्पादक है । हमने देखा कि काव्यसौंदर्य एक है, पर उसके अभिधान में दोनों आचार्यों के दृष्टिकोण भिन्न भिन्न हैं । आनंदवर्धन उसे अर्थपरक नाम दे रहे हैं और कुतक शब्दपरक । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ध्वनि के सुप्, तिङ, वचन, काल आदि से सबद्ध उपभेदों का मूलाधार भी व्यंग्यार्थ है न कि कुतक के समान व्याकरण सबंधी रूपरचना मात्र । व्यंग्यार्थ निस्संदेह आंतरिक पक्ष है और रूपरचना बाह्य पक्ष ।

वक्रोक्ति सिद्धांत की स्थापना से पूर्व काव्यशास्त्र में अलंकार सिद्धांत, रीति सिद्धांत और ध्वनि सिद्धांत प्रचलित रहे । कुतक ने अपने ग्रंथ में इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए अन्य सिद्धांतों के सबंध में भी कभी प्रत्यक्ष और कभी अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश डाला है । वक्रोक्ति सिद्धांत और अलंकार सिद्धांत के विषय में कुतक के मतव्य का निष्कर्ष यह है .

(१) शब्द और अर्थ, ये दोनों अलंकार्य हैं और वक्रोक्ति इनका अलंकार है—

उभावेतावलंकार्यो तयोः पुनरलंकृतिः ।

वक्रोक्तिरेव ॥

यह उल्लेखनीय है कि यहाँ वक्रोक्ति से तात्पर्य काव्य के उपमादि सभी प्रकार के शोभादायक तत्वों से है ।

(२) यह एक तत्व (यथार्थ बात) है कि सालंकार (शब्दार्थ) की ही काव्यता होती है (न कि अलंकारसहित शब्दार्थ की)—

तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ।

दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि काव्य में अलंकार्य और अलंकार ये कोई अलग तत्व नहीं है ।

(३) फिर भी व्यवहार रूप में अलंकार्य और अलंकार का पृथक् विवेचन किया जाता है ।

(२) वक्रोक्ति और रस—यद्यपि कुतक ने उच्च स्वर से 'सालकारस्य काव्यता' की घोषणा की है, फिर भी उनकी सहृदयता रस का अनादर नहीं कर सकी । सिद्धांत रूप से वक्रोक्ति और रस में वैसा मौलिक साम्य तो नहीं है जैसा ध्वनि और वक्रोक्ति में है, किंतु सब मिलाकर वक्रोक्तिचक्र में रस का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । वास्तव में यह कहना असंगत न होगा कि रस के प्रति वक्रोक्ति और ध्वनि दोनों संप्रदायों का दृष्टि-कोण बहुत कुछ समान है ।

कुतक ने अपने काव्यप्रयोजन प्रसंग तथा प्रबध्वक्रता प्रसंग के अंतर्गत रसयुक्तता का स्पष्ट उल्लेख किया है ।

चतुर्वर्गफलस्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।

काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥

अर्थात् काव्यामृत का रस उसको समझनेवालों (सहृदयों) के अंतःकरण में चतुर्वर्गफल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है ।

निरन्तरसोद्गारगर्भसंदर्भनिर्भराः ।

गिरःकवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥

अर्थात् निरन्तर रस को प्रवाहित करनेवाले सदर्थों से परिपूर्ण कवियों की वाणी कथामात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती ।

कुतक ने ध्वनि सिद्धांत के समान वक्रोक्ति सिद्धांत में भी रस को वाच्य नहीं माना, प्रत्युत प्रकारांतर से इसे व्यंग्य माना है । उन्होंने उद्भट के कथन 'स्वशब्दस्थायिसचारि-विभावाभिनयास्पदम्' का उपहास करते हुए लिखा है कि 'स्वशब्दास्पदत्व रसानामपरिगत-पूर्वमस्माकम्' अर्थात् रसों की स्वशब्दास्पदता अथवा रसों की स्वशब्दवाच्यता तो हमने आज तक सुनी नहीं है । कुतक के इस वाक्य का यह तात्पर्य लगा लेना अनुचित न होगा कि उन्हें रस की वाच्यता अभीष्ट नहीं है, अपितु व्यंग्यता अभीष्ट है ।

आगे चलकर रसवत् अलंकार का निषेध करते हुए उन्होंने लिखा है कि रसवत् को अलंकार मानना युक्तिसंगत नहीं है । इसके दो कारण हैं । एक तो यह कि इसमें अपने स्वरूप अर्थात् रस के अतिरिक्त किसी अन्य का अलंकार्य रूप में प्रतिभासन नहीं होता, दूसरा कारण यह है कि 'रसवत्' शब्द के अर्थ की संगति भी नहीं बैठती । जो रचना रसवत् अर्थात् रसयुक्त हो, अर्थात् जहाँ रस ही अलंकार्य रूप में हो वहाँ अलंकारवादियों के समान रस को अलंकार रूप में मानना संगत नहीं है

अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।

स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासंगतेरपि ॥

इस प्रकार परंपरागत रसवत् अलंकार का खंडन करते हुए एव 'रसवत्' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए प्रकारांतर से वे रस नामक काव्यतत्त्व की पृथक् स्वीकृति कर जाते हैं ।

रसेन वर्तते तुल्यं रसतत्त्वविधा नतः ।

योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्वयनिर्मितः ॥

अर्थात् रसतत्त्व के विधान के कारण सहृदयो को आल्लादकारक होने से जो कोई अलंकार भी रस के समान हो जाता है, वह अलंकार रसवत् कहा जा सकता है। इसी अलंकार को कुतक ने 'सर्वालंकारजीवित' के रूप में स्वीकार करते हुए प्रकारांतर से रस का स्तवन किया है

यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम् ।

(३) रस और वक्रोक्ति का संबंध—अब प्रश्न यह रह जाता है कि एक ओर जब अलंकाररूपा वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित रूप है और दूसरी ओर रस भी काव्य का परमतत्त्व है, तो इन दोनों का समजन कैसे किया जाय ? अर्थात् वक्रोक्ति और रस का वास्तविक संबंध क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं है। कुतक की मूल धारणा का सूत्र पकड़ लेने से इस शका का समाधान हो जाता है। कुतक के मत से काव्य का प्राण तो निश्चय ही वक्रोक्ति है और वक्रोक्ति का अर्थ, जैसा हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं, उक्तिचमत्कार मात्र न होकर कविकौशल अथवा काव्यकला ही है। कुतक के अनुसार काव्य वक्रोक्ति अर्थात् कला है। इस कला की रचना के लिये कवि शब्दार्थ की अनेक विभूतियों का उपयोग करता है। अर्थ की विभूतियों में सबसे अधिक मूल्यवान् है रस। अतएव रस वक्रोक्तिरूपिणी काव्यकला का परमतत्त्व है। काव्य की प्राणचेतना है वक्रता और वक्रता की समृद्धि का प्रमुख आधार है रससपदा। इस प्रकार वक्रोक्ति के साथ रस का संबंध लगभग वही है जो ध्वनि के साथ है।

रस और ध्वनि का संबंध दो प्रकार का है—एक तो रस अनिवार्यतः ध्वनि रूप ही हो सकता है (कथन रूप नहीं), दूसरे रस ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप है। इन दोनों संबंधों के विश्लेषण से एक तीसरा यह तथ्य भी सामने आता है कि ध्वनि और रस में, ध्वनि सिद्धांत के अनुसार, पलड़ा ध्वनि का ही भारी है। रस की स्थिति ध्वनि के बिना संभव नहीं है, परंतु ध्वनि की स्थिति रसविहीन हो सकती है—वस्तुध्वनि, अलंकार-ध्वनि भी काव्य के उत्कृष्ट रूप है। अतः काव्य में अनिवार्यता ध्वनि की ही है, रस की नहीं। रस के बिना काव्यत्व संभव है, ध्वनि के बिना नहीं। इसी लिये आनंदवर्धन के मत से ध्वनि काव्य की आत्मा है, रस परम श्रेष्ठ तत्त्व अवश्य है, किंतु आत्मा नहीं है। कुछ ऐसी ही स्थिति वक्रोक्ति और रस के परस्पर संबंध की भी है। (१) रस वक्रोक्ति की परम विभूति है। (२) रस की काव्यगत अभिव्यजना वक्रताविहीन नहीं हो सकती—रसोत्कर्ष की प्रेरणा से अभिव्यक्ति का उत्कर्ष अनिवार्य है और अभिव्यक्ति का यही उत्कर्ष वक्रता है। अर्थात् काव्य में रस की स्थिति वक्रताविरहित संभव नहीं है—काव्य से बाहर हो सकती है। किंतु वह भावसपदा काव्यवस्तु मात्र है, काव्य नहीं है। वक्रता रस के बिना भी अनेक रूपों में विद्यमान रह सकती है, भले ही वे रूप उतने उत्कृष्ट न हो जितना रसमय रूप। कम से कम कुतक का यही मत है। रस के बिना काव्य जीवित रह सकता है, वक्रोक्ति के बिना नहीं। इसीलिये वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है, रस काव्य की अमूल्य संपत्ति होते हुए भी जीवित नहीं है। संक्षेप में, रस के साथ वक्रोक्ति का जो संबंध है वह ध्वनिरस संबंध से अधिक भिन्न नहीं है। वास्तव में रस संप्रदाय द्वारा स्थापित रागतत्व के एकाधिपत्य के विरुद्ध ध्वनि और वक्रोक्ति दोनों ने अपने अपने ढंग से कल्पना की महत्वप्रतिष्ठा की है। रागतत्व का सौंदर्य तो दोनों को स्वीकार्य है किंतु अपने सहज रूप में नहीं, कल्पनारजित रूप में। इस कल्पनारजन की प्रक्रिया भिन्न है ध्वनि सिद्धांत के अतर्गत कल्पना आत्मनिष्ठ है और वक्रोक्ति में वस्तुनिष्ठ। रस के साथ इन दोनों के संबंध में भी बस इतना ही अंतर पड़ जाता है। रस और ध्वनि दोनों आत्मनिष्ठ हैं अतएव उनका संबंध अधिक अंतरंग है वक्रोक्ति मूलतः वस्तुनिष्ठ है, अतः रस के साथ उसका संबंध आधार आधेय का ही है।

(४) अलंकार सिद्धांत और वक्रोक्ति सिद्धांत—अधिकांश विद्वानों ने वक्रोक्ति संप्रदाय को अलंकार संप्रदाय का रूपांतर अथवा उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न माना है। यह मत मूलतः मान्य होते हुए भी अतिव्याप्त अवश्य है क्योंकि वास्तव में इन दोनों संप्रदायों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य भी कम नहीं है।

(अ) साम्य—(१) कुतक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण माना है और साथ ही अलंकार भी

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ।

वक्रोक्तिरेव ...

॥

इस दृष्टि से वक्रोक्ति सिद्धांत भी नामभेद से अलंकार सिद्धांत ही ठहरता है। कुतक से 'अलंकारस्य काव्यता' कहकर भी अलंकार की अनिवार्यता स्वीकार कर ली है।

(२) इन सिद्धांतों में दूसरी मौलिक समानता यह है कि दोनों के दृष्टिकोण वस्तुपरक है, अर्थात् दोनों काव्यसौंदर्य को मूलतः वस्तुगत मानते हैं। दोनों सिद्धांतों में काव्य को कविकौशल पर ही आश्रित माना गया है। दोनों की वस्तुपरकता में मात्रा का अंतर अवश्य हो सकता है परंतु काव्य को अनुभूति न मानकर कौशल मानना निश्चित रूप से भावपरक दृष्टिकोण का निषेध और वस्तुपरक दृष्टिकोण की स्वीकृति है।

(३) दोनों सिद्धांतों के अनुसार वर्णसौंदर्य से लेकर प्रबंधसौंदर्य तक समस्त काव्यरूप चमत्कारपूर्ण है। एक में उसे अलंकार कहा गया है, दूसरे में वक्रता, दोनों में शब्द का भेद है, अर्थ का नहीं, क्योंकि दोनों में उक्तिवैदध्य का ही प्राधान्य है।

(४) दोनों में रस को उक्ति का आश्रित माना गया है।

(आ) वैषम्य—(१) अलंकार सिद्धांत की अपेक्षा वक्रोक्ति सिद्धांत में व्यक्तित्व का कहीं अधिक समावेश है। अलंकार संप्रदाय में जहाँ शब्द और अर्थ के चमत्कार का निर्व्यक्तिक विधान है, वहाँ वक्रोक्ति में कविस्वभाव को मूर्धन्य स्थान दिया गया है।

(२) अलंकार सिद्धांत की अपेक्षा वक्रोक्ति सिद्धांत रस को अत्यधिक महत्त्व देता है। रसवत् को अलंकार से अलंकार्य के पद पर प्रतिष्ठित कर कुतक ने निश्चय ही रस के प्रति अधिक आदर व्यक्त किया है। वक्रोक्ति सिद्धांत में प्रबंधवक्रता को वक्रोक्ति का सबसे प्रौढ़ रूप माना गया है और प्रबंध वक्रता में रस का गौरव सर्वाधिक है।

(३) अलंकार सिद्धांत में स्वभाववर्णन को प्रायः हेय माना गया है। भामह ने तो वार्ता मात्र कहकर स्पष्ट ही उसे अकाव्य घोषित कर दिया है, दंडी ने भी आद्य अलंकार मानकर उसको कोई विशेष आदर नहीं दिया। क्योंकि उन्होंने शास्त्र में ही उसका साम्राज्य माना है—काव्य के लिये वह केवल वाछनीय है। इसके विपरीत वक्रोक्ति सिद्धांत में स्वभावसौंदर्य का वर्णन आहार्य की अपेक्षा अधिक काम्य है : अलंकार की सार्थकता स्वभावसौंदर्य को प्रकाशित करने में ही है, अपनी विचित्रता दिखाने में नहीं, स्वभावसौंदर्य को आच्छादित करनेवाला अलंकार त्याज्य है।

(४) वक्रोक्ति सिद्धांत में काव्य के अंतरंग का विवेचन अधिक है, अलंकार सिद्धांत बहिरंग से ही उलझकर रह जाता है अर्थात् वक्रता द्वारा अभिप्रेत चमत्कार अलंकार की अपेक्षा अधिक अंतरंग है।

इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धांत अलंकार सिद्धांत से कहीं अधिक उदार, सूक्ष्म तथा पूर्ण है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में ये दोनों देहवादी सिद्धांत माने गए हैं क्योंकि इनमें से एक में अगसस्थावत् रीति को और दूसरे में अलंकृतिरूप वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवनसर्वस्व

माना गया है। इसमें सदेह नहीं कि इन दोनों सिद्धांतों का आधारभूत दृष्टिकोण वस्तु-परक है किंतु दोनों की वस्तुपरकता में मात्राभेद है। रीति सिद्धांत में जहाँ रचनानैपुण्य मात्र को ही काव्यमर्बस्व मानकर व्यक्तित्व की लगभग उपेक्षा कर दी गई है, वहाँ वक्रोक्ति में स्वभाव को मूर्धन्य स्थान दिया गया है। व्यक्तित्व के इसी मात्राभेद के अनुपात से रस तथा ध्वनि के प्रति दोनों के दृष्टिकोण में भेद है। रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति सिद्धांत की रस और ध्वनि दोनों के प्रति अधिक निष्ठा है। रीति सिद्धांत के अंतर्गत रस को बीस गुणों में से केवल एक गुण अर्थकांति का अग्र मानकर सर्वथा अमुख्य स्थान दिया गया है, किंतु वक्रोक्ति सिद्धांत में प्रबधवक्रता, वस्तुवक्रता आदि प्रमुख भेदों का प्राणतत्त्व मानकर रस को निश्चय ही अत्यंत महत्व प्रदान किया गया है। वास्तव में यह स्वाभाविक भी था क्योंकि वक्रोक्ति सिद्धांत की स्थापना तक ध्वनि अथवा रसध्वनि सिद्धांत का व्यापक प्रचार हो चुका था और कुतक के लिये उसके प्रभाव के मुक्त रहना संभव नहीं था। इस प्रकार रस और ध्वनि के साथ वक्रोक्ति का रीति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक घनिष्ठ संबंध है। फिर भी, दोनों में मूल साम्य यह है कि दोनों काव्य को कौशल या नैपुण्य ही मानते हैं, सृजन नहीं, दोनों के मत में काव्य रचना है, आत्माभिव्यक्ति नहीं।

रीति तथा वक्रोक्ति के आधारतत्त्व, अंगोपांग, भेदप्रभेद आदि का तुलनात्मक विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्रोक्ति का कलेवर निश्चय ही रीति की अपेक्षा कहीं व्यापक है। रीति की परिधि जहाँ पदरचना तक ही सीमित है वहाँ वक्रोक्ति की परिधि में प्रकरणरचना, प्रबधकल्पना आदि का भी यथावत् समावेश है। रीति की परिधि में वास्तव में वक्रोक्ति के प्रथम चार भेद, अर्थात् वर्ण विन्यास वक्रता, पद पूर्वार्ध-वक्रता, पद परार्ध वक्रता तथा वाक्यवक्रता, ही आते हैं। वामन प्रबधकौशल के महत्व से अनभिज्ञ नहीं थे। उन्होंने मुक्तक की अपेक्षा प्रबधरचना को अधिक मूल्यवान् माना है।

क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत् । —१।३।२८

नानिबद्धं चक्रास्त्येकतेजः परमाणुवत् । —१।३।२९

अर्थात् माला और उत्तस के समान उन दोनों (मुक्तक और प्रबध) की सिद्धि क्रमश होती है। (१।३।२८)

जैसे अग्नि का एक परमाणु नहीं चमकता, उसी प्रकार अनिबद्ध अर्थात् मुक्तक काव्य प्रकाशित नहीं होता है। (१।३।२९)

उपर्युक्त सूत्रों से इसमें सदेह नहीं रह जाता कि वामन के मन में प्रबधरचना के प्रति कितना आदर है। फिर भी प्रबध में भी वे रीति अर्थात् पदरचना के नैपुण्य को ही प्रमाण मानते हैं। निबद्ध काव्य का महत्व उनकी दृष्टि में कदाचित् इसी लिये अधिक है कि उसमें विशिष्ट पदरचना की निरंतर श्रृंखला रहती है। इसलिये नहीं कि उसमें जीवन के व्यापक और महत् तत्वों के विराट् कल्पनाविधान के लिये विस्तृत क्षेत्र है। इस दृष्टि से कुतक की वक्रोक्ति का आधार निश्चय ही अधिक व्यापक और उसकी परिधि अधिक विस्तृत है। आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में यह कहना असंगत न होगा कि वक्रोक्ति वास्तव में काव्यकला की समानार्थी है और रीति काव्यशिल्प की। इस प्रकार वामन की रीति वक्रोक्ति का एक अंग मात्र रह जाती है—और मैं समझता हूँ, इन दोनों सिद्धांतों के अंतर का सार यही है।

(५) **वक्रोक्ति सिद्धांत और ध्वनि सिद्धांत**—जैसा पहले निर्दिष्ट कर आए हैं, वक्रोक्ति संप्रदाय का जन्म वास्तव में ध्वनि संप्रदाय के प्रत्युत्तर रूप में हुआ था। काव्यात्मवाद के विरुद्ध देहवादियों का यह अंतिम विफल विद्रोह था। काव्य के जिन सौंदर्यभेदों की आनंदवर्धन ने ध्वनि के द्वारा आत्मपरक व्याख्या की थी, उन सभी की कुतक ने अपनी

अपूर्व मेघा के बल पर वक्रोक्ति के द्वारा वस्तुपरक विवेचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की। इस प्रकार वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना से प्रतीत होती है।

उपर्युक्त तथ्य को हम उद्धरणों द्वारा पुष्ट करते हैं। आनदवर्धन ने ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार की है

जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस अर्थ को प्रकाशित करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।—(ध्व० १।१३)। 'उस अर्थ' से क्या तात्पर्य है ?

प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से अलग ही) भासित होता है।—ध्व० १।४

उस स्वादु अर्थ को बिखेरती हुई बड़े बड़े कवियों की सरस्वती अलौकिक तथा अतिभासमान प्रतिभाविशेष को प्रकट करती है।—ध्व० १।६

अतएव यह विशिष्ट अर्थ अलौकिक प्रतिभाजन्य है, स्वादु है, वाच्य से भिन्न कुछ विचित्र वस्तु है और प्रतीयमान है।

अब कुतकृत वक्रोक्ति की परिभाषा लीजिए प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णनशैली ही वक्रोक्ति है। यह कैसी है ? वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति। वैदग्ध्य का अर्थ है कविकर्मकौशल। (व० जी० १।१० की वृत्ति)। प्रसिद्ध कथन से भिन्न का अर्थ है—(१) 'शास्त्र आदि में उपनिबद्ध शब्दार्थ के सामान्य प्रयोग से भिन्न' तथा (२) 'प्रचलित (सामान्य) व्यवहारसरणि का अतिक्रमण करनेवाला'।

इन दोनों परिभाषाओं का तुलनात्मक परीक्षण करने पर ध्वनि और वक्रोक्ति का साम्य सहज ही स्पष्ट हो जाता है

१—दोनों में प्रसिद्ध वाच्य अर्थ और वाचक शब्द का अतिक्रमण है। आनदवर्धन का सूत्र यत्रार्थ शब्दो वा—उपसर्जनी कृतस्वार्थौ (जहाँ अर्थ अपने आपको और शब्द अपने अर्थ को गौण करके) ही कुतक की शब्दावली में 'शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबध्नव्यतिरेकि' (शास्त्रादि में उपनिबद्ध शब्दार्थ के प्रसिद्ध अर्थात् सामान्य प्रयोग से भिन्न) का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार ध्वनि और वक्रोक्ति दोनों में साधारण का त्याग और असाधारण की विवक्षा है।

२—ध्वनि तथा वक्रोक्ति दोनों में वैचित्र्य की समान बाछा है। आनदवर्धन ने 'अन्यदेव वस्तु' के द्वारा और कुतक ने 'विचित्रा अभिधा' के द्वारा इसको स्पष्ट किया है।

३—दोनों आचार्य इस वैचित्र्यसिद्धि को अलौकिक प्रतिभाजन्य मानते हैं।

किंतु यह सब होते हुए भी दोनों में मूल दृष्टि का भेद है। ध्वनि का वैचित्र्य अर्थरूप होने से आत्मपरक है, उधर वक्रोक्ति का वैचित्र्य अभिधारूप अर्थात् उक्तिरूप होने के कारण मूलतः वस्तुपरक है। इसीलिये हमारी स्थापना है कि वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुपरक परिकल्पना ही है।

(अ) भेदप्रस्तारगत साम्य—स्वरूप की अपेक्षा ध्वनि तथा वक्रोक्ति के भेद-प्रस्तार में और भी अधिक साम्य है। जिस प्रकार आनदवर्धन ने ध्वनि में काव्य के सूक्ष्माति-सूक्ष्म अवयव से लेकर व्यापक से व्यापक रूप का भी अतर्भाव कर उसे सर्वांगपूर्ण बनाने की चेष्टा की थी, वैसे ही कुतक ने बहुत कुछ उन्हीं की पद्धति का अवलंबन कर वक्रोक्ति में काव्य के सभी अवयवों का समावेश कर उसे भी सर्वव्यापक रूप प्रदान करने का प्रयत्न

किया है। इस प्रकार वक्रोक्ति और ध्वनि में स्पष्ट सहव्याप्ति है। ध्वनि का चमत्कार जैसे सुप्, तिङ्, वचन, कारक, कृत्, तद्धित, समास, उपसर्ग, निपात, काल, लिंग, रचना, अलंकार, वस्तु तथा प्रबन्ध आदि में है, वैसे ही वक्रोक्ति का विस्तार भी पदपूर्वार्ध और पद-परार्ध में लेकर प्रकरण तथा प्रबन्ध तक है। वास्तव में ध्वनि के आत्मपरक सौंदर्यभेदों की कुतक ने वस्तुपरक व्याख्या करने का ही प्रयत्न किया है। इसलिये उनके विवेचन की रूपरेखा अथवा योजना बहुत कुछ वही है जो ध्वनिकार ने अपनी स्थापनाओं के लिये बनाई थी।

ध्वनि तथा वक्रोक्ति के भेदों का तुलनात्मक विवरण देखने से यह धारणा सर्वथा स्पष्ट हो जायगी।

(६) वक्रोक्ति और व्यंजना—ध्वनि सिद्धांत का आधार है व्यंजना शक्ति। कुतक मूलतः अभिधावादी है। उन्होंने अपनी वक्रोक्ति को विचित्र अभिधा ही माना है। परंतु उन्होंने लक्षणा और व्यंजना की स्थिति का निषेध नहीं किया। वास्तव में इन दोनों को उन्होंने अभिधा का ही विस्तार माना है, अभिधा के गर्भ में ही इन दोनों की स्थिति उन्हें मान्य है क्योंकि वाचक शब्द में द्योतक और व्यंजक शब्द एवं वाच्य अर्थ में द्योत्य और व्यंग्य अर्थ स्वयं ही अंतर्भूत हो जाते हैं।

(प्रश्न)—द्योतक और व्यंजक भी शब्द हो सकते हैं। (आपने केवल वाचक को शब्द कहा है)। उनका सग्रह न होने से अव्याप्ति होगी। (उत्तर)—यह नहीं कहना चाहिए क्योंकि (वाचक शब्दों के समान व्यंजक तथा द्योतक शब्दों में भी) अर्थप्रतीति-कारित्व की समानता होने से उपचार (गौणी वृत्ति) से वे (द्योतक और व्यंजक) दोनों भी वाचक ही हैं। इसी प्रकार द्योत्य और व्यंग्य दोनों अर्थों में भी बोध्यत्व की समानता होने से वाच्यत्व ही रहता है। (हिंदी वक्रोक्तिजीवित, पृ० ३७)।

(७) निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि संप्रदाय के विरोध में एक प्रतिद्वंद्वी संप्रदाय खड़ा कर देने पर भी कुतक ने ध्वनि का तिरस्कार नहीं किया अथवा नहीं कर सके। वास्तव में ध्वनि का जादू उनके सिर पर चढ़कर बोलता रहा है, इसी लिये अपने सिद्धांतनिरूपण के आरंभ से अंत तक स्थान स्थान पर वे उसे साकेतिक अथवा स्पष्ट रूप में स्वीकृति देते रहे हैं।

जैसा हमने आरंभ में ही स्पष्ट किया है, इन दोनों आचार्यों की सौंदर्यकल्पना में मौलिक भेद नहीं है। दोनों निश्चित रूप से कल्पनावेदी हैं। आनंदवर्धन और कुतक दोनों ने ही अपने सिद्धांतों में अनुभूति तथा बुद्धितत्व की अपेक्षा कल्पनातत्त्व के महत्त्व की प्रतिष्ठा की है। किंतु दोनों की दृष्टि अथवा विवेचनपद्धति भिन्न है। आनंदवर्धन कल्पना को आत्मगत मानते हैं अर्थात् कल्पना से तात्पर्य प्रमाता की कल्पना से है। सत्काव्य प्रमाता की कल्पना को उद्बुद्ध कर सिद्धिलाभ करता है। कुतक कल्पना को वस्तुगत मानते हैं। उनकी दृष्टि से यह है तो मूलतः कवि की ही कल्पना, किंतु रचना के उपरांत कवि के भूमिका से हट जाने के कारण, वह अब काव्य में सनिविष्ट हो गई है, अतः उसकी स्थिति काव्य में वस्तुगत ही रह जाती है। इस प्रकार वक्रोक्ति और ध्वनि सिद्धांतों में बाह्य प्रतिद्वंद्व होते हुए भी मौलिक साम्य है। कुतक इससे अवगत थे। एक प्रमाण के द्वारा अपनी स्थापना को पुष्ट कर हम इस प्रसंग को समाप्त करते हैं। कुतक के दो मार्ग—सुकुमार और विचित्र—में मूल अंतर यह है कि एक में स्वाभाविकता का सहज सौंदर्य है और दूसरे में वक्रता का प्राचुर्य अर्थात् कल्पना का विलास। इसके लिये किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, विचित्र मार्ग के नाम और गुण दोनों ही इसके साक्षी हैं। कुतक

ने ध्वनि^१ अथवा प्रतीयमानता को इस कल्पनाविशिष्ट विचित्र मार्ग का प्रमुख गुण घोषित कर कल्पना पर आश्रित वक्रता और ध्वनि के इसी मौलिक साम्य की पुष्टि की है—वक्रता-कल्पना-ध्वनि ।

(८) वक्रोक्ति सिद्धांत की परीक्षा—वक्रोक्ति सिद्धांत के अनेक पक्षों का विस्तृत विवेचन कर लेने के उपरांत अब उसकी परीक्षा एव मूल्यांकन सरल हो गया है । वक्रोक्ति सिद्धांत अत्यंत व्यापक काव्यसिद्धांत है । इसके अंतर्गत कुतक ने एक ओर वर्णचमत्कार, शब्दसौंदर्य, विषयवस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत विधान, प्रबधकल्पना आदि समस्त काव्यांगों का, और दूसरी ओर अलंकार, रीति, ध्वनि तथा रस आदि सभी काव्यसिद्धांतों का समाहार करने का प्रयत्न किया है । कालक्रमानुसार अन्य सभी सिद्धांतों का पश्चाद्वर्ती होने के कारण वक्रोक्ति सिद्धांत को उन सभी में लाभ उठाने का सुयोग प्राप्त था और उसके मेधावी प्रवर्तक ने निश्चय ही उसका पूरा उपयोग किया है । इस प्रकार कुतक ने वक्रोक्ति को संपूर्ण काव्यसौंदर्य के पर्याय रूप में प्रतिष्ठित किया है । काव्यसौंदर्य के समस्त रूप—सूक्ष्म से सूक्ष्म वर्णचमत्कार से लेकर अधिक से अधिक व्यापक रूप प्रबधकौशल तक, सभी—वक्रता के ही प्रकार हैं । इसी प्रकार अलंकार, रीति (पदरचना), गुण, ध्वनि, औचित्य तथा रस भी वक्रता के प्रकारभेद अथवा पोषक तत्व हैं । अतएव वक्रोक्ति सिद्धांत का पहला गुण उसकी व्यापकता है ।

वक्रोक्ति केवल वाक्चातुर्य अथवा उक्तिचमत्कार नहीं है, वह कविव्यापार अर्थात् कविकौशल या कला की प्रतिष्ठा है । आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में वक्रोक्तिवाद का अर्थ कलावाद ही है । अर्थात् काव्य का सर्वप्रमुख तत्व कला या उपस्थापनकौशल ही है । इस प्रसंग में भी कुतक अतिवादी नहीं है । उन्नीसवीं बीसवीं शती के पाश्चात्य कलावादियों की भाँति उन्होंने विषयवस्तु का निषेध नहीं किया, उन्होंने तो स्पष्ट रूप में यह माना है कि काव्यवस्तु स्वभाव से रमणीय होनी चाहिए अर्थात् काव्य में वस्तु के उन्ही रूपों का वर्णन अभीष्ट है जो सहृदय आह्लादकारी हों । परंतु यहाँ भी महत्व वस्तु का नहीं है, वस्तु का महत्व होने से तो 'कवि कहँ कौन निहोर' ? कवि का क्या महत्व हुआ ? यहाँ भी वास्तविक मूल्य वस्तु के सहृदयरमणीय धर्मों के उद्घाटन का ही है । सामान्य धर्मों का अभिज्ञान तो जनसाधारण भी कर लेते हैं किंतु विशेष सहृदयआह्लादकारी धर्मों का उद्घाटन कवि का प्रातिभ नपन ही कर सकता है । अतएव महत्व यहाँ भी उद्घाटन या चयनरूप कविव्यापार का ही है, और यह भी कला ही है । चाहे तो इसे आप कला का आंतरिक रूप कह लीजिए, परंतु है यह भी कला ही ।

मनोमय जीवन के तीन पक्ष हैं—(१) बोधपक्ष, (२) अनुभूतिपक्ष और (३) कल्पनापक्ष । इनमें से काव्य में वस्तुतः अनुभूति और कल्पना पक्ष का ही महत्व है । बोधपक्ष तो सामान्य आधार मात्र है । प्रतिद्वंद्वी संप्रदायों में इन्हीं दो तत्वों के प्राधान्य को लेकर विरोध चलता रहा है । रस संप्रदाय में स्पष्टतः अनुभूति का प्राधान्य है । उसके अनुसार काव्य का प्राणतत्व है भाव, भाव के आधार पर ही काव्य सहृदय को प्रभावित करता हुआ उसके चित्त में वासना रूप से स्थित भाव को आनंद रूप में परिणत कर देता है । इस प्रकार काव्य मूलतः भाव का व्यापार है । इसके विपरीत अलंकार सिद्धांत में

१ प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते ।

वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित् ।—व० जी० १।४०

अर्थात् जहाँ वाच्यवाचक-वृत्ति से भिन्न वाक्यार्थ की किसी प्रतीयमानता की रचना की जाती है ।

काव्य का आह्लाद भाव की परिणति नहीं है वरन् एक प्रकार का कल्पनात्मक (मानसिक बौद्धिक) चमत्कार है। रस सिद्धात के अनुसार काव्य के आस्वाद में मूलतः हमारी चित्त-वृत्ति उद्दीप्त होती है, परन्तु अलंकार सिद्धात के अनुसार हमारी कल्पना की उद्दीप्ति होती है। वक्रोक्ति सिद्धात भी वास्तव में अलंकार सिद्धात का ही विकास है। अलंकार में जहाँ कल्पना का सीमित रूप गृहीत है, वहाँ वक्रोक्ति में उसका व्यापक रूप ग्रहण किया गया है। अलंकार सिद्धात का कल्पना का आधार कालरिज की 'ललित कल्पना' है^१ और वक्रोक्ति सिद्धात की कल्पना का आधार उसकी 'मौलिक कल्पना' है^२। इस प्रकार वक्रोक्ति का आधार है कल्पना वक्रोक्ति = कविव्यापार (कला) = मौलिक कल्पना। परन्तु यह कल्पना कविनिष्ठ है सहृदयनिष्ठ नहीं, और यही ध्वनि के साथ वक्रोक्ति के मूल भेद का कारण है। ध्वनि को 'कल्पना' सहृदयनिष्ठ होने के कारण व्यक्तिपरक है। कुतक की कल्पना कविकौशल पर आश्रित होने के कारण काव्यनिष्ठ और अतत वस्तुनिष्ठ बन जाती है।

कुतक की कल्पना अनुभूति के विरोध में खड़ी नहीं हुई। उनकी कला को रस का, और उनको कल्पना को अनुभूति का परिपोष प्राप्त है। वक्रोक्ति और रस के प्रसंग में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कुतक ने रस को वक्रोक्ति का प्राणरस माना है। अतः कुतक के सिद्धात में अनुभूति का गौरव अक्षुण्ण है। किन्तु प्रश्न सापेक्षिक महत्व का है। यो तो रस सिद्धात में भी कल्पना का महत्व अतर्क्य है क्योंकि विभावानुभाव व्यभिचारी का संयोग उसके द्वारा ही संभव है। वस्तुतः कला और रस के सिद्धांतों में मूल अंतर कल्पना और अनुभूति की प्राथमिकता का ही है। कला सिद्धात में प्राणतत्त्व है, कल्पना, अनुभूति उसका पोषक तत्व है। उधर रस सिद्धात में मूल तत्व है अनुभूति, कल्पना उसका अनिवार्य साधन है। यही स्थिति वक्रोक्ति और रस की है। कुतक ने रस को वक्रता का सबसे समृद्ध अंग माना है, परन्तु अंगी वक्रता ही है। इसका एक परिणाम यह भी निकलता है कि रस के अभाव में भी वक्रता की स्थिति संभव है। रस वक्रता का उत्कर्ष तो करता है, परन्तु उसके अस्तित्व के लिये सर्वथा अनिवार्य नहीं है। कुतक ने ऐसी स्थिति को अधिक प्रश्रय नहीं दिया। उन्होंने प्रायः रसविरहित वक्रता का तिरस्कार ही किया है। फिर भी वक्रोक्ति को काव्यजीवित मानने का केवल एक ही अर्थ हो सकता है और वह यह कि उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। रस के बिना भी वक्रता की अपनी सत्ता है। और स्पष्ट शब्दों में, वक्रोक्ति सिद्धात के अनुसार ऐसी स्थिति तो हो सकती है कि काव्य रस के बिना भी वक्रता के सद्भाव में जीवित रहे,^३ किन्तु ऐसी स्थिति संभव नहीं कि वह केवल रस के आधार पर वक्रता के अभाव में भी जीवित रहे।

कुतक के वक्रोक्ति सिद्धात के ये ही दो पक्ष हैं। इनमें से दूसरी स्थिति अधिक संभाव्य नहीं है क्योंकि रस की दीप्ति से उक्ति में वक्रता का समावेश अनिवार्य हो जाता है। रस अथवा भाव के दीप्त होने से उक्ति अनायास ही दीप्त हो उठती है और उक्ति की यही दीप्ति कुतक की वक्रता है। अतएव उक्ति में रस के सद्भाव में वक्रता का अभाव हो ही नहीं सकता। कम से कम कुतक की वक्रता का अभाव तो संभव ही नहीं है। शुक्लजी ने जहाँ इस तथ्य का निषेध किया है, वहाँ उन्होंने वक्रता को स्थूल चमत्कार,

१. फैसी।

२. प्राइमरी इमैजिनेशन।

३. इसमें सदेह नहीं कि कुतक ने बार बार इस स्थिति को बचाने का प्रयत्न किया है, परन्तु वह बच नहीं सकती, 'वक्रोक्ति-काव्यजीवितम्' वाक्य ही निरर्थक हो जाता है।

शब्दक्रीडा या अर्थक्रीडा अथवा परिगणित विशिष्ट अलंकार के अर्थ में ही ग्रहण किया है। परंतु कुतक की वक्रता इतनी सूक्ष्म और व्यापक है कि वह शुक्लजी के प्रायः सभी तथा-कथित वक्रताहीन उद्धरणों में अनेक रूपों में उपस्थित है। इसलिये काव्य में वक्रता की अनिवार्यता में तो सदेह नहीं किया जा सकता, किंतु होगी वह भावप्रेरित ही। ऐसी अवस्था में प्राथमिक महत्व भाव का ही हुआ।

पहली स्थिति वास्तव में चित्य है। काव्य रस अर्थात् भावरमणीयता के अभाव में वक्रता मात्र के बल पर जीवित रह सकता है। भावसौंदर्य से हीन शब्दक्रीडा या अर्थ-क्रीडा में निश्चय ही एक प्रकार का चमत्कार होता है, परंतु वह काव्य का चमत्कार नहीं है क्योंकि इस प्रकार के चमत्कार से हमारी कुतूहल वृत्ति का ही परितोष होता है, उससे अतश्चमत्कार या आनंद की उपलब्धि, जो काव्य का अभीष्ट है, नहीं होती। कुतक ने स्वयं स्थान स्थान पर इस धारणा का अनुमोदन किया है, परंतु यहाँ और इसी मात्रा में उनके वक्रोक्ति सिद्धांत का भी खडन हो जाता है। वक्रता काव्य का अनिवार्य माध्यम है, यह ठीक है, परंतु यह ठीक नहीं है कि वह उसका जीवित या प्राणतत्व भी है। अनिवार्य माध्यम का भी अपना महत्व है। व्यक्तित्व के अभाव में आत्मा की अभिव्यक्ति संभव नहीं है, फिर भी व्यक्ति आत्मा अथवा जीवित तो नहीं है। यही वक्रोक्तिवाद की परिमीमा है और यही कलावाद की या कल्पनावेद की भी।

किंतु वक्रोक्तिवाद की सिद्धि भी कम स्तुत्य नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि के अतिरिक्त इतना व्यवस्थित विधान किसी अन्य काव्यसिद्धांत का नहीं है। काव्यकला का इतना व्यापक एवं गहन विवेचन तो ध्वनि सिद्धांत के अंतर्गत भी नहीं हुआ है। वास्तव में काव्य के वस्तुगत सौंदर्य का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण केवल हमारे काव्यशास्त्र में ही नहीं, पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी सर्वथा दुर्लभ है। कुतक से पूर्व वामन ने रीति एवं गुण के और भामह, दंडी आदि ने अलंकार तथा गुण के विवेचन में भी इसी दिशा में सफल प्रयत्न किया था। किंतु उनकी परिधि सीमित थी, वे पदरचना तथा शब्द एवं अर्थ के स्फुट सौंदर्यतत्त्वों का ही विश्लेषण कर सके थे। कुतक ने काव्यरचना के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व से लेकर अधिक से अधिक व्यापक तत्व का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत कर भारतीय सौंदर्यशास्त्र में एक नवीन पद्धति का उद्घाटन किया है। काव्य में कला का गौरव स्वतः सिद्ध है। वस्तुतः उसके मौलिक तत्व दो ही हैं—रस और कला। इस दृष्टि से कला का विवेचन काव्यशास्त्र में रस के विवेचन के समान ही महत्वपूर्ण है। वक्रोक्ति सिद्धांत ने इसी कला तत्व की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत कर भारतीय काव्यशास्त्र में अपूर्व योगदान किया है।

६ ध्वनि संप्रदाय

(१) पूर्ववृत्त—अन्य संप्रदायों की भाँति ध्वनि संप्रदाय का जन्म भी उसके प्रतिष्ठापक के जन्म से बहुत पूर्व हुआ था। 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यं समाम्नात-पूर्वं' (ध्वन्यालोक १।१)। अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है, ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है। वास्तव में इस सिद्धांत के मूल सकेत ध्वनिकार के समय से बहुत पहले वैयाकरणों के सूत्रों में स्फोट आदि के विवेचन में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन में भी व्यंजना एवं अभिव्यक्ति (दीपक से घर) की चर्चा बहुत प्राचीन है। ध्वनिकार से पूर्व रस, अलंकार और रीतिवादी आचार्य अपने अपने सिद्धांतों का पुष्ट प्रतिपादन कर चुके थे, और यद्यपि वे ध्वनि सिद्धांत से पूर्णतः परिचित नहीं थे, फिर भी आनंदवर्धन का कहना है कि वे कम से कम उसके सीमांत तक अवश्य पहुँच गए थे। अभिनवगुप्त ने पूर्ववर्ती आचार्यों में उद्भट और वामन को साक्षी माना है। उद्भट का ग्रंथ भामहविवरण

प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से अलग ही) भासित होता है।

अर्थात् 'उस अर्थ' से तात्पर्य है उस प्रतीयमान स्वादु (चर्वणीय, सरस) अर्थ का जो प्रतिभाजन्य है और जो महाकविया की वाणी में, वाच्याश्रित अलंकार आदि से भिन्न, स्त्रियों में अवयवों से अतिरिक्त लावण्य की भाँति, कुछ और ही वस्तु है। अतएव यह विशिष्ट अर्थ प्रतिभाजन्य है, स्वादु (सरस) है, वाच्य से भिन्न कुछ दूसरी ही वस्तु है और प्रतीयमान है।

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।

अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रातिभाविशेषम् ॥

उस स्वादु अर्थवस्तु को बिखेरती हुई बड़े बड़े कवियों की सरस्वती अलौकिक तथा अतिभासमान प्रतिभाविशेष को प्रकट करती है।

इसपर लोचनकार की टिप्पणी है—

‘सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननव्यापारः । स (काव्यविशेषः) इति । अर्थो वा, शब्दो वा, व्यापारो वा । अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति शब्दोऽप्येव व्यग्यो वा ध्वन्यते इति । व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति । कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव वाच्यरूपमुखतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्’ ।

अर्थात् सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वननव्यापार होता है। ‘वह काव्य-विशेष’ का अर्थ है—अर्थ या शब्द या व्यापार। वाच्य अर्थ भी ध्वनन करता है और शब्द भी, इसी प्रकार व्यग्य (अर्थ) भी ध्वनित होता है। अथवा शब्द अर्थ का व्यापार भी ध्वनन है। इस प्रकार कारिका के द्वारा प्रधानतया समुदाय शब्द, अर्थवाच्य (व्यजक) अर्थ और व्यग्य अर्थ तथा शब्द और अर्थ का व्यापार ही ध्वनि है।

अभिनवगुप्त के कहने का तात्पर्य यह है कि कारिका के अनुसार ध्वनि सज्ञा केवल काव्य को ही नहीं दी गई वरन् शब्द, अर्थ और शब्द अर्थ के व्यापार, इन सबको ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि शब्द के व्युत्पत्तिअर्थों से भी ये पाचो भेद सिद्ध हो जाते हैं :

१—ध्वनति य स व्यजकः शब्द ध्वनिः ।

(जो ध्वनित करे या कराए वह व्यजक शब्द ध्वनि है) ।

२—ध्वनति ध्वनयति वा य स व्यजकोऽर्थः ।

(जो ध्वनित करे या कराए वह व्यजक अर्थ ध्वनि है) ।

३—ध्वन्यते इति ध्वनिः ।

(जो ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है) । इसमें रस, अलंकार और वस्तु, व्यग्य अर्थ के ये तीनों रूप आ जाते हैं।

४—ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः ।

(जिसके द्वारा ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है) । इससे शब्द अर्थ के व्यापार, व्यजना आदि शक्तियों का बोध होता है।

५—ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः ।

(जिसमें वस्तु, अलंकार रसादि ध्वनित हो उस काव्य को ध्वनि कहते हैं) ।

इस प्रकार ध्वनि का प्रयोग पाँच भिन्न भिन्न परन्तु परस्पर सबद्ध अर्थों में होता है

१—व्यजक शब्द

२—व्यजक अर्थ

३—व्यग्य अर्थ

४—व्यजना (व्यंजना व्यापार) और

५—व्यग्यप्रधान काव्य ।

संक्षेप में ध्वनि का अर्थ है व्यग्य, परन्तु पारिभाषिक रूप में यह व्यग्य वाच्याति-शायी होना चाहिए—वाच्यातिशायिनि व्यग्ये ध्वनि (साहित्यदर्पण) । इस आतिशय्य अथवा प्राधान्य का आधार है चारुत्व अर्थात् रमणीयता का उत्कर्ष—

चारुत्वोत्कर्ष निबन्धना हि वाच्यव्यग्ययोः प्राधान्यविवक्षा

—(ध्वन्यालोक)

अतएव वाच्यातिशायी का अर्थ हुआ 'वाच्य से अधिक रमणीय' और ध्वनि का संक्षिप्त लक्षण हुआ 'वाच्य से अधिक रमणीय व्यग्य' ।

(३) ध्वनि की प्रेरणा : स्फोट सिद्धांत—ध्वनि सिद्धांत की प्रेरणा ध्वनिकार को वैयाकरणों के स्फोट सिद्धांत से मिली है । उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'सूरिभिः कथित' में सूरिभि (विद्वानों द्वारा) से अभिप्राय वैयाकरणों से है क्योंकि वैयाकरण ही पहले विद्वान् हैं और व्याकरण ही सब विद्याओं का मूल है । वे श्रूयमाण (सुने जाते हुए) वर्णों में ध्वनि का व्यवहार करते हैं ।

लोचनकार ने इस प्रसंग को और स्पष्ट किया है । उन्होंने वैयाकरणों के स्फोट सिद्धांत के साथ आलंकारिकों के इस ध्वनि सिद्धांत का पूर्णतः सामंजस्य स्थापित करते हुए तद्विषयक पृष्ठाधार की सागोपाग व्याख्या की है । ध्वनि के पाँचों रूपों—व्यजक शब्द, व्यजक अर्थ, व्यग्य अर्थ, व्यजना व्यापार तथा व्यग्य काव्य, सभी—के लिये व्याकरण में निश्चित एव स्पष्ट संकेत है ।

लोचनकार की टिप्पणी का व्याख्यान करने के लिये मैं अपने मित्र श्रीविश्वभर-प्रसाद डबराल की ध्वन्यालोक टीका में दो उद्धरण देता हूँ

'जब मनुष्य किसी शब्द का उच्चारण करता है तो श्रोता उसी उच्चरित शब्द को नहीं सुनता । मान लीजिए, मैं आपसे १० गज की दूरी पर खड़ा हूँ । आपने किसी शब्द का उच्चारण किया । मैं उसी शब्द को नहीं सुन सकता जो आपने उच्चरित किया । आपका उच्चरित शब्द मुख के पास ही अपने दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है । दूसरा शब्द तीसरे को, तीसरा चौथे को और इस प्रकार क्रम चलता रहता है जबतक कि मेरे कान के पास शब्द उत्पन्न न हो जाय । इस प्रकार सतान रूप में आए हुए शब्दज शब्द को ही मैं सुन सकता हूँ । यह शब्दज शब्द ध्वनि कहलाता है । भगवान् भर्तृहरि ने भी कहा है ।

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते ।

स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः ॥

'करणों (वोकल आरगन्स) के संयोग और वियोग (क्योंकि उनके खुलने और बंद होने से ही आवाज पैदा होती है) से जो स्फोट उपजनित होता है वह शब्दज शब्द विद्वानों द्वारा ध्वनि कहलाता है । वक्ता के मुख से उच्चरित शब्दों द्वारा उत्पन्न शब्द हमारे मस्तिष्क में नित्यवर्तमान स्फोट को जगा देते हैं । यही वैयाकरणों की ध्वनि है । इसी प्रकार आलंकारिकों के अनुसार भी घटानाद के समान अनुरणनरूप, शब्द से उत्पन्न, व्यग्य अर्थ ध्वनि है ।

वैयाकरणों के अनुसार 'गौ' शब्द का उच्चारण होने पर हम 'गू', 'औ' और (विसर्ग), इनकी पृथक् पृथक् प्रतीति करते हैं। इनको एक साथ स्थिति तो हो नहीं सकती। यदि ऐसा हो तो पौर्वापर्य का अवकाश ही नहीं रहेगा। तीन भिन्न शब्द एक साथ ही नहीं सकते। 'गौ' शब्द के सुनने पर हमारे मस्तिष्क में नित्यवर्तमान स्फोट रूप 'गौ' की प्रतीति होती है। किंतु इसके पहले केवल 'गू' शब्द को सुनते ही इस प्रतीति के साथ स्फोट रूप 'गौ' की अस्पष्ट प्रतीति भी होती है जो 'गू', 'औ' और ' ' तक आ जाने पर पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है।

इसको आचार्य मम्मट की व्याख्या के आधार पर और स्पष्ट रूप से समझ लीजिए—गौ शब्द में 'गू', 'औ' और ' ' ये तीन वर्ण हैं। इन तीन वर्णों में से गौ का अर्थबोध किसके द्वारा होता है? यदि यह कहे कि प्रत्येक के उच्चारण द्वारा, तो एक वर्ण पर्याप्त होगा, शेष दो व्यर्थ हैं। और यदि यह कहे कि तीनों वर्णों के समुदाय के उच्चारण द्वारा, तो वह असभाव्य है, क्योंकि कोई भी वर्णध्वनि दो क्षण से अधिक नहीं ठहर सकती अर्थात् विसर्ग तक आते आते 'गू' की ध्वनि का लोप हो जायगा जिसके कारण तीनों वर्णों के समुदाय की ध्वनि का एक साथ होना संभव न हो सकेगा। अतएव अत्यंत सूक्ष्म विवेचन के उपरान्त वैयाकरणों ने स्थिर किया कि अर्थबोध शब्द के 'स्फोट' द्वारा होता है अर्थात् पूर्व पूर्व वर्णों के सस्कार अंतिम वर्ण के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द का अर्थबोध कराते हैं।

‘भूतृहरि भी यही कहते हैं।

प्रत्ययैरनुपाख्येयग्रहणानुग्रहैस्तथा ।

ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

‘ग्रहण के लिये अनुगुण (अनुकूल), अनुपाख्येय (जिन्हें स्पष्ट शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता)। प्रत्ययो (काग्निशज) द्वारा ध्वनि रूप में प्रकाशित शब्द (स्फोट) में स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यहाँ वैयाकरणों के अनुसार नाद कहलानेवाले, अत्यबुद्धि से ग्राह्य, स्फोटव्यजक वर्ण ध्वनि कहलाते हैं। इसके अनुसार व्यजक शब्द और अर्थ भी ध्वनि कहलाते हैं—यह आलंकारिकों का मत है।

‘हम एक श्लोक को कई प्रकार से पढ़ सकते हैं। कभी धीरे धीरे, कभी बहुत शीघ्र, कभी मध्यम, कभी गाते हुए तथा कभी सीधे सीधे। किंतु सभी समय यद्यपि हम भिन्न भिन्न ध्वनियों का प्रयोग करते हैं, अर्थ केवल एक ही प्रतीत होता है। यह क्यों? वैयाकरणों का कहना है कि शब्द दो प्रकार का होता है। एक तो स्फोट रूप में वर्तमान प्राकृत शब्द, दूसरा विकृत। हम जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं वे उस स्फोट रूप प्राकृत की अनुकृति मात्र हैं। प्राकृत शब्द का नित्यस्वरूप एक होता है, उसकी अनुकृतियों (माडेल्स) में विभिन्नता हो सकती है। विकृत शब्दों का उच्चारणरूप यह विभिन्न व्यापार भी वैयाकरणों के अनुसार ध्वनि है। आलंकारिकों के अनुसार भी प्रसिद्ध शब्द-व्यापारों से भिन्न व्यजकत्व नाम का शब्दव्यवहार ध्वनि है। इस प्रकार व्यंग्य अर्थ, व्यजक शब्द, व्यजक अर्थ और व्यजकत्व व्यापार, ये चार तरह की ध्वनि हुईं। इन चारों के एक साथ रहने पर समुदायरूप काव्य भी ध्वनि है। इस प्रकार लोचनकार ने वैयाकरणों का अनुसरण करके पाँचों में ध्वनित्व सिद्ध कर दिया।’

इस विवेचन का सारांश यह है

१—जिसके द्वारा अर्थ का प्रस्फुटन हो उसे स्फोट कहते हैं।

२—शब्द के दो रूप होते हैं—एक व्यक्त अर्थात् विकृत रूप, दूसरा अव्यक्त अर्थात् प्राकृत (नित्य) रूप। व्यक्त का संबध वैखरी और अव्यक्त का संबध मध्यमा

वाणी से है जो वैखरी की अपेक्षा सूक्ष्मतर है। पहला स्थूल ऐन्द्रिय रूप है, जो उच्चारण की विधि के अनुसार बदलता रहता है। दूसरा सूक्ष्म मानस रूप है जो नित्य तथा अखंड है। यह हमारे मन में सदैव वर्तमान रहता है और शब्द अर्थात् वर्णों के सघातविशेष को सुनकर उद्बुद्ध हो जाता है। इसको शब्द का स्फोट कहते हैं। स्फोट का दूसरा नाम 'ध्वनि' भी है।

३—जिस प्रकार पृथक् पृथक् वर्णों को सुनकर भी शब्द का बोध नहीं होता (वह केवल स्फोट या ध्वनि के द्वारा ही होता), उसी तरह शब्दों का वाच्यार्थ ग्रहण कर भी काव्य के सौंदर्य की प्रतीति नहीं होती, वह केवल व्यंग्यार्थ या ध्वनि के द्वारा ही होती है।

४—व्याकरण में व्यजक शब्द, व्यजक अर्थ, व्यजना व्यापार तथा व्यंग्य काव्य, ध्वनि के इन पाँचों रूपों के लिये निश्चित सकेत मिलते हैं। यह स्फोट शब्द, वाक्य और प्रबंध तक का होता है।

इस प्रकार शब्दसाम्य और व्यापारसाम्य के आधार पर ध्वनिकार ने व्याकरण के ध्वनि सिद्धांत से प्रेरणा प्राप्त कर अपने ध्वनि सिद्धांत की उद्भावना की।

(४) ध्वनि की स्थापना—आगे चलकर ध्वनि का सिद्धांत यद्यपि सर्वमान्य सा हो गया परंतु आरंभ में इसे घोर विरोध का सामना करना पड़ा। एक तो ध्वनिकार ने ही पहले से बहुत कुछ विरोध का निराकरण कर दिया था, उसके उपरांत मम्मट ने उसका अत्यंत योग्यतापूर्वक समर्थन किया जिसके परिणामस्वरूप प्रायः सभी विरोध शांत हो गए।

ध्वनिकार ने तीन प्रकार के विरोधियों की कल्पना की थी—एक अभाववादी दूसरे लक्षणा में ध्वनि (व्यजना) का अतर्भाव करनेवाले, और तीसरे वे जो ध्वनि का अनुभव करते हैं, परंतु उसकी व्याख्या असंभव मानते हैं^१।

सबसे पहले अभाववादियों को लीजिए। अभाववादियों के विकल्प इस प्रकार है

(१) ध्वनि को आप काव्य की आत्मा (सौंदर्य) मानते हैं, पर काव्य शब्द और अर्थ का सबद्ध शरीर ही तो है। स्वयं शब्द और अर्थ तो ध्वनि ही नहीं सकते। अब यदि उनके सौंदर्य अथवा चारुत्व को आप ध्वनि मानते हैं तो यह पुनरावृत्ति मात्र है क्योंकि शब्द और अर्थ के चारुत्व विषयक सभी प्रकारों का विवेचन किया जा चुका है।

शब्द का चारुत्व तो शब्दालंकार तथा गुण के अंतर्गत आ जाता है और अर्थ का चारुत्व अर्थालंकार तथा अर्थगुण में। इनके अतिरिक्त वैदर्भी आदि रीतिभाषा और इनसे अभिन्न उपनागरिका आदि वृत्तियाँ भी हैं जिनका सबद्ध शब्द अर्थ के साहित्य (मिश्र शरीर) से है। सभी प्रकार के शब्द और अर्थगत सौंदर्य का अतर्भाव इनमें हो जाता है। अतएव ध्वनि से आशय यदि शब्द और अर्थगत चारुत्व से है तो उसका तो सम्यक् विवेचन पहले ही किया जा चुका है, फिर ध्वनि की क्या आवश्यकता है। यह या तो पुनरावृत्ति है या अधिक से अधिक एक नवीन नामकरण मात्र है, जिसका कोई महत्व नहीं।

१ काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्धैर्यं समास्नातपूर्व—

स्तस्याभाव जगदुपरि भाक्तमाहुस्तमन्ये।

केचिद् वाचा स्थितमविषये तत्त्वमुचुस्तदीय,

तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम्।—ध्वन्यालोक

(२) दूसरे विकल्प में परंपरा की दुहाई दी गई है। यदि प्रसिद्ध परंपरा से आए हुए मार्ग से भिन्न काव्यप्रकार मांगा जाय तो काव्यत्व की ही हानि होती है। इनकी युक्ति यह है कि आखिर ध्वनि की चर्चा से पहले भी तो काव्य का आस्वादन होता रहा है, यदि काव्य की आत्मा का अन्वेषण आप अब कर रहे हैं तो अबतक क्या लोग मुखों की भाँति अभाव में भाव की कल्पना करते रहे हैं। यदि ध्वनि प्रसिद्ध काव्यपरंपरा से भिन्न कोई मार्ग है तो अबतक के काव्य के काव्यत्व का क्या हुआ ? वह तो इस प्रकार रह ही नहीं जाता। इनके कहने का तात्पर्य यह है कि ध्वनि से पूर्व भी तो काव्य था और सहृदय उसके काव्यत्व का आस्वादन करते थे। यदि काव्य की आत्मा ध्वनि आपने अब दूढ़ निकाली है तो पूर्ववर्ती काव्य का काव्यत्व तो असिद्ध हो जाता है।

(३) कुछ लोग ध्वनि के अभाव को एक और रीति से प्रतिपादित करते हैं। वे कहते हैं कि यदि ध्वनि कमनीयता का ही कोई रूप है तब तो वह कथित चास्त्व कारणा में ही अंतर्भूत हो जाता है। हाँ, यह हो सकता है कि वाक् के भेद प्रभेद की अनंतता के कारण लक्षणकारों ने किसी प्रभेदविशेष को समाख्या न की हो और उसी को आप खोज निकालकर ध्वनि नाम दे रहे हों। परंतु यह तो कोई बड़ी बात नहीं हुई। यह तो भूठी सहृदयता मात्र है।

ध्वनि के अस्तित्व का निषेध करनेवालों की युक्तियों का सारांश यही है। ये एक प्रकार से अभिधा या वाच्यार्थ में ही व्यजना या ध्वनि का अंतर्भाव करते हैं।

ध्वनिविरोधियों का दूसरा वर्ग उसको लक्षणा के अंतर्गत मानता है। इन लोगों को भाक्तवादी कहा गया है।

तीसरा वर्ग ऐसे लोगों का है जो ध्वनि को सहृदयसंवेद्य मानते हुए भी उसे वाणी के लिये अग्रोचर मानते हैं, अर्थात् उसकी परिभाषा को असंभव मानते हैं। इनको ध्वनिकार ने 'लक्षण करने में अप्रगल्भ' कहा है।

इन विरोधियों की कल्पना तो ध्वनिकार ने स्वयं कर ली थी, परंतु उनके बाद भी इस सिद्धांत का विरोध हुआ। परवर्ती विरोधियों में सबसे अधिक पराक्रमी थे भट्ट नायक, महिम भट्ट तथा कुतक। भट्टनायक ने रसास्वादन के हेतुरूप शब्द की भावकत्व और भोजकत्व दो शक्तियों की उद्भावना की और व्यजना का निषेध किया। महिमभट्ट ने ध्वनि को अनुमिति मात्र मानते हुए व्यजना का निषेध किया और अभिधा को ही पर्याप्त माना। कुतक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के अंतर्गत माना। भट्टनायक का उत्तर अभिनवगुप्त ने तथा अन्य का मम्मट ने दिया और व्यजना की अतर्क्यता सिद्ध करते हुए ध्वनि को अकाट्य माना।

वास्तव में ध्वनि का विशाल भवन व्यजना के आधार पर ही खड़ा हुआ है, और ध्वनि की स्थापना का अर्थ व्यजना की ही स्थापना है।

सबसे पहले अभाववादियों के विकल्प लीजिए। उनका एक तर्क यह है कि ध्वनि-प्रतिपादन के पूर्व भी तो काव्य में काव्यत्व था, और सहृदय निर्बाध उसका आस्वादन करते थे। यदि ध्वनि काव्य की आत्मा है तो पूर्ववर्ती काव्य में काव्यत्व की हानि हो जाती है। इसका उत्तर ध्वनिकार ने ही दिया है और वह यह है कि ध्वनि का नामकरण उस समय नहीं हुआ था, परंतु उसकी स्थिति तो उस समय भी थी। उदाहरण के लिये पर्यायोक्त आदि अलंकारों में व्यंग्य अर्थ अत्यंत स्पष्ट रूप में वर्तमान रहता है, उसका महत्व गौरव है। परंतु उसका अस्तित्व तो असंदिग्ध है। इस व्यंग्यार्थ के लिये केवल व्यजना ही उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त रस आदि की स्वीकृति में भी स्पष्टतः व्यंग्य की स्वीकृति

है क्योंकि रस आदि अभिधेय तो होते नहीं। उधर लक्ष्य ग्रंथो में भी काव्य के विधायक इस तत्त्व की प्रतीति निश्चिन्त है, चाहे निरूपण न हो।

अभाववादियों की सबसे प्रबल युक्ति यह है कि व्यञ्जना का पृथक् अस्तित्व मानने की आवश्यकता नहीं है। वह अभिधा के या फिर लक्षणा के अतर्गत आ जाती है।

इसका एक अभावात्मक उत्तर तो यह है कि ध्वनि के जो दो प्रमुख भेद किए गए हैं उन दोनों का अतर्भाव अभिधा या लक्षणा में नहीं किया जा सकता। अविवक्षित वाच्य ध्वनि अभिधा के आश्रित नहीं है। अभिधा के विफल हो जाने के उपरांत लक्षणा के सामर्थ्य पर ही उसका अस्तित्व अवलम्बित है। उधर विवक्षितान्यपरवाच्य में लक्षणा बीच में आती ही नहीं। अतएव यह मिट्ट हुआ कि ध्वनि का एक प्रमुख भेद तथा उसके उपभेद अभिधा के अतर्गत नहीं समा मकने, और दूसरा भेद तथा उसके अनेक प्रभेद लक्षणा से बहिर्गत है। अर्थात् ध्वनि अभिधा और लक्षणा में नहीं समा सकती। भावात्मक उत्तर यह है कि अभिधार्थ और लक्षणार्थ का ध्वन्यर्थ से पार्थक्य प्रकट करनेवाले अनेक अतर्क्य तथा स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं।

(५) अभिधार्थ और ध्वन्यर्थ का पार्थक्य—बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, काल, आश्रय और विषय आदि के अनुसार व्यंग्यार्थ प्रायः वाच्यार्थ से भिन्न हो जाता है

बोद्धस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।

आश्रयविषयादीना भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यंग्यः ॥

—सा० द०

बोद्धा के अनुसार पार्थक्य—वाच्यार्थ की प्रतीति कोश, व्याकरणादि के प्रत्येक ज्ञाता को हो सकती है, परंतु ध्वन्यार्थ की प्रतीति केवल सहृदय को ही हो सकती है।

स्वरूप—कही वाच्यार्थ विधिरूप है तो व्यंग्यार्थ निषेधरूप। कही वाच्यार्थ निषेधरूप है, पर व्यंग्यार्थ विधिरूप। कही वाच्यार्थ विधिरूप है, या कही निषेध रूप है, पर व्यंग्यार्थ अनुभवरूप है। कही वाच्यार्थ सशयात्मक है, पर व्यंग्यार्थ निश्चयात्मक।

संख्या—संख्या के अतर्गत प्रकरण, वक्ता और श्रोता का भेद भी आ जाता है। उदाहरण के लिये 'सूर्यास्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी के लिये एक है, पर व्यंग्यार्थ वक्ता, श्रोता तथा प्रकरण के भेद से अनेक होंगे।

निमित्त—वाच्यार्थ का बोध साक्षरता मात्र से हो जाता है, परंतु व्यंग्यार्थ की प्रतीति प्रतिभा द्वारा ही संभव है। वास्तव में निमित्त और बोद्धा का पार्थक्य बहुत कुछ एक ही है।

कार्य—वाच्यार्थ से वस्तुज्ञान मात्र होता है, परंतु व्यंग्यार्थ से चमत्कार (आनंद) का आस्वादन होता है।

काल—वाच्यार्थ की प्रतीति पहले और व्यंग्यार्थ की उसके उपरांत होती है। यह क्रम लक्षित हो या न हो, परंतु इसका अस्तित्व असदिग्ध है।

आश्रय—वाच्यार्थ केवल शब्द या पद के आश्रित रहता है, परंतु व्यंग्यार्थ शब्द में, शब्द के अर्थ में, शब्द के एक अक्ष में, वर्ण या वर्णरचना आदि में भी रहता है।

विषय—कहीं वाच्य और व्यंग्य का विषय ही भिन्न होता है। वाच्यार्थ एक व्यक्ति के लिये अभिप्रेत होता है, और व्यंग्यार्थ दूसरे के लिये।

पर्याय—इसके अतिरिक्त पर्याय शब्दों के भी व्यंग्यार्थ में अंतर होता है। स्पष्टतः

सभी पर्यायो का वाच्यार्थ एक सा होता है, परंतु व्यंग्यार्थ भिन्न हो सकता है। उपयुक्त विशेषण का चयन बहुत कुछ इसी पार्थक्य पर निर्भर रहता है।

आधुनिक हिंदी काव्य में तथा विदेश के साहित्यशास्त्र में विशेषणचयन काव्य-शिल्प का विशेष गुण माना गया है और उसका अत्यंत सूक्ष्म विवेचन भी किया गया है।

(६) अन्विति अर्थ की व्यंजना—अभिधा केवल अन्वित अर्थ का ही बोध करा सकती है, परंतु कही कही अन्वित अर्थ के अतिरिक्त किसी अनन्वित अर्थ की भी व्यंजना होती है। इस प्रकरण में मम्मट ने 'कुरु रुचि' और 'रुचिकुरु' का उदाहरण दिया है। अन्वित अर्थ की दृष्टि से 'रुचिकुरु' सर्वथा निर्दोष है, परंतु इसमें 'चिकु' के द्वारा, जो सर्वथा अनन्वित है, अश्लील अर्थ का बोध होता है। 'चिकु' काश्मीर की भाषा में अश्लील अर्थ का बोधक है। प० रामदहिन मिश्र ने पत की निम्नलिखित पंक्ति में यही उदाहरण घटाया है :

'सरलपन ही था उसका मन' से 'सरल पनही (जूता) था उसका मन' इस अनन्वित अर्थ की व्यंजना भी हो जाती है।

यह अनन्वित अर्थ अभिधा का व्यापार तो हो नहीं सकता। वैसे भी यह वाच्य न होकर व्यंग्य ही है, अतएव व्यंजना का ही व्यापार सिद्ध हुआ।

रसादि भी अभिधाश्रित ध्वनिभेद के अतर्गत आते हैं। ये विवक्षितान्यपरवाच्य के असलक्ष्यक्रम भेद के अतर्गत हैं। ये रसादि भी व्यंजना के अस्तित्व के प्रबल प्रमाण हैं क्योंकि ये कही भी वाच्य नहीं होते, सदा वाच्य द्वारा आक्षिप्त व्यंग्य होते हैं। शृंगार शब्द के अभिधेयार्थ के द्वारा शृंगार रस की प्रतीति असंभव है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि कम से कम रसादि की प्रतीति अभिधा की सामर्थ्य से बाहर है। इस प्रसंग को लेकर संस्कृत के आचार्यों में बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है। सबसे पहले तो भट्टनायक ने व्यंजना का निषेध करते हुए शब्द की भावकत्व और भोजकत्व दो शक्तियाँ मानी और चार अर्थ का भावन तथा रस का आस्वाद उन्हीं के द्वारा माना। परंतु अभिनवगुप्त ने भावकत्व और भोजकत्व की कल्पना को निराधार और अनावश्यक माना, तथा व्याकरण आदि के आधार पर व्यंजना की ही स्थापना की।

वास्तव में भट्टनायक अपने सिद्धांत को अधिक वैज्ञानिक रूप नहीं दे सके। शब्द की भावकत्व और भोजकत्व जैसी शक्तियों के लिये न तो व्याकरण में और न भीमासा आदि में ही कही कोई आधार मिलता है, और इधर मनोविज्ञान तथा भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। भावकत्व का कार्य भावन कराने में सहायक होना है, और भावन बहुत कुछ कल्पना की क्रिया है। अतएव भावकत्व का कार्य हुआ कल्पना को उद्बुद्ध करना। उधर भोजकत्व का कार्य है साधारणीकृत अर्थ के भावन द्वारा रस की चर्चणा कराना। भट्टनायक के कहने का तात्पर्य आधुनिक शब्दावली में यह है कि काव्यगत शब्द पहले तो पाठक को अर्थबोध कराता है, फिर उसकी कल्पना को जागृत करता है और तदनंतर उसके मन में वासना रूप से स्थित स्थायी मनोविकारो को उद्बुद्ध करता हुआ उसको आनंदमग्न कर देता है। उनका यह संपूर्ण प्रयत्न इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये है कि शब्द और अर्थ के द्वारा काव्यगत उस विचित्र आनंद की प्राप्ति कैसे होती है। जहाँतक काव्यानंद के स्वरूप का प्रश्न है, भट्टनायक को उसके विषय में कोई आति नहीं है। वे जानते हैं कि यह आनंद वासनामूलक तो अवश्य है, परंतु केवल वासना-मूलक नहीं है। वासनामूलक आनंद के अन्य रूपों से इसका वैचित्र्य स्पष्ट है। वास्तव में, जैसा मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है, काव्यानंद एक मिश्र आनंद है, इसमें वासनाजन्य

आनंद और बौद्धिक आनंद दोनों का समन्वय रहता है। उसके इसी मिश्र स्वरूप को एडीसन ने कल्पना का आनंद कहा है जो मनोविज्ञानी रूग्नि नेटिंग भी है क्योंकि कल्पना चित्त और बुद्धि की मिश्रित क्रिया ही तो है। इसी मिश्र रूप की व्याख्या में (यद्यपि भट्ट नायक ने स्वयं इसको अपने शब्दों में व्यक्त नहीं किया है जिसका कारण परंपरा से चला आया हुआ 'अनिर्वचनीय' शब्द था) भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व की कल्पना की है। भावकत्व उसके बौद्धिक अंश का हेतु है और भोजकत्व उसके वासनाजन्य रूप का व्याख्यान करता है। अभिनव ने ये दोनों विशेषताएँ अकेली व्यंजना में मानी हैं। व्यंजना ही हमारी कल्पना को जगाकर हमारे वामनारूप से स्थित मनोविकारों की चरम परिणति के आनंद का आस्वादन कराती है। इस प्रकार मूलतः भावकत्व और भोजकत्व दोनों का उद्देश्य भी वही ठहरता है जो अकेली व्यंजना का। व्याकरण और मीमांसा आदि के सहारे व्यंजना का आधार चूँकि अधिक पुष्ट है, इसलिये अतत्तोगत्वा वही सर्वमान्य हुई। भट्टनायक की दोनों शक्तियाँ निराधार घोषित कर दी गईं।

इस प्रकार अभिधावादियों का यह तर्क खंडित हो जाता है कि अभिधा का अर्थ ही तीर की तरह उत्तरोत्तर शक्ति प्राप्त करता जाना है।

बाद में महिमभट्ट ने व्यंजना का प्रतिषेध किया और कहा कि अभिधा ही शब्द की एकमात्र शक्ति है, जिसे व्यंग्य कहा जाता है वह अनुमेय मात्र है, तथा व्यंजना पूर्व-सिद्ध अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वे वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में व्यंजकव्यंग्य संबंध न मानकर लिंगलिंगी संबंध ही मानते हैं। परंतु उनके तर्कों का मम्मट ने अत्यंत युक्तिपूर्वक खंडन किया है। उनकी युक्ति है कि सर्वत्र ही वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में लिंगलिंगी-संबंध होना अनिवार्य है। लिंगलिंगी संबंध निश्चयात्मक है अर्थात् जहाँ लिंग (साधन या हेतु) निश्चय रूप में वर्तमान होगा, वही लिंगी (अनुमेय वस्तु) का अनुमान किया जा सकता है। परंतु ध्वनिप्रसंग में वाच्यार्थ सदा ही निश्चयात्मक हेतु नहीं हो सकता। वह प्रायः अनैकान्तिक होता है। ऐसी स्थिति में उसे व्यंग्यार्थ रूप चमत्कार के अनुमान का हेतु कैसे माना जा सकता है? मनोविज्ञान की दृष्टि से भी महिमभट्ट का तर्क अधिक सगत नहीं है, क्योंकि अनुमान में साधन से साध्य की सिद्धि तर्क या बुद्धि के द्वारा होती है, पर ध्वनि में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति तर्क के सहारे न होकर सहृदयता (भावुकता, कल्पना आदि) के द्वारा होती है।

अब भाक्त (लक्षणा)वादियों को लीजिए। उनका कहना है कि वाच्यार्थ के अतिरिक्त यदि कोई दूसरा अर्थ होता है वह लक्ष्यार्थ के ही अंतर्गत आ जाता है। व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ का ही एक रूप है, अतएव लक्षणा से भिन्न व्यंजना जैसी कोई शक्ति नहीं है। इस मत का खंडन अधिक मरल है।

इसके विरुद्ध पहली प्रबल युक्ति तो स्वयं ध्वनिकार ने प्रस्तुत की है। वह यह कि वाच्यार्थ की तरह लक्ष्यार्थ भी नियत ही होता है और उसे वाच्यार्थ के वृत्त में ही होना चाहिए। अर्थात् लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से निश्चय ही संबद्ध होगा। 'गंगा पर घर' वाक्य में गंगा का जो प्रवाहरूप अर्थ है वह तट को ही लक्षित कर सकता है, सड़क को नहीं, क्योंकि प्रवाह का तट के साथ ही नियत संबंध है (काव्यालोक)। इसके विपरीत व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ के साथ नियत संबंध अनिवार्य नहीं है—इन दोनों का नियत संबंध, अनियत संबंध और संबंध संबंध भी होता है। ध्वनिकार ने इसकी विस्तृत व्याख्या की है। कहने का तात्पर्य यह है कि लक्ष्यार्थ एक ही हो सकता है और वह भी सर्वथा संबद्ध होगा, परंतु व्यंग्यार्थ अनेक हो सकते हैं और उनका संबंध अनियत भी हो सकता है।

दूसरी प्रबल युक्ति यह है कि प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोग सर्वदा किसी प्रयोजन से किया जाता है। उदाहरण के लिये 'गंगा के किनारे घर' के स्थान पर 'गंगा पर घर' कहने का एक निश्चित प्रयोजन है और वह यह है कि 'पर' के द्वारा अतिनैकट्य और तज्जन्य शैत्य और पावनत्व आदि की सूचना अभिप्रेत है। लक्षणा का यह प्रयोग सर्वत्र सप्रयोजन होगा अन्यथा यह केवल वितडा मात्र रह जायगा। यह प्रयोजन सर्वत्र व्यग्य रहता है और इसकी सिद्धि व्यजना के द्वारा ही हो सकती है।

तीसरा तर्क पहले ही उपस्थित किया जा चुका है और वह यह है कि रसादि सीधे वाच्यार्थ से व्यग्य होते हैं, लक्ष्यार्थ के माध्यम से उनकी प्रतीति नहीं होती। अतएव उनका लक्ष्यार्थ से कोई सबध नहीं। इस प्रकार लक्षणा में व्यजना का अतर्भाव संभव नहीं है।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी प्रमाण हैं जिनसे ध्वनि की सिद्धि होती है। उदाहरण के लिये, दोष दो प्रकार के होते हैं—नित्य दोष, जो सर्वत्र काव्य की हानि करते हैं, और अनित्य दोष, जो प्रसंगभेद से काव्य के साधक भी हो जाते हैं—जैसे श्रुतिकटुत्वाद, जो शृंगार में बाधक होते हैं वे ही वीर तथा रौद्र के साधक हो जाते हैं। दोषों की यह नित्या-नित्यता व्यग्यार्थ की स्वीकृति पर ही अवलंबित है। श्रुतिकटु वर्ण वीर अथवा रौद्र के साधन इसी लिये हैं कि वे कर्कशता की व्यजना कर उत्साह और क्रोध की कठोरता में योग देते हैं। इनके द्वारा कर्कशता व्यग्य रहती है, वाच्य नहीं।

(५) ध्वनि के भेद—ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—(१) लक्षणामूला ध्वनि और (२) अभिधामूला ध्वनि।

(अ) लक्षणामूला ध्वनि—लक्षणामूला ध्वनि स्पष्टतः लक्षणा के आश्रित होती है, इसे अविवक्षितवाच्य ध्वनि भी कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती, अर्थात् वाच्यार्थ बाधित रहता है, उसके द्वारा अर्थ की प्रतीति नहीं होती। लक्षणामूल ध्वनि के दो भेद हैं—(अ) अर्थातिरसकर्मित वाच्य और (आ) अत्यतिरस्कृत वाच्य। अर्थातिरसकर्मित वाच्य से अभिप्राय है जहाँ वाच्यार्थ हमारे अर्थ में सकर्मित हो जाय अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ बाधित होकर दूसरे अर्थ में परिणत हो जाय। ध्वनिकार ने इसके उदाहरण स्वरूप पर अपना एक श्लोक^१ दिया है जिसका स्थूल हिंदी रूपांतर इस प्रकार है :

तबही गुन सोभा लहै, सहृदय जबहि सराहि ।

कमल कमल है तबहि, जब रविकर सों विकसाहि ॥

यहाँ कमल का अर्थ हो जायगा 'मकरदंष्ट्री एवं विकचता आदि से युक्त'—अन्यथा वह निरर्थक ही नहीं वरन् पुनरुक्त दोष का भागी भी होगा। इस प्रकार कमल का साधारण अर्थ उपर्युक्त व्यग्यार्थ में सकर्मित हो जाता है।

अत्यतिरस्कृतवाच्य—अत्यतिरस्कृत वाच्य में वाच्यार्थ अत्यंत तिरस्कृत रहता है। उसको लगभग छोड़ ही दिया जाता है। यह ध्वनि पदगत और वाक्यगत दोनों प्रकार की होती है। ध्वनिकार ने पदगत ध्वनि का उदाहरण दिया है

रविसंक्रान्त सौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।

निःश्वासान्ध इवादशंश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥

१. ताला जाग्रन्ति गुणा जाला दे सहिअएहि धेप्पन्ति ।

रइ किरणान्गुगहिआइ होन्ति कमलाइ कमलाइ ॥

(साँस सो आँधर दर्पन है जस बादर ओट लखात है चदा)

यहाँ 'अध' या 'आँधर' शब्द का अर्थ 'नेत्रहीन' न होकर लक्षणा की सहायता से 'पदार्थों को स्फुट करने में अशक्त' होता है। इस प्रकार वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है। इसका व्यंग्यार्थ है—'असाधारण विच्छाद्यत्व, अनुपयोगित्व तथा इसी प्रकार के अन्य धर्म।' वाक्यगत ध्वनि का उदाहरण ध्वन्यालोक में यह दिया गया है

सुवर्णपुष्पां पृथ्वी चिन्वन्ति पुरुषास्तनयः।

शूरश्च, कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

सुवरणपुष्पा भूमि कों, चुनत चतुर नर तीन।

सूर और विद्यानिपुन, सेवा माँहि प्रवीन ॥

—काव्यकल्पद्रुम की सहायता से

यहाँ संपूर्ण वाक्य का ही मुख्यार्थ सर्वथा असमर्थ है क्योंकि न तो पृथ्वी सुवर्ण-पुष्पा होती है और न उसका चयन संभव है। अतएव लक्षणा की सहायता से इसका अर्थ यह होगा कि तीन प्रकार के नरश्रेष्ठ पृथ्वी की समृद्धि का अर्जन करते हैं। इस ध्वनि में लक्षणलक्षणा रहती है।

लक्षणामूला ध्वनि अनिवार्यतः प्रयोजनवती लक्षणा के ही आश्रित रहती है क्योंकि रूढिलक्षणा में तो व्यंग्य होता ही नहीं।

(आ) अभिधामूला ध्वनि—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह ध्वनि अभिधा पर आश्रित है। इसे विवक्षितान्यपरवाच्य भी कहते हैं। विवक्षितान्यपरवाच्य का अर्थ है—जिसमें वाच्यार्थ विवक्षित होने पर भी अन्यपरक अर्थात् व्यंग्यनिष्ठ हो। अर्थात् यहाँ वाच्यार्थ का अपना अस्तित्व अवश्य होता है, परंतु वह अतत. व्यंग्यार्थ का माध्यम ही होता है। अभिधामूला ध्वनि के दो भेद हैं—असलक्ष्यक्रम और सलक्ष्यक्रम। असलक्ष्यक्रम में पूर्वापर का क्रम सम्यक् रूप से लक्षित नहीं होता, यह क्रम होता अवश्य है और उसका आभास भी निश्चय ही होता है, परंतु पूर्वापर अर्थात् वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति का अंतर अत्यन्तान्यतः स्वल्प होने के कारण 'शतपत्रभेदनाय' से स्पष्टतया लक्षित नहीं होता। समस्त रसप्रपञ्च इसके अंतर्गत आता है। सलक्ष्यक्रम में यह पूर्वापर्यं क्रम सम्यक् रूप से लक्षित होता है। कही यह शब्द के आश्रित होता है, कही अर्थ के आश्रित और कही शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित। इस प्रकार इसके तीन भेद हैं—शब्दशक्ति-उद्भव, अर्थशक्ति-उद्भव और शब्दार्थउभयशक्ति-उद्भव। वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि सलक्ष्यक्रम के अंतर्गत ही आती है क्योंकि इनमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पूर्वापर्यं क्रम स्पष्ट लक्षित रहता है।

ध्वनि के मुख्य भेद ये ही हैं। इनके अवातर भेदों की संख्या का ठीक नहीं। मम्मट के अनुसार कुल संख्या १०४४५ तक पहुँचती है। ४१ शुद्ध और १०४०४ मिश्र। इधर ५० रामदहिन् मिश्र ने ४५१६२० का हिसाब लगा दिया है।

(६) ध्वनि की व्यापकता—उपर्युक्त प्रस्ताव से ही ध्वनि की व्यापकता सिद्ध हो जाती है। वैसे भी, काव्य का कोई भी ऐसा रूप नहीं है जो ध्वनि के बाहर पड़ता हो। ध्वनि की व्यापकता का दूसरा प्रमाण यह है कि उसकी सत्ता उपसर्ग और प्रत्यय से लेकर संपूर्ण महाकाव्य तक है। पदविभक्ति, क्रियाविभक्ति, वचन, संबन्ध, कारक, कृत्, प्रत्यय, समास, उपसर्ग, निपात, काल आदि से लेकर वर्ण, पद, वाक्य, मुक्तक पद्य और महाकाव्य तक उसके अधिकारक्षेत्र का विस्तार है। जिस प्रकार एक उपसर्ग या प्रत्यय या पदविभक्ति

मात्र से एक विशिष्ट रमणीय अर्थ का ध्वनन होता है, उसी प्रकार संपूर्ण महाकाव्य से भी एक विशिष्ट अर्थ का ध्वनन या स्फोट होता है। प्र, परि, कु, वा, डा आदि जहाँ एक रमणीय अर्थ को व्यक्त करते हैं, वहाँ रामायण और महाभारत जैसे विशालकाय ग्रंथ का भी एक ध्वन्यर्थ होता है जिसे आधुनिक शब्दावली में सदेश, मूलार्थ आदि अनेक नाम दिए गए हैं।

(७) ध्वनि और रस—भरत ने रस की परिभाषा की है—विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि काव्य में केवल विभाव, अनुभाव आदि का ही कथन होता है—उनके संयोग के परिपाक रूप रस का नहीं। अर्थात् रस वाच्य नहीं होता। इतना ही नहीं, वाचक शब्दों द्वारा रस का कथन रसदोष भी माना जाता है—रस केवल प्रतीत होता है। दूसरे, जैसा अभी व्यजना के विषय में कहा गया है, किसी उक्ति का वाच्यार्थ रसप्रतीति नहीं कराता, वह केवल अर्थबोध कराता है। रस सहृदय की हृदयस्थित वासना की आनंदमय परिणति है जो अर्थबोध से भिन्न है। अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता, अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है—पारिभाषिक शब्दों में, व्यजना या ध्वनन होता है। इसी तर्क से ध्वनिकार ने उसे केवल रस न मानकर रसध्वनि माना है।

(८) ध्वनि के अनुसार काव्य के भेद—ध्वनिवादियों ने काव्य के तीन भेद किए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। इस वर्गक्रम का आधार स्पष्टतः ध्वनि अथवा व्यंग्य की सापेक्षिक प्रधानता है। उत्तम काव्य में व्यंग्य की प्रधानता रहती है, अर्थात् उसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान रहता है, उसी को ध्वनि कहा गया है। ध्वनि के भी, अर्थात् उत्तम काव्य के भी, तीन भेद हैं—रसध्वनि, अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि। इनमें रसध्वनि सर्वश्रेष्ठ है। मध्यम काव्य को गुणीभूत व्यंग्य भी कहते हैं। इसमें व्यंग्यार्थ का अस्तित्व तो अवश्य होता है, परंतु वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय नहीं होता—या तो समान रमणीय होता है, या कम, अर्थात् उसकी प्रधानता नहीं रहती। अधम काव्य के अंतर्गत चित्र आता है जो वास्तव में काव्य है भी नहीं। उसमें न तो व्यंग्यार्थ होता है और न अर्थगत चारुत्व। ध्वनिकार ने उसकी अधमता स्वीकार करते हुए भी काव्य की कोटि में उसे स्थान दे दिया है—परंतु रस का सर्वथा अभाव होने के कारण अभिनव ने और उनके बाद विश्वनाथ ने उसको काव्य की श्रेणी से पूर्णतः बहिर्गत कर दिया है। इस प्रकार ध्वनि के अनुसार काव्य का उत्तम रूप है ध्वनि और ध्वनि में भी सर्वोत्तम है रसध्वनि। पंडितराज जगन्नाथ ने इसे उत्तमोत्तम भेद कहा है, अर्थात् रस या रसध्वनि काव्य का सर्वोत्तम रूप है। दूसरे शब्दों में रस ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्व है। शास्त्रीय दृष्टि से रस और ध्वनि का यही सबंध एवं तारतम्य है।

(९) ध्वनि में अन्य सिद्धांतों का अंतर्भाव—ध्वनिकार अपने समूख दो उद्देश्य रखकर चले थे—एक ध्वनि सिद्धांत की निष्ठा स्थापना, दूसरे अन्य सभी प्रचलित सिद्धांतों का ध्वनि में समाहार। वास्तव में ध्वनि सिद्धांत की सर्वमान्यता का मुख्य कारण भी यही हुआ। ध्वनि को उन्होंने इतना व्यापक बना दिया कि उसमें न केवल पूर्ववर्ती रस, गुण, रीति, अलंकार आदि का ही समाहार हो जाता था बल्कि परवर्ती वक्रोक्ति, औचित्य आदि भी उससे बाहर नहीं जा सकते थे। इसकी सिद्धि दो प्रकार से हुई—एक तो यह कि रस की भाँति गुण, रीति, अलंकार, वक्रता आदि भी व्यंग्य ही रहते हैं। वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणों का कथन होता है, न वैदर्भी आदि रीतियों का, न उपमा आदि अलंकारों का, और न वक्रता का ही। ये सब ध्वनि रूप में ही उपस्थित रहते हैं। दूसरे गुण, रीति, अलंकार, आदि तत्व प्रत्यक्षतः अर्थात् सीधे वाच्यार्थ द्वारा मन को आह्लाद

नहीं देते। अतएव ये सब ध्वन्यर्थ के सबध से, उसी का उपकार करते हुए, अपना अस्तित्व सार्थक करते हैं। इनके अतिरिक्त इन सबका महत्व भी अपने प्रत्यक्ष रूप के कारण नहीं वरन् ध्वन्यर्थ के कारण है। क्योंकि जहाँ ध्वन्यर्थ नहीं होगा वहाँ ये आत्माविहीन पचतत्त्वो अथवा आभूषणो आदि के समान निरर्थक होंगे। इसी लिये ध्वनिकार ने उन्हें ध्वन्यर्थ रूप अंगी का अंग माना है। इनमें गुणों का सबध चित्त की द्रुति, दीप्ति आदि से है, अतएव वे ध्वन्यर्थ के साथ, जो मुख्यतया रस ही होता है, अंतरंग रूप से उसी प्रकार सबद्ध हैं, जैसे शौर्यादि आत्मा के साथ। रीति अर्थात् पदसघटना का सबध शब्दार्थ से है इसलिये वह काव्य के शरीर से सबद्ध है। परंतु फिर भी, जिस प्रकार सुंदर शरीरसंस्थान मनुष्य के बाह्य व्यक्तित्व की शोभा बढ़ाता हुआ वास्तव में उसकी आत्मा का ही उपकार करता है, उसी प्रकार रीति भी अतत काव्य की आत्मा का ही उपकार करती है। अलंकारों का सबध भी शब्दार्थ से ही है। परंतु रीति का सबध स्थिर है, अलंकारों का अस्थिर—अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि सभी काव्यशब्दों में अनुप्रास या किसी अन्य शब्दालंकार का, और सभी प्रकार के काव्यार्थों में उपमा या किसी अन्य अर्थालंकार का चमत्कार नित्य-रूप से वर्तमान ही हो। अलंकारों की स्थिति आभूषणों की सी है जो अनित्यरूप से शरीर की शोभा बढ़ाते हुए अतत आत्मा के सौंदर्य में ही वृद्धि करते हैं। शरीरसौंदर्य की स्थिति आत्मा के बिना संभव नहीं है, अतएव शब्दों के लिये सभी आभूषण व्यर्थ होते हैं। (यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ध्वनिकार ने अलंकारों को अत्यंत संकुचित अर्थ में ग्रहण किया है)। अलंकारों को व्यापक रूप में ग्रहण करने पर, अर्थात् उसके अंतर्गत सभी प्रकार के उक्तिचमत्कारों को ग्रहण करने पर—चाहे उसका नामकरण हुआ हो या नहीं, चाहे वह लक्षणा का चमत्कार हो अथवा व्यंजना का—जैसा कुतक ने वक्रोक्ति के विषय में किया है, उसे न तो शब्दार्थ का अस्थिर धर्म सिद्ध करना ही सरल है, और न अलंकार अलंकार्य में इतना स्पष्ट भेद किया जा ही सकता है।

(१०) उपसंहार—अतः, उपसंहार रूप में, ध्वनि सिद्धांत का एक सामान्य परीक्षण और आवश्यक है। क्या ध्वनि सिद्धांत सर्वथा निष्प्राप्त और काव्य का एकमात्र स्वीकार्य सिद्धांत है? क्या वह रस सिद्धांत से भी अधिक मान्य है। इस प्रश्न का दूधका रूप यह है—काव्य की आत्मा ध्वनि है अथवा रस? जैसा प्रसंग में कहा गया है, अततो-गत्वा रस और ध्वनि में कोई अंतर नहीं रह गया था। यो तो आनंदवर्धन ने ही रस को ध्वनि का प्रतिघात तत्त्व माना था, पर अभिनव ने इसको और भी स्पष्ट करते हुए रस और ध्वनि सिद्धांतों को एकरूप कर दिया। फिर भी, इन दोनों में सूक्ष्म अंतर न हो, ऐसी बात नहीं है। इस अंतर की चेतना अभिनव के उपरांत भी निस्संदेह बनी रही। विश्वनाथ का रसप्रतिपादन और उसके उपरांत पंडितराज जगन्नाथ द्वारा उनकी आलोचना तत्त्व ध्वनि का पुनः स्थापन इस सूक्ष्म अंतर के अस्तित्व का साक्ष्य है। जहाँ तक दोनों के महत्व का प्रश्न है, संसर्ग में सिद्ध नहीं किया जा सकता। ध्वनि रस के बिना काव्य नहीं बन सकती, और रस ध्वनि के बिना, केवल कथित होकर, काव्य नहीं हो सकता। काव्य में ध्वनि को रस, रमणीय होना पड़ेगा और रस को व्यंग्य। 'सूर्य अस्त हो गया' से एक ध्वनि यह निकलती है कि अब काम बंद करो—परंतु ध्वनि की स्थिति असदिग्ध होने पर भी रस के अभाव में यह काव्य नहीं है। इसी प्रकार 'दुष्यंत शकुंतला से प्रेम करता है।' यह वाक्य रस का अभाव करने पर भी व्यंजना के अभाव में काव्य नहीं है। अतएव दोनों की अनिवार्यता असदिग्ध है। परंतु प्रश्न सापेक्षिक महत्व का है। विधि और तत्त्व दोनों का ही महत्व है, परंतु फिर भी तत्त्व तत्त्व ही है। रस और ध्वनि में तत्त्व पद का अधिकारी कौन है? इसका उत्तर निश्चित है—रस। रस और ध्वनि दोनों में रस ही अधिक महत्वपूर्ण है—उसी के कारण ध्वनि में रमणीयता आती है। पर इसको व्यापक अर्थ में ग्रहण करना

चाहिए। रस को मूलतः परंपरागत सकीर्ण विभावानुभाव व्यभिचारी के संयोग से निष्पन्न रस के अर्थ में ग्रहण करना सगत नहीं। रस के अतर्गत समस्त भावविभूति अथवा अनुभूति-वैभव आ जाता है। अनुभूति की वाहक (व्यजक) बनकर ही ध्वनि रमणीय होती है, अन्यथा वह काव्य नहीं बन सकती। अनुभूति ही सहृदय के मन में अनुभूति जगाती है। हाँ, कवि की अनुभूति को सहृदय के मानस तक प्रेषित करने के लिये कल्पना का प्रयोग अनिवार्य है—उसी के द्वारा अनुभूति का प्रेषण संभव है। कल्पना द्वारा अनुभूति का प्रेषण ही तो शास्त्रीय शब्दावली में उसकी व्यजना या ध्वनन है। इस प्रकार रस और ध्वनि का प्रतिद्वंद्व अनुभूति और कल्पना का ही प्रतिद्वंद्व ठहरता है। और अतः में जाकर यह निश्चय करना रह जाता है कि इन दोनों में से काव्य के लिये कौन अधिक महत्वपूर्ण है? यह निर्णय भी अधिक कठिन नहीं है—अनुभूति और कल्पना में अनुभूति ही अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि काव्य का सवेद्य वही है। कल्पना इस सवेदन का अनिवार्य साधन अथवा साधन है, परंतु सवेद्य नहीं है। इसी लिये प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचर्ड्स ने प्रत्येक कविता को मूलतः एक प्रकार की अनुभूति ही माना है। और वैसे भी ‘रसो वै स’—रस तो जीवनचर्या का प्राण है। काव्य के क्षेत्र में या अन्यत्र उसको अपने पद से कौन व्युत्पन्न कर सकता है? ध्वनि सिद्धांत का सबसे महत्वपूर्ण योग यह रहा कि उसने जीवन के प्रत्यक्ष रस और काव्य के भावित रस के बीच का अंतर स्पष्ट कर दिया।

७ नायकनायिका भेद

(१) पृष्ठाधार—लक्ष्य ग्रंथों की ही भित्ति पर लक्षण ग्रंथ का निर्माण होता है—यह कथन काव्य के अन्य अंगों—अलंकार, गुण, दोष, रीति, ध्वनि, रस, शब्दशक्ति—पर तो घटित होता है, पर ‘नायकनायिका भेद’ पर पूर्ण रूप से घटित नहीं होता। यदि लक्ष्य ग्रंथों को ही आधार माना जाय तो नायिका के प्रमुख भेदों में से केवल स्वकीया नायिका ही ‘नायिका’ कहलाने की अधिकारिणी ठहरती है, शेष दो—परकीया (प्रौढा तथा कन्या) और सामान्या—नायिकाएँ नहीं, क्योंकि संस्कृत साहित्य के काव्य और नाटक परकीया और सामान्या नायिकाओं को प्रमुख रूप में उपस्थित नहीं करते। यहाँ वसतसेना, वासवदत्ता, शकुंतला और तारा के विषय में आपत्ति उठाई जा सकती है, पर न ‘मुञ्चकटिकम्’ की वसतसेना सामान्या नायिका की शास्त्रीय परिभाषा पर खरी उतरती है और न ‘स्वप्न-वासवदत्तम्’ की वासवदत्ता तथा ‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ की शकुंतला ‘कन्या परकीया’ की। वसतसेना को द्रव्य से मोह नहीं और न वासवदत्ता और शकुंतला का प्रेम संसार से गुप्त है। प्रौढा नारी तारा के प्रति बाली का तथावर्णित रतिसंबन्ध भी सामाजिक के हृदय में काव्यानंद की उत्पत्ति नहीं करता।

काव्य और नाटक के अतिरिक्त हरिवंश, पद्म, विष्णु, भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराणों में वर्णित कृष्णगोपी सबंधी आख्यानो को भी हमारे विचार में नायकनायिका-भेद के पृष्ठाधार के रूप में स्वीकार करना समुचित नहीं है। संस्कृत काव्यशास्त्रीय उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर सर्वप्रथम भरत (३य शती ई० पू०—३य शती ई०) ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में कुलजा, कन्या, आभ्यंतरी (वेश्या), बाह्या (कुलीना) आदि नायिकाओं की ओर संकेत किया है। पहले तो यह निश्चित नहीं है कि उक्त सभी अथवा इनमें से कुछेक पुराणों के कृष्णगोपी सबंधी आख्यानो की रचना भरत से पूर्व हो चुकी थी, और दूसरे, भरत का नायकनायिकाभेद निरूपण किसी भी रूप में कृष्णगोपी सबंध को सिद्धांतबद्ध नहीं करता। वैष्णव परंपरा द्वारा अनुमोदित उज्ज्वलनीलमणि ग्रंथ के रचयिता रूप गोस्वामी अपने ग्रंथ में परकीया नायिका को तो स्थान देते हैं, पर सामान्या को नहीं। उधर भरत के नाट्यशास्त्र में वेश्या (आभ्यंतरी) और स्वकीया (बाह्या तथा कुलजा) को

तो स्थान मिला है, पर परकीया को नहीं। वैष्णव विचारधारा भरत के समय में भिन्न रही हो और रूपगोस्वामी के समय में भिन्न—यह धारणा असंभव जान पड़ती है। इसके प्रतिरिक्त कृष्णाख्यानों की परकीयाएँ एकत्र रहकर ईर्ष्याभाव कर सकती हैं, पर परंपरागत नायिकाभेद प्रकरणों में परकीया का ऐसा स्वरूप चित्रित नहीं किया गया।

वस्तुतः 'लोकानुकृति नाट्यम्' का विवेचन करनेवाले भरत को लोक के प्रचलित आधारणा स्त्रीपुरुषों की विभिन्न प्रकृतियों और उनके व्यवहारों से प्रेरणा मिली है और इसी आधार पर उन्होंने नायकनायिका भेदों का निरूपण किया है। इसी प्रसंग में कामशास्त्रों से प्राप्त प्रेरणा की भी उन्होंने चर्चा की है^१, पर किसी पुराण का यहाँ उल्लेख नहीं है। कामशास्त्र का पृष्ठाधार भी निस्संदेह साधारण जगत् का साधारण स्त्रीपुरुष-व्यवहार ही है, न कि नाटक, काव्य अथवा आख्यायिका सबंधी ग्रंथसमुच्चय। अतः हमारे विचार में नायकनायिकाभेद प्रकरणों का पृष्ठाधार साहित्यिक लक्ष्यग्रंथ न होकर मूलतः साधारण स्त्रीपुरुषों का पारस्परिक रतिव्यवहार ही है। यह अलग प्रश्न है कि प्रागे चलकर प्रचलित नायकनायिकाभेद के आधार पर जयदेव जैसे संस्कृत कवियों ने तोपीकृष्ण सबंधी मुक्तक काव्यों का निर्माण किया, रूपगोस्वामी जैसे आचार्य ने नायकनायिकाभेद प्रकरण को कृष्णागोपी सबंध की भित्ति पर प्रतिष्ठित कर उसमें यथासाध्य रिवर्तन कर दिया और इधर हिंदी रीतिकालीन कवि नायकनायिकाभेद सबंधी पूर्व-स्थित धारणाओं को लक्ष्य में रखकर मुक्तक रचनाओं का निर्माण करता चला गया।

(२) नायकनायिकाभेद निरूपक आचार्य और ग्रंथ—संस्कृत वाङ्मय में नायकनायिकाभेद को नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र और कामशास्त्र सबंधी ग्रंथों में स्थान मिला है। कामशास्त्र सबंधी ग्रंथों में कामसूत्र, अनंगरंग, रतिरहस्य आदि के नाम विशेषतः उल्लेख्य हैं। नाट्यशास्त्र सबंधी चार ग्रंथ सुलभ हैं—भरत का नाट्यशास्त्र, धनंजय का दशरूपक, सागरनदी का नाटकलक्षणरत्नकोष और रामचंद्र गुणचंद्र का नाट्यदर्पण। इन सबमें नायकनायिका भेद का यथास्थान निरूपण हुआ है, पर भरत के ग्रंथ के अतिरिक्त शेष ग्रंथों में पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रकारों का ही अनुकरण मात्र है। नायकनायिकाभेद ही दृष्टि से काव्यशास्त्र सबंधी ग्रंथों के दो वर्ग हैं

(क) शृंगार रस के अंतर्गत नायकनायिकाभेद निरूपक ग्रंथ इनमें से रुद्रट्ट का काव्यालंकार, भोज का सरस्वतीकठाभरण और शृंगारप्रकाश तथा विश्वनाथ का साहित्यदर्पण विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त रुद्रभट्ट, अग्निपुराणकार, श्रीकृष्ण कवि, वाग्भट्ट प्रथम, हेमचंद्र, शारदातनय, विद्यानाथ, शिखरभूपाल, वाग्भट्ट द्वितीय और केशव मिश्र के काव्यशास्त्रों में भी इस प्रकरण को स्थान मिला है, पर इनमें इस सबंध में कोई उल्लेखनीय नवीनता उपलब्ध नहीं होती।

१. (क) तत्र राजोपभोग तु व्याख्यास्यामनुपूर्वका ।
उपाचरविधिं सम्यक् कामसूत्रसमुत्थितम् ॥

(ख) आस्वबस्थासु विज्ञेया नायिका नाटकाश्रया ।
एतासा यच्च वक्ष्यामि कामतन्त्रमनेकधा ॥—नाट्यशास्त्र, २४।१४१-४२,
२१३, २२४

(ग) कुलागतानामेवाय प्रोक्त कामाश्रयो विधि ।

(घ) अस्वाभावौ बिदित्वा च ततस्तैस्तरुपक्रमै ।

पुमानुपरेन्नास्ती कामतत्र समीक्ष्य तु ॥—नाट्यशास्त्र २५।६५

(ख) केवल नायकनायिकाभेद निरूपक ग्रंथ इस वर्ग में दो ग्रंथ अति प्रसिद्ध हैं—भानु मिश्र की रसमजरी और रूप गोस्वामी का उज्ज्वलनीलमणि । तीसरा ग्रंथ सत अकबर शाह प्रणीत शृंगारमजरी प्रसिद्धि की दृष्टि से न सही, विषयव्यवस्था और मौलिक मान्यताओं के लिये उल्लेखनीय एवं उपादेय है ।

उपर्युक्त आचार्यों के ग्रंथों की अपनी अपनी विशिष्टताएँ हैं । भरत के नाट्य-शास्त्र का मूल विषय नाटक होने के कारण यद्यपि नायकनायिका भेद की चर्चा केवल तीन अध्यायों में—२४वे, २५वे और ३४वे अध्यायों में और वह भी गौण रूप से—की गई है, फिर भी परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत लगभग सभी नायकनायिकाभेदों और उनके उदाहरणों के मूल स्रोत भरत के इन्हीं प्रसंगों में यत्नतः निहित है । भरत के पश्चात् सर्वप्रथम रुद्रटप्रणीत काव्यालंकार में यह प्रकरण अत्यंत व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया और शताब्दियों तक इसी ग्रंथ की भेदयोजना का अनुकरण होता रहा है । भोजराज के सरस्वतीकठाभरण और शृंगारप्रकाश के प्रतिपादन की एक प्रमुख विशेषता है—अपने समय तक प्रचलित अथवा अप्रचलित काव्य के लगभग सभी अंगों एवं उपांगों का यथासंभव वर्णबद्ध सकलन और संपादन । यह अलग बात है कि परवर्ती आचार्यों ने संभवतः इनके विस्तृत निरूपण से भयभीत होकर इनका अनुकरण नहीं किया । यही स्थिति इनके नायकनायिकाभेद प्रकरण की भी है । इस दृष्टि से विश्वनाथ अधिक सफल हुए । उन्होंने अपने समय तक प्रचलित नायकनायिकाभेद सबंधी विस्तृत सामग्री में से सार-ग्रहण कर उसे संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जो विद्वद्गण तथा छात्रवर्ग दोनों के लिये उपयोगी हुआ ।

नायकनायिकाभेद की स्वतंत्र विवेचना सबसे पहले भानु मिश्र ने की । उनसे पूर्व इस प्रकरण को शृंगार रस के आलंबन विभाव के अंतर्गत निरूपित किया जाता था, परिणामतः इतना विस्तृत प्रसंग रसनिरूपण में एक अवच्छिन्न सी बाधा और विषय के अंगुष्ठापात में एक अनुचित सी विषमता उपस्थित करता रहा । पर भानु मिश्र के इस स्वतंत्र निरूपण से इनके ग्रंथ रसमजरी में ये दोष नहीं रहे । इसके अतिरिक्त विषय के विस्तार और स्वच्छ व्यवस्था की दृष्टि से भी यह ग्रंथ उपादेय एवं अनुकरणीय रहा है । रूप-गोस्वामी के उज्ज्वलनीलमणि ग्रंथ में नायक नायिकाभेद जैसे शुद्ध शृंगार रस के प्रसंग को इन्होंने 'मधुर' रस के रूप में ढालकर नवीन पथप्रदर्शन के साथ साथ नायकनायिकाभेद से प्रभावित भक्त कवियों को शृंगारी कवि कहाने के लक्षण से मुक्त करने का सुंदर प्रयास किया है । हिंदी के रीतिकालीन आचार्य नायकनायिकाभेद के लक्षणपक्ष में भानु मिश्र से प्रायः प्रभावित हैं, और लक्ष्यपक्ष में रूप गोस्वामी से । इन्होंने उदाहरणनिर्माण के लिये प्रायः रूप गोस्वामी के समान गोपी कृष्ण को नायिका एवं नायक के भेदों का माध्यम बनाया है ।

इस वर्ग के तीसरे लेखक अकबरशाह की प्रसिद्धि अपेक्षाकृत कम है । किंतु उनके ग्रंथ में नायकनायिकाभेद का अत्यंत प्रौढ़ एवं खडनमडनात्मक विवेचन उपलब्ध होता है । लेखक ने स्थान स्थान पर भानु मिश्र की रसमजरी और उसपर 'आमोद' नामक किसी अप्राप्य टीका का दुराग्रहरहित खडन प्रस्तुत करते हुए अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है । यह ग्रंथ निम्नोक्त दो कारणों से हिंदी रीतिग्रंथों में अधिक प्रचार नहीं पा सका । प्रथम यह कि ग्रंथ की रचना दक्षिण भारत में होने के कारण इसकी 'संस्कृत छाया' उत्तर भारतीय हिंदी आचार्यों को प्रायः दुष्प्राप्य रही होगी । यद्यपि चिंतामणि ने इसकी 'हिंदी छाया' की भी रचना की थी, पर वह अपने मूलाधार के बिना जटिल एवं दुर्बोध बनी रह गई । दूसरा कारण प्रथम की अपेक्षा कहीं अधिक सबल है और वह है शृंगारमजरी की खडन-

मंडनात्मक गद्यबद्ध गभीर शैली। रीतिकालीन हिंदी आचार्यों ने कभी इस खडनमंडन के प्रपंच में पडना उचित नहीं समझा।

(३) नायक तथा नायिका के भेदोपभेद—

(अ) नायकभेद—भरत से लेकर अकबर शाह तक सभी आचार्यों ने विभिन्न आधारों पर नायक के भेदों का उल्लेख किया है। भरत ने नायक को प्रकृति के आधार पर तीन प्रकार का माना है—उत्तम, मध्यम और अधम, शील के आधार पर चार प्रकार का—धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशांत, नारी के प्रति रति सबंधी तथा अन्य व्यवहार के आधार पर भरत ने पुरुष के पाँच भेद माने हैं—चतुर, उत्तम, मध्यम, अधम और सप्रवृद्ध।

भरत के उपरांत रुद्रट ने नायिका के प्रति प्रेमव्यवहार के आधार पर नायक के चार भेद गिनाए हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। इनके पश्चात् भोजराज ने विभिन्न आधारों पर नायक के नवीन भेदों का उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार कथावस्तु के आधार पर नायक के छह भेद हैं—नायक, प्रतिनायक, उपनायक, नार्यकाभास, उभयाभास और तिर्यगाभास, प्रकृति के आधार पर तीन भेद हैं—सात्विक, राजस और तामस, परिग्रह के आधार पर दो भेद—साधारण (अनेकानुरक्त) और अनन्यजाति (अनन्यानुरक्त)। इनके अतिरिक्त भरतसमत उत्तम आदि तीन तथा धीरोद्धत (उद्धत) आदि चार भेदों का इन्होंने भी उल्लेख किया है।

भोज के उपरांत फिर विश्वनाथ ने नायकभेदों का निरूपण किया है, पर उनमें कोई नवीनता नहीं है, हाँ, विषय की सुव्यवस्था के लिये वे अवश्य उल्लेखनीय हैं। उनके उपरांत भानु मिश्र ने नायक के तीन नूतन भेद उपस्थित किए हैं—पति, उपपति और वैशिक। यद्यपि इन भेदों का स्वरूप पूर्वाचार्यों ने किसी न किसी अन्य रूप में प्रस्तुत किया था, पर इनका नामकरण सर्वप्रथम भानु मिश्र के ग्रंथ में उपलब्ध होता है। इनमें से प्रथम दो नायक नायिका के प्रति व्यवहार के आधार पर चार चार प्रकार के हैं—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ। अन्य अज्ञात आचार्यों द्वारा स्वीकृत मानी और चतुर इन दो नायकभेदों को भानु मिश्र ने शठ के अंतर्भूत किया है। इनमें चतुर नायक दो प्रकार का है—वाक्चतुर और चेष्टाचतुर। प्रोषण के आधार पर नायक के तीन भेद हैं—प्रोषितपति, प्रोषितोपपति और प्रोषितवैशिक। जाति के आधार पर स्वीकृत नायक के तीन भेद—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य—को भानु मिश्र ने स्वीकार नहीं किया।

भानु मिश्र के पश्चात् रूप गोस्वामी ने धीरोदात्त आदि चार तथा अनुकूल आदि चार भेदों के अतिरिक्त पति और उपपति नामक दो भेदों तथा पूर्णतम, पूर्णतर और पूर्ण नामक भेदों की गणना की है। 'वैशिक' को इन्होंने नहीं लिया। इस विषय के अंतिम अन्वय सत अकबर शाह ने कुछेक नए नायकभेद माने हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश। ये दो भेद शठ नायक के हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने दो वर्ग और बनाए हैं। प्रोषित, अमिलित और विरही, ये तीन भेद एक वर्ग में हैं और भद्र, दत्त, कुचमार और पांचाल ये चार भेद दूसरे वर्ग में। पहले वर्ग का आधार नायिकावियोग है, और दूसरे वर्ग का आधार काम-असंतोष अनन्यता।

(आ) नायिकाभेद—भरत ने विभिन्न आधारों पर नायिका (नारी) के भेदों का उल्लेख किया है। सामाजिक व्यवहार के आधार पर उन्होंने नारी के पहले तीन भेद माने हैं—ब्राह्म्या (कुलीन), आश्वतथा (वैश्य) और ब्राह्म्याभ्यंतरा अथवा कृत-श्रीया (अर्थात् जेष्ठवृत्ति आमाकर शुद्ध रूप से श्री के साथ रहनेवाली) और फिर इसी

आधार पर दो अन्य भेद—कुलजा और कन्यका । नायक के साथ सयोग अथवा वियोग के अवस्थानुसार भरत ने नायिका के आठ भेद गिनाए हैं—वासकसज्जा, विरहोत्कठिता, स्वाधीनपतिका, कलहातरिता, खडिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका और अभिसारिका । नायक के प्रति प्रेम के आधार पर नारी के तीन भेद हैं—मदनातुरा, अनुरक्ता और विरक्ता । प्रकृति के आधार पर नायिका के तीन भेद हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा । यौवन-लीला के आधार पर नारी के चार भेद हैं—प्रथम यौवना, द्वितीय यौवना, तृतीय यौवना, और चतुर्थ यौवना । गुण के आधार पर भी चार भेद हैं—दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री और गणिका ।

भरत के उपरांत रुद्रट ने नायिकाभेदों का उल्लेख किया है, जो प्रथम बार सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत होने के कारण प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों द्वारा अनुकरणीय रहा है । इनके अनुसार नायिका के प्रमुख तीन भेद हैं—आत्मीया, परकीया और वेश्या । आत्मीया के रतिविलास के आधार पर तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा । इनमें से अंतिम दो के (पति द्वारा प्राप्त प्रेमव्यवहार के आधार पर) पहले दो दो भेद हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा, फिर इन दोनों के (मान, व्यवहार के आधार पर) तीन तीन भेद भेद—धीरा, अधीरा और मध्या । परकीया के दो भेद हैं—कन्या और अन्योढा । आत्मीया के अन्य दो भेद हैं—स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका, तथा आत्मीया, परकीया और वेश्या इन तीनों के अन्य दो दो भेद हैं—अभिसारिका और खडिता ।

रुद्रट के उपरांत भोजराज ने अपने दोनों ग्रंथों—सरस्वतीकठाभरण और शृंगारप्रकाश—में कतिपय नवीन भेदोपभेद प्रस्तुत किए हैं । सरस्वतीकठाभरण में उन्होंने कथावस्तु के आधार पर नायिका के पाँच भेद गिनाए हैं—नायिका, प्रतिनायिका, उपनायिका, अनुनायिका और नायिकाभास, उपयमन के आधार पर दो भेद—ज्येष्ठा और कनीयसी, मानवृद्धि के आधार पर चार भेद—उद्धता, उदात्ता, शाता और ललिता, वृत्ति के आधार पर तीन भेद—सामान्या, पुनर्भू और स्वैरिणी, तथा आजीविका के आधार पर गणिका, रूपजीवा और विलासिनी । शृंगारप्रकाश में पुनर्भू नायिका के निम्नोक्त चार उपभेदों का उल्लेख है—अक्षता, क्षता, यातायाता और यायावरा, तथा सामान्या नायिका के इन पाँच उपभेदों का—ऊढा, अनुढा, स्वयसरा, स्वैरिणी और वेश्या ।

भोजराज के उपरांत भानु मिश्र ने अपने समय तक प्रचलित नायिकाभेदों में से महत्वपूर्ण भेदों का व्यवस्थापूर्ण सकलन प्रस्तुत कर हिंदी रौतिकालीन आचार्यों का इस विषय में दिशाप्रदर्शन किया । उनके अनुसार नायिका के प्रमुख तीन भेद हैं—स्वीया, परकीया और सामान्या । स्वीया के प्रमुख तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा । मुग्धा के दो भेद हैं—अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना और फिर पति के प्रति विश्रब्धता के आधार पर दो अन्य भेद—नवोढा और विश्रब्धनवोढा । प्रगल्भा के दो भेद हैं—रतिप्रीतिमती और आनंदसमोहवती । मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के मानावस्थाजन्य तीन तीन भेद हैं—धीरा, अधीरा और धीराधरा । फिर इन छहों नायिकाओं के पतिस्नेह के आधार पर दो दो भेद—ज्येष्ठा और कनिष्ठा । इस प्रकार स्वीया के कुल प्रमुख १३ भेद हुए । परकीया के दो भेद हैं—परोढा, कन्यका । गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयना, मुदिता आदि नायिकाभेदों और उनके उपभेदों का अनर्भाव भानु मिश्र ने परकीया के अंतर्गत माना है । सामान्या के भेदोपभेदों की चर्चा भानु मिश्र ने नहीं की । इस प्रकार नायिका के कुल प्रमुख भेद $१३ + २ + १ = १६$ हुए । ये ही सोलह भेद भरतसमस्त उक्त स्वाधीनपतिका आदि आठ भेदों तथा उत्तम आदि तीन भेदों के साथ गुणन द्वारा भानु

मिश्र के मत में ३८४ तक पहुँच जाते हैं। उक्त सख्या में भानु मिश्र द्वारा निरूपित नायिका के अन्य तीन भेद—अन्यसंभोगदुःखिनी, वक्रोक्तिगविता, (प्रेमगविता, सौदर्यगविता) तथा मानवती सम्मिलित नहीं हैं। अवस्था के अनुसार प्रवर्त्यत्पत्निका नामक नवी नायिका भी इन्हीं ने गिनाई है। श्रीकृष्ण कवि द्वारा परिगणित दिव्या, अदिव्या और दिव्या-दिव्या भेद इन्हे स्वीकृत नहीं है।

भानु मिश्र के उपरांत उज्ज्वलनीलमणि के कर्ता रूप गोस्वामी ने परपरागत नायिका-भेदों के अतिरिक्त हरिप्रिया, वृंदावनेश्वरी तथा यूथेश्वरी नामक भेदों तथा इनके भेदोप-भेदों का उल्लेख किया है, पर इन भेदों को किसी भी परवर्ती संस्कृत ग्रंथवा हिंदी के काव्य-शास्त्री ने नहीं अपनाया।

इस विषय के अंतिम काव्याचार्य हैं सत अकबर शाह। इनके ग्रंथ शृंगार-मजरी में निरूपित नायिका के नवीन भेदों की सूची इस प्रकार है—मध्या नायिका के प्रच्छन्न और प्रकाश भेद, प्रगल्भा नायिका के परकीया और सामान्या भेद, परोढा नायिका के उद्बुद्धा और उद्बोधिता भेद, उद्बुद्धा नायिका के सात उपभेदों में से निपुणा (स्वय-दूती), लक्षिता और साहसिका उपभेद, उद्बोधिता नायिका के धीरा आदि तीन उप-भेद, सामान्या के पाँच उपभेद—स्वतन्त्रा, अनन्याधीना, नियमिता, क्लृप्तानुरागा और कल्पितानुरागा। अवस्थानुसार भरतसमस्त आठ भेदों में अकबर शाह ने एक और नवी नायिका 'वक्रोक्तिगविता' जोड़कर इनके अनेक उपभेदों की गणना की है। इनके अति-रिक्त इस ग्रंथ में कामशास्त्रीय हस्तिनी, चित्रिणी, शखिनी और पद्मिनी नायिकाओं का भी उल्लेख हुआ है।

सत अकबर शाह के उपरान्त संस्कृत के किसी आचार्य ने नायकनायिका भेदों का उल्लेख नहीं किया। इधर हिंदी आचार्यों ने भी इनके ग्रंथ का आधार ग्रहण नहीं किया। कुछ भेदोपभेद इधर उधर हिंदी आचार्यों के ग्रंथों में अवश्य उपलब्ध हो जाते हैं, उदाहरणार्थ—तोष, गुलाम नबी रसलीन और भिखारीदास के ग्रंथों में उद्बुद्धा और उद्बोधिता नामक नायिका-भेदों का उल्लेख है। कुमारमणि ने रसिकलाल में सामान्या के अकबरसमस्त स्वतन्त्रा आदि उक्त पाँच भेदों की चर्चा की है।

(४) नायकनायिकाभेद परीक्षण—यहाँतक तो रही विवेचन और विस्तार की बात। अब प्रश्न है कि यह सब सामाजिक व्यवहार, कर्तव्यशास्त्र, रसशास्त्र आदि की दृष्टि से कहाँतक ग्राह्य अथवा अग्राह्य है।

(१) सामाजिक व्यवहार के आधार पर नायिका के प्रमुख तीन भेद हैं—स्वकीया, परकीया और वेश्या, और इन्हीं भेदों के अनुरूप नायक के भी तीन भेद हैं—प्रति, उपपति और वैशिक। परकीया का परपुरुष से स्नेहसंबन्ध भी है और यौन संबन्ध भी पर वेश्या का पुरुष के साथ केवल यौन संबन्ध है। मम्मट और विश्वनाथ ने परदारा का साथ अनुचित व्यवहार को रसाभास का विषय माना है^१। जब विषय के प्रकाश आलोचकों ने परकीया के प्रति इतनी अवहेलना प्रकट की गई है तो वेश्या के प्रति इससे भी अधिक अवहेलना स्वतः सिद्ध है। निस्संदेह सामाजिक व्यवस्था के परिपालन के लिये परकीया ही यही है। स्वकीया के ही समान परकीया और वेश्या का भी नायिका के रूप में विशिष्ट काव्य को निम्न स्तर पर ले जाया—इसी आशंका से संस्कृत साहित्य के लक्ष्य में परकीया और वेश्या को शास्त्रीय स्वरूपानुसार काव्य का विषय नहीं बनाया

गया। पर फिर भी नायकनायिकाभेद के अंगीत इन दोनों नायिकाओं और उपपत्ति तथा वैशिक नायको को बहिष्कृत नहीं करना चाहिए, क्योंकि एक तो नायकनायिकाभेद लोकव्यवहार तथा कामशास्त्र के अंगों पर आधारित है, न कि लक्ष्य ग्रंथों पर और दूसरे, 'रसाभास' रस की अपेक्षा हीन कोटि का काव्य होते हुए भी ध्वनिकाव्य का एक सबल अंग और गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्रकाव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि का काव्य है। अतः नायिकाभेदों में परकीया और वेश्या भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

उक्त तीन नायिकाओं के अतिरिक्त सामाजिक व्यवहार पर आधारित इस वर्ग के अंतर्गत संस्कृत के आचार्यों में भरत ने कृतशोचा, और अग्निपुराणकार तथा भोज ने पुनर्भू नायिकाओं को भी समिलित किया है। पर इन दोनों का अंतर्भाव स्वकीया नायिका में बड़ी सरलता के साथ किया जा सकता है। इन्हें अलग मानने की आवश्यकता नहीं।

(२) स्वकीया नायिका के तीन उपभेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। वय तथा तत्प्रभूत लाज—इन दो आधारों पर मुग्धा के कुल चार भेद हैं—अज्ञात-यौवना और ज्ञातयौवना तथा (अविश्रब्ध) नवोढा और विश्रब्धनवोढा। अंतिम दो भेद स्वाभाविक और संभव हैं पर प्रथम दो भेदों पर हमें आपत्ति है। अज्ञातयौवना मुग्धा और उसके पति के बीच स्नेहव्यवहार वर्णन उभयपक्षीय न होकर लगभग एकपक्षीय होने के कारण काव्य का बहिष्करणोप विषय है, तथा दोनों में रतिजन्य यौन संबंध का वर्णन कूरता, प्रकृतिविरुद्धता तथा अनाचार का सूचक भी। अतः अज्ञातयौवना भेद प्रशस्त और शरीरविज्ञान समत नहीं है और इस दृष्टि से उसके विलोम रूप में परिगणित ज्ञातयौवना भेद की स्वीकृति भी समुचित नहीं है।

(३) परकीया के दो उपभेद हैं—परोढा और कन्या। ये दोनों नायक के प्रति प्रच्छन्न रूप से स्नेह निभाती चलती हैं। इनमें से परोढा निस्संदेह परकीया है। पर कन्या को इस कारण परकीया कहना कि वह पिता आदि के अधीन रहती है—हमारे विचार में युक्तिसंगत नहीं है। नायकनायिका भेद मूलतः रतिसंबंध पर आधारित है। परोढा और उसके पति का पारस्परिक रतिसंबंध, सामाजिक दृष्टि से ही सही, प्रत्यक्ष है, पर कन्या और उसके पिता के बीच पोषकपोष्य संबंध के बल पर कन्या को परकीया कहना अवश्य खटकता है। अतः कन्या को परकीया का उपभेद न मानकर स्वतंत्र भेद मानना समुचित है। संस्कृत आचार्यों में वाग्भट ने यही किया है^१। हाँ, यह अलग प्रश्न है कि बाद में उसी पुरुष से विवाह संबंध स्थापित हो जाने पर वह स्वकीया, अथवा किसी अन्य पुरुष से विवाह संबंध स्थापित हो जाने पर भी उसी अथवा किसी अन्य के साथ गुप्त मिलन निभाते चले जाने की अवस्था में वह परकीया कहाए, पर वर्तमान परिस्थिति में तो उसे परकीया नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सामाजिक व्यवहार के आधार पर नायिका के चार प्रमुख भेद होने चाहिए—स्वकीया, परोढा (परकीया), कन्या और सामान्या तथा इनके अनुरूप नायक के तीन भेद—पति, जार और वैशिक। परोढा और कन्या से प्रच्छन्न रतिसंबंध रखनेवाले पुरुष को 'उपपत्ति' नाम से अभिहित करना 'पति' शब्द का तिरस्कार है। अतः उसे 'जार' की संज्ञा मिलनी चाहिए। नायक के प्रमुख चार भेदों में से अनुकूल का संबंध केवल पति के साथ मानना चाहिए, और दक्षिण, घृष्ट और शठ का जार और वैशिक के साथ। भानु मिश्र ने ये चार भेद पति के और उपपत्ति के स्वीकार किए हैं, पर हमारे विचार में ये नायक के सामान्य भेद हैं।

१ कन्याया पित्राधीनतया परकीयता ।—२० म०, पृ० ५१

२. अनूढा च स्वकीया च परकीया पणगना ।—वा० अ० ५।१० ।

(४) भोजराज ने मुग्धादि तीन उपभेदों का सबंध परकीया (परोडा और कन्या) के साथ भी स्थापित किया है। हम इनके साथ आंशिक रूप से सहमत हैं। मुग्धा नायिका का यथानिरूपित शास्त्रीय स्वरूप उसे परकीयात्व में ढकेलने से बचाए रखने में सदा समर्थ है। केवल मध्या और प्रगल्भा अवस्थाओं में पहुँची हुई नारियाँ ही परकीयात्व की ओर फिसल सकती हैं। अतः मानव मन के ऐक्य के आधार पर परकीया के भी मध्या और प्रगल्भा भेद संभव हैं, पर मुग्धा के अनुकम्प्य में एक ओर तो मध्या और प्रगल्भा नायिकाएँ केवल स्वकीया के साथ संबद्ध की हैं और दूसरी ओर इन दोनों नायिकाओं के मान के आधार पर धीरादि तीन उपभेद स्वकीया के अतिरिक्त परकीया के साथ भी जोड़े हैं। उनके ये कथन परस्पर विरोधी अवश्य हैं, पर पिछले वर्गीकरण द्वारा प्रकारांतर से हमारी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि हो रही है कि मध्या और प्रगल्भा भेद परकीया के भी संभव हैं।

(५) नायक के व्यवहार से उद्भूत अवस्था के आधार पर नायिका के स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद हैं। इनके शास्त्रनिरूपित स्वरूप से स्पष्ट है कि :

(क) आठों प्रकार की ये नायिकाएँ अपने अपने प्रियतमों के प्रति सच्चा स्नेह रखती हैं। 'कुलटा' परकीया का इनमें कोई स्थान नहीं है।

(ख) विप्रलब्धा और खडिता नायिकाएँ अपने अपने नायकों की प्रवचना की शिकार हैं, और शेष छहों को पूर्ण स्नेह संप्राप्त है।

(ग) स्वाधीनपतिका और खडिता को छोड़कर शेष सभी नायिकाओं के नायक इनसे दूर हैं और ये उनसे मिलन के लिये समुत्सुक हैं।

(घ) स्वाधीनपतिका सर्वाधिक सौभाग्यवती है—उसका नायक सदा उसके पास है। मिलनवेला समीप होने के कारण वासकसज्जा और अभिसारिका का सौभाग्य दूसरे दर्जे पर है और मिलन की आशा पर जीवित विरहोत्कण्ठिता और प्रोषितभर्तृका का सौभाग्य तीसरे दर्जे पर।

विप्रलब्धा और खडिता दुर्भाग्यशालिनी हैं—पहली का नायक परनारी सभोग के लिये चला गया है और दूसरी का नायक सभोगोपरांत ढीठ बनकर उसके सामने आ खड़ा हुआ है। सबसे दयनीय दशा बेचारी कलहातरिता की है—(चाटुकारिता करनेवाले) नायक को पहले तो इसने घर से निकाल दिया और अब बैठी पछता रही है।

(६) पुरुष और नारी की मन स्थिति के ऐक्य के कारण स्वाधीनपत्नीक आदि आठ भेद नायक के भी संभव हैं—इसी स्वाभाविक शका को भानु मिश्र ने उठाकर उसका खडन भी स्वयं कर दिया है। उनके मतानुसार नायक के उक्त खडित, विप्रलब्ध आदि भेद संभव नहीं हैं। काव्यपरंपरा नायक के शरीर पर अन्य सभोगजन्य चिह्नों और उन चिह्नों के आधार पर उसकी धूर्तता से आशंकित नायिका द्वारा ही मानप्रदर्शन का वर्णन करती आई है। अन्यथा काव्य का यह विषय (शृंगार) रस की कोटि में आ जायगा। और सत्य इससे भी कहीं अधिक कटु है। स्त्री भले ही पुरुष की धूर्तता को सहन कर ले, फिर मानप्रदर्शन द्वारा उसे कुछ काल के लिये तडपा ले और इस प्रकार उसे और भी अधिक रत्यानंद प्रदान करने का कारण बन जाय, पर पुरुष का पौरुष नारी के शरीर पर रतिचिह्नों को देखकर प्रतिकार के लिये उद्यत हो रक्त की नदी बहाने के लिये हुंकार कर उठेगा और तब यह काव्यवर्णन शृंगार रसाभास के स्थान पर रौद्र रसाभास में परिणत हो जायगा।

उक्त आठ अवस्थाओं में से प्रोषितावस्था नायक पर अवश्य घटित हो सकती है। परदेश में गए पति, उपपति और वैशिक का अपनी अपनी प्रेयसियों की विरहग्नि में जलना

उतना ही स्वाभाविक है जितना प्रोषितपतिका स्वकीया अथवा परकीया का । भानु मिश्र ने इसी कारण नायक के तीन अन्य भेद भी गिनाए हैं—प्रोषितपति, प्रोषितोपपति, और प्रोषितवैशिक । मेघदूत का यक्ष प्रोषितपति का स्पष्ट उदाहरण है ।

(७) भानु मिश्र समेत तीन अन्य भेदो—अन्यसभोगदु खिता, मानवती और गर्विता भेदों के आधार के विषय में उनके ग्रंथ से कुछ भी ज्ञात नहीं होता । हमारे विचार में यह आधार नायककृतापराधजन्य प्रतिक्रिया है । प्रथम दो भेदों पर तो यह आधार निस्संदेह घटित हो जाता है । गर्विता पर भी, जिसके भानु मिश्र ने दो उपभेद—रूपगर्विता और प्रेमगर्विता—गिनाए हैं, कुछ सीमा तक घटित हो सकता है । ऐसी नायिकाओं की सख्या में भी कभी कमी नहीं रह सकती जो दु खिता और मानवती होकर पराजित होने की अपेक्षा अपने रूप और प्रेम के बल पर अपराधी नायक को सुमार्ग पर लाने का सुप्रयास करती हैं । फिर भी गर्विता नायिका का यह आधार इतना सुपुष्ट नहीं है । भानु मिश्र ने इस ओर भी कोई संकेत नहीं किया कि उक्त तीन भेद नायिका के धर्मानुसार स्वकीयादि भेदों एवं अवस्थानुसार स्वाधीनपतिकादि भेदों में से किस किसके साथ संबद्ध है । अब प्रश्न रहा इन भेदों को स्वकीया आदि भेदों के साथ संबद्ध करने का । हमारे विचार में वेश्या के साथ प्रथम दो भेद संबद्ध नहीं किए जा सकते । रूपगर्विता भेद भले ही वेश्या के साथ संबद्ध हो जाय, पर बाह्यरूप से राग दिखानेवाली वेश्या के साथ प्रेमगर्विता भेद को भी संबद्ध करना बेचारे वैशिक को आत्मप्रवचना का शिकार बनाना है ।

शेष रही स्वकीया और परकीया नायिकाएँ । मुग्धा स्वकीया के लिये उसका मौग्ध्य वरदान के समान है, अतः पतिकृत अपराध से उत्पन्न प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप दु ख, मान, क्लेश और गर्व करने की पीडा से वह नितात बची रहती है । शेष रही मध्या और प्रगल्भा स्वकीयाएँ । निस्संदेह ये तीनों भेद इन दोनों से ही संबद्ध हैं, मुग्धा स्वकीया से नहीं । इनकी सचेतावस्था इन्हें उक्त वेदनाएँ झेलने के लिये बाध्य कर देती है । परकीया पर भी ये तीनों भेद घटित हो सकते हैं । माना कि वह अपनी और अपने प्रिय की लपटता से भली भाँति परिचित है, परंतु नारीसुलभ सौतिया डाहवश उसे भी अपने प्रिय का अपराध उतना ही उद्विग्न और विह्वल करता है जितना स्वकीया को ।

(८) संस्कृत के आचार्यों में रुद्रट के समय से ही विभिन्न आधारों पर आधुन नायकनायिका भेदों को परस्पर गुणानुक्रिया द्वारा अधिकाधिक सख्या तक पहुँचाने की प्रवृत्ति रही है । निम्नांकित अंको से हमारे इस कथन की पुष्टि हो जायगी । रुद्रट ने नायक ४ माने हैं और नायिकाएँ ३८४, भोजराज ने १०४ और १४३, विश्वनाथ ने ४८ और ३८४, भानु मिश्र ने १२ और ३५४ तथा रूप गोस्वामी ने १६ और ३६० । इन सख्याओं में से विश्वनाथ की नायकभेद सख्या तथा भानु मिश्र की नायिकाभेद सख्या अधिकतर अनुकरणीय रही है । पर हमारे विचार में गुणानुक्रिया पर आश्रित यह भेदोपभेद सख्या तर्क और बुद्धि की कमौटो पर खरी नहीं उतरती । पहले नायकभेदों को ले । विश्वनाथ ने धीरोदात्तादि ४ गुणा अनुकूलादि ४ गुणा उत्तमादि ३ = ४८ नायकभेद माने हैं । पर यह संबद्धस्थापन युक्तिसंगत नहीं है । प्रथम तो धीरोदात्त आदि भेद केवल अंगार रस की कथावस्तु से संबद्ध न होकर सभी रसों की कथावस्तु से संबद्ध हैं । अतः इनका परस्पर संयोजन विरोधी रसों में संपर्कस्थापन होने के कारण काव्यशास्त्र की दृष्टि से सदोष है । दूसरे (राम जैसे) धीरोदात्त नायक को दक्षिण, धृष्ट और शठ नामों से और (वत्स-राज जैसे) धीरललित नायक को केवल अनुकूल नाम से भी अभिहित करना परंपरापुष्ट आख्यानों और मनोविज्ञान दोनों को झुठलाना है । यही कारण है कि संस्कृत आचार्यों में वाग्भट द्वितीय ने केवल धीरललित नायक के अनुकूलादि चार भेद माने हैं, शेष के नहीं । पर धीरललित भी इन चारों भेदों के साथ सदा संबद्ध हो सके—यह निश्चित नहीं है ।

इसी प्रकार विश्वनाथ के मतानुसार धीरोदात्त और अनुकूल को मध्यम और अधम भी मानना तथा धृष्ट और शठ को उत्तम भी कहना न्याय नहीं है।

अब भानु मिश्र समत नायिकाभेदों को ले। उन्होंने नायिका के ३८४ भेद माने हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या के $(१३ + २ + १ =)$ १६ भेद गुणा स्वाधीन-पतिका आदि ८ भेद गुणा उत्तमादि ३ भेद = ३८४ भेद। पर गुणानुप्रक्रिया द्वारा उक्त पारस्परिक गठबधन मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। स्वाधीनपतिका आदि सभी नायिकाएँ अपने अपने प्रियतमों के प्रति सच्चा स्नेह रखती हैं, अतः सामान्या नायिका अपने शास्त्रीय स्वरूप के आधार पर किसी भी अवस्था में इन आठ भेदों में से किसी के साथ सबद्ध नहीं की जा सकती। स्वकीया और परकीया के साथ भी ये सभी नायिकाएँ सबद्ध नहीं हो सकती। स्वाधीनपतिका नायिका केवल स्वकीया ही हो सकती है और अभिसारिका केवल परकीया ही। शेष छहों नायिकाओं का सबद्ध स्वकीया और परकीया दोनों के साथ है। इसी प्रकार उत्तमा, मध्यमा और अधमा भेद स्वकीया तथा परकीया पर तो घटित हो सकते हैं, पर सामान्या पर किसी भी रूप में नहीं। उससे स्नेह-पूर्ण हित की आशा रखना अथवा अहित की आशा करना व्यर्थ है। केवल सख्यावृद्धि के विचार से गुणानुप्रक्रिया का आश्रय खिलवाड़ मात्र है, बुद्धिसंगत और तर्कपरिपुष्ट नहीं।

(५) नायकनायिका भेद और पुरुष—नायकनायिकाभेद निरूपण में पुरुष का स्वार्थ पद पद पर अंकित है। नारी उसके विलासमय उपभोग की सामग्री के रूप में चित्रित की गई है। एकाधिक नारियों के साथ रतिप्रसंग तो मानो पुरुष का जन्मसिद्ध अधिकार है। 'परकीया' नायिका पर भी यह लाछन लगाया जा सकता है कि वह पर-पुरुष से प्रेमसबद्ध रखती है पर शास्त्रीय आधार के अनुसार उसका परकीयात्व इसी में है कि वह अपने पति को स्नेह से वंचित रखकर केवल एक ही परपुरुष की वासनातृप्ति का साधन बने, भले ही वह पुरुष अनेक स्त्रियों का उपभोक्ता भी क्यों न हो। एकाधिक पुरुषों के साथ रतिप्रसंग करने पर शास्त्र नारी को तो 'कुलटा' नाम से कुख्यात कर देता है, किंतु परनारीरत दक्षिण, धृष्ट और शठ नायकों के प्रति शास्त्र ने कोई तिरस्कारसूचक भाव नहीं प्रकट किया।

निरपराध सौत भी स्वकीया नायिका पुरुष के स्वार्थ से विमुक्त नहीं हो सकी। वह अपने समादर के लिये पति के प्रेम की भिखारिणी है। 'ज्येष्ठा' कहलाने का अधिकार उसे तभी मिलेगा जब दूसरी सौतों की अपेक्षा उसे अधिक स्नेह प्राप्त हो, अन्यथा वह 'कनिष्ठा' ही बनी रहेगी, चाहे वह आयु में ज्येष्ठा ही क्यों न हो और उसका विवाह पहले ही क्यों न संपन्न हो चुका हो।

पुरुष के स्वार्थ का एक और नमूना है 'मुग्धा स्वकीया' का 'अज्ञातयौवना' नामक उपभेद। 'अज्ञातयौवना मुग्धा' तो नायक के विलास का साधन बनकर सरस काव्य का विषय बन सकती है, पर इधर साकेतिक चेष्टाज्ञानशून्य 'अनभिज्ञ' नायक का वर्णन

- १ सस्कृत के काव्यशास्त्रों में काव्यानुशासन (पृ० ३७०) में परकीया की केवल तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं—विरहोत्कठिता, विप्रलब्धा तथा अभिसारिका और शारदातनय के भावप्रकाश में अन्या (वेश्या) की केवल तीन अवस्थाएँ—विरहो-त्कठिता, अभिसारिका और विप्रलब्धा। पर इन आचार्यों की ये धारणाएँ भी तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। परकीया की अन्य अवस्थाएँ भी संभव हैं, और वेश्या की उपरिगणित अवस्थाओं में से हमारे विचार में एक भी अवस्था संभव नहीं है।

काव्य में रसाभास का विषय माना गया है^१। आखिर अज्ञातयौवना के यौवन के साथ यह खिलवाड़ क्यों ?

नारी की दुर्दशा का एक दृश्य और। पुरुष को यह साहस हो सकता है कि रात भर परनारी के साथ सभोग के उपरांत प्रातः काल होते ही रात्रिजागरण के कारण आँखों में लालिमा और नारीनेत्रचुंबन के कारण ओष्ठों में काजल की कालिमा तथा अन्यान्य रतिचिह्न लिए स्वकीया के समुख ढीठ बनकर आ खड़ा हो और 'उत्तमा' नायिका को इतना भी अधिकार न रहे कि उसके अनिष्ट की जरा भी कल्पना कर सके अन्यथा वह मध्यमा अथवा अधमा के निम्न स्तर पर जा गिरेगी।

आचार्यों ने ऐसी नारियों को 'मान' करने का अधिकार अवश्य दिया है। पर इसमें भी पुरुष का स्वार्थ छिपा हुआ है। नायिका को मनाने के लिये पादस्पर्शपूर्वक प्रशंसा आदि कार्य नायक को और अधिक आनंद देते हैं। धीरा, अधीरा और धीराधीरा नायिकाओं के मानमिश्रित विभिन्न कोपप्रदर्शनो में भी नायक विभिन्न प्रकार के सुखों का अनुभव करता है। वक्रोक्तिगविता और सौंदर्यगविता नायिकाओं का गर्व इन नायिकाओं को मानसिक शांति दे अथवा न दे, पर नायक की वासना को प्रदीप्त करने का साधन अवश्य बन जाता है। इन मानप्रदर्शनो और गर्वोक्तियों से नायक की वासनापूर्ति की इच्छा और भी अधिक वेगवती हो उठती है।

मानवती नायिका चाहे जितना भी तड़पा ले, पर शास्त्रीय दृष्टिकोण से अतः उसे मान की शांति अवश्य कर लेनी चाहिए, अन्यथा काव्य का यह प्रसंग रसाभास और अनौचित्य का विषय बन जाता है^२। आवेशाधिक्य के वशीभूत हो यदि वह क्रोध में आकर नायक को कभी बाहर निकाल देती है, तो उसके चले जाने के बाद 'कलहातरिता' के रूप में पश्चात्ताप करना और झुंझलाना ही उसके भाग्य में लिखा रहता है। भला बेचारे नायक का यह 'सौभाग्य' कहाँ कि वह पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसता फिरे। खडिता और अन्यसभोगदुःखिता बनना भी नायिका के ललाट में लिखा है और क्रूर नायक की वासना का शिकार बनकर नखक्षत, दंतक्षत आदि सहन करना भी।

काव्यशास्त्र ने पुरुष को तो चेतावनी दे दी है कि अमुक नारियाँ सभोग के लिये 'वर्ज्या' हैं पर पुरुषों की ऐसी सूची प्रस्तुत न करके काव्याचार्यों ने नारी की कोमल भावनाओं को ठेस पहुँचाने का अधिकार वर्ज्य और अवर्ज्य दोनों प्रकार के पुरुषों को प्रकारांतर से दे दिया है। पुरुष के हाथ में लेखनी हो और वह नायकनायिकाभेद जैसे निरूपण में अपनी स्वार्थसिद्धि की पूर्ति के लिये सिद्धांतनिर्माण न करे, ऐसे अवसर से हाथ धो बैठे, यह भी तो कम दुर्भाग्य का विषय न होगा।

१. अनभिज्ञो नायको नायकाभास एव ।—२० म०, पृ० १८७।

२. असाध्यस्तु रसाभासः ।—२० म०, पृ० ८३

तृतीय अध्याय

रीतिकाव्य का साहित्यिक आधार

जिस साहित्यिक दृष्टिकोण की रूपरेखा हिंदी में चितामणि के उपरांत बँधकर निश्चित हुई वह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। उसका एक विशेष साहित्यिक पृष्ठाधार था। वह एक प्राचीन परंपरा का नियमित विकास थी जिसके अंत तत्त्व प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिंदी के भक्तिकाव्य में धीरे धीरे ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में विकसित होते रहे। यह प्राचीन परंपरा थी मुक्तक कविता की जो काव्य की अभिजात परिपाटी और उसमें निर्णीत उदात्त 'काव्यवस्तुओं' को छोड़कर नित्यप्रति के सरल ऐहिक जीवन के छोटे छोटे चित्रों को आँक रही थी। स्वदेश और विदेश के पंडितों का अनुमान है कि जब आभीर जाति भारत में आकर बस गई और आर्यों की शिक्षा संस्कृति का आभीरों के उन्मुक्त जीवन से संयोग हुआ तो भारतीयों के मन में परलोक की चिंता से मुक्त नित्यप्रति के गृहस्थ जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा। जीवन से बढ़कर इस प्रवृत्ति का प्रभाव काव्य पर पड़ा और कवि की कल्पना आकाश अथवा आकाशचुंबी राजमहलों से उतरकर साधारण जीवन के सुख दुखों में रमने लगी। इस दृष्टिपरिवर्तन की सबसे पहली अभिव्यक्ति हमें हाल की 'सतसई' में मिलती है जिसकी रचना चितामणि से कम से कम १३ शताब्दी पूर्व और अधिक से अधिक १६ शताब्दी पूर्व हुई थी। हाल की 'सतसई' रीतिकाव्य का सबसे प्रथम प्रेरक ग्रंथ है। प्राकृत में रची हुई ये गाथाएँ प्राकृत जीवन के सरल सहज घातप्रतिघातों को चित्रबद्ध करती हैं। इनका वातावरण सर्वथा गार्हस्थिक है और यौन संबंधों के वर्णनों में बेहद स्पष्टता पाई जाती है। अभिव्यक्ति में सहज गुण और स्वभावोक्ति ही इनकी विशेषता है, अतिशयोक्ति को कहीं भी महत्त्व नहीं दिया गया है। इसी से इन गाथाओं में मतिराम आदि के समान एक भोली सुकुमारता मिलती है

जस्स जहं विश्र पठमं तिस्सा, अंगम्मिणिवडिआ दिट्ठी ।

तस्स ताहं चेअ ठिआ सव्वंड केण विण दिट्ठम् ।

(यस्य यत्नैव प्रथमं तस्या अंगे निपतिता दृष्टिः ।

तस्य तत्नैव स्थिता सर्वांगं केनापि न दृष्टम् ॥)

सतसई के उपरांत इस प्रकार के शृंगारमुक्तकों के दो प्रसिद्ध ग्रंथ संस्कृत में मिलते हैं। एक अमरुक कवि का 'अमरुशतक', दूसरी गोवर्धन की 'आर्यासप्तशती'। इनकी रचना निश्चित ही 'प्राकृत सतसई' के आधार पर हुई है, परंतु वातावरण में अंतर है। संस्कृत के इन छंदों में गाथाओं में अंकित प्राकृत जीवन का वह सहज सौंदर्य नहीं है, इनमें नागरिक जीवन की कृत्रिमता आ गई है। हाल की गाथाओं और गोवर्धन की आर्याओं को साथ रखकर पढ़ने से यह अंतर स्पष्ट हो जायगा। गाथाओं का सहज गुण और उसपर आश्रित वन्य सुकुमारता इन आर्याओं में नहीं है—अभिव्यक्ति में अलंकरण और अतिशयोक्ति की ओर स्पष्ट इनका आग्रह बढ़ चला है। यह परंपरा संस्कृत और प्राकृत से अपभ्रंश में भी अवश्य चली होगी, परंतु इसके प्रमाण में कोई विशेष स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता—केवल जयवल्लभ और हेमचंद्र के 'काव्यानुशासन' में स्फुट गीतछंद मिलते हैं। हेमचंद्र के ग्रंथ में उद्धृत मुज के दोहे अपभ्रंश और हिंदी के बीच की कड़ी हैं। इनके अतिरिक्त

संस्कृत साहित्य में ऐहिक मुक्तक काव्य के कतिपय और भी ग्रंथों की रचना हुई, जिनमें कालिदास के प्रचलित 'शृंगारतिलक', 'घटकर्षर', भर्तृहरिरचित 'शृंगारशतक' विल्हण की 'चौरपचाशिका' आदि अपने शृंगारमाधुर्य के लिये प्रसिद्ध हैं। परंतु ये ग्रंथ उपर्युक्त परंपरा से थोड़े भिन्न हैं, यद्यपि इसमें सदेह नहीं कि उस परंपरा पर इनका यथेष्ट प्रभाव अवश्य पड़ा है। इनकी आत्मा में जो आभिजात्य की गंध है वह इन्हें 'सतसई', 'आर्या-सप्तशती' और 'अमरशतक' के साधारण धरातल से पृथक् कर देती है। संस्कृत साहित्य में शृंगार के इन मुक्तकों के समानांतर भक्तिपरक मुक्तकों की भी एक परिपाटी चल पड़ी थी जिसके अंतर्गत 'दुर्गासप्तशती', 'चंडीशतक', 'वक्रोक्तिपचाशिका' (शिव पार्वती-वदना) और कृष्णजीवन से संबद्ध 'कृष्णलीलामृत' आदि अनेक स्तोत्रग्रंथ आते हैं। इन स्तोत्रों की आत्मा में भक्ति की प्रेरणा होते हुए भी बाह्य रूप में प्रायः शृंगार की प्रधानता मिलती है। इनमें शिवपार्वती और राधाकृष्ण की शृंगारलीलाओं का जो वर्णन मिलता है वह किसी भी शृंगारकाव्य को लज्जित कर सकता है। बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक बंगाल और बिहार में राधाकृष्ण की भक्ति के जो छंद रचे गए वे काम के सूक्ष्म रहस्यों से ओतप्रोत हैं, विद्यापति के गीत इन्हीं के तो हिंदी संस्करण हैं। इन ग्रंथों के विषय में भी ठीक वही कहा जा सकता है जो 'शृंगारतिलक' आदि के विषय में कहा गया है, अर्थात् इनका प्रभाव उपर्युक्त परिपाटी पर असंदिग्ध रूप में स्वीकार करते हुए भी इनकी आत्मा को उसकी आत्मा से भिन्न मानना पड़ेगा। परंतु हिंदी रीतिकाव्य में जो 'राधा कन्हैया सुमिरन' के बहाने का एक निरंतर मोह तथा नायक के लिये कृष्ण और नायिका के लिये राधा शब्द का सप्रयास प्रयोग मिलता है उसके लिये इन स्तोत्रों का प्रभाव बहुत कुछ उत्तरदायी है। वास्तव में रीतिकाव्य की आत्मा का संबंध यदि ऐहिक मुक्तकों की उपर्युक्त परंपरा से माने तो उसके बाह्य रूप (जिसमें राधाकृष्ण के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है) के विधान में इन स्तोत्रों का कुछ स्पर्श अनिवार्य मानना पड़ेगा। इस सत्य को स्वीकार करने के लिये इसलिये और भी बाध्य होना पड़ता है कि स्वयं रीतियुग में 'चंडीशतक' 'चरणचंद्रिका' आदि स्तोत्रवत् ग्रंथों की रचना यदाकदा होती रहती थी।

इन दोनों श्रेणियों के काव्यों को प्रभावित करनेवाली एक तीसरी चिंताधारा थी कामशास्त्र की, जो वैसे तो बहुत पहले से ही प्रभावशाली थी, परंतु संस्कृत काव्य की अंतिम शताब्दियों में अत्यधिक लोकप्रिय हो गई थी। इस चिंताधारा की सबसे महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति हुई वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में जिसके उपरांत 'रतिरहस्य', 'अनंगरंग' आदि अनेक ग्रंथों का प्रणयन हुआ। यौनविज्ञान और आयुर्वेद पर इनका प्रभाव जो कुछ भी पड़ा हो, परंतु काव्य के वर्णन और मनोविज्ञान को इन्होंने निश्चित रूप से प्रभावित किया। ऐहिक शृंगारमुक्तकों, शिव और कृष्णभक्ति के स्तोत्रों और नायिकाभेदों के ग्रंथों पर इनकी स्पष्ट छाप थी। उनमें अंकित शृंगारभावनाओं तथा केलिक्रीड़ाओं के चित्रों एवं नायिकाओं के भेदप्रभेदों में स्थान स्थान पर उपर्युक्त ग्रंथों की प्रतिध्वनि सुनाई देती है।

संस्कृत की ये ही तीन मुख्य साहित्यिक परंपराएँ थी जिनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में हिंदी रीतिकाव्य ने अपने अंततत्त्वों को ग्रहण किया। इसके उपरांत तो हिंदी साहित्य का ही उदय हो गया।

हिंदी का आदिम युग वीरगीतों और वीरगाथाओं से मुखरित था। वीरगीतों का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता, परंतु वीरगाथा के कवियों में कुछ कवि, विशेषकर चंद बरदायी, काव्यरीति के प्रति निश्चय ही सावधान थे। 'पृथ्वीराजरासो' के शृंगार-

चित्रो मे अनेक चित्र ऐसे मिल जाते हैं जिनमें रूप के उपमानों को बहुत कुछ उसी प्रकार रीति में जकड़कर उपस्थित किया गया है जैसा रीतियुग में। उदाहरण के लिये एक परिचित नखशिख लिया जा सकता है

(१) मनहु कल्प ससि भान कला सोलह सो बन्निय,
बाल बेस ससि ता समीप अमृत रज पिन्निय।
बिगसि कमल मृग अमर नैन खंजन मृग लट्टिय,
हीर कीर अरु बिम्ब मोति नखमिख अहि घुट्टिय।
छत्रपति गवेष्ट हरि हंस गति विह जनाय सचे सचिय।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय मनहु काम कामिनि रचिय१॥

(२) देखि बरन रति रहस बुंद कन स्वेद संभवर।
चंद किरन मनमथ्य हथ्य कुट्ट जड डुक्कर।
सुकवि चंद बरदाय कहिय उप्पय श्रुति चालह।
मनो मयंक मनमथ्य चंद पूज्यो सुताहय।
कर किरनि रहसि रति रंग वृति प्रफुलि कली कलि सुंदरिय॥
सुक कहे सुकिय इच्छनि सुनवि पै पंगानिय सुंदरिय२॥

परंतु इस प्रकार के रीतिग्रथित वर्णन कहीं भी पाए जा सकते हैं। इसी लिये इनमें या इस प्रकार के अन्य वर्णनों में रीतितत्त्व खोजना विशेष प्रयत्न नहीं रखता। हिंदी में वास्तव में सबसे पहले कवि विद्यापति हैं जिनमें रीतिसंकेत असंदिग्ध रूप में मिलते हैं। रीतिकाव्य की ऐंद्रिय शृंगारिकता का तो विद्यापति में अपार वैभव है। उसकी रीतियों का भी उनको अत्यंत मोह था। विद्यापति के शृंगारचित्र सभी अलंकृत हैं और प्रायः उन सभी के पीछे नायिकाभेद का स्पष्ट पृष्ठाधार है। ऊपर गिनार्द हुई काव्यपरंपराओं में ऐतिहासिक मुक्तकों की परंपरा स्तोत्रों के भक्तिरस में रेंगकर जो रूप धारण कर सकती है बहुत कुछ वही हमें विद्यापति में मिलता है। इसी लिये विद्यापति के सब चित्र ऐंद्रिय उल्लास से दीप्त होते हुए भी अधिक स्थूल नहीं हो पाए हैं। उनमें एक सूक्ष्म तरलता है। दूसरे रूप के प्रति भी उनका दृष्टिकोण सर्वथा भावगत ही है, वस्तुगत नहीं। उनका धरातल नित्यप्रति के गार्हस्थ्य जीवन तक नहीं उतरा। इसलिये उनमें वह मूर्खता नहीं है जो रीतिकाल के शृंगारचित्रों में अनिवार्यतः मिलती है। इन्हीं दो कारणों से विद्यापति रीतिकाव्य की परंपरा से थोड़ा बच जाते हैं। अन्यथा उनमें रीतिसंकेतों का प्राचुर्य असंदिग्ध है। उनके छंद रीतिकाव्य के किसी भी संग्रह में उठाकर रखे जा सकते हैं

किछु किछु उतपति अंकुर भेल।
चरन चपल गति लोचन लेल।
अब सब खन रह आंचर हात।
लाजे सखिगन न पुछए बात॥
कि कहब माधव वयस क संधि।
हेरतई मनसिज मन रहु बधि॥
तइअओ काम हृदय अनुपाम।
रोपल घट अचल कए ठाम।

१. चंद : पृ० रा० (पद्मावती समय)

२. चंद।

सुनइत रस कथा थापय गीत ।
जइसे कुरगिनि सुनये सगोत ।
सैसव जौवन उपजल बाद ।
कैओ न मानय जय अवसाद^१ ।

उपर्युक्त पद की प्रति-वृत्ति आप न जाने कितने रीतिछंदों में सुन सकते हैं ।

चंद, विद्यापति आदि ने काव्य में यह सर्वथा स्पष्ट है कि इनको रीतिशास्त्र का पूरा पूरा ज्ञान था और उस सगरी रीतिग्रन्था का बहुत कुछ प्रचार हिंदी में भी निश्चित रूप से था । कृपाराम कृष्ण 'हिततरंगिणी' इस अनुमान को सार्थक करती है । एक तो स्वयं उसकी ही रचना हिंदी काव्य के अत्यंत प्रारंभिक काल, सवत् १५६८ में, हुई

सिधि निधि शिवमुख चंद्र लखि माघ शुद्ध तृतीयासु ।
हिततरंगिणी हौ रची कविहित परम प्रकासु ॥

इसके अतिरिक्त कृपाराम ने असंदिग्ध शब्दों में अपने पूर्व रचे हुए रीतिग्रन्थों की ओर संकेत किया है^२

बरनत कवि सैगार रस छंद बड़े विस्तारि ।
मैं बरन्यौ दोहान बिच याते सुघरि बिचारि^३ ॥

अतएव इसमें कुछ भी सदेह नहीं रह जाता कि हिंदी में रीतिकाव्य की परंपरा लगभग उसके जन्म से ही प्रारंभ हो जाती है—पुष्प या पुंड का अस्तित्व चाहे रहा हो या नहीं । 'हिततरंगिणी' गुड़ रीतिग्रन्थ है । वह रीति का लक्ष्यग्रन्थ भी नहीं, व्यक्त रूप से लक्षणग्रन्थ है, जिसमें संपूर्ण नायिकाभेद अत्यंत विस्तार के साथ वर्णित है । कृपाराम ने, जैसा उन्होंने स्वीकार किया है, इस ग्रन्थ का प्रणयन अनेक ग्रन्थ पढ़ने के उपरांत, फिर आप विचारकर, कवियों और नागरिकों के लिये किया है । उनका मूल आधार यद्यपि भरत का ग्रन्थ है, तथापि उन्होंने सभी परवर्ती ग्रन्थों का अनुशीलन किया है और अत्यंत स्वच्छ लक्षण उदाहरणों के द्वारा बड़ी सुथरी भाषा में नायिकाभेद के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों का निरूपण किया है । विस्तार की दृष्टि से यह ग्रन्थ हिंदी के अनेक परवर्ती ग्रन्थों से अधिक समृद्ध है । बाद में मतिराम, बेनी प्रवीन, पद्माकर, आदि ने भी इतने सूक्ष्म भेद नहीं किए । इनके अतिरिक्त दूसरा गुण इस ग्रन्थ में यह है कि इसकी शैली सर्वत्र वर्णनात्मक ही नहीं है, स्थान स्थान पर विवेचनात्मक भी है । कवि ने भिन्न भिन्न भेदों का समन्वय और सगठन करने का प्रयत्न किया है ।

सूर कृपाराम के समसामयिक ही थे । 'सूरसागर' में भी रीतिबद्ध शृंगारचित्रों की कमी नहीं है । विद्यापति की भाँति सयोग और वियोग के सभी पहलुओं का सूक्ष्म वर्णन तो सूर में है ही, उनके चित्रों में अलंकरण का प्राचुर्य है और नायिकाभेद का पृष्ठाधार भी । यहाँ तक कि सूर ने विपरीत रति को भी नहीं छोड़ा । भक्त कवि सूर की खडिता का एक चित्र देखिए

तहँइ जाहु जहँ रैन बसे है ।
अरगज अग सरगजी माला बसन सुगंध भरे से है ।
काजर अधर कपोलनि चन्दन लोचन अरुन ढरे से है^३ ॥

१. विद्यापति पदावली ।
२. हिततरंगिणी ।
३. सूरसागर ।

और रीतिकवि बिहारी के प्रसिद्ध दोहे से मिलाइए

पलक पीक, अजन अधर, लसत महावर भाल ।

आजु मिले सु भली करी, भले बने हो लाल^१ ॥

इस प्रकार रीतिकवियों ने रस, भाव, हाव, नायिका और अलंकार के उदाहरणों में सूर के अनेक चित्रों का बिना किसी कठिनाई के रूपांतर करके रख दिया है ।

सूर का दूसरा ग्रंथ 'साहित्यलहरी' दृष्टिकूट और निवालकारों का चक्रव्यूह है, इसलिये एक तरह से वह रीत्यतर्गत अलंकारपरंपरा में आता है । सूर के उपरांत तुलसी-कृत 'बरवै रामायण' पर रीति का प्रभाव स्पष्ट है—उसके गनेक वरवै प्रायः अलंकारों के उदाहरण से लगते हैं । उधर रहीम और नददास ने तो नायिकाभेद पर स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखे हैं । रहीम का प्रसिद्ध ग्रंथ है 'बरवै नायिकाभेद' जिसमें विभिन्न नायिकाओं के लक्षण न देकर अत्यंत सरस और स्वच्छ उदाहरण ही दिए हुए हैं । यह ग्रंथ निश्चय ही एक मधुर रीतिग्रंथ है । इसमें नायिकाओं के देशभेद भी दिए गए हैं । आगे चलकर देव ने 'रसविलास' आदि में इसी का अनुकरण किया । इसके अतिरिक्त रहीम के अनेक फुटकर शृंगार दोहों को भी बड़ी सरलता से रीतिकाव्य के अंतर्गत माना जा सकता है ।

नददास ने अपना ग्रंथ 'रसमंजरी' भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर लिखा है

'रसमंजरी' अनुसारि कै, नंद सुमति अनुसार ।

बरनत बनिता भेद जहँ, प्रेम सार विस्तार ॥

रहीम ने जहाँ केवल उदाहरण ही दिए हैं वहाँ नददास ने उदाहरण न देकर लक्षण मात्र ही दिए हैं । नददास का नायिकानिरूपण अत्यंत स्पष्ट और विणद है । उन्होंने लक्षणों का सूत्र बनाकर ही नहीं छोड़ दिया वरन् भिन्न भिन्न नायिकाओं के स्वरूप का स्वच्छता और विस्तार के साथ वर्णन किया है । वास्तव में, जैसा हिंदी के एक लेखक ने कहा है, 'रसमंजरी नायिकाभेद पर एक सुंदर पद्यबद्ध निबन्ध है ।'

इस प्रकार रीतिपरिपाटी गिरती पड़ती किसी न किसी रूप में आरंभ से ही चल रही थी परंतु अभी हिंदी में कोई आचार्य ऐसा नहीं हुआ था जिसके व्यक्तित्व से उसको बल प्राप्त होता । कृपाराम की 'हिततरंगिणी' यद्यपि शुद्ध रीतिग्रंथ थी तथापि एक तो उसका क्षेत्र केवल नायिकाभेद तक ही सीमित था, दूसरे कृपाराम के व्यक्तित्व में इतनी शक्ति नहीं थी कि रीतिपरंपरा को काव्य की अन्य प्रचलित परंपराओं के समकक्ष प्रतिष्ठित कर सकते । यह कार्य केशवदास ने किया । केशवदास हिंदी के पहले आचार्य हैं जिन्होंने काव्यरीति के प्रति सचेत होकर उसके विभिन्न अंगों का गंभीर और पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है । यह तो ठीक है कि उनका सिद्धांतवाक्य यह दोहा

जद्यपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त ।

भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त ॥

और व्यावहारिक रूप में अलंकार के प्रति उनका अनुचित मोह, दोनों उन्हें दड़ी आदि अलंकारवादियों की कोटि में रखते हैं, परंतु उनकी 'रसिकप्रिया' रस और नायिकाभेद का प्रौढ़ ग्रंथ है । यदि हम केशव की 'रसिकप्रिया' को ही लें, 'कविप्रिया' को न देखें, तो उन्हें रसवादी कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती । उन्होंने भी उसी आग्रह से शृंगार को रसराज माना है और उसी तन्मयता के साथ नायिका के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों का

वर्णन किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि केशव ने वास्तव में पूर्वध्वनि तथा उत्तरध्वनि दोनों कालों की विचारधाराओं को हिंदी में अवतरित किया। 'कविप्रिया' में अलंकार और अलंकार में अभेद करनेवाली पूर्वध्वनिकाल की विचारधारा की अभिव्यक्ति है और शृंगार को एकमात्र रस स्वीकृत करनेवाली 'रसिकप्रिया' पर उत्तरध्वनिकाल की सिद्धांत-परंपरा का गहरा प्रभाव है। अतएव केशवदास हिंदी रीतिपरंपरा के सबसे पहले मार्ग-स्तंभ है। केशव के उपरांत दूसरा महत्वपूर्ण नाम प्रसिद्ध कवि सेनापति का है, जिन्होंने 'कल्पद्रुम' में काव्य के अंग उपांगों का विवेचन किया है। 'काव्यकल्पद्रुम' आज अप्राप्त है परंतु उसके नाम और एकाध स्थान पर उसके प्रति किए गए संकेतों से अनुमान किया जाता है कि वह काव्यप्रकाश की शैली का काव्य की संपूर्ण रीतियों पर प्रकाश डालनेवाला ग्रंथ होगा। फिर तो चिंतामणि और उनके बहुद्वय का ही युग आ जाता है और रीतिग्रंथों की क्षीण रेखाधारा, जो हिंदी के जन्मकाल से ही दबती छिपती चली आ रही थी, शतशतमुखी होकर प्रवाहित होने लगती है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरांत साधारणतः यही परिणाम निकाला जा सकता है कि हिंदी में रीतिपरंपरा का आरंभ तो उसके जन्मकाल से ही मानना पड़ेगा—पुण्य या पुंड कविविशेष का अस्तित्व चाहे माने या नहीं। जनसमाज में जहाँ समयप्रभाव के अनुकूल बीरभाव अथवा निर्गुण सगुण भक्ति की भावनाएँ काव्यरूप में अभिव्यक्त हो रही थी, वहाँ साहित्यविद् पंडितों की गोष्ठियों में आरंभ से ही रीतिपरंपरा का किसी न किसी रूप में पोषण हो रहा था (बीरगाथा और भक्तिकाल के शास्त्रनिष्ठ कवियों की कविता मुक्तात्मा होकर भी रीति के रेशमी बंधनों का मोह नहीं छोड़ पाती थी—चंद, नरपति नाल्ह, सूर, तुलसी, नंददास, सभी की रीति के प्रति जागरूकता इसका असंदिग्ध प्रमाण है)। कुछ इतिहासकारों का यह तर्क कि हिंदी साहित्य के आरंभ में ही रीतिग्रंथों का किस प्रकार निर्माण हो सका है, लक्षणग्रंथ तो लक्ष्यग्रंथों की समृद्धि के उपरांत ही संभव है, अत्यंत स्थूल है क्योंकि हिंदी साहित्य स्वतंत्र रूप से फूटा हुआ कोई सर्वथा नवीन स्रोत नहीं है। वह संस्कृत और प्राकृत अपभ्रंश की प्रवहमान काव्यधारा का एक रूपांतर मात्र है। संस्कृत काव्य का पर्यवसान रीतिग्रंथों में ही हुआ था, अतएव हिंदी के आरंभ में रीतिग्रंथों की रचना सर्वथा स्वाभाविक और सहज थी। हिंदी की इस रीति-परंपरा का पहला निश्चिन्न स्फुरण है 'हिनारगिरां', परंतु उसकी वास्तविक गौरव-प्रतिष्ठा हुई 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की रचना के साथ। चूंकि केशव के पूर्व और केशव के समय में भी जनरुचि अनुकूल नहीं थी (केशव का युग भी आखिर तुलसी और सूर के सर्व-व्यापी प्रभाव से आक्रांत था), इसलिये रीतिपरंपरा में बल नहीं आ पाया। चिंतामणि के समय तक उसे जनरुचि का भी बल प्राप्त हो गया और तभी से यह धारा शतसहस्रमुखी होकर बहने लगी। अतएव चिंतामणि का महत्व केवल आकस्मिक और संयोगजन्य है—यह एक संयोग मात्र ही तो था कि उनके समय से जनरुचि भी उनके साथ हो गई और रीति-ग्रंथों का ताँता बँध गया। युगप्रवर्तन का गौरव उनको नहीं दिया जा सकता—परवर्ती रीतिकवियों में से किसी ने भी उनका इस रूप में स्मरण नहीं किया। यह गौरव केशव को ही दिया गया है और वास्तव में केशव ही इसके अधिकारी भी हैं, क्योंकि उन्होंने विचारपूर्वक संस्कृत रीतिकाव्य की परंपरा को हिंदी में अवतरित किया और साथ ही अपने व्यवहार में भी उसको वांछित महत्व दिया।

प्रथम अध्याय

सामान्य विवेचन

१ साहित्य का कालविभाग

आचार्य शुक्ल द्वारा हिंदी साहित्य के इतिहास का कालविभाजन दोहरे नामों से हुआ है

(१) आदिकाल अर्थात् वीरगाथाकाल—स० १०५० से १३७५ वि० । (२) पूर्व मध्यकाल अर्थात् भक्तिकाल—स० १३७५ से १७०० वि० तक । (३) उत्तर मध्यकाल अर्थात् रीतिकाल—स० १७०० से १९०० वि० तक । (४) आधुनिक काल अर्थात् गद्यकाल—स० १९०० से आज तक ।

डा० श्यामसुंदरदास, डा० रामकुमार वर्मा, महापंडित राहुल सांकृत्यायन और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी थोड़े बहुत अंतर से शुक्लजी के ही सबतों में हिंदी साहित्य के इतिहास का कालविभाग माना है ।

२ नामकरण का दुहरा प्रयोजन और नामकरण का आधार

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास से पहले मिश्रबन्धुओं द्वारा 'मिश्रबन्धु विनोद' लिखा जा चुका था । उसमें कालविभाजन के प्रसंग के अंतर्गत आदि, माध्यमिक और आधुनिक नाम आ चुके थे । यद्यपि शुक्लजी ने 'मिश्रबन्धु विनोद' की तब यत्न आलोचना की है, तथापि वह पुस्तक शुक्लजी के लिये मार्गदर्शक के रूप में थी । मानव का मनो-विज्ञान किसी कालावधि को सामान्यतः तीन ही भागों में विभक्त करता है—(१) आदि, (२) मध्य, (३) अन्त या आधुनिक, अतएव आचार्य शुक्ल ने भी परंपराप्राप्त ये उक्त नाम तो दिए ही, साथ ही प्रवृत्तियों की प्रमुखता की दृष्टि से भी एक विशिष्ट नाम जोड़ दिया और इस तरह चारों कालों के दोहरे नाम देकर प्रत्येक काल की विशिष्ट प्रवृत्ति को भी स्पष्ट कर दिया । आदिकाल में शुक्लजी को वीरगाथाओं की प्रवृत्ति का प्राधान्य दिखाई दिया । अतः आदिकाल को वीरगाथाकाल नाम दिया गया ।

मध्यकाल में दो भिन्न प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हुईं । इसी लिये शुक्लजी ने मध्यकाल को दो भागों में विभक्त कर दिया—पहले भाग को पूर्व मध्यकाल नाम देकर साथ में भक्तिकाल नाम भी लिखा जिससे तत्कालीन साहित्य की भक्तिपरक प्रवृत्ति की प्रमुखता का पता पाठक को सहज में ही लग सके । दूसरे भाग का उत्तर मध्यकाल नाम देकर साथ में रीतिकाल नाम भी लिखा ताकि उस काल की साहित्यिक प्रवृत्ति से पाठक अवगत हो सकें । आधुनिक काल में गद्यलेखन की प्रमुखता देखकर ही उसे शुक्लजी ने 'गद्यकाल' के नाम से व्यक्त किया है । अतएव निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पूर्वपरंपरा और कालगत प्रवृत्तिप्राधान्य के कारण ही कालविभाग में दोहरा नामकरण हुआ है । शुक्लजी के नामकरण का आधार साहित्य की तत्कालीन प्रवृत्तियों की प्रमुखता ही है ।

साहित्य के इतिहास का कालविभाजन प्रायः कृति, कर्ता, पद्धति, व्यक्ति अथवा विषय को दृष्टि में रखकर किया जाता है । जब कालविभाजन के लिये कोई स्पष्ट आधार

दृष्टिगत नहीं होता तब विवेच्य काल का नामकरण किसी प्रभावशाली प्रतिनिधि कवि या लेखक के नाम पर किया जाता है। भारतेदु युग, द्विवेदी युग, प्रसाद युग आदि नामकरणों का आधार यही है। मिश्रबधुओं ने भी सेनापति काल, बिहारी काल, आदि कुछ नामकरण इसी आधार पर किया है। कभी कभी साहित्यसर्जना की शैलियों, राजनीतिक आंदोलन अथवा सामाजिक क्रान्तियाँ भी नामकरण का आधार बन जाती हैं। छायावादी काल, प्रगतिवादी काल, आदि नाम प्रायः साहित्यसर्जना की शैलियों के आधार पर ही रखे गए हैं।

आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में कृतियों को प्रधानता दी और आदिकाल का नाम वीरगाथाकाल रखा। डा० रामकुमार वर्मा ने कर्ता को प्रधानता देकर उसका नाम चारणकाल रखा। शुक्लजी ने जो उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल नाम से और आधुनिक काल को गद्यकाल नाम से व्यक्त किया है उसका आधार पद्धतिविशेष ही है। आगे चलकर गद्यकाल को शुक्लजी ने जो प्रथम, द्वितीय और तृतीय उत्थानों में बाँटा, उसका आधार साहित्यविकास ही माना जा सकता है। उपर्युक्त सभी आधारों को दृष्टिपथ में रखते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि साहित्य के इतिहास के कालविभाजन में नामकरण के लिये तत्कालीन प्रवृत्तियों को ही आधार मानना उपयुक्त और न्यायसंगत है।

३ रीतिकवियों की व्यापक प्रवृत्ति

रीतिकालीन रीतिकवियों को प्रमुखतः दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) रीतिग्रन्थकार कवि जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में काव्यशास्त्र सबधी लक्षणग्रन्थों पर काव्य रचे, जैसे केशव, मतिराम, भूषण आदि, (२) रीतिबद्ध कवि जिन्होंने अप्रत्यक्ष रूप में लक्षणग्रन्थों को दृष्टिपथ में रखकर अपने स्वतन्त्र काव्य रचे, जैसे बिहारी।

इन कवियों की व्यापक प्रवृत्तियों का विश्लेषण निम्नांकित रूप में किया जा सकता है

- (१) पृष्ठभूमि—(क) राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक।
(ख) संस्कृत के आचार्यों की कृतियों का अनुकरण, विशेषतः भानुदत्तकृत 'रसमञ्जरी' का और जयदेवकृत 'चंद्रालोक' का।
- (२) वर्ण्य विषय—राज्यविलास, राजप्रशंसा, दरबारी कला विनोद, मुगल-कालीन वैभव, नखशिख, ऋतुवर्णन, अष्टयाम, नायिका-भेद, आलबन और आश्रय के रूप में राधा और कृष्ण अथवा कृष्ण और राधा, रस, अलंकार और छंद।
- (३) भाषा—संस्कृत, अपभ्रंश तथा कहीं कहीं फारसी के शब्दों से प्रभावित ब्रजभाषा।
- (४) शैली—मुक्तक शैली।
- (५) छंद—दोहा, कवित्त और सबैया।
- (६) रस—शृंगार और वीर, किंतु शृंगार रस की प्रमुखता।
- (७) अलंकार—शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक और श्लेष का बाहुल्य, अर्थालंकारों में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा की प्रबलता।

(१) प्रधान रस शृंगार—रीतिग्रन्थकार कवियों तथा रीतिबद्ध कवियों के काव्यों पर दृष्टि डालने के उपरांत हम यह कह सकते हैं कि उनमें शृंगार रस का ही प्राधान्य है। रीतिग्रन्थकार कवियों में केवल भूषण ने प्रधानतः वीररस की कविताएँ लिखी हैं, प्रीतम ने कुछ कविताएँ हास्य रस की भी रची हैं, शेष सभी ने शृंगार रस

के ग्रंथ ही प्रमुख रूप से लिखे हैं। जिन रीतिकालीन कवियों ने वीररस लिखा, उन्होंने शृंगार रस का कविताएँ भी रचीं। भूषण कवि की भा कुछ शृंगार रस की रचनाएँ मिलती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि रीतिकवियों का प्रधान रस शृंगार ही है। उपर्युक्त सप्त-सूत्री प्रवृत्ति का विश्लेषण शृंगार रस में डुबाकर ही किया गया है।

(२) शृंगारसंबलित भक्ति—रीतिकाल के अंतर्गत हमें तीन प्रकार के कवियों के दर्शन होते हैं—(१) रीतिग्रंथकार कवि, (२) रीतिबद्ध कवि, (३) रीतिमुक्त कवि। बिहारी जैसे रीतिबद्ध कवि को भक्तिभावना भी शृंगारसंबलित रूप में ही दृष्टिगोचर होती है। राधा और कृष्ण शृंगार के नायिका और नायक के रूप में ही चित्रित हुए हैं। राधा के सबध में कवि का भक्तिभाव शृंगार में लिपटकर ही व्यक्त हुआ है।

तोपर बारी उरबसी, सुनि राधिके सुजान ।

तू मोहन के उर बसी, तू उरबसी समान ॥

—बिहारी रत्नाकर

शुद्ध भक्तिभावना में भक्त भगवान् के चरणों का सानिध्य चाहता है। भक्त की दृष्टि भगवान् के चरणों पर ही रहती है। किंतु प्रेमी प्रियतम के मुखारविंद का मकरंद पान करके ही जीवित रहता है। मतिराम की निम्नांकित भक्तिभावना में शृंगार-भाव का ही पुट है, क्योंकि कवि की दृष्टि मोहन के चरणों पर नहीं, अपितु उनके हृदय और अधरो पर है। इस शृंगारभाव को पूर्ति के लिये ही वह वनमाला और मुरली बनने की अभिलाषा कर रहा है।

क्यो इन आँखिन सौं निहसंक तू मोहन को तन पानिप पीजै ?

नेकु निहारे कलंक लगै यहि गाँव बसे कहु कैसे कै जीजै ?

होत रहै मन यो मतिराम, कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै ।

तू बनमाल हिये लगिये अरु तू मुरली अधरा रस पीजै ॥

✓ रीतिमुक्त कवियों में कुछ वीर रस के रचयिता हुए और कुछ शृंगार रस के। लाल, जोधराज, सूदन आदि की रचनाएँ वीररस प्रधान हैं, किंतु बनवारी, आलम, शेख, घनानंद, बोधा, ठाकुर, चंद्रशेखर वाजपेयी, द्विजदेव आदि ने अधिकांशतः शृंगार रस में ही काव्यरचना की है। भक्तिकालीन कवि रसखान और सेनापति में तो शृंगारसंबलित भक्ति के दर्शन होते ही हैं, आलम, घनानंद और नागरीदास की भक्तिभावना पर भी शृंगार की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। प्रेमोन्मत्त कवि आलम की निम्नांकित भक्ति-भावना में शृंगारसंबलित प्रेम की पीर साफ सुनाई पड़ती है।

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करे,

जा रसना सो करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करे ।

‘आलम’ जौनके कुजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करे,

नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करे ॥

रसखान, आलम, घनानंद और बोधा, इन कवियों की भक्ति का प्रवाह शृंगार-भावना को लेकर ही चला है। इसका प्रमुख कारण यही है कि ये कवि मानवीय प्रेम की सीढ़ी पर पाँव रखकर ईश्वरोप प्रेम की भाँकी देखने के लिये ऊपर चढ़े थे। इनमें इस्क-मन्नाजी और हकीकी दोनों ही थे अतः इनकी भक्ति में मानवीय प्रेम को प्रकट करनेवाला शृंगार भी पर्याप्तरूपेण मिलता है। ये कोरे विरागी भक्त नहीं थे, अपितु प्रेम की पीर को पहचाननेवाले शृंगारी भक्त थे। भक्तवर नागरीदास में भी हमें उसी भावना की भाँकी मिलती है।

भादों की कारी अँधारी निसा भुकि बादर मंद फुही बरसावै ।
स्यामा जू आपनी अँची अटा पै छकी रसररीति मलारहि गावै ॥
ता समे मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यो पावै ।
पौन मया करि घूँघट टारै, दया करि दामिनी दीप दिखावै ॥

४. रीतिमुक्त प्रवाह

रीतिकाल में कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने केशव, मतिराम, भूषण आदि की भाँति न तो कोई रीतिग्रन्थ ही लिखा और न बिहारी की भाँति रीतिबद्ध रचना ही की। ऐसे कवियों की संख्या पचास के लगभग है। इन्हें हम मुख्यतः छह वर्गों में बाँट सकते हैं।

प्रथम वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने लक्षणाबद्ध रचना नहीं की, और जो स्वतंत्र रचना करके जनता को प्रेम की पीर ही सुनाते रहे। इनमें रसखान, घनानंद, आलम, ठाकुर और बोधा के नाम प्रसिद्ध हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में रसखान को दो रूपों में अंकित किया है—एक तो कृष्णभक्ति शाखा के भक्त कवियों में और दूसरे रीतिकाल के अन्य कवियों में। घनानंद, आलम, ठाकुर आदि प्रेमोन्मत्त कवियों के साथ रसखान की कविताओं का अवलोकन करने पर वे रीतिमुक्त प्रवाह के ही कवि ठहरते हैं। उनमें शृंगारसवलित भक्ति का ही स्वर गूँज रहा है।

द्वितीय वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने विशेष रूप से कथाप्रबन्ध काव्य लिखे, जैसे छत्रप्रकाश के रचयिता लालकवि, सुजानचरित के लेखक सूदन, हम्मीररासोकार जोधराज और हम्मीररहठ के लेखक चंद्रशेखर।

तृतीय वर्ग दानलीला, मानलीला आदि वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य लिखनेवाले कवियों का है।

चतुर्थ वर्ग में नीति सबधी पद्य रचनेवाले कवि आते हैं, जिनमें वृद्ध, गिरिधर, घाघ और बैताल जैसे सूक्तिकार अधिक प्रसिद्ध हैं।

पंचम वर्ग में वे कवि हैं जिन्होंने ब्रह्मज्ञान और वैराग्य सबधी उपदेशात्मक पद्य लिखे हैं।

षष्ठ वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने या तो भक्तिभाव में डूबकर विनय के पद गाए हैं या वीर रस की स्वतंत्र फुटकल रचनाएँ की हैं।

उपर्युक्त वर्गों के कवि वास्तव में रीतिमुक्त प्रवाह के कवि थे, क्योंकि इन्होंने न तो कोई लक्षणग्रन्थ लिखा और न लक्षणग्रन्थों से प्रभावित होकर अथवा बँधकर काव्य-रचना ही की।

५. नामकरण की उपयुक्तता

मिश्रबन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धु विनोद' में रीतिकाल के लिये 'अलंकृत काल' नाम दिया है। यहाँ इसपर विचार करना आवश्यक है। कविता का भावपक्ष और कला-पक्ष तो भक्तिकाल में भी सुंदर, चमत्कारिक और अलंकृत था, फिर रीतिकाल को ही 'अलंकृत काल' क्यों कहना चाहिए? वीरगाथाकाल से लेकर गद्यकाल तक की रचनाएँ बहुत कुछ अलंकारी से सुसज्जित रही हैं। इस आधार पर प्रत्येक काल 'अलंकृत काल' कहलावे का अधिकारी हो सकता है। इसके अतिरिक्त रीतिकाल के कवियों की कविताओं में केवल अलंकारी का ही प्राधान्य नहीं है। अलंकार तो उनकी काव्यकला का एक अंग माना जा सकता है। केशव को छोड़कर अन्य बहुत से कवि ऐसे हैं जो रस और ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर बड़ी सुंदर काव्यरचना कर गए हैं। रस की दृष्टि से मतिराम

और ध्वनि की दृष्टि से बिहारी का नाम प्रस्तुत किया जा सकता है। अतः 'अलंकृत काल' नाम हमारे विवेच्य काल का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करता।

कुछ वर्तमान आलोचक रीतिकाल को 'शृंगार काल' भी लिखने लगे हैं। यह कहाँ तक समीचीन है? प्रश्न यह है कि क्या रीतिकाल के कवियों ने शृंगार रस के अंगों का ही विशद विवेचन किया है? क्या रति नामक स्थायी भाव को आधार मानकर उसके आलंबन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव, और संचारियों के वर्णन और विवेचन में ही कवियों ने कविताएँ निखी हैं? संपूर्ण काल पर एक विहंगम दृष्टि डालने से पता लगता है कि उन कवियों को ऐसी परिप्राटी नहीं रही। फिर शृंगारकाल नाम देने का प्रश्न ही नहीं उठता। शृंगार को प्रमुखता असंदिग्ध है एवं वह स्वतंत्र नहीं है, सर्वत्र रीतिबद्ध ही है। इस काल के समस्त कवियों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) रीतिग्रन्थकार कवि, (२) रीतिबद्ध कवि, (३) रीतिमुक्त कवि। हम देखने हैं कि रीति का प्रभाव प्रत्येक वर्ग के कवियों पर है। रीति शब्द के दो ही अर्थ हैं। एक विशिष्ट पदरचना और दूसरा लक्षणग्रन्थ। रीतिग्रन्थकार कवियों और रीतिबद्ध कवियों की कविताएँ तो किसी न किसी प्रकार लक्ष्यबद्ध थीं ही। रही रीतिमुक्त कवियों का बान, उनमें भी एक प्रकार की कवित्वपूर्ण पदरचना का वैशिष्ट्य पाया जाता है। अतः हिंदी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल नाम से अभिहित करना ही अधिक उपयुक्त है, अलंकृत काल और शृंगार काल नाम उसकी आंतरिक प्रवृत्ति का ठीक तरह से प्रतिनिधित्व नहीं करते।

द्वितीय अध्याय

सीमानिर्धारण

साहित्य के इतिहास में किसी विशिष्ट प्रवृत्तिमूलक काल का सीमानिर्धारण देश या जाति के इतिहास के समान सुनिश्चित सन् सवर्तों के आधार पर नहीं किया जा सकता। साहित्यिक प्रवृत्तियों या वादा का पवर्तन भौतिक घटनाओं के समान किसी एक तिथि पर नहीं होता, अतः उसके उद्भव की सीमा एक निर्णीत तिथि या सवत् न होकर व्यापक कालपरिधि में सनिविष्ट रहती है। एक ही काल में, साहित्य जगत् में, अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ या विचारधाराएँ प्रचलित रहती हैं। उनमें से जो प्रवृत्ति या विचार-धारा प्रबल होकर सबसे अधिक व्याप्त हो जाती है, उसी के आधार पर उस काल का नामकरण और सीमानिर्धारण किया जाता है। उदाहरणार्थ हिंदी साहित्य के इतिहास को ही लिया जा सकता है। आदि काल से आधुनिक काल तक विविध प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ समय समय पर उदित और अस्त होती रही। एक ही समय में दो या दो से अधिक प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान रही, किंतु इतिहासलेखकों ने कालविशेष का नामकरण तथा सीमानिर्धारण करते समय प्रवृत्ति के प्राधान्य को ही ध्यान में रखा है। वीरगाथाकाल के बाद भक्तिकाव्य का प्रणयन प्रारंभ हुआ, किंतु वीर रस की रचनाओं का सर्वथा अभाव नहीं हुआ। अतः काल की सीमा निश्चित करते समय प्रवृत्ति के प्राधान्य को ही दृष्टि में रखा गया। गौण विचारधाराओं को छोड़कर प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर ही सज्ञा तथा सीमानिर्धारण किया गया। इसी प्रकार भक्तिकाल में शृंगार एवं प्रेम का वर्णन करनेवाले अनेक भक्त (और अभक्त) कवि उत्पन्न हुए, विशेष रूप से कृष्णभक्त कवियों ने तो शृंगार की ऐसी रसधारा प्रवाहित की जिसमें भक्तिभाव सर्वथा निमज्जित हो गया, किंतु प्रवृत्ति की दृष्टि से इन कृष्णभक्त कवियों के काव्य की आत्मा शृंगारनिष्ठ न होकर भक्तिनिष्ठ थी, फलतः इस काल को 'भक्तिकाल' नाम ही दिया गया। इसी प्रकार उत्तर मध्यकाल में भी भक्तिभावना का सर्वथा लोप नहीं हुआ था, अनेक भक्त कवि अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में उत्पन्न हुए, किंतु रीतिकाव्य के प्राचुर्य ने भक्ति की विरल धारा को ढक लिया था। कहने का तात्पर्य यह है कि सीमानिर्धारण करते समय उस काल की प्रमुख प्रवृत्ति या प्रधान चिंताधारा को ही दृष्टि में रखना समीचीन होता है, अन्य भावधाराएँ गौण बनकर प्रवाहित होती रहती हैं।

रीतिकाल का सीमानिर्धारण करते समय हमें यह ध्यान में रखना होगा कि हिंदी साहित्य में रीतिकाव्यों का प्रधान रूप से प्रणयन कब आरंभ हुआ और कबतक वह अखंड एवं अविरल रूप में प्रवाहित होता रहा। सामान्यतः हिंदी रीतिकाव्य का प्रारंभ यदि रीति के रचनाविधान को ध्यान में रखकर माना जाय तो उसे भक्तिकाल से ही देखा जा सकता है। भक्तिकाल में दो प्रकार के कवियों ने रीतिकाव्य रचना में अभिरुचि प्रदर्शित की थी। प्रथम कोटि के कवि तो भक्त थे जिन्होंने कृष्णभक्ति के परिवेश में अलंकार या नायिकाभेद को स्वीकार करके रीतिकाव्य का अप्रत्यक्ष रूप से प्रणयन किया था। सूरदास का दृष्टिकूट साहित्यलहरी ग्रंथ नायिकाभेद के साथ अलंकारों का भी वर्णन करनेवाला है। नददास की रसमंजरी नायिकाभेद का ग्रंथ है, इसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है :

रसमंजरि अनुसारि कै नंदसुमति अनुसार ।

बरनत वनिताभेद जहँ, प्रेमसार निस्तार ॥

नददास की रसमजरी पर भानुदत्त की रसमजरी की गहरी छाप है। कुछ स्थल तो रूपांतर मात्र ही है। भानुदत्त कृत गद्य व्याख्या को नददास ने ग्रहण नहीं किया है, इसकारण शास्त्रीय विवेचन उसमें नहीं आ सका है। प्रेमरसनिरूपण ही नददास का ध्येय था अतः शास्त्रीय तर्कवितर्क में उलझने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी।

दूसरी कोटि के रीतिकाव्यप्रणेता वे कवि हैं जो रस, अलंकार आदि काव्याग-निरूपण में ही प्रवृत्त हुए थे। उनमें कृपाराम का नाम कालक्रम में सर्वप्रथम आता है। कृपाराम ने हिततरंगिणी (१६६८) नामक ग्रंथ कविशिक्षा के निमित्त दोहा छंद में लिखा था। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती रीतिकाव्य प्रणेताओं का भी संकेत किया है किंतु अभी तक किसी ऐसे रीतिग्रंथ का शोध नहीं हुआ है। अतः कृपाराम को ही सर्वप्रथम रीतिकाव्यकार मानना उचित है। कृपाराम के ग्रंथ का आधार भरत का नाट्यशास्त्र है, जैसा उन्होंने स्वयं लिखा है 'कृपाराम यो कहत है, भरत ग्रंथ अनुमानि।' कृपाराम के पश्चात् विक्रम की सत्रहवीं शती में अनेक कवि उत्पन्न हुए जिनका ध्यान रीतिबद्ध काव्यरचना की ओर गया। उन कवियों में मोहनलाल मिश्र रचित शृंगारसागर नायिकाभेद का सुंदर ग्रंथ है। अकबरी दरबार के कवियों ने भी रीतिकाव्य की ओर रुचि प्रदर्शित की थी जिनमें करनेस, रहीम, बलभद्र मिश्र और गग के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

करनेस कवि रचित 'करणाभरण श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण' अलंकार शास्त्र से संबद्ध रखनेवाले रीतिग्रंथ हैं जो रीतिपरंपरा का निर्वाह करते हुए भी रीतिशास्त्र की किसी प्रभावशाली शैली का प्रवर्तन नहीं करते। इनकी शैली संस्कृत ग्रंथों की छायाबुद्ध्युत्पत्ति एव अपूर्ण ही बनी रही। इन कवियों का वर्ण्य विषय तो शृंगार था किंतु शैली रीति-शास्त्र की थी। अकबर के दरबार के ऐसे अनेक कवियों का वर्णन एक सवैए में किया गया है।

पाय प्रसिद्ध पुरंदर ब्रह्म सुधारस अमृत अमृत बानी ।

गोकुल गोप गोपाल करनेस गुनी, गुन सागर गग सुजानी ॥

जोध जगन् जगे जगदीस जगामग जैन जगत्त है जानी ।

कोरे अकब्बर सो न कथी, इतने मिलि के कविता जु बखानी ॥

इन दरबारी कवियों ने शृंगारवर्णन के लिये रीतिपरंपरा को स्वीकार करते समय अपने समक्ष संस्कृत के 'चंद्रालोक' और 'कुवलयानंद' को आदर्श रूप में रखा था। अलंकारों का वर्णन करनेवाले करनेस कवि ने अपने 'करणाभरण श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण' की रचना इन्हीं ग्रंथों के आधार पर की थी। रसनिरूपण तथा नायिका-भेद वर्णन के लिये भानुदत्त की रसतरंगिणी और रसमजरी का आधार ग्रहण किया गया। रीतिग्रंथों के प्रणयन की ऐसी परंपरा होने पर भी सत्रहवीं शती अथवा उसके उत्तरार्ध को भी रीतिकाव्य की कालसीमा में नहीं रखा जा सकता। कारण यह है कि इस काल में भक्त कवियों की अजस्र परंपरा और प्रभूत ग्रंथराशि ने रीतिकाव्य को आच्छन्न कर भक्ति की अविरल धारा प्रवाहित कर रखी थी। यथार्थ में इस काल की काव्यात्मा रीतिग्रंथों में न होकर भक्तिग्रंथों में पैठी हुई थी। यह तो ठीक ही है कि रीतिकाव्य का अखंड रूप से प्रणयन भक्तिकाल में अर्थात् सत्रहवीं विक्रमी शती में प्रारंभ हो गया था और उसमें अनेक रीतिकवि उत्पन्न हुए जिनकी संक्षिप्त तालिका इस प्रकार है

| विक्रमी संवत् (रचनाकाल) | कविनाम | ग्रंथनाम |
|----------------------------|--------------|--------------------------------|
| १५६८ | कृपाराम | हिततरंगिणी |
| १६०७ | सूरदास | साहित्यलहरी |
| १६६८ | नंददास | रसमजरी |
| १६१६ | मोहनलाल | शृंगारसागर |
| १६३७ | करनेस | करणाभरण श्रुतिभूषण, भूपभूषण |
| १६४० | बलभद्र मिश्र | नखशिख |
| १६४० | रहीम | बरवै नायिकाभेद |
| १६५० | केशवदास | कविप्रिया, रसिकप्रिया |
| १६५० | मोहनदास | बारहमासा |
| १६५१ | हरिराम | छंदरत्नावली |
| १६७५ | बालकृष्ण | रामचंद्रप्रिया (पिगल) |
| १६६० | मुबारक | अलकशतक, तिलकशतक |
| १६७० | गोप | अलकारचंद्रिका |
| १६७६ | लीलाधर | नखशिख |
| १६८० | ब्रजपति भट्ट | रगभावमाधुरी |
| १६८५ | छेमराज | फतेहप्रकाश |
| १६८८ | सुंदर | सुंदरशृंगार |
| १७०० | सेनापति | षट्शतवर्णन |

उपर्युक्त कवियों की लंबी शृंखला को देखकर यह कहना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि संवत् १७०० वि० से पूर्व हिंदी रीतिकाव्य की रचना में अखंडता नहीं थी, या रीतिकाव्य की धारा विरल और वेगहीन थी। इन कवियों ने रीतिकाव्य की रचना की है। किसी ने काव्य के एक ही अंग का विस्तृत वर्णन उठाया है तो किसी ने एक लघु अंग पर लक्ष्य मात्र प्रस्तुत किया है। इस प्रकार लक्षणा और लक्ष्य दोनों कोटि के रीतिग्रंथों की रचना सत्रहवीं शताब्दी में उपलब्ध होती है। अतः इस शैली को रीतिकाव्य रहित नहीं ठहराया जा सकता। किंतु रीतिकाल के सीमानिर्धारण के प्रश्न को ध्यान में रखकर यह निर्णय करना आवश्यक है कि क्या विक्रम की सत्रहवीं शती अथवा उसके अंतिम चरण में रीतिकाव्य का स्वर सर्वप्रधान हो गया था। क्या इस शताब्दी का रीतिकाव्य परिमाण और गुणवत्ता में भक्तिकाव्य से वरिष्ठ और श्रेष्ठ था? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट है कि सत्रहवीं शती में रीतिकाव्य का उदय तो हुआ—किंतु परिमाण और गुण में उस समय का रीतिकाव्य भक्तिकाव्य से श्रेष्ठतर और प्रचुरतर नहीं था। अतः सत्रहवीं शती को भक्तिकाल की उत्तर सीमा में ही रखना समीचीन है।

सत्रहवीं शती के काव्य की आत्मा भक्तिनिष्ठ होने पर भी एक प्रश्न पूरी गंभीरता के साथ हिंदी रीतिकाव्य के अध्येता के सामने आता है। क्या आचार्य केशवदास रीतिकाव्य के प्रवर्तक प्रथम आचार्य नहीं है? क्या उनके रसिकप्रिया और कविप्रिया ग्रंथ रीतिपरंपरा से सर्वथा असंबद्ध और रीतिबाह्य ग्रंथ हैं? क्या केशवदास ने रीतिशास्त्र का सर्वांग निरूपण करके हिंदी रीतिकाव्य परंपरा को सत्रहवीं शती में ही पूर्णरूपेण स्थापित नहीं कर दिया था? यदि इन प्रश्नों का उत्तर स्वीकारात्मक है तो केशव को प्रथम आचार्य कहकर सत्रहवीं शती से ही रीतिकाल का प्रारंभ क्यों न माना जाय?

इसमें कोई सदेह नहीं कि आचार्य केशव ने रसिकप्रिया और कविप्रिया का प्रणयन करके अलंकार, रस, गुण, दोष, रीति, वृत्ति आदि शास्त्रीय विषयों की चर्चा द्वारा प्रामाणिक रूप से हिंदी साहित्य में काव्यशास्त्र की स्थापना कर दी थी। केशव से पहले के जिन रीतिप्रवर्तक कवियों का इतिहासग्रंथों में उल्लेख है, उनके ग्रंथों का अद्यावधि संधान नहीं हो सका है। शिवसिंह सेगर द्वारा सकेतित पुष्प नामक कवि का अलंकारग्रंथ उपलब्ध नहीं है, ब्रजवासी क्षेम कवि और मुनिलाल का भी उल्लेख मात्र खोज रिपोर्टों में हुआ है। किंतु इनके ग्रंथ न तो किसी ने देखे हैं और न कभी उनका परवर्ती कवियों ने उपयोग किया है। ये सूचनाएँ शोध की दृष्टि से भले ही महत्व रखती हों किंतु रीति-काव्य परंपरा की कड़ी बनने में सहायक नहीं होती। गोप और मोहनलाल रचित ग्रंथ भी उपलब्ध नहीं है। अतः कृपाराम की हिततरंगिणी ही रीतिग्रंथों की शृंखला बनाने में सहायक है। कृपाराम की हिततरंगिणी रसग्रंथ है, किंतु सर्वांगनिरूपक आचार्य की क्षमता उसमें दृष्टिगत नहीं होती। फलतः आचार्य केशव ही सर्वप्रथम रीतिकाव्य के सर्वांग-निरूपक प्रौढ कवि सिद्ध होते हैं। केशव में मौलिक सिद्धांतसृजन की क्षमता नहीं थी। इसलिये उन्होंने अपना कोई स्वतंत्र काव्यपथ प्रवर्तित नहीं किया। केशवदास प्रवर्तित काव्यसिद्धांतों के सफल व्याख्याता आचार्य भी नहीं थे। काव्य के मूलभूत सिद्धांतों के सफल तात्त्विक ज्ञान और उनका निष्पत्ति एवं स्वच्छ विवेचनव्याख्यान उनकी क्षमता से बाहर था। हाँ, काव्यरसिकों और काव्यअध्येताओं के निमित्त काव्यशिक्षा विषयक सामग्री एकत्र करने की योग्यता उनमें थी। वे कविशिक्षक कोटि के रीतिकाव्य लेखक थे। उन्होंने अपने कविप्रिया ग्रंथ में इस बात को स्वयं स्वीकार किया है :

समुझै बाला बालकन, वर्णन पंथ अगाथ ।

कविप्रिया केशव करी, छमियहु कवि अपराध ॥

केशव का उद्देश्य कवियों को काव्यशिक्षा देने के साथ संस्कृत के रीतिग्रंथों से भी परिचित कराना था। केशव की काव्यनिरूपण शैली के सबंध में विद्वानों की धारणा है कि उसमें संस्कृत की छाया मात्र है, मौलिकता नहीं है। संस्कृत के भामह, दंडी, केशव मिश्र आदि आचार्यों की शैली का अनुकरण मात्र केशव ने किया है। फिर भी केशव का आचार्यत्व अस्मिद्ध है। यह पद न तो हिंदी के किसी पूर्ववर्ती रीतिकवि को दिया जा सकता है और न परवर्ती कवि को। कृपाराम का क्षेत्र अत्यंत संकुचित है, सर्वांगनिरूपण की दृष्टि से उनका कोई स्थान नहीं है। चितामणि भी केशव की तुलना में हलके ठहरते हैं। चितामणि के बाद रीतिकाव्य ग्रंथों की अविच्छिन्न परंपरा चल पड़ने से उन्हें रीतिमार्ग-प्रवर्तन का श्रेय मिलना एक संयोग मात्र है। चितामणि यदि रीतिकाव्य परंपरा के प्रमुख आचार्य होते तो परवर्ती रीतिबद्ध आचार्य कवि अवश्य उनका नामोल्लेख अपने ग्रंथों में करते, किंतु किसी ने चितामणि का आचार्य कवि के रूप में स्मरण नहीं किया। हाँ, केशवदास के प्रति देव और दास जैसे महाकवियों ने भी अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की है।

आचार्य केशवदास का रीतिकाव्य परंपरा में इतना महत्वपूर्ण स्थान होने पर भी उनके काल को रीतिकाल का प्रारंभ काल स्वीकार न करने में विशेष कारण है। केशव अलंकारवादी चमत्कारप्रिय कवि थे। अलंकार सिद्धांत को जिस प्रकार परवर्ती काल में संस्कृत के आचार्यों ने अस्वीकार कर दिया था वैसे ही केशव के परवर्ती हिंदी के रीतिबद्ध कवियों ने स्वीकार नहीं किया। दूसरे शब्दों में, परवर्ती रीतिकार कवियों ने केशव को आदर्श रूप में ग्रहण नहीं किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने केशवदास की रीतिपद्धति के विषय में लिखा है : इसमें सदेह नहीं कि काव्यरीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य

केशव ने ही किया। पर हिंदी में रीतिग्रंथों की अविरल और अखंडित परंपरा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं। अतः केशव के प्रादुर्भावकाल से रीतिकाल का प्रवर्तन स्वीकार न करके चिंतामणि के समय से ही रीतिकाल का प्रवर्तन मानना अधिक युक्तिसंगत है। कृपाराम, करनेस और केशव की रचनाओं को रीतिकाव्य की प्रस्तावना के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। उक्त प्रस्तावना के साथ आगे के रीतिकाव्य का अध्ययन करने पर रीतिकाल का प्रारंभ अठारहवीं शती से मानना होगा।

सत्रहवीं शताब्दी में भक्तिकाल के युगपत् जो शृंगारकाव्य रचा गया, उसमें भी रीतिकाल के तत्वों का प्रचुर मात्रा में समावेश हुआ। किंतु विचक्षण पाठक को शृंगारकाव्य तथा भक्तिकाव्य में विभाजन तत्वों को दृष्टि में रखते हुए ही दोनों का अध्ययन करना चाहिए। भक्तिकाल की सीमा में निर्मित रीतिशृंगार काव्य परिमाण और प्रकर्ष में भक्तिकाव्य से हीन है। उस काल के रीतिकाव्य कवियों और भक्तिकाव्य-कवियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो रीतिशृंगार काव्य प्रायः नगण्य सा ही प्रतीत होगा। भक्त कवियों में तुलसी, सूर, मीरा, नददास, परमानंददास, हितहरिवंश, व्यास, ध्रुवदास, नागरीदास आदि उदात्त कोटि के भक्तों के नाम आते हैं, जिनका विपुल साहित्य हिंदी की श्रीवृद्धि में सहायक हुआ है। उस काल की सामान्य प्रवृत्ति भक्ति है। भाव और रस की भूमि पर पहुँचकर भक्ति अनेक रूपों में वर्ण्य बनी और उसके द्वारा एक ओर भक्तिसंप्रदायों, मतों और पंथों का प्रवर्तन हुआ तो दूसरी ओर आर्त जनता को दीनबन्धु, दीनवत्सल परमात्मा की शरण में जाने का मार्ग मिला। सोलहवीं और सत्रहवीं शती में भक्तिभाव आवेश के रूप में काव्य में समा गया था, अतः रीति और शृंगार की धारा के अस्तित्व का उसपर कोई उल्लेख्य प्रभाव नहीं पड़ा। फलतः सत्रहवीं शती के अंतिम चरण तक भक्तिकाल मानना ही उचित है।

रीतिकाल का वास्तविक आरंभ विक्रम संवत् १७०० से मानना चाहिए। शृंगारप्रधान रीतिकाव्य का व्यापक प्रभाव, जिसने भक्तिकाव्य के प्रबल वेग को मंद किया, इसी समय से बढ़ना शुरू हुआ और १९वीं शताब्दी (विक्रमी) तक वह हिंदी काव्य पर बना रहा। अतः दो सौ वर्षों का यह काल रीतिकाल के नाम से अभिहित होना चाहिए।

रीतिकाल की उत्तर सीमा का प्रश्न भी विचारणीय है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र के आगमन से पूर्व तक रीतिकाल की उत्तरसीमा निर्धारण करने में एक आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि भारतेन्दुयुग में भी रीतिकाव्य रचना करनेवाले कवियों की विशाल परंपरा मिलती है। संवत् १९५० तक ऐसे अनेक रससिद्ध कवि हुए जिन्होंने रीतिबद्ध काव्य-शैली को स्वीकार कर वैसी ही उत्कृष्ट रचना की जैसी रीतिकालीन कवि करते थे। अतः उत्तरसीमा से उनका बहिष्कार कैसे किया जा सकता है? इस शका के समाधान के लिये भारतेन्दुयुग की नूतन चेतना एवं अभिनव काव्यप्रवृत्तियों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

भारतेन्दुयुग के अनेक कवि शृंगारप्रधान रीतिशैली की कविता में लीन होकर भी शृंगार को उस युग की प्रमुख प्रवृत्ति बनाने में समर्थ नहीं हो सके। उस युग की काव्यात्मा शृंगार से हटकर सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना में प्रविष्ट हो गई थी। नई धारा के कवि उदय होने लगे थे और कविता का प्रधान प्रतिपाद्य समाजकल्याण ही बन गया था। शृंगारप्रधान कविता के अपेक्षाकृत न्यून प्रचार का एक कारण यह भी था कि भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति में परिवर्तन आने से कवियों द्वारा राजाश्रय की प्राप्ति में कमी होती जा रही थी। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से कवियों का ध्यान

शनैः शनैः केलिकुजो से हटकर देश की पतितावस्था की ओर जाने लगा था। सन् १८५७ की क्रांति के बाद एक विशेष प्रकार की राजनीतिक चेतना देश में व्याप्त हो गई थी। फलतः शृंगारप्रधान रीतिकविता का स्थान गौण होने लगा था। काशी, रीवाँ, अयोध्या, मथुरा, प्रयाग आदि साहित्यिक केंद्रों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर शृंगारपरंपरा समाप्त होने लगी थी। प्राचीन रीतिसाहित्य का जो प्रभाव शेष रह गया था उसी के अंतर्गत कुछ परंपरावादी कवि उसका पिष्टपेषण मात्र करने में लीन थे। यथार्थ में इस काल को हम रीतिशृंगार का उपसंहृतिकाल कह सकते हैं। परिमाण की दृष्टि से सवत् १९०० तक विपुल रीतिसाहित्य प्रणीत हुआ किंतु उसका प्रभाव सीमित हो गया था। साहित्य की नूतन प्रवृत्तियाँ युगपरिवर्तन कर शृंगार और विलास को तिलाजलि देने की प्रेरणा कर रही थी—अतः कुछेक कवियों को छोड़कर इस पचास वर्ष के समय में अधिकांश कवियों ने सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना को ही अपने काव्य का मरुदंड बनाया है। इसी लिये रीतिकाल की उत्तरसीमा सवत् १९०० तक ही स्थिर की जाती है। सवत् १९५० तक रीतिकाव्य लिखा अवश्य गया और कतिपय कवियों ने सुंदर रचना करके रीतिकाव्य को समृद्ध भी बनाया किंतु इन पचास वर्षों में रीतिशृंगार का प्राधान्य न होकर नूतन काव्यचेतना का ही प्राधान्य था। गद्य के आविर्भाव ने कविता को वैसे भी अपेक्षाकृत प्रभावहीन बना दिया था, अतः परंपरायुक्त काव्यधारा के समर्थक दिनो दिन कम होने लगे थे। उनके स्थान पर नई काव्यधारा प्रबल वेग से प्रवाहित होने लगी थी। इस धारा को पूर्ण वेग के साथ प्रवाहित करने का सबसे अधिक श्रेय भारतेन्दु हरिश्चंद्र को ही दिया जाना चाहिए। काव्य को प्रभावित करनेवाले सामाजिक तथा धार्मिक आंदोलन एवं उनके प्रवर्तक नेता भी इसी युग में क्रियाशील होकर मैदान में उतरे। इन आंदोलनों के सर्वव्यापी प्रभाव ने भी रीतिशृंगार की परंपराभुक्त कविता को अपदस्थ करने में बड़ा योग दिया और सवत् १९०० के बाद हिंदी कविता का अंतरंग प्रायः परिवर्तित हो गया। हाँ, कविता का बहिरंग (अर्थात् भाषा और शैली) तबतक विशेष रूप से नहीं बदला था किंतु परिवर्तन का आभास उसमें दृष्टिगत होने लगा था। खड़ी बोली की कविता के यत्नतंत्र दर्शन होने लगे थे।

सक्षेप में, रीतिकाल का सीमानिर्धारण सवत् १७०० से १९०० तक ही होना चाहिए। सत्रहवीं और बीसवीं शती के रीतिकाव्य का क्रमशः प्रस्तावना और उपसंहार के रूप में आकलन किया जा सकता है। यथार्थ रीतिकाल का विस्तार तो सवत् १७०० से सवत् १९०० तक ही है।

तृतीय अध्याय

उपलब्ध सामग्री के मूल स्रोत

रीतिकालीन शतसहस्र रीतिग्रन्थों में से कुछेक इन्हें गिने ग्रन्थों को छोड़कर शेष सभी लुप्तप्राय होते जा रहे हैं। चिंतामणि का कविकुलकल्पतरु, जसवतसिंह का भाषा-भूषण, कुलपति का रसरहस्य, मतिराम का ललितललाम और रसराज, देव का शब्द-रसायन, भूषण का शिवराजभूषण, भिखारीदास का काव्यनिर्णय, पद्माकर का पद्माभरण और जगद्विनोद, प्रतापसाहि की व्यंग्यार्थकौमुदी केवल ये ही गिनेचुने ग्रन्थ आज शेष रह गए हैं। यद्यपि ये सभी ग्रन्थ प्रकाशित हैं; तथापि भारत के इन्हें गिने पुस्तकालयों में ही ये प्राप्य हैं। यह अवस्था तो उक्त प्रख्यात एवं प्रतिनिधि ग्रन्थों की है। ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जो प्रकाशित हो जाने पर, भी न केवल स्मृति से हट चुके हैं, अपितु प्रसिद्ध पुस्तकालयों में भी अप्राप्य हैं और गिनेचुने पुस्तकालयों एवं संग्रहालयों में प्राचीन ऐतिहासिक पदार्थों के समान प्रदर्शनी की वस्तु बन चुके हैं। इनके अतिरिक्त अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुए। पिछले कुछ वर्षों से कुछ रीतिग्रन्थ पुनः प्रकाशित हो रहे हैं और हस्तलिखित ग्रन्थ भी प्रकाशित किए जा रहे हैं। इस दिशा में काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की 'आकर ग्रन्थमाला' का सत्प्रयास सराहनीय है। निम्ने प्रकाशित तथा हस्तलिखित उपलब्ध रीतिग्रन्थों की सूची दी जा रही है। अप्रकाशित ग्रन्थों का प्राप्तिस्थान भी उल्लिखित है :

प्रकाशित ग्रन्थ

| आचार्यनाम | ग्रन्थनाम | प्रकाशक अथवा संपादक का नाम अथवा प्राप्तिस्थान |
|-----------|---|---|
| केशवदास | कविप्रिया | नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ स० लाला भगवानदीन स० लक्ष्मीनिधि त्रिपाठी स० हरिचरणदास |
| | रसिकप्रिया | वेकटेश्वर प्रेस, बंबई स० लक्ष्मीनिधि त्रिपाठी |
| चिंतामणि | केशव ग्रंथावली कविकुलकल्पतरु शृंगारमञ्जरी | हिंदुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ स० डा० भगीरथ मिश्र |
| तोष | सुधानिधि | भारतजीवन प्रेस, काशी |
| जसवतसिंह | भाषाभूषण | मन्नालाल, बनारस स० ब्रजरत्नदास स० गुलाबराय वेकटेश्वर प्रेस, बंबई रामचंद्र पाठक, बनारस हिंदी साहित्य कुटीर, बनारस आदि |

| | | |
|-------------|-----------------------|-------------------------------|
| मतिराम | रसरराज | भारतजीवन प्रेस, काशी |
| | ललितललाम | " " |
| रघुनाथ | मतिराम ग्रथावली | गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ |
| भूषण | रसिकमोहन | नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ |
| | शिवराजभूषण | नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस |
| | भूषण ग्रथावली | " " |
| कुलपति | रसरहस्य | इंडियन प्रेस, इलाहाबाद |
| देव | शब्दरसायन | हिंदी साहित्य समेलन, प्रयाग |
| | भवानीविलास | भारतजीवन प्रेस, काशी |
| | सुखसागर तरंग | बबई बुकसेलर, अयोध्या |
| | रसविलास | भारतजीवन प्रेस, काशी |
| | भावविलास | तरुण भारत ग्रथावली, प्रयाग |
| कुमारमणि | रसिकरसाल | भारतजीवन प्रेस, काशी |
| गोविंद | कर्णभरण | विद्याविभाग, कॉंकरीली |
| रसलीन | रसप्रबोध | भारतजीवन प्रेस, काशी |
| | | गोपीनाथ पाठक, काशी |
| | | नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ |
| भिखारीदास | काव्यनिर्णय | भारतजीवन प्रेस, काशी |
| | | वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग |
| | | भारतजीवन प्रेस, काशी |
| | | स० जवाहरलाल चतुर्वेदी |
| समनेस | रससारांश शृंगारनिर्णय | गुलशने अहमदी प्रेस, प्रतापगढ़ |
| रतन कवि | भिखारीदास ग्रथावली | नागरीप्रचारिणी सभा, काशी |
| ऋषिनाथ | रसिकविलास | दतिया राज पुस्तकालय, दतिया |
| रामसिंह | अलकारदर्पण | " " |
| दूलह | अलकारमणिमजरी | आर्य यत्नालय, वाराणसी |
| पद्माकर | अलकारदर्पण | भारतजीवन प्रेस, काशी |
| | कविकुलकठाभरण | दुलारेलाल भार्गव, लखनऊ |
| | पद्माभरण | भारतजीवन प्रेस, काशी |
| | जगद्विनोद | " " |
| | पद्माकर पचामृत | रामरत्न पुस्तकभवन, काशी |
| काशीराज | चित्रचंद्रिका | नागरीप्रचारिणी सभा, काशी |
| गिरिधरदास | भारतीभूषण | नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ |
| बेनी प्रवीन | नवरस तरंग | स० कृष्णविहारी मिश्र |
| रसिक गोविंद | रसिक गोविंदानंदधन | नागरीप्रचारिणी सभा, काशी |
| प्रतापसाहि | व्यंग्यार्थकौमुदी | भारतजीवन प्रेस, काशी |
| | | वाराणसी संस्कृत यत्नालय, काशी |

हस्तलिखित प्राप्य ग्रंथ

| आचार्यनाम (कालक्रमानुसार) | ग्रंथनाम | प्राप्तिस्थान |
|------------------------------|------------|----------------------------|
| चिंतामणि | शृंगारमजरी | दतिया राज पुस्तकालय, दतिया |

| | | |
|-------------------|---|---|
| मतिराम | अलकारपचाशिका छंदसारसंग्रह (वृत्त- कौमुदी) | आर्काइव्स लाइब्रेरी, पटियाला नागरीप्रचारिणी सभा, काशी कैप्टेन शूरवीर सिंह, अतिरिक्त जिला अधिकारी, बुलदशहर नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (याज्ञिक संग्रहालय) |
| देव | रसविलास | नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (याज्ञिक संग्रहालय) |
| | सुखसागरतरंग | नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (याज्ञिक संग्रहालय) |
| | काव्यरसायन | सवाई महेन्द्र पुस्तकालय, ओरछा (टीकमगढ़) |
| कालिदास | वधूविनोद | दतिया राज पुस्तकालय, दतिया कैप्टेन शूरवीर सिंह, अतिरिक्त जिलाधिकारी, बुलदशहर |
| सूरति मिश्र | काव्यसिद्धांत | सवाई महेन्द्र पुस्तकालय (ओरछा, टीकमगढ़) |
| कृष्ण भट्ट देवऋषि | शृंगाररस माधुरी | नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (याज्ञिक संग्रहालय) |
| गोप कवि | रामचंद्र भूषण | सवाई महेन्द्र पुस्तकालय, ओरछा तथा दतिया राज पुस्तकालय, दतिया |
| | रामचंद्राभरण | सवाई महेन्द्र पुस्तकालय, ओरछा (टीकमगढ़) |
| याकूब खाँ | रसभूषण | दतिया राज पुस्तकालय, दतिया |
| कुमारमणि | रसिकरसाल | सवाई महेन्द्र पुस्तकालय, ओरछा (टीकमगढ़) |
| श्रीपति | काव्यसरोज | प० कृष्णविहारी मिश्र गधौली का पुस्तकालय, लखनऊ |
| रसिक सुमति | अलकारचंद्रोदय | काशी नागरीप्रचारिणी सभा (याज्ञिक संग्रहालय) |
| सोमनाथ | रसपीयूषनिधि | " " " |
| | शृंगारविलास | " " " |
| रसलीन | रसप्रबोध | सवाई महेन्द्र पुस्तकालय, ओरछा (टीकमगढ़) |
| भिखारीदास | रससारांश | प्रतापगढ़ नरेश पुस्तकालय, प्रतापगढ़ |
| | शृंगारनिर्णय | " " |
| रसरूप | तुलसीभूषण | नागरीप्रचारिणी सभा, काशी |
| उदयनाथ कवींद्र | रसचंद्रोदय | सवाई महेन्द्र पुस्तकालय, ओरछा (टीकमगढ़) |
| रूपसाहि | रूपविलास | काशी नागरीप्रचारिणी सभा (याज्ञिक संग्रह) |
| शोभा कवि | नवलरस चंद्रोदय | काशी नागरीप्रचारिणी सभा (याज्ञिक संग्रह) |

| | | |
|--------------------------------------|---|---|
| बैरीसाल रगखाँ | भाषाभरणा नायिकाभेद | प० कृष्णविहारी मिश्र काशी नागरीप्रचारिणी सभा (याज्ञिक सग्रहालय) |
| जनराज उजियारे कवि | कविता रसविनोद रसचन्द्रिका | " " |
| यशवर्तसिंह जगतसिंह रामसिंह | शृंगारशिरोमणि साहित्य सुधानिधि रसनिवास अलंकारदर्पण | प० कृष्णविहारी मिश्र " " दत्तिया राज पुस्तकालय, दत्तिया " " |
| रतनेश सेवादास चदन रणधीरसिंह | " " रघुनाथअलंकार काव्याभरणा काव्यरत्नाकर | " " नागरीप्रचारिणी सभा, काशी प० कृष्णविहारी मिश्र सवाई महेद्र पुस्तकालय, ओरछा (टीकमगढ़) |
| प्रतापसाहि | व्यंग्यार्थकौमुदी काव्यविलास | दत्तिया राज पुस्तकालय, दत्तिया नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (याज्ञिक सग्रह) |
| रामदास | कविकल्पद्रुम | सवाई महेद्र पुस्तकालय, ओरछा (टीकमगढ़) |
| ग्वाल | रसरंग अलंकार भ्रमभजन कविदर्पण | सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, निजी पुस्तकालय चतुर्थ त्रैवार्षिक खोज के अनुसार प्राप्त |

उक्त पुस्तकों के अतिरिक्त निम्नलिखित रीतिग्रंथों का उल्लेख हिंदी साहित्य के इतिहास संबंधी विभिन्न ग्रंथों में मिलता है

| लेखक | ग्रंथ | रचनाकाल |
|----------------|----------------------|---------------------|
| मोहनलाल | शृंगारसागर | स० १६१६ वि० |
| बलभद्र मिश्र | रसविलास | स० १६४० वि० के लगभग |
| ब्रजपति भट्ट | रगभावमाधुरी | स० १६८० वि० |
| सुंदर कवि | सुंदरशृंगार | स० १६८८ वि० |
| शंभुनाथ सोलंकी | नायिकाभेद | सं० १७०७ वि० |
| तुलसीदास | रसकल्लोल | स० १७११ वि० |
| मडन | रसरत्नावली | स० १७२० |
| गोपालराम | रससागर | स० १७२६ वि० |
| शुकदेव मिश्र | रसरत्नाकर एव रसार्णव | स० १७३० के लगभग |
| | शृंगारलता | स० १७३३ वि० |
| श्रीनिवास | रससागर | स० १७५० वि० |
| केशवराम | नायिकाभेद | स० १७५४ वि० |
| बलवीर | दपतिविलास | स० १७५६ वि० |
| देव | जातिविलास | स० १७६० वि० |
| लोकनाथ चौबे | रसतरंग | " |
| खड्गराम | नायिकाभेद | स० १७६५ वि० |

| | | |
|----------------------|------------------------|------------------|
| बेनीप्रसाद | रसशृंगारसमुद्र | ” |
| श्रीपति | रससागर | स० १७७० वि० |
| आजम | शृंगाररसदर्पण | स० १७८६ वि० |
| कुदन | नायिकाभेद | स० १७९२ वि० |
| गुरुदत्तसिंह (भूपति) | रसरत्नाकर, रसदीप | १८वीं शती का अंत |
| रघुनाथ | काव्यकलाधर | स० १८०२ वि० |
| उदयनाथ कवींद्र | रसचंद्रोदय | स० १८०४ वि० |
| शभुनाथ | रसकल्लोल, रसतरंगिणी | स० १८०६ वि० |
| चंद्रदास | शृंगारसागर | स० १८११ वि० |
| शिवनाथ | रसवृष्टि | स० १८२८ वि० |
| दौलतराम उजियारे | रसचंद्रिका, जुगलप्रकाश | स० १८३७ वि० |
| | शृंगारचरित | स० १८४१ वि० |
| बेनी बदीजन | रसविलास | स० १८४९ वि० |
| लाल कवि | विष्णुविलास | स० १८५०-वि० |
| भोगीलाल दुबे | बख्तविलास | स० १८५६ वि० |
| यशवतसिंह | शृंगारशिरोमणि | ” |
| यशोदानंदन | बरवै नायिकाभेद | स० १८७२ वि० |
| करन कवि | रसकल्लोल | स० १८९० वि० |
| कृष्ण कवि | गोविंदविलास | स० १८९३ वि० |
| नवीन | रसतरंग | स० १८९९ वि० |
| जगदीशलाल | ब्रजविनोद नायिकाभेद | १९वीं शती का अंत |
| गिरिधरदास | रसरत्नाकर | ” |
| नारायण भट्ट | नाट्यदीपिका | ” |
| चंद्रशेखर | रसिकविनोद | स० १९०३ वि० |
| वशमणि | रसचंद्रिका | अज्ञात |

चतुर्थ अध्याय

रीति की व्याख्या

१. 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति, लक्षण और इतिहास

संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द एक काव्यागविशेष के अर्थ में व्यवहृत होता रहा है। सर्वप्रथम वामन (९वीं शती) ने इसका स्वरूप 'विशिष्टा पदरचना' निर्दिष्ट करते हुए इसे 'काव्य की आत्मा' घोषित किया। पर आगे चलकर आनन्दवर्धन के समय में ध्वनि, विशेषतः रसध्वनि, को काव्य की आत्मा घोषित करने पर अन्य काव्यागों के समान रीति की उक्त महत्ता नष्ट हो गई और अब वह रस की उपकारक मात्र रह गई। इस काव्याग के अनेक भेदों में से प्रचलित तीन भेद हैं—वैदर्भी, गौडी और पाचाली। रीति के इस शास्त्रीय अर्थ का ग्रहण और विवेचन संस्कृत के आचार्यों के समान हिंदी के आचार्यों ने भी किया है।

किंतु हिंदी में 'रीति' शब्द का प्रयोग एक अन्य अर्थ में भी चिंतामणि के समय से ही होता आया है और वह अर्थ है—काव्यरचना पद्धति (तथा उसका निर्देशक शास्त्र)। केशव तथा कुछ रीतिकालीन आचार्यों ने इसी अर्थ में 'पथ' शब्द का भी प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ :

केशव—समुझै वाला बालकन वर्णन पथ अगाध।

चिंतामणि—रीति सु भाषा कबित की बरतन बुध अनुसार।

मतिराम—सो विश्वब्धनबोढ यो बरनत कवि रसरिति।

भूषण—सुकविन हूँ की कछु कृपा, समुझि कविन को पथ।

देव—अपनी अपनी रीति के काव्य और कविरीति।

सुरति मिश्र—बरनन मनरजन जहाँ रीति अलौकिक होइ।

निपुन कर्म कवि कौ जु तिहि काव्य कहत सब कोइ ॥

सोमनाथ—छद रीति समुझै नही बिन पिंगल के ज्ञान।

दास—(क) काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सो।

(ख) अरु कछु मुक्तक रीति लखि, कहत एक उल्लास।

(ग) बंदौ सुकविन के चरण अरु सुकविन के अथ।

जाते कछु हौ हूँ लह्यौ, कविताई को पथ ॥

दूल्ह—थोरे क्रम क्रम ते कही अलकार की रीति।

पद्माकर—ताही को रति कहत है, रसग्रथन की रीति।

बेनीप्रवीन—या रस अरु नव तरंग में, नव रस रीतहि देखि।

अति प्रसन्न हूँ ललन जी, कीन्ही प्रीति बिसेखि ॥

प्रतापसाहि—कबित रीति कछु कहत हौ व्यग्य अर्थ चित्त लाय।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि रीति अथवा पथ शब्द प्रायः अकेले प्रयुक्त नहीं हुए, अपितु इनके साथ कोई न कोई विशेषण प्रायः सलग्न रहा—कवित्तरिति, कविरीति, काव्य रीति, छदरीति, अलकाररीति, मुक्तकरीति, वर्णनपथ, कविपथ, और कवितापथ। अतः 'रीति' शब्द काव्यशास्त्र अथवा काव्यशास्त्रीय विधान का वाचक न होकर व्यापक

अर्थ में विधान अथवा शास्त्रीय विधान का ही वाचक है। पर आज 'रीतिकवि' अथवा 'रीतिग्रन्थ' में प्रयुक्त 'रीति' शब्द का सबध काव्यशास्त्र के साथ ही स्थापित हो गया है और यही कारण है कि मिश्रबधुओं ने इस युग का नाम 'अलकृत काल' रखते हुए भी इन कवियों के ग्रन्थों को रीतिग्रन्थ और उनके विवेचन को रीतिकथन कहा है। मिश्रबधु विनोद' में एक स्थान पर रीति के तत्कालीन प्रयोग की बड़ी स्वच्छ व्याख्या की गई है 'इस प्रणाली के साथ रीतिग्रन्थों का भी प्रचार बढ़ा और आचार्यता की वृद्धि हुई। आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वह ससार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयों के वर्णनों में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी है और अमुक प्रकार के अनुपयोगी। ऐसे ग्रन्थों से प्रत्यक्ष प्रकट है कि वह विविध वर्णनोवाले ग्रन्थों के सहायक मात्र हैं न कि उनके स्थानापन्न।' कहने का तात्पर्य यह कि रीति शब्द, जैसा कुछ लोगों का विचार है, शुक्लजी का आविष्कार नहीं है। यह बहुत पहले से हिंदी में प्रयुक्त हो रहा था, इसी लिये तो शुक्लजी ने कही भी उसकी व्याख्या करने की चेष्टा नहीं की। शब्द स्वयं इतना सर्वपरिचित था कि व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं हुई। फिर भी, शुक्लजी की शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा ने ही उसे शास्त्रीय व्यवस्था एवं वैज्ञानिक विधान दिया, इसमें सदेह नहीं किया जा सकता। उनसे पूर्व रीति शब्द का स्वरूप निश्चित ही व्यवस्थित नहीं था। ऐसे लक्षणग्रन्थों के लिये भी, जिनमें रीतिकथन तो नहीं है, परन्तु रीतिबधन निश्चित रूप से है, रीति सज्ञा शुक्लजी से पहले अकल्पनीय थी। शुक्लजी ने कुछ अंशों में वामन के रीति शब्द का भी अर्थसंकेत ग्रहण करते हुए रीति को केवल एक प्रकार न मानकर एक दृष्टिकोण माना। यह उनकी विशेषता थी। उनके विधान में, जिसने रीतिग्रन्थ रचा हो, केवल वही रीतिकवि नहीं है वरन् जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो वह भी रीतिकवि है। शुक्लजी के उपरांत कुछ आलोचकों ने इस काल को रीतिकाल की अपेक्षा अलंकारकाल या शृंगारकाल कहना अधिक उपयुक्त माना, परन्तु हिंदी में उनका अनुसरण नहीं हुआ। फलतः आज हिंदी के लगभग सभी विद्वान्, आलोचक एवं इतिहासकार केशव, बिहारी, देव, पद्माकर आदि के काव्यविशेष को, जिसमें रचना सबधी नियमों का विवेचन अथवा उन नियमों का बधन है, रीतिकाव्य के ही नाम से पुकारते हैं।

यदि 'रीति' शब्द का हिंदी में प्रचलित इस विशिष्ट अर्थ का स्रोत संस्कृत के काव्य-शास्त्रों से ढूँढने का प्रयास करे तो इधर उधर से शायद कुछ सामग्री मिल जाय। उदाहरणार्थ—भोज ने 'पथ' शब्द का प्रयोग किया है, और 'रीड् गतौ' धातु से 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति स्वीकारकर इस शब्द को 'पथ' अथवा 'काव्यमार्ग' का पर्याय माना है। कुतक ने भी 'पथ' को 'रीति' का पर्याय स्वीकार किया है। निस्संदेह इन दोनों आचार्यों के निम्नोक्त उद्धरणों में ये दोनों शब्द अपने पारिभाषिक अर्थ में—काव्यागविशेष के अर्थ में—प्रयुक्त हुए हैं, न कि शास्त्रीय अथवा काव्यशास्त्रीय विधान के अर्थ में, फिर भी 'रीति' का स्रोत ढूँढ निकालने में उनका यह प्रयोग अप्रत्यक्ष संकेत अवश्य कर देता है

भोज—वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।

रीड् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥

—सं० क० अ० २।२७

कुतक—तत्र तस्मिन् काव्ये मार्गाः पन्थानस्त्रयः सम्भवन्ति।

—ब० जी०, १९२४ (वृत्ति)

इन उद्धरणों में 'रीति' शब्द 'काव्यमार्ग' अथवा 'पथ' का पर्याय होने से इस अर्थ का भी प्रकाशित होने से दोतक अवश्य है कि आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट जिस मार्ग पर गमन

कर कविजन काव्यनिर्माण करते थे उसे भी 'रीति' कहते हैं। इस प्रकार हिंदी में उपर्युक्त प्रचलित अर्थ—काव्यरचना पद्धति—का आधार भी संस्कृत काव्यशास्त्र में ढूँढा जा सकता है।

२ रीतिकाव्य की प्रेरणा और स्वरूप

रीतिकविता राजाओं और रईसों के आश्रय में पली है—यह एक स्वतः प्रमाणित सत्य है अतएव उसकी अतः प्रेरणा और स्वरूप को कवियों और उनके आश्रयदाता दोनों के संबंध से ही समझा जा सकता है।

इस युग के इतिहास से स्पष्ट है कि रीतिकाल के आरंभ से ही दिल्ली दरबार का आकर्षण कम होने लग गया था—औरंगजेब के समय में कलावती को दिल्ली में कोई आकर्षण नहीं रह गया था। औरंगजेब की मृत्यु के उपरांत साम्राज्य की शक्ति का और उसके साथ राजदरबार का विकेंद्रीकरण बड़े वेग से आरंभ हो गया था और कवि, चित्रकार, गायक तथा शिल्पी, सभी राजाओं और रईसों के यहाँ आश्रय की खोज में भटकने लग गए थे। ये राजा और रईस अधिकांशतः हिंदू या हिंदू रीतिरिवाजों से घुले मिले हिंदी-रसिक मुसलमान थे। कुछ स्वयंमध्यम महाराजाओं को छोड़कर शेष सभी का जीवन सामयिक राजनीति से पृथक् अवकाश और विलास का जीवन था। दिल्ली का राजवंश भी जब इतने कोलाहल के बीच ऐश और आराम में मस्त था तो इन राजाओं और रईसों को तो चिंता तथा संपर्क कम और अवकाश एवं विकास का अवसर कहीं अधिक था। अतएव ये लोग, चाहे छोटे पैमाने पर ही सही, राजदरबार की प्रतिच्छाया थे। शताब्दियों के दासत्व और उत्पीड़न के कारण इनमें आत्मगौरव की चेतना निःशेष हो चुकी थी, इसी लिये तो अव्यवस्था और उत्क्रांति के युग में भी ये लोग चैन की बशी बजा सकते थे। जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वथा ऐहिक और सामंतीय रह गया था। परंतु ऐहिकता और सामंतवाद की शक्ति अब उनमें नहीं रह गई थी, केवल भोगवाद ही शेष था।

अतएव ये लोग भोग के सभी उपकरणों को—विनोद के सभी साधनों को एकत्र करने में प्रयत्नशील रहते थे जिनमें सुबाला, सुराही और प्याला के साथ-साथ तानतुक ताला और गुणी जनों का सरस काव्य भी सम्मिलित था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी में कविता सबसे अधिक परिष्कृत उपकरण थी—वह केवल विनोद का ही साधन नहीं थी, एक परिष्कृत बौद्धिक आनंद का स्रोत तथा व्यक्तित्व का शृंगार भी थी। ये राजा और रईस अपनी संस्कृति और अभिरुचि को समृद्ध करने के लिये रससिद्ध व्युत्पन्न कवियों का सत्संग और काव्य का आस्वादन अनिवार्य समझते थे—इससे इनका व्यक्तित्व कलात्मक एवं संस्कृत बनता था।

रीतिकाल के कवि वे व्यक्ति थे जिनको प्रायः साहित्यिक अभिरुचि पैतृक परंपरा के रूप में प्राप्त थी—काव्य का परिशीलन और सृजन इनका शगल नहीं था, स्थायी कर्तव्य कर्म था। ये लोग यद्यपि निम्न वर्ग के ही सामाजिक होते थे, तथापि अपनी काव्यकला के द्वारा ऐसे राजाओं अथवा रईसों का आश्रय खोज लेते थे जिनकी सहायता से इनकी काव्यसाधना निर्विघ्न चलती रहे। अतएव इनका संपूर्ण गौरव इनकी काव्यकला पर ही निर्भर रहता था—इसी कारण कविता इनके लिये मूलतः एक ललित कला थी जिसके बल पर ये अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए गोष्ठी के शृंगार बन पाते थे। अपनी प्रतिभा और कला के प्रदर्शन के प्रति ये जागरूक थे। इनका निषेध तो नहीं किया जा सकता—परंतु इसके आगे बढ़कर इनको काव्यव्यवसायी या फर्मायशी कवि कहना अन्याय होगा। सारांश यह है कि रीतिकाव्य में आत्मा की काँपती हुई आवाज आपको नहीं मिलेगी। वह अपने प्रतिनिधि रूप में वैयक्तिक गीत कविता नहीं है। वह कलात्मक

कविता है—स्वभावतः उसमें वस्तुतत्त्व असदिग्ध है। इसलिये उसकी मूल प्रेरणा सीधे आत्माभिव्यजना की प्रवृत्ति में न खोजकर आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति में खोजनी चाहिए। हिंदी साहित्य के प्राचीन इतिहास में यही युग ऐसा था जब कला को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया गया था। अपने शुद्ध रूप में रीतिकविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम और न सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार की परिचारिका ही। काव्यकला का अपना स्वतंत्र महत्व था—उसकी साधना उसी के निमित्त की जाती थी—वह अपना साध्य आप थी।

निदान, रीतिकाव्य में दो प्रवृत्तियाँ अभिन्न रूप से गुँथी हुई मिलती हैं—(१) रीतिनिरूपण अथवा आचार्यत्व और (२) शृंगारिकता।

पंचम अध्याय

रीतिकालीन कवियों की सामान्य विशेषताएँ

१. वातावरण : मनोवैज्ञानिक परिवर्तन

जिस विशेष सामंतीय वातावरण में रीतिकवियों का लालन पालन हुआ उससे उनकी मन स्थितियाँ बहुत कुछ बदल गईं। इस काल के कवियों में वह ऊर्जस्विता न थी कि वे 'सतन को कहा सीकरी सो कभी ?' की घोषणा कर सकें अथवा 'प्राकृत जन गुणगाना' से असपृक्त रह सकें। अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियों के ठीक विपरीत वे सीकरी जैसे राजस्थानों में निवास करने में गर्व का अनुभव करते थे। प्राकृतजन गुणगान तो उनके काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य बन गया। उनके मनोगत परिवर्तनों को तत्कालीन सामाजिक वातावरण तथा परंपरा से प्राप्त साहित्यिक प्रभावों के प्रकाश में अच्छी तरह विश्लेषित किया जा सकता है।

भक्तिकाल में राजनीतिक दासता के शिकार होते हुए भी यहाँ के निवासियों की आध्यात्मिक ज्योति मलिन नहीं पड़ी थी। जीवन के प्रति उनकी आस्था का दीप बुझ नहीं पाया था। पर रीतिकाल के आते आते न तो आध्यात्मिकता की ज्योति का पता था और न आस्था के दीप की लौ का। विदेशी प्रभुसत्ता के आगे देशी रजवाड़े नतमस्तक होकर निष्प्रभ हो चुके थे। वे अपने मन की गाँठें खोलने में भी असमर्थ थे। इस प्रकार के घुटनशील वातावरण में वे अपने में बुरी तरह सीमित हो गए। सत्तागत तेज के हत हो जाने के कारण वे उस कमी की पूर्ति कृत्रिम वैभव और ऐश्वर्यगत उपकरणों के भोग द्वारा करने लगे। जब मन की गाँठ बाहर नहीं खुल पाई तो वह नारीशरीर के चतुर्दिक् केंद्रित हो गई। उन राजाओं की छाया में रहनेवाले कवियों ने सिद्ध कर दिया कि 'यथा राजा तथा प्रजा'। भक्तिकाव्य परंपरा में उन्हें अपने अनुकूल कुछ ऐसी सामग्री प्राप्त हो गई जिससे शृंगारिक—कभी कभी घोर शृंगारिक—कविता लिखने के लिये उनका मार्ग प्रशस्त हो गया।

ऐसा करने के लिये उन्होंने मुख्यतः दो प्रकार के चित्र प्रस्तुत किए—वैभव-विलास के उन्मादक वातावरण के तथा अनेक हावभावसमन्वित, रूपगुणसंपन्न नारियों (नायिकाओं) के। यह कहा जा चुका है कि प्रभुसत्ता के हत हो जाने से राजे महाराजे विलासपरक सामग्री के चयन द्वारा उसकी क्षतिपूर्ति करने लगे थे। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रीतिकाव्य में वर्णित वैभवविलास के अतिरजनापूर्ण चित्र उसी क्षतिपूर्ति के उपकरण हैं।

उन सामंतों, सरदारों के निवासस्थान अद्वितीय और अतिशय मनोरम थे। उनके अग्रभेदी विशाल भवन वैभवविलास से दीप्त थे। अनेकानेक खंडों और तल्लों से सुशोभित प्रासाद इद्रलोक के परम रम्य भवनो से होड़ लेते थे। राजमार्गों की नयनाभिराम भाँकी लेने के लिये प्रासादों और महलों में उस ओर अनेक झरोखे बने थे, जिनसे 'पावक झर सी भाँक' कर नायिकाएँ रसिकों का हृदय मरोड़ जाती थी। किसी किसी महल का ऊर्ध्व भाग चंद्रमा की भाँति शुभ्र तथा वृत्ताकार होता था। इन भवनो के निर्माण

मे साधारण पत्थर नहीं लगे थे। स्फटिकशिलाओं से निर्मित उन भवनो के ऐश्वर्य का क्या पूछना। शुक्ल पक्ष की दुग्धफेनिल चॉदनी रात में उनका वैभव उद्वेलित हो उठता था। शीशमहलो में जड़े हुए अग्रणीत मूल्यवान् दर्पण उन भवनो की शोभा को कई गुना बढ़ा देते थे। इन दर्पणों में प्रतिबिम्बित अग्रच्छवि ऐसी प्रतीत होती थी मानो सपूर्ण ससार को जीतने के लिये कामदेव ने कायव्यूह बनाया हो। उन महलो से गुप्त रूप से (मिलन के निमित्त) बाहर जाने के लिये पृष्ठद्वार होते थे। मुगल शैली की साजसज्जा तथा भाड-फानूस से सुशोभित महल दीपज्योति में जगमग हो उठते थे। ऐसे ऐश्वर्यशाली भवनो के ऊपरी तल्ले पर कभी चढ़ती और कभी उतरती उत्कृष्टता नायिका अपने पायल की भकारो से सपूर्ण महल को भ्रुकृत कर जाती थी। कल्पना और यथार्थ तथा वास्तविकता और सभावनाओं का कैसा चमत्कारपूर्ण तथा ऐंद्रिय चित्रण है। 'देव' के आदर्श महल का एक चित्र देखिए—

उज्जल अखंड खंड सातएँ महल महा—

मडल सँवारो चंद्रमंडल की चोट ही।

भीतर हू लालनि के जालनि विलास ज्योति,

बाहर जुन्हाई जगी जोतिन की जोट ही ॥

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस प्रकार का वैभवविलासपूर्ण, मणिमणिमय के जालों की विशाल ज्योति से जगमगाता हुआ, चंद्रमंडल का प्रतिद्वंद्वी कोई महल रहा ही होगा, पर इससे इतना तो प्रकट है कि वह ऐश्वर्य और विलास की सभावनाओं का ऐसा दृश्य उपस्थित करना चाहता है जो तत्कालीन सामंतीय आकांक्षाओं का मानसिक विराम-स्थल है।

अब थोड़ा नगर के बाहर स्थित सामंतीय उपवनो को भी देखिए। ये उपवन वे विश्रामभूमियाँ नहीं हैं जहाँ की प्राणदायिनी वायु का सेवन करने के बाद व्यक्ति पुन चलने की शक्ति ग्रहण करता है, प्रत्युत् ये वे भूमियाँ हैं जहाँ व्यक्ति अपने अवसाद को विस्मृत कर अपनी चेतना पर गहरा लेप चढ़ा लेता है। ये उपवन उन प्रमदवनो के सदृश हैं जहाँ पर सामान सरदार सुरा और सुदरी की सेवा किया करते थे। ये उपवन, बापी, तड़ाग आदि काव्य में ही उद्दीपन नहीं होते थे बल्कि जीवन में भी उससे अधिक इनका महत्व नहीं रह गया था। अनेक प्रकार के फौवारों से सुशोभित उपवनो में भारतीय तथा पारस्यदेशीय रंगविरंगे पुष्पो की बहार थी। इन उपवनो में पुष्पचयन के व्याज से नायकनायिका मिलनसुख लूटा करते थे। नायकनायिकाओं के घर में फूलों की काफी खपत थी। शयनकक्ष की शय्या पर फूलों की कोमल पखडियाँ बिछाई जाती थी, विरह-ताप में उनसे विरहोपचार का काम लिया जाता था। पुष्पनिर्मित रंगीन आभूषणों से नायिकाओं का श्रृंगार किया जाता था। काव्य में वर्णित इन उपवनो में तत्कालीन सहृदयों का मन खूब रमता था। रीतिकवियों की मनोवृत्ति उनसे भिन्न नहीं थी। वे उन रसिकों को उनकी मनोनुकूल दिशा ही नहीं देते थे बल्कि उन्हें ऐसे लोक में पहुँचा देते थे जहाँ अपनी रही सही चिंताओं से भी वे मुक्त हो जाते थे।

अंगरागो तथा वेशभूषा के प्रति अत्यधिक सतर्कता भी क्षतिपूर्ति की ही द्योतक है। तत्कालीन रईस अपने शरीर तथा वस्त्राभूषणों को चोवा, चदन, घनसार, इत्र आदि से सुवासित करते थे। वासकसज्जा नायिकाओं का तो यह प्रधान व्यापार ही था

प्राँसरी के पसंमरे परे हैं पुर पौरि लागि,

अरु धाम धूपनि के धूम धुनियत है।

कस्तूरी, अतरसार, चोवा, रस, घनसार,
दीपक हज़ारन अँधियार लुनियत है ॥

—देव

किंतु कवि नायकनायिकाओं के शयनकक्षों तक ही अपने को सीमित नहीं रख पाता था, वह इससे भी आगे बढ़कर देखता था रगविरगी साडियों और पारदर्शी बहुमूल्य दुकूलों से भाँकती हुई नायिकाओं की उन्मादक शोभा और मणिमणिक्क तथा कीमती जवाहिरातों से अभिमण्डित उनका जगमग करता हुआ उद्दीपक सौंदर्य। नारी की उद्दीपक शोभा और रंगीन अचल को अपनी शरणभूमि मान लेने का तात्पर्य यह है कि उन्हें जीवन की अन्य समस्याओं में कोई विशेष रुचि नहीं रह गई थी। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कहा जा सकता है कि अन्य दिशाओं को अवलोकित देखकर मन रमाने की कोई और विश्रामस्थली भी तो नहीं है। रीतिकाव्यों में 'चोर मिहीचनी' खेल का प्रचुर वर्णन भी यही मिश्र करता है कि लुकाछिपी करने तथा एकांत भाव से रमनेवाले लोगों की सीमाएँ किंतु सकुचित तथा क्रियाकलाप कितने सकोराँ थे।

सामंत सैरदारों के संपूर्ण व्यवहार भोगविलास में इस तरह केविन हो गए थे कि इसके परे जैसे उन्हें कुछ सोचने की ही नहीं रह गया था। बौद्धिक ह्रास और चिंतनहीनता के इस युग में चिंतन का विषय भोगभावना तक ही सीमित हो गया। अष्टायामो का प्रणयन उनकी दैनंदिनी की प्रेरणा का ही फल तो है। फिर तो रीतिकवियों ने भी ऋतु के अनुकूल बरफ, शीतलपाटी और 'आसव व अगूर की ही टाटी' का नुस्खा पेश करना आरंभ कर दिया। पद्माकर रीतिकाल के अंतिम कवियों में थे और इस तरह के नुस्खों का उल्लेख उन्होंने अधिक किया है। इस समय तक थकान और चिंतनहीनता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी फलतः कविसामंत संपूर्ण भावेन घोर शृंगार में आकण्ट मग्न हो गए।

रीतिकाल के ठीक पूर्व भक्तिकालीन रचनाओं में पहले से ही रीतितत्व मौजूद थे। रीतिकवियों के मन में अतिशय शृंगारिक कविताएँ लिखने पर भिन्न न उत्पन्न हुई हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भक्तिपरक कविताओं के राधाकृष्ण रीतिकाव्यों में भी दिखाई पड़ते हैं। पर जहाँ भक्त कवि राधाकृष्ण की आराधना में तन मन से तन्मयी-भूत थे वहाँ रीतिकवि राधाकृष्ण के स्मरण के बहाने शृंगारिक भावों की अभिव्यक्ति करते थे। फिर भी उनकी पूरी भिन्न नहीं मिट पाई। प्रायः सभी रीतिकवियों ने समय समय पर भक्तिपरक उद्गार प्रकट किए हैं। किंतु भक्त कवियों की राधाकृष्ण विषयक घोर शृंगारिक कविताओं ने रीतिकवियों के नैतिक अवरोध को दूर कर दिया। फिर तो भगवद्भक्ति सबंधी शृंगारिक भावनाओं को निर्बाध भाव से लौकिक शृंगार में परिणत किया जाने लगा।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जब मौलिक चिंतन का द्वार बंद हो गया, राजा रईसों का व्यक्तित्व चारों ओर से अवलोकित हो गया तो शृंगार के अतिरिक्त कोई ऐसी भूमि नहीं थी जहाँ पर तत्कालीन रसिकों को शरण मिलती। भक्तिकाव्य परंपरा ने कवियों के प्रकृत मार्ग में जहाँ एक ओर अवरोध खड़ा किया वहाँ शृंगारमार्ग का अनुधावन करने का दृढ़ संकेत भी दिया। इस तरह उस सामंतीय वातावरण में ऐसे उपादान एकत्र हो गए जो अकृष्टित शृंगार की अभिव्यजना में पूर्ण सहायक सिद्ध हुए।

२. प्रमुख प्रतिपाद्य

यद्यपि रीतिकालीन कवियों का मुख्य वर्ण्यविषय नायिकाभेद, नखशिख, अलंकार आदि का लक्षण उदाहरण प्रस्तुत करना रहा है, फिर भी उन्होंने उनके माध्यम से

शृंगार का ही प्रतिपादन किया है। वास्तव में यही उनका प्रमुख प्रतिपाद्य भी है। शृंगारिकता के अनिश्चित उन्होंने भक्ति और नीतिपरक उक्तियाँ भी की हैं पर वे सख्या में इतनी कम हैं कि उनका महत्व अत्यधिक गौण हो गया है।

साँचा चाहे नायिकाभेद का रहा हो चाहे नखशिख आदि का, उसमें ढली है शृंगारिकता ही, इसकी अभिव्यक्ति में उन्होंने किसी प्रकार का सकोच नहीं किया। इसलिये उनकी 'शृंगारिकता' में अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रथियाँ नहीं हैं, न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित अनुचित प्रयत्न। जीवन की वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति में चाहे वचित रही हों, परंतु शृंगारिक कुठाग्रो से ये मुक्त थीं। इसी कारण इस युग की शृंगारिकता में घुमडन अथवा मानसिक छलना नहीं है।

शृंगारिकता के प्रति उनका दृष्टिकोण मुख्यतः भोगपरक था, इसलिये प्रेम के उच्चतर सोपानों की ओर वे नहीं जा सके। प्रेम की अनन्यता, एकनिष्ठता, त्याग, तप-श्चर्या आदि उदात्त पक्ष भी उनकी दृष्टि में बहुत कम आ पाए हैं। उनका विलासोन्मुख जीवन और दर्शन सामान्यतः प्रेम या शृंगार के बाह्य पक्ष—शारीरिक आकर्षण—तक ही केन्द्रित रहकर रूप को मादक बनानेवाले उपकरण ही जुटाता रहा। यह प्रवृत्ति नायिकाभेद, नखशिख वर्णन, ऋतुवर्णन, अलंकारनिरूपण—सभी जगह देखी जा सकती है।

३. नायिकाभेद

नायिकाभेद का आलोडन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि प्रायः सर्वत्र रूप के प्रति कवियों की तीव्र आसक्ति व्यक्त हुई है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर प्रेम का मलाधार है भी रूपासक्ति ही। नायिका होने के लिये किसी स्त्री का सुंदर होना पहली शर्त है—'मानो रची छवि मूरति मोहिनी, श्रीधर ऐसी बखानत नायिका'। दास ने नायिका का लक्षण लिखते हुए उसके कतिपय गुणों का उल्लेख किया है

सुंदरता बरननु तरुनि सुमति नायिका सोइ ।

सोभा काति सुदीप्ति जुत बरनत हैं सब कोइ ॥

अर्थात् नायिका का सौंदर्य यौवन, शोभा, काति और दीप्ति से संयुक्त होना ही चाहिए। ये नायिका के सहज गुण हैं, इन्हें सहज सौंदर्य भी कहा जा सकता है। इसके अनिश्चित नायिका के रूपवर्णन के दो अन्य ढंग भी अपनाए गए हैं—आलंकारिक रूपवर्णन तथा इन्द्रियोत्तेजक रूपवर्णन।

सहज सौंदर्य में एक अनिवर्चनीय मोहनशक्ति होती है—अनलकृत, अकृत्रिम शोभा, दीप्ति आदि को अलग अलग खोज पाना न तो संभव है और न मनोवैज्ञानिक। यह ठीक है कि ये तीनों स्मरविलास के क्रमिक सोपान हैं। पर ये परस्पर ऐसे संबद्ध हैं कि इनका अलग अलग विश्लेषण सौंदर्यानुभूति की समन्वित चेतना को बिखरा देता है। स्वयं रीतिकाव्यों में, जहाँ नायिका के उपर्युक्त लक्षणों का अलग अलग वर्णन किया गया है, वहाँ सौंदर्यचेतना प्रायः निष्प्रभ हो गई है। दास का शोभा का एक उदाहरण देखिए

कमला सी चेरी है घनेरी बैठी आसपास,

विमला सी आगे दरपन दरसावती ।

चित्ररेखा मेनका सी चमर डोलावै,
 लिए अंक उरबसी ऐसी बीरन खवावती ॥
 रति ऐसी रंभा सी सची सी मिलि ताल भर,
 मंजु सुर मजुघोषा ऐसी ढिग गावती ।
 मध्य छबि न्यारी प्यारी बिलसै प्रजंक पर,
 भारती निहारि हारी उपमा न पावती ॥

इस उदाहरण में शोभा का कही पता नहीं है। कमला, चित्ररेखा, मेनका आदि की नामावली शोभा के किसी पक्ष को नहीं उभार पाती, हाँ, साहिबी (दास ने शोभा-काति सुदीप्ति के लक्षणों के अंतर्गत साहिबी की भी गणना की है) आदि से अत तक व्याप्त है। जहाँ शोभा, काति, दीप्ति आदि सोदर्यचेतना का अभिन्न अंग हो गई है वहाँ नायिका का सहज सोदर्यपूर्ण अपनी पूरी ऊँचाई पर पहुँच गया है

(१) अंग अंग छबि की लपट उपटति जाति अछेह ।

खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी सी देह ॥

—बिहारी

(२) कुंदन कौ रँगु फीको लगै, भूलकँ अति अंगन चारु गोराई ।

आँखिन में अलसानि चितौन में मजु बिलासन की सरसाई ॥

को बिन मोल बिकात नही, मतिराम लहै मुसुकानि मिठाई ।

ज्यो ज्यो निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यो त्यो खरी निकरै सी निकाई ॥

—मतिराम

(३) आई हुती अन्हवावन नायन, सौधे लिए कोई सीधे सुभायनि ।

कन्चुकी छोरि धरी उबटैबो कौ, इगुर से अँग की सुखदायनि ॥

‘देव’ सुरूष की रासि निहारति, पाँय ते सीस लौं सीस ते पायनि ।

ह्वै रही ठौरई ठाढ़ी ठगी सी, हँसै कर ठोड़ी दिए ठकुरायनि ॥

—देव

उपर्युक्त तीनों उदाहरण नायिका के सौंदर्य का जो नयनाभिराम और मार्मिक चित्र उपस्थित करते हैं वे शास्त्रीय शोभा, काति, दीप्ति के बंधनों से मुक्त हैं। पर इनमें उन सभी लक्षणों को देखा जा सकता है। लेकिन इन चित्रों में वे कौन सी विशेषताएँ हैं जो इन्हे सौंदर्यचित्रण के श्रेष्ठ उदाहरण सिद्ध करती हैं? ऊपर कहा जा चुका है कि केवल शोभा, कानि आदि के रूढ़ लक्षणों के समावेश से कोई सौंदर्यचित्र उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। तब इनका माप कैसे किया जाय? वस्तुतः यह अत्यंत गंभीर प्रश्न है। इसके उत्तर के लिये प्रश्न की गहराई में पैठना होगा। केवल चाक्षुष बिंबों के आधार पर किसी रचना को उत्कृष्ट अथवा अनुत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। संभवतः सहृदय की संपूर्ण ऐंद्रिय चेतना को जो चित्र जितनी गहराई में स्पर्श करेगा, वह उतना ही श्रेष्ठ होगा। पहले उदाहरण की व्यक्तता अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म और अनुभूतिपूर्ण है। इसमें सवेगात्मकता कम और सवेदनात्मकता अधिक है। इसलिये मन प्राणों का स्पर्श यह गहराई से कर पाता है। दूसरे चित्र में कई रेखाएँ लगी हैं पर जोरदार हैं आँखों की अलसता और चितवनविलास की रेखाएँ ही। इनमें मन्मथ से आप्यायित द्युति देखी जा सकती है। स्मरविलास से अभिवृद्ध शोभा को निरखा जा सकता है। ‘निकाई’ के खरेपन का चित्रण इसका अभिप्रेत है और इस अर्थ में यह निस्संदेह श्रेष्ठ चित्र है। जहाँतक सरलता और स्पष्टता का प्रश्न है, यह बेजोड़ है। पर पहले की अनुभूत्यात्मकता अधिक गहरी है।

एतदर्थ उसकी प्रभावान्विति का तीव्रतर होना भी स्वाभाविक है। बिना किसी शोभन उपकरण की चर्चा किए हुए देव ने तीसरे उदाहरण में नायिका के राशि सौंदर्य का बहुत ही भावपूर्ण चित्र खींचा है। इसमें जिस अद्भुत तत्व (वडर एलीमेण्ट) तथा नाटकीय व्यापार की नियोजना की गई है वह मतिराम की अपेक्षा पाठको की ऐंद्रिय चेतना का गहरा स्पर्श करती है। संपूर्ण ऐंद्रिय चेतना के स्पर्श की दृष्टि से इन उदाहरणों में बिहारी का सौंदर्यचित्र निस्संदेह सर्वोत्कृष्ट है। पर अपने अपने स्थान पर सबके सब नायिकाओं की सहज शोभा के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

सौंदर्यचित्रण का दूसरा प्रकार है इन्द्रियोत्तेजक रूपवर्णन जिसे मनोवैज्ञानिक शब्दावली में सवेगात्मक रूपचित्रण भी कह सकते हैं। सवेगात्मक रूपचित्रण काव्योत्कर्ष में घट कर नहीं होता। इसमें कवि की वैयक्तिक भावना भी लिपटी हुई दिखाई पड़ती है जो सहृदयों के सवेगों पर चोट करती है। इस तरह के सर्वाधिक चित्र देव में मिलते हैं। रूप के प्रति जितनी आसक्ति इनमें दिखाई पड़ती है उतनी किसी अन्य रीतिकवि में नहीं। बिहारी मुख्यतः चामत्कारिक कवि होने के कारण बहुत कम सवेगात्मक चित्र उपस्थित कर सके हैं। मतिराम में सयम और नियंत्रण के कारण भाव की वह आकुलता नहीं आ पाई है। इस काल के प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर का नाम उल्लेखनीय है। पर उनका भावावेग प्रेमक्रीड़ाओं में ही अधिक व्यक्त हुआ है। देव के दो उदाहरण लीजिए :

- (१) जगमगे जोबन जराऊ तरिबन कान,
ओठन अनूठो रस हाँसी उमड़ो परत ।
कंचुकी में कसे आँव उकसे उरोज बिंदु,
बंदन ज़िलार बड़े बार-घुमड़े परत ।
गोरे मुख स्वेत सारी कंचन किनारीदार,
देव मरिण मूसका मूसकि मुमड़े परत ।
बड़े बड़े नैन कजरारे बड़े मोती नथ,
बड़ी बरुनीन होड़ाहोड़ी आड़े परत ।
- (२) अंग अंग उमग्यो परत रूप रंग, नव—
जोबन अनूपम उज्यासन उजारी सी ।
डगर डगर बगरावति अंगर अंग,
जगरमगर आपु आवति दिवारी सी ॥

इन दोनों चित्रों में रूप के प्रति कवि की वैयक्तिक प्रतिक्रिया अभिव्यक्त हुई है। लेकिन प्रभावात्मक रूपचित्र खड़ा करने के लिये केवल वैयक्तिक प्रतिक्रिया ही अलम् नहीं होती। समर्थ कवि अपनी प्रतिक्रियाओं को पाठक तक इस रूप में प्रेषित करता है कि उसकी सौंदर्यचेतना झूठ हो उठती है और वह कवि का भावनात्मक अनुकूलत्व (इमोशनल रेसपांस) प्राप्त कर लेता है। पहले उदाहरण की तीसरी और सातवीं पक्तियाँ पाठको के सवेगों पर गहरी चोट करती हैं और वह भी कवि की ही भाँति बड़े बड़े कजरारे नैनो को देखने लगता है। नायिका की सहज शोभा के प्रसंग में देव का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया था उसमें द्रष्टा का व्यक्तित्व प्रायः असंपृक्त था पर इसमें वह आद्यत लिपटा हुआ है। रूप रस गंध समन्वित ऐसे नयनाभिराम चित्र कम दिखाई पड़ते हैं। दूसरे उदाहरणों में भी ऐंद्रिय चेतना के वे सभी पक्ष स्पष्ट हो उठते हैं जो प्रथम उदाहरण में होते हैं। अंतिम दो पक्तियों में तो अपनी अपार शोभा में नायिका जैसे साकार हो उठती है।

अब इसी प्रसंग में दास का एक चित्र उद्धृत किया जाता है।

घाँघरे झीन सो, सारी महीन सो, पीन निनब्रन भार उठै सचि ।
 बास सुबास सिगार सिगारनि, बोझनि ऊपर बोझ उठै मचि ।
 स्वेद चले मुखचद तैं चवै, डग टूँक धरै महि फूलन सो पचि ।
 जाति है पंकज बारि बयारि सो, वा सुकुमारि कौ लक लला लचि ॥

प्रथम दो पक्तियों में ऐंद्रियता अवश्य दिखाई पड़ती है पर अंतिम दो पक्तियाँ सुकुमारता का उदाहरण प्रस्तुत करने के कारण अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने में अशक्त हो गई है ।

आलंकारिक रूपवर्णन कुछ उसी प्रकार की रूपचेतना जागृत करता है जिस प्रकार आभूषणों की बहुलता नारी के सहज रूप को प्रकाशित करती है । आभूषणों का आधिक्य नारी की सहज शोभा को बहुत कुछ आवृत भी कर लेता है । काव्य में भी अलंकारों एवं अप्रस्तुतों के भार से नायिका का रूप दब जाता है । रीतिकाव्यों में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के सहारे जो रूपचित्र खड़े किए गए हैं उनमें से अधिकांश चमत्कारप्रदर्शन के नमूने हैं । बिहारी के अप्रस्तुत ज्योतिष शास्त्र गृहीत जो रूपचित्र प्रस्तुत करते हैं उनमें भावोद्रेकक्षमता का सनिवेश नहीं हो सका है । इस तरह के रूपचित्र मतिराम, देव, पद्माकर आदि सभी कवियों ने प्रस्तुत किए हैं । बहुज्ञताप्रदर्शन के नाम पर उनको दाद दी जा सकती है पर काव्यात्मक रूपचित्रण के नाम पर उनकी प्रशंसा नहीं की जा सकती । अपनी रसग्राही क्षमता के कारण इस तरह के कुछ चित्रों को देव ने प्रभविष्णु बनाने का प्रयास किया है ।

इंद्रियोत्तेजक सौंदर्यचित्रण में कवि की ऐंद्रिय बुभुक्षा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है । इसमें रूप और यौवन के प्रति एक तीखी ललक, एक अमिट प्यास मिलती है । इस काल के भावाकुल कवियों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई देती है । सचेत कलाकार होने के कारण बिहारी में भावोन्मेष उतना नहीं मिलेगा पर जहाँ तहाँ उनकी प्यास भी व्यक्त हो उठी है । ग्रामबालिकाओं की उपेक्षा करते हुए भी वे लिख ही डालते हैं

गदराने तन गोरटी ऐपन आड़ लिलार ।

+

+

+

गोरी गदकारी परै हँसत कपोलन गाड़ ।

‘गदराने’ और ‘गदकारी’ शब्दों द्वारा नायिका का जो मादक रूपचित्र खड़ा होता है वह कवि की अपनी वासनाओं से रिक्त नहीं है । देव में तो इस प्रकार के चित्र भरे पड़े हैं :

चौकी पै चंदमुखी बिन कंचुकी अंचर में उचकै कुच कोरै ।

बारन गौनी बधू बड़ी बार की बैठी बड़े बड़े बारन छोरे ॥

रीतिमुक्त कवियों में रूप की जितनी अमिट प्यास घनआनंद में देखी जाती है उतनी और किसी कवि में नहीं । वह उसकी एक झलक पर अपने संपूर्ण व्यक्तित्व को निष्ठावर करने के लिये तैयार बैठे हैं । प्रेयसी की एक एक अंदा पर वह कुर्बान हैं ।

आनंद की निधि जगमगाति छबीली बाल,

अग्नि अनंगरग दुरि मुरि जानि मैं ।

अनग का यह रंग कवि की अपनी ही अंतरात्मा की प्रतिध्वनि है ।

४ सयोग

रूपासक्ति और शरीरी आकर्षण का परिणाम है सयोगसुख । इसमें परंपरा-नुसार हावादियन्य चेष्टाएँ, सुरत, विहार, मद्यपान आदि का वर्णन होता है । रीति-

काव्यो मे इनका खूब चटकीला चित्रण हुआ है। रीतिकवियों का यह प्रकृत मार्ग था और यहाँपर उनकी रसिकता खुलकर खेलती दिखाई पड़ती है।

सयोग मे बहिरिद्रियो का सनिकर्ष अनिवार्य है। रसचेष्टा, सुरत आदि का मुख्य आधार बहिरिद्रियसनिकर्ष ही तो है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शारीरिक सुख की प्रमुखता मे मानसिक सुख एव आनंद उपेक्षित हो गया है। शरीर और मन का कुछ ऐसा सबध है कि एक का सुख दूसरे का सुख हो जाता है। आलिंगन, परिरभरण जैसे मासल वर्णनों मे भी मानसिक उल्लास को प्रायः विस्मृत नहीं किया गया है।

सच पूछिए तो सयोग श्रृंगार की भित्ति दर्शन, श्रवण, स्पर्श, सन्नाप आदि की नीव पर ही खड़ी की गई है। दर्शन, स्पर्श आदि की प्रतिक्रियाएँ मुख्यतः दो रूपों मे व्यक्त हुई हैं—हाव के रूप मे और अनुभाव के रूप मे। हाव सचेष्ट व्यापार है तो अनुभाव सहजानुभूति का बहिर्विकार। पहला बीड़ापरक है तो दूसरा त्रीड़ापरक। 'हाव' का सचालनसूत्र भी मन के ही हाथों मे रहता है जिससे वह प्रेमी को अपेक्षित व्यापार मे नियोजित करता है। फिर भी, सचेष्ट व्यापार होने के कारण यह सपूर्णतया मन से सबद्ध नहीं कहा जा सकता। प्रतिक्रिया का दूसरा रूप सवेगात्मक उत्तेजना का स्वाभाविक परिणाम है। उसे शास्त्रीय शब्दावली मे सात्विक अनुभाव कहा जाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर 'हाव' क्रीडाप्रवृत्ति (प्ले इन्स्टिक्ट) के अंतर्गत आएगा। यो तो यह रीतिकाव्य की सामान्य प्रवृत्ति है पर बिहारी ने इसके प्रदर्शन मे सर्वाधिक रस लिया है। भृकुटि तथा नेत्रादि के विलक्षण व्यापारों से सभोगेच्छा प्रकाशक भाव ही हाव कहलाता है। हाव आश्रयगत भी होता है और आलंबनगत भी। आश्रयगत हाव का दोहरा कार्य होता है—आश्रय की भोगेच्छा का प्रकाशन और आलंबन का भावोद्दीपन। कुछ उदाहरण देखिए

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय ।

सौह करे, भौहन हँसै, दैन कहै, नटि जाय ॥

—बिहारी

ओट तें चोट बिरी की करी पिय बार सुधारत बैठी जितै रही ।

चचल चारु दृगंचल कै तब चंदमुखी चहुँ ओर चितै रही ॥

—दास

साँकरी खोरि में काँकरि की करि चोट चलो फिर लौटि निहारो ।

ता खिन तें इन आँखिन तें न कदचौ वह साखन चाखनहारो ॥

—पद्माकर

उपर्युक्त तीनों उदाहरणों मे जो चेष्टाएँ—सौह करना, देने के लिये कहना, नट जाना, चारों ओर चक्कपका कर देखना, घूम कर देखना—वर्णित हुई हैं वे सोद्देश्य और सचेष्ट व्यापार हैं। पहले दोनों मे नायिका का अभिप्राय केवल बातचीत का रस लेना भर नहीं है। वह नायक के मन मे प्रेमोत्पादन भी करना चाहती है। दास का नायक भी नायिका के चकित हाव का आस्वादन करना चाहता है, इसी लिये वह ओट से बिरी की चोट करता है। नायिका का चक्कपकाकर चारों ओर देखना सामान्यतः सचेष्ट व्यापार नहीं प्रतीत होता। पर ऐसा न होने से यह हाव के अंतर्गत नहीं आ सकता। उसके चारों ओर देखने के मूल मे भी प्रिय के प्रेमोद्दीपन की भावना निहित है। पद्माकर के उदाहरण मे नायक का लौटकर देखना एक ओर उसकी अपनी मनस्थिति का द्योतक है तो दूसरी ओर नायिका के प्रेमभाव के उद्दीपन का।

संयोग या मिलन के प्रसंग में सात्विक अनुभावों के सहारे जिन मनस्थितियों का चित्रण किया गया है वे काव्यसौंदर्य की दृष्टि से यथेष्ट प्रभावोत्पादक बन पड़ी हैं। इन सात्विक अनुभावों की सृष्टि सामान्यतः स्पर्शजन्य अनुभाव के रूप में दिखाई पड़ती है। स्पर्श त्वगिन्द्रिय का गुण है। त्वचा स्नायुतंतुओं, धमनियों आदि की रक्षा ही नहीं करती अपितु बाह्य संपर्क से हमारा संपर्क भी स्थापित करती है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे सर्वाधिक प्राचीन और मूलभूत ज्ञानेन्द्रिय कहा है। यह बाह्यानुभूतियों का सदेश मस्तिष्क तक पहुँचाती है। यौन आवेगों की स्थिति स्पर्शज्ञान पर इतनी अधिक निर्भर है कि प्रेमसंबन्धी सवेगों के सदर्थ में इसे प्रमुख स्थान दिया जाता है। स्पर्श का विद्युत्प्रवाह शरीर के सारे रोमकूपों में विविन्न सिहरन भर देता है।

यह अनुभाव प्रायः दो प्रकार से व्यक्त होता है—अगस्पर्श से और स्मृति से। पहले स्पर्श का एक दृश्य देखिए

स्वेद सलिल रोमांच कुस, गहि डुलही अरु नाथ ।

हियो दियो संग हाथ के, हथलेवा ही हाथ ॥

—बिहारी

पाणिग्रहण संस्कार के अवसर पर नायिका ने नायक के हाथ का ज्यों ही स्पर्श किया त्यों ही उसे पसीना हो आया और उसका शरीर रोमांचित हो उठा। स्पर्श की अनुभूति से उसके मन में मिलन की जो उत्कट इच्छा प्रकट हुई वह पसीने के माध्यम से व्यक्त हो गई। चोर मिहीचिनी खेलते समय कप, स्वेद, रोमांच और अश्रु जैसे सात्विक अनुभावों को एक साथ ही देखा जा सकता है

एकहि भौन दुरे इक संग ही अग सो अंग छुवायौ कन्हौ ।

कप छुटचौ, घन स्वेद बढ्यौ, तनु रोम उठचो, आँखिया भरि आई ॥

—मतिराम

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नारी का सर्वाधिक स्पर्शसुखकेंद्र उसके उभरे हुए वक्षस्थल है। यौन केंद्र के प्राथमिक अंगों से इनका जो स्वाभाविक संबन्ध है, वह इनमें स्पर्शजन्य सहज सकोच और रोमांच ले आता है। इस काल के अनेक रीतिकवियों ने इनके स्पर्शजन्य रोमांचपुलक का वर्णन किया है

स्वेद बढ़्यौ तन, कप उरोजनि, आँखिन आँसू, कपोलनि हाँसी ।

+ + +
अंचल भीन भकै पुलकै कुच कंद कदंब कली सी ।

—देव

कौतुक एक अनूप लख्यौ सखि, आज अचानक नाहु गयो छवै ।

श्रीफल से कुच कामिनि के दोउ फूलि कदब के फूल गयो ह्वै ।

प्रथम दो उदाहरणों में स्पर्श का प्रसंग केलि के अवसर पर आया है। यह आनदानुभूति भावनाप्रधान उतनी नहीं है जितनी वासनाप्रधान। तीसरे उदाहरण में ऐंद्रियता का गहरा रंग है।

(१) कल्पना या स्मृतिजन्य, अनुभाव—निर्विकार चित्त में किसी भाव के आविर्भूत होने के पूर्व आलंबन की प्रत्यक्ष या परोक्ष स्थिति अनिवार्य है। आलंबन की अनुपस्थिति में स्मृति या कल्पना के सहारे आलंबन का रूप खड़ा कर लिया जाता है। इस तरह भावी मिलन का काल्पनिक आनंद भी आश्रय को अनुभूतिमय बना देता है। कल्पनाजन्य सहज अनुभाव का अतिशय मनोरम चित्र खींचते हुए देव ने लिखा है।

गौने कै चार चली दुलही, गुरु लोगन भूषन भेष बनाए ।
सील सयान सखीन सिखायो, बड़े सुख सासुरे हूँ कै सुनाए ।
बोलिए बोल सदा हँसि कोमल, जे मनभावन के मन भाए ।
यो सुनि ओछे उरोजन पै अनुराग के अकुर से उठि आए ॥

—देव

‘अभी वास्तविक मिलन नहीं हुआ है । अभी स्थिति सर्वथा मानसिक धरातल पर ही है । पर मन के साथ शरीर का ऐसा महज सबध है कि दोनों में एकसाथ चेतना उत्पन्न हो जाती है?’ स्मृति में या त्रिग की कोई वस्तु पाकर भी प्रेमी को इसी प्रकार का रोमांच हो जाता है । स्पर्शजन्य अनुभवों से उत्पन्न कामचेतना उतनी सूक्ष्म नहीं बन पाई है जितनी कल्पनाजन्य कामचेतना ।

सयोग श्रृंगार में मुरतवर्णन भी आता है पर रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में अधिकांश ने इसका सक्षिप्त उल्लेख मात्र किया है । बिहारी के अतिरिक्त मतिराम, देव, पद्माकर आदि प्रायः इसमें रस लेते हुए नहीं दीख पड़ते । किंतु बिहारी की घोषणा है

चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, भपट, लपटाहि ।

ए जिहि रति, सो रति मुकति, और मुकति अति हाहि ॥

ऐसी स्थिति में लपट भपट के साथ ही मुरतसुखों का वर्णन करना उनके लिये स्वाभाविक था । ‘करति कुलाहलु किंकिनी, गह्यो मान मजीर’ वही लिख सकते थे । मतिराम ने इसका वर्णन करते हुए इतना ही लिखा है

प्रानप्रिया मनभावन सग, अनंग तरंगनि रंग पसारे ।

सारी निसा मतिराम मनोहर, केलि के पुंज हजार उघारे ॥

‘केलि के पुंज हजार उघारे’ में फिर भी साकेतिकता शेष रह गई है । ‘देव’ और पद्माकर का मन भी इसमें प्रायः नहीं रमा है ।

(२) हास परिहास—मिलन के प्रसंग में हास परिहास प्रेम को घनत्व प्रदान करता है और उसमें एक नवीन ज्योति, नया आकर्षण भरता है । केलि के अवसर पर यह आनंद को कई गुना अभिवृद्ध कर देता है । वस्तुतः यह रह केलि का ही एक अंग है । हास परिहास के द्वारा वाणी में जो वक्रता आती है, उससे जो अर्थमाधुरी व्यजित होती है, वह परिहासकर्ता के किसी अव्यक्त अभिप्राय को भी प्रकट करती है । इससे कभी प्रेमजनित आत्मसमर्पण, कभी गर्व, कभी प्रेमातिशय आदि अनेक प्रकार की भावनाएँ व्यक्त होती हैं ।

रास्ते में श्रीकृष्ण को दधिदान माँगते हुए देखकर एक गोपिका कहती है

लाज गहो बेकाज कत, घेरि रहे, घर जाहि ।

गोरस चाहत फिरत हौ, गोरस चाहत नाहि ।

‘कुछ तो शर्माओ, व्यर्थ मैं मुझे क्यों घेर रहा हूँ, घर जाने दो । तुम तो गोरस (इंद्रियरस) चाहते हो, दही नहीं । इस प्रकार श्रीकृष्ण का परिहास करती हुई गोपिका ने अपना मतव्य भी प्रकट कर दिया है । दधिदान का ही एक दूसरा प्रसंग है ।

ऐसी करौ करतूति बलाय त्यों नीकी बड़ाई लहौ जग जातै ।

आई नई तरुनाई तिहारी ही ऐसे छके चितवौ दिन रातै ।

लोजिए दान, हौ दीजिए जान, तिहारी सबै हम जानहीं घातें ।
जानौ हमै जनि बै बनिता जिनसौ तुम ऐसी करी बलि बातें ॥

—मतिराम

तुम्हारी करतूत का क्या कहना । मे बलि जाती हूँ । उससे तुम्हें क्या ही अच्छी बड़ाई मिलती है । दिन रात छके हुए ऐसे देखते रहते हो मानो तुम्हें ही नई जवानी मिली हो । वही सही, अच्छा अपना दान लो और हमें अपनी राह जाने दो । हमें आपके दाँब घात खूब मालूम है । हमें ब्रज की उन वनिताओं में मत समझो जिनसे तुम घातपूर्ण बातें करते हो । नायिका की थोड़ी सी प्रगल्भता प्रेममाधुरी को कितना गाढ़ा बना देती है ।

सखियों का एक अन्य सरस और मार्मिक परिहास देखिए । गौने के दिन नायिका का शृंगार करने के लिये सहेलियों का भुड़ जुटा हुआ है । कचन का बिछुआ पहनाते समय एक अत्यधिक प्रिय सखी ने गूढ़ परिहास करते हुए कहा कि यह बिछुआ प्रियतम के कानों के पास सर्वदा बजता रहे । यह सुनकर नायिका ने अपनी सखी पर करकमल चलाने के लिये हाथ तो उठाया लेकिन लज्जा के कारण वैसा नहीं कर सकी

गौने कै चौस सिगारन को 'मतिराम' सहेलिन कौ गनु आयौ ।
कंचन के बिछुवा पहिरावत, प्यारी सखी परिहास बढ़ायौ ।
पीतम खौन-समीप सदा बजै, यो कहिकै पहिले पहिरायौ ।
कामिनि कौल चलावनि कौ, कर ऊँचो कियौ पै चलयौ न चलायौ ।

—मतिराम

राधाकृष्ण के विनोद का एक अति सरस और प्रेमपूर्ण उदाहरण देखिए ।

लागि प्रेम डोरि खोरि साँकरी हूँ कडी आई,
नेह सो निहोरि जोरि आली मनमानती ।
उतते उताल देव आए नंदलाल, इत
सोहै भई बाल नव लाल सुख सानती ॥
कान्ह कह्यो टेरि कै, कहाँ ते आई, को हौ तुम,
लागती हमारे जान कोई पहिचानती ।
प्यारी कह्यो फेरि सुख, हरि जू चलेई जाहु,
हमै तुम जानत, तुम्है हूँ हम जानती ॥

—देव

एक दिन राधिका अपनी सखियों के साथ सकीर्ण गली में चली जा रही थी । राधिका के आगमन की सूचना पाकर कृष्ण दौड़ते भागते आए और दूर से ही पुकारकर कहा—'जरा सुनिए तो, आप कहाँ से आ रही हैं ? मुझे कुछ ऐसा लगता है कि मैं आपको पहचानता हूँ' । राधिका मुँह फेरकर बोली—'आप चुपचाप चले जाइए । आप मुझे पहचानते हैं, और मैं आपको पहचानती हूँ' । कितना मीठा और कितना गहरा मजाक है ।

५ वियोग

वियोग के चार भेद हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण । वियोग के मूल में अभीष्ट के समागम का अभाव निहित है । इसी दृष्टि से पूर्वराग और मान को भी विप्रलम्भ शृंगार के अंतर्गत रखा गया है । पूर्वराग में आलबन निकट भी रह सकता है पर कुछ व्यवधानों के उपस्थित हो जाने के कारण अथवा समुचित साधनों के अभाव में आश्रय आलबन का मिलन नहीं हो पाता । पर मान में तो प्रेमियों का विच्छेद नहीं होता, कई अवस्थाओं में उनका शारीरिक सयोग भी बना रहता है किंतु दोनों के मन में कुछ ऐसा अंतर

पड जाता है कि सयोग भी वियोग ही मालूम पड़ता है। कुछ विद्वान् पूर्वराग और मान दोनों को वियोग के अंतर्गत रखने में आपत्ति उठाते हैं। पर शास्त्र ही नहीं, मनोविज्ञान की दृष्टि से भी उन्हें वियोग की ही श्रेणी में रखना होगा। पूर्वानुराग में तो विविध दशाएँ भी अंतर्भूत की गई हैं। इसमें प्रवासजन्य अवसाद का गभीर्य तो नहीं रहता पर वियोग की तीव्रता अवश्य पाई जाती है। पूर्वानुराग में सामाजिक मर्यादाओं का अवरोध राग को और भी तीव्र बना देता है।

पूर्वानुरागिनी नायिकाएँ अवस्था की दृष्टि से प्रायः मुग्धा होती हैं। इस अवस्था में भावुकता का स्वाभाविक अतिरेक होता है और वह उनकी भावनाओं को अत्यधिक तीव्र बना देता है। देव ने इसके भीतर की दस दशाओं का वर्णन भी किया है। मतिराम और पद्माकर ने इन दशाओं को क्रमशः 'नवदशा' और 'वियोग' अवस्था' का नाम दिया है। पर उन्होंने इन दशाओं के जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं वे पूर्वानुराग की अवस्था में ही अधिक उचित प्रतीत होते हैं। पहले पूर्वानुरागजन्य रागात्मक तीव्रता को लीजिए.

बाल बिलोचनि कौलन सो, मुसकाइ इतैं अरुभाइ चितैगो ।

एक घरी घन-से तन सो, अँखियान घनो घनसार सो दैगो ॥

—मतिराम

×

×

×

देव कहूँ हौँ मिलौगी गोपालहि है अब अँखिन ते उर भाई ।

न्याव चुकैहौँ चुकै ब्रजराज सो आजु तौ लाज सो मोसो लराई ॥

—देव

×

×

×

घरी घरी पल पल छिन छिन रैन दिन,

नैनन की आरती उतारिबोई करिए ।

इंडु तैं अधिक अरबिंद तैं अधिक, ऐसो

आनन गोविंद को निहारिबोई करिए ॥

—पद्माकर

इन तीनों उद्धरणों में रूपासक्ति की व्याकुलता अत्यंत तीव्र रूप में व्यक्त हुई है। मतिराम की नायिका की आँखों में श्याम कलेवर ने घनसार लगा दिया है। देव की नायिका का अभिलाष लज्जावरोध के कारण और भी तीव्र हो गया है। पद्माकर के कवित्व में नायिका की अभिलाषा, व्याकुलता, बेचैनी प्रत्येक पद में व्यक्त होती हुई दिखाई पड़ती है और वह सामाजिक मर्यादाओं तक को छोड़ देने का विचार करने लगती है। 'नैनन की आरती उतारिबोई करिए' में प्रिय के निरंतर दर्शन की कितनी जबरदस्त उत्कठा व्यक्त हुई है।

मानसिक दशाओं में स्मृति, गुणकथन और प्रलाप द्वारा प्रेमी के चेतन और अवचेतन मन का रहस्योद्घाटन होता है। स्मृति दशा में वे ही चित्र यक्षणा बने रहते हैं जिन्हें काल का प्रवाह बहा नहीं ले जाता। गुणकथन में सौंदर्यादि की सराहना द्वारा प्रेमी कालयापन करता है। प्रलाप के 'निरर्थक बँन' प्रतीकात्मक अर्थ देते हैं। स्मृति दशा में मतिराम का नायक नायिका की अलसाई हुई कज्जलरजित अत्यंत लावण्यपूर्ण आँखों की याद करता है। उसका तीक्ष्ण कटाक्ष नायक के हृदय में कामदेव के बाणों की भाँति

इस प्रकार गड़ गया है कि निकालने से भी नहीं निकलता^१। गुणकथन में देव का नायक नायिका के महावररजित कमलवत् चरण, गूजरी की मादक ध्वनि, अचल में उभार ले आनेवाले ऊँचे कुच, सकोच के भार से थोड़ी सी लची हुई सोने की देह, उसकी सोधी गंध और बड़ी बड़ी आँखों की व्याकुलतापूर्वक याद करता है^२। पद्माकर की नायिका अपने नायक का गुणकथन करती हुई कहती है 'छलिया छबीलो छैल छाती छुवै चलौ गयो^३।' प्रलाप दशा में प्रायः आलिंगन परिरभण के प्रति प्रगाढ़ अनुरक्ति दिखाई पड़ती है।

इन दशाओं में भी रूप के प्रति आत्यंतिक आसक्ति ही व्यक्त हुई है। प्रिय के शरीर के प्रायः उन्हीं अंगों का उल्लेख किया गया है जो ऐंद्रिय उत्तेजना में सहायक सिद्ध होते हैं। अनुभूतिसवलित होने के कारण ये चित्रण श्लाघ्य बन पड़े हैं। परंतु तोष जैसे कवियों का चित्ताग्रस्त नायक रीतिकालीन विभिन्न क्रियाओं की याद करता हुआ समस्त काव्यसौंदर्य को विकृत कर देता है^४।

(१) मान (धीरादि, खंडिताएँ और मानवती)—दास ने अनुरागिनी, मानवती और प्रोषितपतिकाओं को वियोग का आलंबन माना है। अनुरागिनी नायिकाओं का उल्लेख किया जा चुका है। आचार्यों ने मान के दो भेद किए हैं—प्रणयमान और ईर्ष्यामान। प्रणयमान को वियोग के अतर्गत रखना बहुत सगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि यह निर्हेतुक और क्षणस्थायी है। लेकिन ईर्ष्यामान के अतर्गत कौन नायिकाएँ आएँगी—केवल मानवती नायिकाएँ या धीरादि और खंडिता नायिकाएँ भी? इन सभी नायिकाओं के क्रोधक्षोभ के मूल में प्रिय की परतियानुरक्ति है। दास ने कदाचित् नायकनायिका भेद में व्यवस्था ले आने के लिये ही खंडिता के अतर्गत धीरादि तथा मानिनी को भी रखा है। जो हो, इनके वर्णन में रीतिकवियों ने विशेष रचि प्रदर्शित की है।

इस प्रसंग में नायिका का क्षोभ और ईर्ष्याजन्य आक्रोश प्रायः दो रूपों में व्यक्त हुआ है—नायिका के कथन के रूप में तथा नायकनायिका के सवाद के रूप में। नायिका के कथन के रूप में जो व्यंग्यविधान किया गया है, उसमें वह वक्रता नहीं दिखाई पड़ती, जो सवाद रूप में अभिव्यक्त व्यंग्य में दिखाई पड़ती है।

यह व्यंग्यविधान बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर सभी कवियों की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। वैयक्तिक वैशिष्ट्य के कारण किसी में विषाद का पुट गहरा हो गया है तो किसी में अमर्ष का। इस प्रसंग में जहाँ सवाद का सहारा लिया गया है वहाँ व्यंग्योक्तियों में तीखापन अधिक आ गया है। मतिराम की नायिका प्रिय के यह पूछने पर कि आज तुम रूखी रूखी क्यों बोलती हो और तुम्हारी आँखें आँसुओं से क्यों भरी हैं, उत्तर देती है—'कौन तिन्हें दुख है जिनके तुमसे मनभावन छैल छबीले'। 'मनभावन' और 'छैल छबीले' ने वक्रोक्ति में जान डाल दी है।

देव की रसग्राही प्रवृत्ति इन नायिकाओं के अवसाद में अधिक गहरे पैठती नजर आती है। अपनी उदासीनता, विषाद, विवशता, मानापमान आदि मानसिक दशाओं को नायिका सरल पर मर्मस्पर्शी ढंग से व्यक्त करती हुई कहती है—'साथ में राखिए नाथ उन्हें, हम हाथ में चाहती चार चुरी ये'। हे नाथ, आप उन्हें ही साथ रखे, हमारे लिये

१ रसराज, छंद ४०४।

२ सुजानविनोद, पृ० २०-२१।

३ जगद्विनोद, स० ६५२।

४. सुधानिधि, छंद ४२६।

यही बहुत है कि हमारा सौभाग्य बना रहे। इसमें कितना दैन्य, कितनी विवशता और कितना अवसाद भरा हुआ है। पद्माकर में देव की नायिका की गहरी व्यथा तो नहीं मिलती पर उनमें आक्रोश क्षोभ की तीव्रता अधिक है।

खडिता के वर्णन में बिहारी की दृष्टि प्रिय के बाह्य रचिचिह्नो पर विशेष टिकी है, उसकी मनस्थितियों के चित्रण का प्रयास उन्होंने कम किया है। वे पलकों में पीक, अधरो में अजन, भाल में महावर, अगो में किजल्क, छाती में नखक्षत, अधरो पर दन्तक्षत, बाहो पर चोटी का चिह्न, दूंगो में ललाई आदि में अधिक उलझे हुए दिखाई पड़ते हैं। इसलिये उनके वर्णनों में भावों का प्राधान्य न होकर चमत्कार का प्राधान्य हो गया है। खडिता नायिका के क्षोभोत्पादक नायक के बाह्य रचिचिह्नो का स्मरण इस काल के प्राय सभी कवियों ने प्रेमपूर्वक किया है। पर बिहारी ने इसको काफी विस्तार दिया है। मतिराम, देव, पद्माकर बीच बीच में खडिता की मानसिक स्थिति भी व्यक्त करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

(२) प्रवास—प्रवासजन्य वियोग की अपेक्षित गभीरता रीतिकाव्यों में प्राय नहीं मिलती। रीति के बंधे बंधाए ढांचे में प्रवत्स्यत्पतिका, प्रोषितपतिका और आगत-पतिका ही ऐसी नायिकाएँ हैं जिनके प्रसंग में प्रवासजन्य वियोग का वर्णन किया जा सकता है। इनमें से प्रोषितपतिका को प्रवास का गहरा क्लेश सहन करना पड़ता है। पर उसके क्लेश की गहराई को सामान्यतः उसके सताप और दौर्बल्य से मापा गया है। इनके अतिरिक्त सदेशप्रेषण, पत्रलेखन, चित्रलेखन आदि रूढ़ियों को भी इस प्रसंग में समेट लिया गया है।

नायिका की सताप सबधी उक्तियों के लिये बिहारी काफी बदनाम है। अपनी सतसई में मतिराम ने भी उनसे होड़ लेने की कोशिश की है। देव ने अपनी रसक्षमता के बल पर जीवन से गृहीत बिबो के सहारे, ऐसी उक्तियों को अनुभूतिसवलित बना लिया है। पर सताप सबधी उक्तियों की सामान्य प्रवृत्ति बिहारी के मेल में है। कुछ उदाहरण देखिए

आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ की राति ।

साहस कै कै नेहबस, सखी सब ढिग जाति ॥

—बिहारी

×

×

×

सखिन करत उपचार अति, परति बिपति उत रोज ।

भरसत ओज मनोज के, परस उरोज सरोज ॥

—मतिराम

×

×

×

बालम विरह जिन जान्यौ न जनम भरि,

बारि बारि उठै ज्यो ज्यो बरसै बरफ राति ।

बीजन डुलावत सखी जन त्यो सीतहू मे,

सौति के सराप, तन तापन तरफराति ॥

देव कहै, साँसन ही आँसुआ सुखात, मुख

निकसै न बात, ऐसी सिसकी सरफराति ।

लौटि लौटि परति करौंटा खाट पाटी लै लै,

सूखै जल सफरी ज्यो सेज पै फरफराति ॥

—देव

बिहारी का सतापजन्य परिवेश वास्तविक जीवन में अकल्पनीय है और मतिराम का सभाव्य पर दोनों ही नायिका की वेदना को ठीक ढंग से उभार नहीं पाते। किंतु

देव की नायिका का सतापचित्रण पाठको का भावात्मक अनुकूलत्व प्राप्त करने में सर्वथा समर्थ है। नायिका का दोहरा ताप (सौत का शाप और तनताप) उपचार की व्यर्थता को अधिक सगत बना देता है। एक पाटी से दूसरी पाटी तक करवटे बदलना तथा शय्या पर जल के बाहर पड़ी मछली की भाँति तड़फडाने का दृश्य इसे पूर्ण वास्तविकता प्रदान करता है।

विरहताप और व्याधिकाश्य की ऊहात्मक उक्तियों से जहाँ बिहारी को छुट्टी मिली है वहाँका विरहवर्णन काफी गभीर बन पड़ा है

(१) अजौ न आए सहज रँग, बिरह दूबरे गात ।

अबही कहा चलाइयति ललन चलन की बात ॥

× × ×

(२) स्याम मुरति करि राधिका तकति तरनिजा तीर ।

अंसुवन करत तरौस को खनिक खरोहो नीर ॥

पहले उदाहरण में सहज रंग के न आने का सहज वर्णन विरह की गभीरता को अत्यंत स्वाभाविक पर प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करता है। दूसरे उदाहरण में राधिका को बेबसी अपनी पूर्ण गहराई में चित्रित हुई है। मतिराम और पद्माकर के विरहवर्णन में प्रायः अनुभावों की प्रधानता दिखाई देती है यद्यपि उनमें देव की सी तीव्रता नहीं है। पर विरहवर्णन के थोड़े से स्थल विरह की शरीरी प्रतिक्रियाओं तक ही सीमित न रहकर सवेदना का गहरा स्पर्श करते हैं।

प्रवास के प्रसंग में पत्र द्वारा अथवा दूत या पक्षी द्वारा सदेश भेजना काव्य में रूढ हो गया है। रीतिकाव्यों में इस परंपरा का भी पालन किया गया है। जहाँ पर विरहाधिक्य से कागज के जल जाने का उल्लेख किया गया है वहाँका चित्रण प्रायः काव्यसौंदर्य से रिकत हो गया है। किन्तु जहाँ इसे अनुभावों द्वारा अंकित करने का प्रयास किया गया है वहाँ विरहानुभूति तीव्रतर ढंग से अभिव्यक्त हुई है

आहि कै कराहि कौपि, कृतन बैठी आह,

चाहत सँदेसो कहिबो को, पै न कहि जात ।

फेरि मसिभाजन मँगायो लिखिबे को कछु,

चाहत कलम गहिबो को, पै न गहि जात ॥

एते में उमड़ि अंसुवान को प्रवाह बह्यो,

चाहै 'सभु' थाह लहिबे को, पै न लहि जात,

× × ×

बहि जात कागद, कलम हाथ रहि जात ।

६. नखशिख वर्णन

रीतिकाल में नखशिख वर्णन के अनेकानेक ग्रंथ लिखे गए। यदि ग्रंथों की सख्या की दृष्टि से देखा जाय तो कदाचित् इनकी सख्या सर्वाधिक होगी। इसके माध्यम से भी कवियों ने नायिका का रूपवर्णन ही किया है। पर अपनी रूढिबद्धता और अव्यक्तिक दृष्टिकोण के कारण रूप का ऐंद्रिय चित्र खड़ा करने में उन्हें बहुत कम सफलता मिली है। संस्कृत के कवियों ने भी इस दिशा में काफी उत्साह दिखाया है। श्रीहर्ष ने नैषध के द्वितीय सर्ग में दमयंती का विस्तृत नखशिख वर्णन किया है। सातवाँ सर्ग तो नखशिख वर्णन से भरा पड़ा है। कालिदास का पार्वती का नखशिख वर्णन तो अपनी नग्नता के कारण काफी बदनाम हो चुका है। कई शतकग्रंथों में चंडी और दुर्गा के नखशिख वर्णन में उनके रूप की भी कम दुर्गति नहीं हुई है।

हिंदी के चंद, विद्यापति, सूर आदि कवियों ने नखशिख का विस्तृत वर्णन किया है। इन कवियों के नखशिख वर्णन में भी कविप्रौढोक्तिसिद्ध रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग किया गया है। सूरदास के 'अद्भुत एक अनूपम बाग' के सबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है 'इस स्वभावसिद्ध (तुलसीदास के) अद्भुत व्यापार के सामने कमल पर कदली, कदली पर कुंद, शख पर चंद्रमा आदि कविप्रौढोक्तिसिद्ध रूपकातिशयोक्ति के कागजी दृश्य क्या चीज हैं?' इन कवियों को यह अतिशयोक्तिपूर्ण विलक्षणताप्रकाशक शैली जैन अपभ्रंश काव्यों से मिली थी और रीतिकवियों को अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियों से।

रीतिकाव्यों का नखशिख वर्णन विलक्षणताप्रदर्शन की सीमा पर पहुँच गया। प्रत्येक अंग के लिये 'अलंकारशेखर' और 'कविकल्पलता' आदि आदि में प्रतियोग्य की जो लबी सूची दी गई है उसका बहुत ही अकाव्योचित प्रयोग किया गया है। नायिकाभेद के प्रसंग में रससिक्त मुक्तको की जितनी बहुलता दिखाई पड़ती है, नखशिख सबंधी उक्तियों में उनकी उतनी ही विरलता।

आचार्य शुक्ल ने जायसी ग्रथावली की भूमिका में लिखा है 'नखशिख की पुस्तको में शृंगार रस के आलबन का ही वर्णन होता है और वे काव्य की पुस्तके मानी जाती है। जिन वस्तुओं का कवि विस्तृत चित्रण करता है उनमें से कुछ शोभा, सोदर्य या चिरसाहचर्य के कारण मनुष्य के रतिभाव का आलबन होता है, कुछ भव्यता, विशालता, दीर्घता आदि के कारण उसके आश्चर्य का। यदि बलभद्रकृत 'नखशिख' और गुलाम नबी कृत 'अगदर्पण' रसात्मक काव्य है तो कालिदासकृत हिमालयवर्णन और भूप्रदेश वर्णन भी^१।'

शुक्लजी ने बलभद्रकृत 'नखशिख' और गुलाम नबी कृत 'अगदर्पण' को रसात्मक काव्य नहीं माना है क्योंकि उनमें हमारी ऐंद्रिय चेतना को उद्बुद्ध करने की क्षमता नहीं है। थोड़ी बहुत मात्रा में लगभग सभी नखशिख सबंधी ग्रंथों पर यही बात लागू है। अब आइए यह देखें कि इस काल के नखशिख वर्णन पाठकों के रतिभाव या आश्चर्यभाव को किस हद तक प्रभावित कर सकते हैं। नखशिख के अंतर्गत वर्णित कुछ अंगों का सौंदर्य देखिए।

ग्रीवावर्णन

सुर नर प्राकृत कवित्त रीति आरभटी,
सातिकी सुभारती की भरती लौं भोरी की।
किधौ केसोदास कलगानता सुजानता,
निसंकता सुबचन बिचित्रता किसोरी की॥

—केशवदास

×

×

×

कर्णवर्णन

सोने की सीसी भरी मुकुतान कलानिधि जानि भुजानि सो बाँधी।

—देव

१ आचार्य रामचंद्र शुक्ल : जायसी ग्रथावली, चतुर्थ संस्करण, भूमिका, पृ० ६३।

२. आचार्य रामचंद्र शुक्ल : जायसी ग्रथावली, चतुर्थ संस्करण, भूमिका, पृ० ६३।

तचति धरनि, जग जरत भरनि, सीरी
छाँह कौ पकरि पथी पछी बिरमत है ॥
सेनापति नेक दुपहरी के ढरत, होत
घमका विषम ज्यो न पात खरकत है ।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर को पकरि कौनौ
घरी एक बैठि घामै बितवत है ॥

विकराल ज्वालजाल की वर्षा, छाया में पथी का विश्राम करना, पत्तो का निष्कप होना सभी इस ढंग से प्रस्तुत किए गए हैं कि ग्रीष्म की असह्य तपन की भयकरता पाठको के समुख उपस्थित हो जाती है ।

परस्पर विरोधी जीवों को एक साथ एकत्र कर ग्रीष्म का प्रभाव दिखाने का जो चित्र बिहारी ने खींचा है वह ग्रीष्मकालीन वातावरण उपस्थित करने में उतना समर्थ नहीं है जितना चमत्कार खड़ा करने में

कलहाने एकत बसत अहि, मयूर, मृग, बाघ ।
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ ॥

ग़्वाल कवि का एक ग्रीष्मचित्र देखिए

पूरन प्रचंड मारतंड की मयूखे मंड,
जारे ब्रह्मांड, अंड डारे पखधरिए ।
लूएँ तन छूएँ, बिन धूएँ की अग्नि जैसी,
चूएँ स्वेदबुद, बुंद धारें अनुसरिए ॥
'ग़्वाल कवि' जेठी जेठ मास को जलाकन में,
प्यास की सलाकन ते ऐसी चित्त अरिए ।
कुड पिए, कूप पिए, सर पिए, नद पिए,
सिंधु पिए, हिम पिए, पीयबौई करिए ॥

कहना व्यर्थ है कि ग़्वाल की अत्युक्तियाँ निष्प्रभ और प्रभावहीन हैं । अब वसंतश्री का एक मोहक चित्र देखिए

छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधवी गध ।
ठौर ठौर भूमत भूपत भौर भौर मधु अघ ॥

इस चित्र में रूप, रस, स्पर्श, गंध सभी का मानसिक प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है । वसंत की व्याप्ति का एक उदाहरण देखिए

कूलन में, केलि में, कछारन में, कुंजन में,
क्यारिन में कलिन कलीन किलकंत है ।
कहै 'पद्माकर' पराग हूँ में, पौन हूँ में,
पानन में, पिकन पलासन पगंत है ॥
द्वार में, दिसान में, दुनी में, देस देसन में,
देखो द्वीप द्वोपन में दीपत दिगंत है ।
बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में,
बनन में बागन में बगरधौ बसंत है ॥

बिहारी के दोहे में वसंत की मादक गंध को केन्द्रीय विषयवस्तु मानकर उसकी संपूर्ण श्री की व्यञ्जना की गई है पर पद्माकर के उपर्युक्त कवित्त में विविध स्थानों का जो चुनाव किया गया है वह वसंत की व्यापक श्रीसपन्नता का द्योतक है । यह सच है कि वसंतश्री

का यह वर्णन विवरणात्मक है पर इससे उसके तरल सौंदर्यबोध में कमी नहीं आ पाई है। पर इस काल में निरपेक्ष ऋतुचित्रों की सामान्यतः कमी मिलती है। जो मिलते भी हैं उनमें से अधिकांश पाठकों में भावात्मक अनुकूलत्व (इमोजनल रेस्पास) नहीं जागरित कर पाते।

(२) संक्षेप ऋतुवर्णन—ऋतुवर्णन को उद्दीपन के अंतर्गत डाल देने का परिणाम यह हुआ कि रीतिकाव्यों में यह नायिका के सयोग और वियोग के साथ सबद्ध हो गया। सयोगावस्था में जो ऋतुएं प्रेम को उद्दीप्त करते हैं महायता पहुँचाती हैं वे ही वियोगावस्था में अत्यंत क्लेशकर सिद्ध होती हैं। इसलिये एक ही ऋतु को दोहरी दृष्टि से देखा गया है।

षट् ऋतुओं में वसंत सर्वश्रेष्ठ है—इसे ऋतुराज कहा भी गया है। वसंत ऋतु अपनी अलौकिक श्रीसुषमा को दिग्दिव्यता में बिखराकर समस्त वातावरण को सुरभित और मादक बना देती है। वसंत के प्रारंभ में पड़नेवाली होली के कारण इस ऋतु में एक अजीब मस्ती भर जाती है। रीतिकाव्यों में वसंत और होली का बहुत ही रंगीन वर्णन हुआ है।

महत्त्व की दृष्टि से वसंत के बाद वर्षा की गणना की जायगी। घनाच्छादित नभमंडल, बिजली की कौंध, कड़क और बूंदों की रिमझिम से सयोगियों की सयोगात्मक प्रवृत्ति को उत्तेजना मिलती है और वियोगियों का वियोगजन्य क्लेश और भी कटुतर हो उठता है। फिल्ली की झनकारों, बक, चातक की पुकारों और मोरों की गुहारों से वर्षा की शोभा द्विगुणित हो जाती है, साथ ही सयोगी और वियोगी अपनी परिस्थितियों के अनुकूल अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। वर्षावर्णन के साथ में हिंडोल और कजली को भी नहीं भूला गया है।

वर्षा के अनंतर जिस ऋतु की ओर कवियों का अधिक आकर्षण देखा जाता है वह है शरद्। शरद् का निरञ्ज नभ, शुभ्र ज्योत्स्ना, निर्मल नक्षत्रलोक सर्वदा से कवियों को मुग्ध करते रहे हैं। शरत्पूर्णिमा का श्रीकृष्ण के महारास से सबद्ध जुट जाने के कारण इस ऋतु की मादकता और भी बढ़ गई है। रीतिकाव्यों में मुख्य रूप से इन्हीं तीन ऋतुओं का वर्णन हुआ है। शेष तीन ऋतुओं—ग्रीष्म, हेमंत और शिशिर—को वर्णन की दृष्टि से गौण स्थान मिला है। पर इन ऋतुओं में भी काव्यसौष्ठव और चमत्कारवैभव देखा जा सकता है।

(३) ऋतु और सयोगवर्णन—चतुर्दिक् बिखरी हुई वसंत की श्रीसुषमा को देखकर सयोगियों का मन नवीन उल्लास से भर जाता है। केवल बनबागों में ही बहार और गंधअंध भौरों की गुजार नहीं देख सुन पड़ती बल्कि प्रेमियों का मन भी प्रसन्न और प्रफुल्ल हो उठता है। 'औरै तन, औरै मन, औरै बन हूँ गए' लिखनेवाले कवियों ने उपर्युक्त अनुभूत सत्य को ही वाणी दी है। इस ऋतु के आते ही हमारा जो मानसिक परिवर्तन होता है वह भी कवियों की पैनी दृष्टि से ओझल नहीं हो सका। इस मानसिक परिवर्तन का प्रभाव हमारे स्थास्थ और सौंदर्य पर भी पड़ता है। इसी लिये तो पद्माकर ने लिखा है—'छलिया छबीले छैल औरै छवि हूँ गए'। छलिया, छबीले और छैल के चुनाव का अर्थ है कि वसंतश्री का विशेष प्रभाव रसिकों के ही ऊपर पड़ता है।

कवियों ने वसंत से अधिक महत्त्व उससे सलग्न होलिकोत्सव को दिया है क्योंकि प्रेमोत्पादन में ही नहीं बल्कि उसको मादक बनाने में भी इसका अत्यधिक महत्त्व है। बिहारी, देव, पद्माकर, बेनी प्रवीन, ग्वाल आदि सभी कवियों ने होली के 'हुरदग' का बड़ा ही ऐंद्रिय चित्र उपस्थित किया है।

ऋतु के अनुकूल केसरिया और पीत वस्त्रों की बहार, कोकिल और पपीहे की पुकार, नृत्यगीत, गुलाल, केसर और अबीर की भोली, पिचकारी की फुहार, प्रेमीप्रेमिकाओं की लपकभपक, धरपकड़, रीभूखीभ, भागदौड़, वस्त्रों की खींचतान, डफ, ढोल, मृदंग, वशी आदि अनेकानेक उपकरणों द्वारा रीतिपद्धत कवियों ने होली का अत्यंत आकर्षक और रागमय वर्णन किया है।

इस फागवर्णन की सबसे बड़ी विशेषता है घरेलू फाग का अत्यंत मधुर, आकर्षक और स्वाभाविक चित्रण। अचानक किसी प्रिय के ऊपर रग उड़ेल जाना, किसी को बहकाकर फिर उसे रग में नहलाकर दुर्दशाग्रस्त बनाना अथवा रग के डर से भागकर किसी प्रकार अपनी रक्षा करना आदि दृश्य केवल फाग की मस्ती का चित्र ही नहीं उपस्थित करते बल्कि उसके प्रति कवियों के मानसिक आकर्षण का रूप भी व्यक्त करते हैं।

पहले प्रकार का एक दृश्य बिहारी ने अपने एक दोहे में अंकित किया है। पहले तो नायिका नायक की ओर पीठ दिए खड़ी रही, जिससे नायक उसकी भावनाओं को भांप न सके। लेकिन अचानक उसने जरा सा झूट उठाकर नायक पर गुलाल की मूठ चला दी तो दी

पीठ दिए ही नैकु मुरि, कर घूँघट पट डारि।

भरि गुलाल की मूठि सो, गई मूठि सी मारि ॥

फाग की भीड़भाड़ में श्रीकृष्ण को भीतर ले जाकर गोपियों ने उनकी जो दुर्गति की उसकी कितनी सुंदर व्यंजना पद्माकर ने की है

फागु के भीर अभीरन ते गहि, गोविंद लै गई भीतर गोरी।

भाई करी मन की पद्माकर, ऊपर नाय अबीर की भोरी।

छीन पितंबर कम्मर ते, सु बिदा दई मोड़ि कपोलन रोरी।

नैन नचाइ, कह्यौ मुखयाइ, लला! फिर आइयो खेलन होरी ॥

अंतिम पंक्ति द्वारा गोपियों की प्रेमव्यंजना का अनुपादन किनना सहृदयसंवेद्य हो उठा है।

सयोगपक्ष में स्वयं पावस का उतना प्रभावोत्पादक वर्णन नहीं है जितना इससे सबद्ध हिंडोले और तीज त्योहार का। जहाँपर पावस में प्रेमीप्रेमिका के मिलन का अवसर प्राप्त हुआ है वहाँपर भी कवियों का मन रमता हुआ दिखाई देता है

राधा औ माधो खड़ो दोउ भीजत, वा झरि मे भपकै बन माँही।

बेनो गए जुरि बातन में, सिर पातन के छहना, गलब्राँही।

पामरी प्यारी उढावत प्यारें को प्यारो पितंबर की करैं छाँही।

आपुस में लहाछेह मे छोह मे, काहू को भीजबे की सुधि नाहीं ॥

इसी तरह श्रीकृष्ण के कबल में छिप जाने से भीगने से बची हुई गोपिका का उद्गार देखिए

तीज नीके सेज, सब सजनी गई री उहाँ,

भूलन हिंडोरे ब्रजबाला बीर बरवर।

‘तोषनिधि’ तौलौ उठि धुरवा धरा लौं धूमि,

धाराधर धरनि बरसि परौ धर धर ॥

मोहि तो कन्हौई करि कामरी बचाय लीनी,

और सब भीजीं, तिन तन होय थर थर।

ऐसौ बदनाम यहि गाँउ भौ गरीबिनी कौ,
देखि सूखी चूनरी चवाउ फैलो घर घर ॥

कहना न होगा कि प्रथम उदाहरण का 'लहाछेह' और बेसुधी तथा द्वितीय का वैदग्ध्य पिटापिटाया और नवीनता से रहित है। पर सयोगवर्णन के सिलसिले में ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है जिनमें काव्यसौंदर्य और अनुभूतिमयता की अभिव्यक्ति हुई है। तीज पर्व पर नायिका का मानसिक उल्लास देखिए।

तीर पर तरनि तनूजा के तमाल तरै,
तीज की तयारी तकि आई तकियान मे ।
कहै पद्माकर सो उमँग उमंगि उठी,
मेंहदी सुरंग की तरंग नखियान मे ।
प्रेम रंग बोरी गोरी नवल किसोरी तहाँ,
झूलत हिडोरे यों सुहाई सखियान मे ।
कामै झूलै उर में, उरोजन मे दाम झूलै,
स्याम झूलै प्यारी की अन्यारी अखियान में ॥

इस चित्रण में आनंद का जो अद्भुत वातावरण उपस्थित किया गया है उसमें शारीरिक आकर्षण की अपेक्षा मानसिक आकर्षण अधिक उभरकर व्यक्त हुआ है।

वैष्णव कवियों के शरदरासवर्णन की परंपरा के अनुसार रीतिकाव्य में भी राधाकृष्ण के शरद् रास का वर्णन हुआ है। इसके वर्णन में कवियों ने चूरियों की खनक, मृदंग की ठनक, नूपुरों की रनभुन, बाँसुरी की सुरीली ध्वनि आदि के आधार पर शरत्कालीन रास का वातावरण निर्मित किया है।

ग्रीष्म, हेमत और शिशिर में भावोद्दीपन की वह क्षमता नहीं है जो बसंत, वर्षा और शरद् में दिखाई पड़ती है। तापमान की दृष्टि से ग्रीष्म और हेमत शिशिरविरोधी ऋतुएँ हैं। रीतिबद्ध कवियों ने इनका उपयोग दूसरे प्रकार से किया है। वे इन ऋतुओं के अनुकूल अपने आश्रयदाताओं के सुखोपभोग की सामग्री जुटाने में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि और किसी ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती। जेठ के निकट आते ही पद्माकर खसखाने और तहखाने की मरम्मत कराने लगते हैं और अंतर, गुलाब, अरगजा आदि की खरीद होने लगती है। वे इतने से ही सतुष्ट नहीं होते क्योंकि अग्रूर की टाटी के साथ 'अग्रूर सो उचौहै कुच' के बिना सारा मजा किरकिरा हो जाता है। पद्माकर से कई कदम आगे बढ़कर ग्रीष्म की ज्वाला शमन करने के लिये ग्वाल ने और भी अधिक सामग्री एकत्र की। उन्होंने बरफ की शिलाओं पर सदली सेज बिछाकर उसे कमलपत्र से पाटना आवश्यक समझा। शयनकक्ष को शीतल करने के लिये खसखाने को गुलाबजल से तर करना भी जरूरी था। पद्माकर की भाँति गरमी शांत करने के प्रधान उपकरण—हिमकरआननी—को भला ग्वाल क्यों भूलते ?

हेमत के लिये पद्माकर का दावा है कि जब 'गुलगुली गिलमे, गलीचा है, गुनीजन है' और सुबाला का भी सयोग प्राप्त है तो हेमत का शीत क्या बिगड़ा सकता है ? ग्वाल ने पाले का कसाला काटने के लिये सोने की अंगीठी में निर्धूम अग्नि, मेवामिष्ठान्न, मसाले की डिब्बियाँ, शालदुशाला, गिलमे, गलीचा, हूरपरी, नवबाला आदि के साथ प्याले पर प्याले का विधान किया है। शिशिर का वर्णन भी बहुत कुछ हेमत से मिलत-जुलता है।

(४) ऋतु और वियोगवर्णन—सयोगवर्णन में जो वस्तुएँ सुखप्रद प्रतीत होती हैं वे ही वियोगवर्णन में दुःखप्रद हो जाती हैं—इस सामान्य कथन के अतिरिक्त इनके अंतर को गहराई में पैठकर नहीं देखा गया है। सयोगवर्णन में ऋतुसंबन्धी समस्त वातावरण को प्रायः उपस्थित नहीं किया जाता, कवियों की दृष्टि मुख्यतः सयोगजन्य सुखों पर टिकी दिखाई पड़ती है। जीवन में भी, जो तटस्थ द्रष्टा नहीं है, वे स्वयं ऋतु-सौंदर्य की ओर उतने आकृष्ट नहीं होते जितने उससे उदीप्त भावावेगों की तृप्ति की ओर। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। पर वियोगकाल में, जब भावावेगों की पूर्ति का साधन ही नहीं रहता, वियोगियों की दृष्टि भावोद्दीपक उपकरणों की ओर जाती है। एक तो ये उपकरण विरहानुभूति को यों ही प्रगाढ़ कर देते हैं, दूसरे इनके सदर्थ में सयोग-कालीन स्मृतियाँ उसे द्विगुणित कर देती हैं। इस तरह वियोगवर्णन के समय ऋतुओं का प्रायः दो प्रकार से उपयोग किया गया है। एक तो ऋतुपरक वातावरण की पृष्ठभूमि में विरहनिवेदन किया गया है, दूसरे विरह के कारण ऋतुसंबन्धी उपकरणों को अतिशय दुःखप्रद बतलाया गया है।

पावस की पृष्ठभूमि में विरहनिवेदन का एक उदाहरण देखिए

जलमरे भूमै मानो भूमै परसत आय,
दसहूँ दिसान धूमै दामिनि लए लए ।
धूरिधार धूमरे से, धूम से धुँआरे कारे,
धुरवान धारे धावै छबि सो छए छए ॥
'श्रीपति' सुकबि कहै घेरि घोर घहराहि,
तकत अतन तन ताप मे तए तए ।
लाल बिनु कैसे लाजचादर रहैगी आज
कादर करत मोहि बादर नए नए ॥

ऋतुनिर्माता उपकरणों को अतिशय विरहोद्दीपक समझते हुए कभी उन्हें वैसा करने के लिये मना किया गया है, कभी उनके रूपरंग, बोली, गर्जन तर्जन को अत्यंत दुःख-दायक समझकर एक विशेष मानसिक दशा की अभिव्यक्ति की गई है, और कभी सयोग-कालीन अनुकूल वस्तुओं को प्रतिकूल समझा गया है।

उन्हें वियोगकाल में शरदकालीन शुभ्र चंद्रमा कसाई का कार्य करता हुआ दिखाई देता है। किमुक, अनार और कचनार की डालों पर अगारों के पुंज डोलते हुए प्रतीत होते हैं, पपीहे की 'पी कहाँ' और कोकिल की कूक प्राणलेवा सिद्ध होती है, चंदन, चाँदनी और बादलों से अग्नि बरसती हुई दीख पड़ती है। इनके कुछ उदाहरण देखिए।

(१) ए रे मतिसंद चंद ! आवत न तोहि लाज,
तूँकै द्विजराज, काज करत कसाई के ।

—पद्माकर

(२) चातक न गावै, मोर सोर न मचावै, घन
धुमड़ि न छावै, जौलौ लाल घर आवै ना ।

—देव

(३) पातकी पपीहा जलपान कौ न प्यासो, काहू
बिथित बियोगिन के प्रानन को प्यासो है ।

—पद्माकर

(४) बिरही बुखारे, तिनपर दर्दमारै, मानौं
मेघ बरसत हैं अंगारै आसमान तैं ।

—करनेस

८ भक्ति और नीति

शृंगारिकता के अतिरिक्त रीतिकाव्यों में भक्ति और नीतिपरक उक्तियाँ भी बिखरी पड़ी हैं। पर इनके आधार पर रचयिताओं को न तो भक्त माना जा सकता है और न विचक्षण राजनीतिज्ञ। इस प्रकार की उक्तियाँ प्रायः शतको में ही दिखाई पड़ती हैं जो इन शतककारों को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की काव्यपरंपरा से प्राप्त हुई थी। रस-ग्रंथों में भक्तिसंबन्धी उद्गार तो मिल जाते हैं, नीतिपरक नहीं मिलते। रीतिकवियों की भक्तिपरक रचनाओं तथा उनमें राधाकृष्ण के नामोल्लेख के आधार पर कुछ विद्वान् उन्हें भक्तकवि ही मानते हैं। और इतना ही वे उनकी परंपरा को भक्तकवियों की परंपरा से जोड़ देने के लिये यथेष्ट समझते हैं।

पर वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है। रीतिकवियों का मुख्य प्रयोजन था किसी न किसी आश्रयदाता और रसिक को रिकाना। उनकी रचनाओं को राधाकृष्ण-संबन्धी भक्तिपरक उद्गार कदापि नहीं माना जा सकता, क्योंकि दास ने सबका प्रति-निधित्व करते हुए भक्ति के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ा है। सुकविताई के प्रसिद्ध होने पर ही उन्हें राधाकृष्ण के सुमिरन का बहाना माना जा सकता है। युग की परिस्थितियों को अनदेखी करके ही रीतिग्रंथों को भक्तिग्रंथों में परिगणित किया जा सकता है। अपनी समसामयिक परिस्थितियों से मजबूर होकर बेचारे ग्वाल को राधाकृष्ण से माफी माँगनी पड़ी थी

श्रीराधा पदपदम को, प्रनमि प्रनमि कवि ग्वाल ।

छमवत है अपराध को, कियो जु कथन रसाल ॥

डा० नगेन्द्र के शब्दों में यह भक्ति भी उनकी शृंगारिकता का अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबड़ा उठते होंगे तो राधाकृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक और सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरणभूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी न किसी तरह उसका आँचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्तिभावना से हीन नहीं है—हो ही नहीं सकता था, क्योंकि भक्ति उसके लिये एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी उनके विलास-जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रकट करते, या उसका सैद्धांतिक निषेध करते। इसी लिये रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायकनायिका के लिये बारबार 'हरि' और 'राधिका' शब्दों का प्रयोग किया गया है।^१

नीतिपरक उक्तियाँ अपने समसामयिक जीवनमूल्यों और परिवेश पर आधारित होती हैं। इस ह्लासोन्मुखी युग में ऊर्ध्वोन्मुखी मूल्यों के प्रति आस्था नहीं रह गई थी। इसलिये जीवन की असुरता, प्रेम की निष्फलता, अस्थिरता, वैभवविलास के प्रति उदासीनता आदि भावनाएँ नीतिपरक उक्तियों में उभर कर आई हैं। सच पूछिए तो यह भी जीवन के अवसाद और थकान का द्योतक है। राग की अतिशयता से ऊबकर मनुष्य या तो भक्ति और वैराग्य की साधना करता है या म्रियमाण नैतिकता का आँचल पकड़ता है। रीतिकाव्यों के रचयिता इसके अपवाद नहीं थे।

१. डा० नगेन्द्र . रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, पूर्वार्ध, पृ० १८७।

६ जीवनदर्शन

रीतिकाव्यों की मुख्य प्रवृत्ति थी श्रृंगारिकता । इसका विवेचन किया जा चुका है । इस श्रृंगारिकता में अपेक्षित गंभीरता का अभाव है क्योंकि यह रसिकता से पोषित और अनेकोन्मुखता से आप्लावित है । इससे यह स्पष्ट है कि रीतिकालीन जीवनदर्शन एक सीमित घेरे में बँध गया था । इस सीमित घेरे के बाहर जाकर जब कभी रीतिकवि भक्ति और नीतिपरक उक्तियाँ कहने लगता है तो निश्चय ही वह घुटे हुए बातावरण से ऊँकर दूसरी हवा में साँस लेने का प्रयास करता है । पर कुछ ही देर बाद वह पुनः अपने घेरे में आ जाता है । वह अपने घेरे में ही जी सकता है । एक सुकीर्ण सीमा के भीतर उदात्त और व्यापक जीवनदर्शन के लिये अवकाश कहाँ । जीवन के विविध उतार चढ़ाव, उत्थान पतन, आशा आकांक्षा की स्फूर्तिदायिनी छवियों का चित्रण उसके लिये संभव नहीं था । इस व्यापकता के अभाव में उसमें गहराई आ सकती थी, पर वह भी प्रायः वहाँ नहीं मिलती । इस काल की विषयवस्तु तथा काव्यकर्ताओं की मनोवृत्ति में ही कुछ ऐसा था कि उनमें हल्कापन आ जाना स्वाभाविक था । श्रृंगारिक चित्रण या प्रेमाभिव्यजन अपने आपमें किसी प्रकार दृढ़पूर्ण नहीं कहा जा सकता । पर सामंतीय रसिकता तथा संस्कृत की ह्लासोन्मुखी परंपरा के लदाव ने उन्हें बहुत कुछ रूढ़िवादी और चिंतनहीन बना दिया । जीवन के वैविध्य और गाम्भीर्य से किनारा कसकर वे स्वभावतः अलकरण-प्रिय हो गए । आखिर उस कमी की पूर्ति के लिये उन्हें किसी न किसी ओर तो ढलना ही पड़ता ।

रूढ़िबद्धता को स्वीकार करने का मुख्य कारण था उनका अव्यक्तिक दृष्टिकोण । इसी काल के स्वच्छंदतावादी कवियों में जो प्राकृत गंभीरता दिखाई पड़ती है उसके लिये उनकी स्वच्छंद मनोवृत्ति दायी है । जिस कामभावना (एरोटिक सेटिमेंट) की अभिव्यक्ति उनके काव्य में हुई है वह मात्र प्रवृत्ति होकर रह गई है । उसके द्वारा उत्पन्न गहन सामाजिक समस्याओं अथवा वैयक्तिक उलझनों तक उनकी पहुँच नहीं हो सकती है । इन दिशाओं का स्पर्श तो केवल वे ही कर सकते हैं जिनमें वैयक्तिकता की भावना विद्यमान हो । उसके अभाव में रीतिकाव्यों में चित्रित नरनारी का स्वतंत्र व्यक्तित्व कहीं नहीं दिखाई पड़ता—दीखती है केवल बँधी बँधाई उन्मादक चेष्टाओं तथा स्वभावज और गात्रज अलंकारों के वृत्त में चक्कर काटती हुई खेल खिलौनों की नारियाँ ।

रीतिकाव्यों में जो यात्रिकता मिलती है वह तत्कालीन जीवन की यात्रिकता है । बँधी बँधाई लोक न तो जीवन में छोड़ी जा सकती थी और न काव्य में । सघर्ष की चेतना से विमुख व्यक्ति नवीन दिशाओं का सन्धान नहीं कर सकता । उस समय के राजा रईस तथा उनके आश्रित कवि, दोनों में यह चेतना नहीं दिखाई पड़ती पर रमणीयता उनके जीवन और काव्य दोनों में थी । यह विश्राम का वह स्थल है जहाँपर अवसन्न मन राहत का अनुभव करता है । इस दृष्टि से उन्होंने तत्कालीन समाज को अवश्य उपकृत किया है ।

१० काव्यरूप

काव्य के रूपतत्त्व और विषयवस्तु के संबंध में पश्चिम में काफी विवाद हुआ है । पर दोनों में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है । काव्यसृजन की प्रक्रिया में रूप, विषय-वस्तु, अभिव्यक्ति और शैली में ऐसी अभिन्नता स्थापित हो जाती है कि उनके पार्थक्य का लोप हो जाता है । रीतिकाव्यों में जो विषयवस्तु अपनाई गई वह अपने आप एक विशिष्ट आकार में ढल गई । राजसभा में बडप्पन पाने के लिये, तत्कालीन राजारईसों की रसिकता को तुष्ट करने के लिये चमत्कारक्षम काव्यसृजन की आवश्यकता हुई थी । ऐसी स्थिति में रीतिकवियों ने मुक्तको को अपनाया ।

‘मुक्त’ शब्द मे ‘कन्’ प्रत्यय लगने से ‘मुक्तक’ शब्द बनता है। इसका अर्थ है संपूर्णतया अन्यनिरपेक्ष वस्तु। अन्यनिरपेक्ष होते हुए यह अपने आपमे पूर्ण होता है। इस प्रकार के काव्यरूप लघु लघु रसात्मक खड्गदृश्यों के चित्रण मे अधिक सफल होते है। प्रबध को मुक्तको का उलटा कह सकते है। उनमे जीवन के अनेकानेक अनुबधपूर्ण दृश्य अनुबद्ध होते है।

अग्निपुराण के मतानुसार चमत्कारक्षम एक ही श्लोक मुक्तक कहा जाता है— ‘मुक्तक श्लोक, एवैकश्चमत्कारक्षम सताम्।’ ‘वमत्कारक्षम’ शब्द से यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि क्या यह रसोत्पादन मे असमर्थ है। पर ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनव-गुप्त ने मुक्तको को रसचर्वणाक्षम माना है। मुक्तक की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है कि मुक्तक अन्य से अनाजिगित होता है। इसके अनुभार प्रबध मे मध्य मे वर्तमान, पूर्वापर से अनाकाक्ष, अर्थवाला काव्य मुक्तक नहीं हो सकता। पर प्रबध के बीच भी उसे माना जा सकता है। किंतु शर्त यह है कि वह पूर्वापरनिरपेक्ष हो और उससे रसचर्वणा होती हो। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि प्रबध के बीच आनेवाला छंद पूर्वापरनिरपेक्ष कैसे हो सकता है। यदि वह पूर्वापरनिरपेक्ष होगा तो प्रबधविधान की दृष्टि मे क्या वह अयोग्य नहीं सिद्ध होगा? ऐसी स्थिति मे ऐसे छंदों के लिये दुहरे गुणों की आवश्यकता होगी। वह उक्त प्रसंग मे पूर्वापरसापेक्ष होते हुए भी अलग से स्वयं मे पूर्ण और पूर्वापरनिरपेक्ष होगा। अब यह स्पष्ट हो गया कि मुक्तक एक छंदवाला अन्यनिरपेक्ष, पूर्वापर सबध-विरहित और रसोद्रेकक्षम होता है।

‘हिंदी साहित्य का इतिहास’ मे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है ‘मुक्तक मे प्रबध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमे कथाप्रसंग की परिस्थिति मे अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय मे एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमे रस के ऐसे छोटे पडते है जिनमे हृदयकलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबध काव्य विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभासमाजों के लिये अधिक उपयुक्त होता है। उसमे उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संचटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खड्गदृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिये मत्तमुग्ध हो जाता है। इसके लिये कवि का मनोरम वस्तुओं या व्यापारों का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यंत सक्षिप्त और सशक्त भाषा मे प्रदर्शित करना पडता है।’

उक्त उद्धरण मे शुक्लजी ने मुक्तको की रसमयता का उल्लेख अवश्य किया है, पर उसे प्रबधकाव्यों की स्थायी प्रभाव छोड़नेवाली रसमग्नता से नीचा ठहराया है। यद्यपि यह बात बहुत साफ नहीं कही गई है, फिर भी उससे ध्वनित यही होना है। मुक्तको मे रस की अविच्छिन्न धारा के दर्शन नहीं होते पर उसकी गहराई उनमे अवश्य मिलती है। इस गहराई को लक्ष्य करके ही अमरु के काव्य के सबध मे आचार्य ग्रानदवर्धन ने कहा कि ‘अमरुककवेरेक श्लोक प्रबध शतायत’। क्या यही बात विद्यापति, सुरदास,

१. मुक्तकमन्येनानालिगितम् । तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकाक्षार्थमपि प्रबधमध्यवर्ति न मुक्तमित्युच्यते । यदि वा प्रबन्धेपि मुक्तकस्यास्तु सद्भाव , पूर्वापर निरपेक्षणापि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम् । —तृतीयोद्योत लोचनम् ।

२. हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रचारिणी सभा, १९६६ संस्करण, पृ० २७७ ।

घनगानाद ऐसे कवियों के विषय में नहीं कही जा सकती ? रीतिबद्ध कवियों में बिहारी के कुछ दोहों में रसोद्रेक क्षमता को पूरी गहराई में देखा जा सकता है। देव के अधिकांश छंदों में गहराई चाहे उतनी न मिले पर उनमें रसोदबोधन की पूर्ण क्षमता है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किंतु रीतिकाव्यों की मुख्य विशेषता उनके रसोद्रेकक्षम होने में उतनी नहीं है जितनी चमत्कारक्षम होने में।

इस काल के मुक्तकों में अनेकानेक छंदों के प्रयोग किए गए, यहाँतक कि चित्रकाव्यों को भी नहीं छोड़ा गया। पर ये छंद छंद के लिये लिखे गए हैं। न तो वे चमत्कारक्षम कहे जा सकते हैं और न रसोद्रेकक्षम। अतः उनकी गणना मुक्तकों में नहीं करनी चाहिए। ऐसी स्थिति में मुक्तकों के लक्षणों को दृष्टि में रखते हुए इस काल में मुख्यतः जो तीन छंद—दोहा, सवैया और कवित्त—प्रयुक्त हुए हैं उन्हीं की विवेचना अपेक्षित है।

(१) दोहा—दोहा छंद के प्रथम दर्शन प्राकृतपैगलम् में होते हैं। वहाँपर इसका लक्षण देते हुए लिखा गया है

तेरह मत्ता पढम पञ्च पुणु एअरह देइ ।

पुणु तेरह एअरहहि दोहा लक्खइ एह ॥

—प्रा० पं०, १३८।७८

अपभ्रंश का तो यह प्रसिद्ध छंद है। 'गाहा' कहने से जैसे प्राकृत का बोध होता है वैसे ही 'दूहा' कहने से अपभ्रंश का। बाद में यह हिंदी का अत्यंत लोकप्रिय छंद हो गया और इसमें प्रभूत रचनाएँ होने लगी।

दोहा अर्धसममालिखित छंद है। इसके पहले तथा तीसरे चरणों में १३, १३ और दूसरे तथा चौथे चरणों में ११, ११ मात्राएँ होती हैं। सामान्यतः दोहों का यही लक्षण है। ब्रजभाषा के प्रकांड पंडित जगन्नाथप्रसाद 'रत्नाकर' ने दोहों के कई लक्षणों को उद्धृत करते हुए उनमें अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष दिखाया है। उन्होंने अपना लक्षण देते हुए लिखा है

आठ तीन द्वै प्रथम पद दूजै पद बसु ताल ।

बसु में त्रय पर द्वै न गुरु यह दोहा की चाल^१ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि प्रथम तथा तृतीय चरण में ८, ३, २ और ८, ५ पर मात्राएँ अलग हो जानी चाहिए अर्थात् ८वीं ९वीं से अथवा ११वीं १२वीं से मिलकर गुरु न हो जाय। पर ८, ३ इत्यादि पर शब्दों का भी पृथक् हो जाना आवश्यक नहीं है। मात्राओं की बाँट का क्रम इस प्रकार होगा—८ + ३ + २, ८ + (५)। रत्नाकरजी के इन नियमों के मूलाधार सभ्यतः बिहारी के दोहों हैं। अन्य श्रेष्ठ कवियों के दोहों को उक्त नियम की खराद पर देखा जा सकता है।

मात्रा सबंधी उपर्युक्त विशेषताएँ बिहारी और मतिराम दोनों के दोहों में मिलेंगी। पर इनके अतिरिक्त दोहों की सफलता कवि की सामासिक क्षमता पर निर्भर है। जो कवि समास पद्धति के द्वारा भावाभिव्यजना में जितना ही कुशल होगा उसके दोहों भी उतने ही उत्कृष्ट होंगे। दोहों की इस विशेषता के कारण रहीम ने कहा है

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं ।

ज्यो रहीम नट कुडली, सिमिटि कूदि चलि जाहिं ॥

थोड़े अक्षरों में अधिक अर्थ भर देना दोहा की विशेषता है। नट जिस सफाई के

साथ अपनी कुडली से सिमटकर निकल जाता है उसी प्रकार दोहो की शब्दयोजना में अत्यधिक सतर्कता अपेक्षित है।

बिहारी के दोहो में यह सतर्कता सर्वत्र देखी जा सकती है। बारीक से बारीक चेष्टाओं, अनेकानेक अनुभावों, बहुत से अलंकारों को स्थान स्थान पर बिहारी ने इस प्रकार से बाँधा है कि उनमें किसी तरह की विकृति अथवा अस्पष्टता नहीं आ पाई है। किंतु अन्य कवियों में वह सामर्थ्य नहीं था कि इस क्षेत्र में वे बिहारी से होड़ लेते। रीति-काव्यों के दोहा क्षेत्र में इनका स्थान अद्वितीय है।

(२) **सवैया**—उपयुक्त सामग्री के अभाव में सवैया के प्रचलन का कालनिर्णय करना बहुत ही कठिन है। पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह बहुत पुराना छंद नहीं है। इसे डा० नगेन्द्र ने सपादिका का अपभ्रंश माना है। उनका कहना है कि पहले भाट लोग सवैया की अंतिम पंक्ति को दो बार—सबसे पूर्व और चौथे चरण के बाद—पढ़ते थे। इस प्रकार इसमें चार के स्थान पर पाँच पंक्तियाँ नियमपूर्वक पढ़ी जाती थी। सपाद (सवाए) रूप में पढ़े जाने के कारण ही इसका नाम सवैया (सपादिका) पड़ गया।^१

संस्कृत में यह छंद नहीं मिलता, पर प्राकृत साहित्य में इसका विरल प्रयोग दिखाई पड़ता है। प्राकृतपैगलम् में (पृ० ५७५-७६) ८ भगणवाले किरिट और ८ सगणवाले दुमिल के लक्षण उदाहरण दिए गए हैं।

(१) बत्तिस, मत्त पञ्चपस लेखहु, अह भञ्जार किरिट बिसेसहु।

(२) तसु तूणउ सुन्दर किज्जिअ मंदर ठावह बाणह सेस धण्।

यद्यपि प्राकृतपैगलम् के रचनाकाल के सबंध में विद्वानों में मतभेद नहीं है, फिर भी साधारणतः यह सबत् १३०० के आसपास की रचना मानी जाती है। इसलिये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस छंद का प्रचलन स० १३०० के पूर्व ही हो चुका होगा।

जहाँतक हिंदी में सवैया छंद के प्रयोग का सबंध है, इसका कालनिर्णय और भी कठिन है। वीरगाथाकाल के ग्रंथों में इसका प्रयोग नहीं दिखाई देता। जगनिक के आल्हा-खड में कुछ सवैया प्रयुक्त हुए हैं। पर आल्हाखड का जो रूप आज प्राप्त है वह सर्वथा अप्रामाणिक है। शताब्दियों तक यह चारणों द्वारा मौखिक रूप में गाया जाता रहा है, इसलिये समय मसय पर इसमें काफी परिवर्तन परिवर्धन भी हुआ है। इसमें सवैया को कब जोड़ दिया गया, कहा नहीं जा सकता। भाषा की दृष्टि से यह काफी बाद की रचना मालूम पड़ती है।

पहले पहले सवैया का प्रयोग अकबर, गग, टोडरमल, नरोत्तमदास, तुलसीदास आदि की रचनाओं में पाया जाता है। किंतु इनकी भाषा और शैली से ज्ञात होता है कि यह किसी पूर्ववर्ती परंपरा का अगला कदम है। ऐसा प्रतीत होता है कि सवैया की जो परंपरा भाटों और चारणों में मौखिक रूप से चली आ रही थी, इन कवियों ने उन्हीं को ग्रहण किया। फिर तो रीतिकाव्यों का यह अपना छंद हो गया।

(अ) **भेद**—सवैया में बाईस वर्णों से लेकर छब्बीस अक्षर तक होते हैं। दास ने छदार्णव पिगल में 'यकइस ते छब्बीस लगी वरण सवैया साजु' लिखकर इक्कीस अक्षरों तक के छंदों को भी सवैया में परिगणित कर लिया है। आखिर दास ने २१ वर्णों का सवैया क्यों माना? इसे आचार्यत्व का चमत्कार ही समझना चाहिए। ७ भगण

के मदिरा छंद का उदाहरण देकर उन्होंने अपने मत को पुष्ट किया है। पर मदिरा का एक भेद और मानकर (७ भ + ५) उन्होंने परंपरा का पालन भी कर लिया है। इसमें एक ही गण की बहुलता होती है। दास के ही शब्दों में 'इक इक गण बाहुल्य करि वरण्यो पन्नग राज'। प्रत्येक चरण के अंत में जोड़े जानेवाले लघुगुरु के विचार से इसके अनेक भेद होते हैं। भानुजी ने छंद प्रभाकर में मदिरा, मदारमाला, चकोर, मत्तगयद, सुमुखी, गगोदक (लक्ष्मी, खजन), किरिट, मुक्तहरा, दुर्मिल, वाम, आभार, अरसात, सुदरी और सुख, इसके चौदह भेद किए हैं।

देव ने शब्दरमायन में सवैया के १२ भेद किए हैं—८ भेद प्राचीन मतानुसार और ४ भेद नवीन मतानुसार। दास ने देव के ग्यारह भेदों का तो उल्लेख किया है, पर सुधा (८ स) नामक भेद को छोड़ दिया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने भुजग (८ य), लक्ष्मी (८ र) और आभार (८ त), इन तीन भेदों के नाम और गिनाए हैं।

इस प्रकार विभिन्न गणों और लघुगुरु के आधार पर सवैया की संख्या काफी आगे बढ़ाई जा सकती है। जिन भेदों का उल्लेख देव और दास ने किया है उनमें से भी कुछ ही लोकप्रिय और बहुप्रयुक्त रहे हैं। अधिकांश भेद तो लक्षण उदाहरण की परिधि के भीतर ही सिमटे रह गए।

कवियों का सर्वाधिक प्रिय सवैया मत्तगयद रहा है। मत्तगयद के बाद दुर्मिल, किरिट और सुमुखी का नाम लिया जायगा। अधिकांश कवियों ने इन्हीं छंदों का अधिक प्रयोग किया है।

मत्तगयद में ७ भगण और दो गुरु होते हैं। अतः के दो गुरुओं के कारण ध्वन्यावर्तों की पूरी प्रभावान्वित मत्त गयद सी भूम उठती है। इसलिये वातावरण निर्माण में यह बहुत ही शक्तिशाली सिद्ध होता है। कदाचित् यही कारण है कि यह कवियों का अत्यधिक प्रिय छंद बन गया। कुछ उदाहरण देखिए

- (१) बोलि उठयो पपिहा कहूँ 'पीउ' सु देखिबे को सुनिकै उठि धाई ।
मोर पुकारि उठे चहुँ ओर ते देव घटा घिर की चहुँ छाई ।
भूलि गई तिय को तन की सुधि देखि उहै बन भूमि सुहाई ।
साँसनि सो भरि आयो गरो अरु आंसुन सो अँखियाँ भरि आई ॥

—देव

- (२) चारहूँ ओर तैं पौन भकोर, भकोरनि घोर घटा घहरानी ।
ऐसे समय 'पद्माकर' काहुँ की आवति पीत पटी फहरानी ।
गुंज की माल गोपाल गरे ब्रजबाल बिलोकि थकी थहरानी ।
नीरज ते कड़ि नीरनदी छबि छीजत छोरज पै छहरानी ॥

—पद्माकर

'घहरानी', 'फहरानी', 'थहरानी' और 'छहरानी' के अंतिम दो गुरुओं ने स्वर को प्रलंबित कर वातावरण में ठहराव और गाभीर्य भर दिया है। भगण के सात भकोरों के बाद गुरुओं ने वातावरण को धीरे धीरे फैला सा दिया है। अब ८ भगणवाले किरिट का एक उदाहरण देखिए

धौधरो झीन सौ सारी महीन सो पौन नितंबन भार उठै खचि ।
दास सुबास सिगार सिगारति बोझनि ऊपर बोझ उठै सचि ।
स्वेद चलै मुख चंदनि चबै डग द्वैक धरे महि फूलनि सो सचि ।
जात है पंकजहारि बयारि सों, वासुकुमारि को लक लला लचि ॥

—दास

जहाँ मत्तगयद मे सात नियमित और समान ध्वन्यावर्त बनते हैं वहाँ किरीट मे आठ । पर मत्तगयद मे अत के दो गुरुओं के विधान से ध्वन्यावर्तों की गति बदल जाती है । इस विशेष प्रसंग मे किरीट ही उपयुक्त छंद है । प्रत्येक चरण का अंतिम भरण भट से लय को समाप्त कर देता है और वहाँ पर साँस भटके से टूट जाती है । इसमे नायिका के जिस अभिजात सौकुमार्य का चित्रण किया गया है वह इसी छंद मे बँध सकता था । 'खचि' से तुरत लदे हुए भार के बोझ, 'मचि' से बोझ के शीघ्रतापूर्वक एकत्रीकरण एवं 'लचि' से लचकने की त्वरापूर्ण क्रिया का भावात्मक बोध हो जाता है ।

(आ) सामान्य विशेषताएँ—सवैया छंद का विश्लेषण करने पर यह दिखाई पड़ता है कि इसकी सामान्य विशेषताएँ भी हैं जो प्रायः सभी कवियों मे पाई जाती हैं ।

प्रारंभ मे ही कहा जा चुका है कि यह मुख्यतः पद्यत छंद है । ऐसी स्थिति मे इसके शिल्प मे शब्दार्थों पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना ध्वन्यात्मक लहरो को कोमल और श्रुतिसुखद बनाने पर । ऐसा करने के लिये कवियों ने मुख्यतः अनुप्रास, छेक, वृत्ति, अत्य और यमक का अधिक प्रयोग किया है ।

यहाँपर ध्यान देने की बात यह है कि उपर्युक्त शब्दालंकारों की योजना नादसौंदर्य के लिये ही की गई है, चमत्कारप्रदर्शन के लिये नहीं । रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों मे देव और पद्माकर मे इस प्रकार की प्रवृत्ति कुछ अधिक है । पर इन कवियों मे भी ऐसे चामत्कारिक स्थल बहुत थोड़े ही हैं ।

ध्वन्यात्मक लहरो को चटल और सयमित बनाने के लिये चरणों के अंतर्गत ही एक प्रकार के तुकों की व्यवस्था की गई है जिससे लहरो मे गति आ जाती है और बल खाती हुई लहरो का सौंदर्य द्विगुणित हो जाता है

(१) कंफ छुटयो, घनस्वेद बढ़यो, तनु रोम उठयो, अँखियाँ भरि आई ।

—मतिराम

(२) रँगराती हरी हहराती लता झुकि जाति समीर के झूकनि सो ।

—देव

इनमे अत्यानुप्रासों द्वारा ध्वन्यात्मक लहरो मे तिहरा बल डालकर नादसौंदर्य को और भी चटकीला बना दिया गया है । इस तरह की प्रवृत्ति देव मे सबसे अधिक है । इसी लिये जगह जगह वे इसके चक्कर मे बुरी तरह उलझ गए हैं

चढ़यो नभ चंद बढ़यो जु अनद कढ़यो सुख कद सु देव दगंचल ।

तप्यो अति अग जप्यो रति रंग थप्यो पति संग चप्यो चित चंचल ।

हियो कर मैन लियो सर मैन दियो भर मैन सम्हारि कै संचल ।

मदै उनमाद गदै गद नाद बहै रसबाद ददै मुख अंचल ॥

इस नादसौंदर्य का प्रत्येक चरण मे निर्वाह करने के कारण कवि का सारा प्रयास कृत्रिम और अप्रभावोत्पादक हो गया है । मतिराम और पद्माकर मे इनकी दोहरी लपेटे पाई जाती है जो पूरे प्रवाह मे अंतर्भक्त हो जाने के कारण अभिन्न हो गई है ।

देव के छंदों की चर्चा करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है 'सवैया की लय मे वैचित्र्य लाने के लिये अन्य प्रयोग हे यति मे परिवर्तन तथा गुरु मात्राओं का लघु उच्चारण, जो स्वभावतः किसी नियम मे न बँधकर भावाभिव्यक्ति के अनुसार स्वतंत्र है । यह उच्चारण वैचित्र्य का कारण इसलिये है कि दीर्घ को लघु चाहे कितनी ही सावधानी से पढ़ा जाय,

उसका उच्चारण शुद्ध लघु की अपेक्षा कुछ दीर्घ अर्थात् मध्यम ही रहता है। उधर गुरु अक्षरो के लघु उच्चारण से यह वैचित्र्य और भी बढ़ जाता है^१। उन्होंने देव का एक सवैया उद्धृत कर उसके तीसरे चरण में इस वैचित्र्य को देखा है। उनका कहना है कि भावाभिव्यक्ति के अनुसार यह अपने आप हो गया है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या इस प्रकार का वैचित्र्य और कवियों में भी दिखाई देता है? क्या यह सवैया के रूपविन्यास के मडन में योग देता है? क्या लय की यह विरूपता भावाभिव्यक्ति की आवश्यक माँग है?

सामान्यतः ब्रजभाषा की अपनी प्रकृति के कारण सर्वत्र शुद्ध अभीष्ट गणों का प्रयोग संभव नहीं है। अतः प्रसंगानुसार गुरु का उच्चारण लघु के रूप में किया जाता है। यह नियम सभी सवैया के साथ समान रूप से लागू है। पर डा० नगेंद्र ने देव के एक सवैया का उद्धरण देते हुए यह बतलाया है कि प्रथम कुछ चरणों में तो अभीष्टित सवैया का लय ठीक चल रहा है किंतु बाद के किसी चरण में गुरुओं के प्रयोगबाहुल्य से गुरु को लघु न पढ़कर मध्यम ही पढ़ना पड़ता है।

मतिराम और पद्माकर आदि में इस प्रकार का लयवैचित्र्य नहीं दिखाई देता। मतिराम की सरलता और सयम के कारण छंद को लय जैसे अपने आप मिल गई है। पद्माकर के सवैया का स्वच्छ विधान देखते हुए लयगत यह विचित्रता उनमें भी नहीं पाई जाती। एक ही सवैया के एक चरण की लय अन्य चरणों की लय से भिन्न होकर उसके शिल्पविधान को त्रुटिपूर्ण बना देती है। लगता है, देव इस सबंध में बहुत सावधान नहीं थे। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि उनका भावोद्बलन सवैया के बंधनों को सर्वथा स्वीकार नहीं कर सका है।

किंतु इतना तो मानना ही होगा कि इन कवियों ने सवैया को मॉजकर उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। तुलसी के सवैया में भाषा का जो अनगढ़पन और अपेक्षित प्रवाह-मयता का अभाव दिखाई पड़ता है वह रीतिकाव्य के सवैया में नहीं मिलेगा। अब भाषा में एक प्रकार की परिनिष्ठता आ गई और वह भावाभिव्यक्ति में अधिक सक्षम और प्रवाह-मयता में अधिक सामर्थ्यवान् हो गई। इसके साथ ही सवैया के बंधनों के कारण देव जैसे कवियों ने भाषा को तोड़ा मरोड़ा भी। पर यह त्रुटि एक सीमा तक ही होकर रह गई।

तुलसी तथा उनके समकालीन अन्य कवियों के सवैया के ध्वन्यावर्त संगीत की वैसी लहरे नहीं उत्पन्न कर सकते जैसे रीतिकाव्यों के सवैया कर सकते हैं। अपनी इस क्षमता के कारण इनमें रागतत्व का जो सनिवेश हुआ है उससे इनमें गहरी भावानुभूति जागरित करने की शक्ति अपने आप आ गई है।

(३) कवित्त (घनाक्षरी)—सवैया कवित्त जैसे छंदयुग्म का आविर्भाव कदाचित् एक ही समय हुआ है। सवैया की भाँति कवित्त का प्रयोग भी पहले पहले अकबर के समकालीन कवियों—नरोत्तमदास, गग, बीरबल, तुलसीदास आदि—की रचनाओं में मिलता है। इन कवियों के साफ सुथरे प्रयोगों से स्पष्ट झलकता है कि इस काल के पहले से ही इसकी परंपरा चली आ रही थी। केशव और सेनापति ने—विशेष रूप से सेनापति ने—कवित्त को विकसित किया। सवैया की भाँति रीतिकाल में कवित्त भी अपने उत्कर्ष की पूरी ऊँचाई पर जा पहुँचा।

कुछ विद्वानों ने पयार छंद को इसका मूल प्रेरक छंद माना है। बँगला के इस छंद में आठवें और चौदहवें अक्षर पर यति होती है। पर यह अनुमान ही अनुमान मालूम पड़ता है। प्रमाण के अभाव में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्या नरोत्तमदास और तुलसी ने बँगला के पयार छंद से प्रेरणा ली होगी? नरोत्तमदास और तुलसी ही क्यों, उनके पहले चारणों ने भी क्या पयार छंद को देखकर उसके आधार पर इसे गढ़ लिया होगा? पयार छंद को कवित्त का मूल प्रेरक छंद ठहराना उस मनोवृत्ति का द्योतक है जो हर बात के लिये दूसरो का मुख देखने की अभ्यासी हो गई है। वस्तुतः यह हिंदी का अपना मौलिक छंद है जो इसी की 'मिट्टी में जन्मा और इसी के खादपानी से पुष्ट भी हुआ है। इस छंद के 'आर्ट आन्ड रीडिंग' की प्रशंसा निराला कर चुके हैं। राजदरबारों में प्रशस्ति-पाठ के लिये इस छंद से अधिक उपयुक्त दूसरा छंद नहीं दिखाई पड़ता। नरोत्तमदास, गंग आदि ने इस परंपरा को ही आगे बढ़ाया है।

कवित्त या घनाक्षरी दंडक के अंतर्गत रखा गया है। जिस पद्य के प्रत्येक चरण में वर्णों की संख्या छब्बीस से अधिक हो उसे दंडक कहते हैं। दंडक का अर्थ है दंडकर्ता। इसके पढ़ने से साँसों में एक प्रकार का भराव और फैलाव आता है। इसी से इसका नाम दंडक रखा गया। दंडक के अन्य भेद गणों से या गुरु लघु से बँधे रहते हैं पर कवित्त या घनाक्षरी में इस तरह का कोई बंधन नहीं है। इसमें केवल अक्षरों का विधान है, गणों का नहीं। इसलिये इसे मुक्तक की संज्ञा दी गई है।

मुक्तको के कई भेद हैं पर मनहर और रूपघनाक्षरी का प्रचलन ही अधिक हो सका है। मनहर कवित्त में ८, ८, ८, ७ पर यति होती है और इस तरह प्रत्येक चरण में ३१ अक्षर होते हैं। रूपघनाक्षरी में ८, ८, ८, ८ पर यति होती है और कुल मिलाकर एक चरण में ३२ अक्षर होते हैं। मनहर के चरणांत में गुरु और रूपघनाक्षरी के चरणांत में लघु होना आवश्यक है। पर इन यतियों का पूर्णतः निर्वाह करना बड़ा कठिन हो जाता है। इसलिये सामान्यतः मनहर में १६, १५ और रूपघनाक्षरी में १६, १६ पर विराम की योजना की गई है।

रीतिकाव्यों में मनहर कवित्त का प्रयोग बाहुल्य दिखाई देता है। पर साधारणतः ८, ८, ८, ७ की यति के सकीर्ण नियम का पालन इन कवियों में नहीं हुआ है।

उदाहरण के लिये निम्नलिखित कुछ कवित्तों को देखा जा सकता है :

- (१) आई ऋतु पावस अकास आठौं दिसानि मे,
सोहत स्वरूप जलधरन की भीर को।
—मतिराम
- (२) रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठे,
साँसें भरि आँसू भरि कहति दर्ई दर्ई।
—देव
- (३) लाल कर चरण रदन छंद नख लाल,
मोतिन की रदन रही है छवि छाड़कै।
—दास
- (४) सोसनी डुकूलनि डुराए रूपरोसनी है,
बूटेदार घाँघरी की घूमिन घुमाइ कै।
—पद्माकर

भिखारीदास ने घनाक्षरी का लक्षणनिरूपण करते हुए लिखा है
'बसु बसु बसु मुनि जाति बरन, घनाक्षरी यकतीस' पर उनका उदाहरण इन नियमों में नहीं बंध सका है -

जबही ते 'दास' मेरी, नजर परी है वह,
तबही ते देखिबे की भूख सरसति है ।
होन लाग्यो बाहिर कलेस को कलाप उर-
अंतर की ताप छिन ही छिन नसति है ।
चलदल पात से उदर पर राजी रोम ।
राजी की बनक मेरे मन से बसति है ।
सिगार में +याही सो लिखी है नीकी भाँति,
काहू मानो जत्रपाँति घनअक्षरी लसति है ।

—छंदार्णव

ऊपर बड़े टाइपो में दिए गए अक्षर दास के लक्षणनिरूपण पर स्वयं व्यंग्य है ।

जहाँतक १६ और १५ पर विराम का संबंध है, मतिराम और पद्माकर के कवित्तों में काफी सफाई दिखाई देगी, किंतु उन लोगों से भी सर्वत्र इसका निर्वाह नहीं हो सका है

(१) कहा चतुराई ठानियत भ्रानप्यारी, (१४ पर यति)

तेरौ मान जानियत रूखी मुख मुसकानि सो ।

—मतिराम

(२) देखि दृग द्वै ही सो न नेकहु अघँधे (१४ पर यति)

इन ऐसे झुकाझुक में झपाक झखियाँ बई ।

(३) मेरी कटि मेरी भट कौन धौ चुराई ? (१४ पर यति)

तेरे कुचनि चुराई, कै नितबनि चुराई है ।

—पद्माकर

देव और दास आदि में तो इस प्रकार के यतिभंग दोष अपेक्षाकृत अधिक संख्या में दिखाई पड़ेगे, फिर भी इन सभी कवियों के कवित्त साधारणतः लयहीन नहीं हो पाए हैं । इस संबंध में जिस समविषम व्यवस्था का उल्लेख भानुजी ने अपने छंद प्रभाकर में किया है वह सामान्यतः सभी प्रतिनिधि कवियों के कवित्तों में दिखाई देती है । उन्होंने लिखा है— यदि कहीं विषम प्रयोग आ जाय तो उसके आगे एक विषम प्रयोग और रख देने से उसकी विषमता नष्ट होकर समता प्राप्त हो जाती है और वे भी कर्गमधुर हो जाते हैं । भानुजी ने इस नियम का उल्लेख छंद की लय को दृष्टि में रखते हुए किया है । डा० नगेंद्र का कहना है कि 'देव ने इन नियमों का बड़ी सूक्ष्म राति से पालन किया है । यदि देव ने इन नियमों का पालन बड़ी सूक्ष्मता से किया है तो मतिराम और पद्माकर के संबंध में भी यही कहा जा सकता है । लेकिन किसी कवि ने 'समविषम व्यवस्था को ध्यान में रखकर कवित्त नहीं लिखे हैं ।' कवित्त इनका मँजा हुआ छंद था, उसकी लयात्मकता की लपेट में भानुजी की व्यवस्था अपने आप आ जाती है । इसके लिये उन्हें किसी तरह का आयास नहीं करना पड़ा है ।

सर्ववैया की अपेक्षा कवित्त का बंधन शिथिल है । इसलिये जिन विशेषताओं का उल्लेख सर्ववैया के प्रसंग में किया गया है कवित्तों में उनका व्यापक प्रयोग हुआ है । अनु-प्रास को ही लीजिए । छंदानुप्रास का प्रचुर प्रयोग तो सर्ववैया में किया गया है किंतु कवित्तों में वृत्त्यनुप्रास की संख्या भी काफी मिलेगी । गणों के प्रतिबंध के कारण सर्ववैया में वृत्त्यनुप्रास

का स्वच्छद प्रयोग कठिन है। यदि चमत्कार उत्पन्न करने के लिये ये प्रयोग नहीं किए गए हैं तो कवित्त के स्फीतमथर प्रवाह के सौंदर्य में इनका योग सार्थक समझना चाहिए। यो तो मतिराम, कवींद्र, सोमनाथ आदि सभी कवियों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है, पर देव और पद्माकर की चित्तवृत्ति इसमें अधिक रमी है

(१) भारे जल धरणि अँध्यारे धरणी धरणि,
धाराधर धावत धुमारे धुरबानि के।
—देव

(२) चाँदनी के चौसर चहँधा चौक चाँदनी में,
चाँदनी सी आई चद चाँदनी चितै चितै ॥

—पद्माकर

कहना न होगा कि देव को वृत्यनुप्रास द्वारा वातावरण की मनोरम भाँकी प्रस्तुत करने में काफी सहायता मिली है। यद्यपि पद्माकर का पलड़ा चमत्कारप्रदर्शन की ओर झुकता हुआ प्रतीत होता है, तथापि अंतिम पंक्ति ने उसे बहुत कुछ सतुलित कर दिया है।

चरणों के भीतर अत्यानुप्रासों की योजना इस छंद की प्रमुख विशेषता है। इससे कवित्त की लय में सगीत तत्व का समावेश हो जाता है और वह अधिक श्रुतिसुखद प्रतीत होता है। इस योजना के सबसे बड़े समर्थक भी देव, दास और पद्माकर ही हैं

(१) सुनो कै परम पद, ऊनौ कै अनत मद,
नूनो कै नदीस नद इदिरा भुरै परी।
—देव

(२) गति नर नारिन की पछी देह धारिन की,
तून के अहारिन की एकै बार बंधई।
—दास

(३) बूझैगी चवैया ? तब कहौ कहा दैया ? इत
पारिगो को मैया ? मेरी सेज पै कन्हैया को।

—पद्माकर

कवित्तों को अलंकृत करने के लिये यमक और वीप्सा का भी सहारा लिया गया है। यमको का प्रयोग शुद्ध चमत्कारप्रदर्शन की दृष्टि से किया गया है। इससे न तो कवित्तों का बाह्य सौंदर्य ही बढ़ता है और न आंतरिक श्रीवृद्धि ही होती है। वीप्सा का बहुत ही सार्थक प्रयोग देव ने किया है। वीप्सा में एक शब्द का दोहरा प्रयोग होता है। इससे लय में गाभीर्य के साथ ही एक विचित्र प्रकार के सगीत का भी समावेश हो जाता है

रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठे,
साँसे भरि आँसु भरि कहति दई दई।

—देव

जहाँतक कवित्त छंद के विकास में इन कवियों के योग का सबध है, उसका विवेचन करने के लिये कुछ कवियों के छंदों को देखना होगा

कंत ! सुनु मंत, कुल अंत किए अंत हानि,
हातो कीजै हीय ते भरोसो भुज बीस को।
तौलौ मिलु बेगि जौलौ चाप न चढ़ायो राम,
रोषि बान काढ़यो न दलैया दससीस को।

—तुलसी

इसके बाद रीतिबद्ध कवियों के भी दो उदाहरण देखिए •

बिरह बिथा ते हौं व्याकुल भई हौं 'देव',
चपला चमकि चित्त चिनगी उड़ावै ना ।
चातक न गावै, मोर सोर ना मचावै, घन
धुमड़ि न छावै, जौ लौं लाल घर आवै ना ॥

—देव

कैसे धरौ धीर बीर ! त्रिविध समीरें तन,
तरजि गई ती, फेरि तरजन लागी री ।
धुमड़ि घमड़ घटा घन की घनेरी अबै,
गरजि गई ती, फेरि गरजन लागी री ॥

—पद्माकर

स्पष्ट है कि कोमलकांत पदावली की दृष्टि से 'देव' और 'पद्माकर' ने तुलसी को पीछे छोड़ दिया है। भाषा की जो मसृणाता और लचकीलापन देव और पद्माकर में दिखाई देता है वह तुलसी में नहीं है। तुलसी के कवित्व में भावोद्वेलन की र्धह क्षमता नहीं है जो देव और पद्माकर के कवित्व में है। तुलसी का कवित्व बहुत कुछ वर्णनात्मक होकर रह गया है जबकि देव और पद्माकर में वातावरणनिर्माण और मूर्तियोजना की गहरी क्षमता दिखाई देती है।

११. अभिव्यजना पद्धति

(१) शैली—विषयवस्तु तथा उसकी अभिव्यजना प्रणाली में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, क्योंकि कवि की सर्जनात्मक प्रक्रिया में दोनों क्षीरनीर के मिश्रण की भाँति अभिन्न हो जाती है। पर एक ही विषय के सबंध में भिन्न भिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न प्रकार की अनुभूति होती है, इसलिये उनकी अभिव्यजना की पद्धति में वैयक्तिक विशेषताओं का सनिविष्ट हो जाना स्वाभाविक है। वैयक्तिक विशेषताओं के अतिरिक्त काल-विशेष में प्रायः सभी कवियों में अभिव्यक्तिगत कुछ सामान्य विशेषताएँ भी मिलती हैं जो उस युगविशेष के वैशिष्ट्य की द्योतक होती हैं।

शैली एक प्रकार की अभिव्यजना प्रणाली है जिसमें रचयिता का संपूर्ण व्यक्तित्व—चेतन, अवचेतन—प्रतिफलित होता है। कवि अपनी अनुभूतियों को रूप देने के लिये कभी सहज भाव से, कभी सचेत होकर शब्दों, विशेषणों, मुहावरों, लोकोक्तियों आदि का चुनाव करता है और उनकी नियोजना इस तरह करता है कि अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने में वह समर्थ हो सके। इनके अतिरिक्त भावों को मूर्त करने के अभिप्राय से उसे अनेक प्रकार के चित्रों की भी योजना करनी पड़ती है। इन चित्रों के विश्लेषण से शैली की जो विशेषताएँ प्रकट होती हैं उनके आधार पर कवियों की वैयक्तिक रुचि तथा तत्कालीन परिवेश के प्रभाव को बहुत ही अच्छी तरह परखा जा सकता है।

अतः रीतिकाव्यों की शैलीगत विशेषताओं का उद्घाटन करने के लिये पहले हम शब्दों का विवेचन करना चाहेंगे, जिससे इस काल का थोड़ा बहुत वैशिष्ट्य स्पष्ट किया जा सके। विशेषणों, मुहावरों, लोकोक्तियों तथा चित्रयोजना के विवेचन द्वारा कवि की वैयक्तिक रुचि तथा परिवेशगत प्रभाव, दोनों की मीमांसा स्वतः हो जायगी। अलंकृत पदयोजना इस काल की शैली की एक प्रमुख विशेषता है। इसलिये इसपर भी विचार कर लेना आवश्यक होगा। अभिव्यजना पद्धति या शैली का माध्यम भाषा है। अतएव अतः उसकी चिन्नेचना भी अनिवार्य है।

(अ) शब्द : नए संबन्ध और नवीन अर्थवत्ता—रीतिकालीन काव्यों में प्रयुक्त शब्दों का अध्ययन दो दृष्टियों से किया जायगा—एक तो नए सबंधों (असो-शिएशस) के कारण नई अर्थवत्ता ग्रहण करनेवाले शब्दों की दृष्टि से, दूसरे नादयोजना द्वारा अपेक्षित परिवेशनिर्माण की दृष्टि से।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो एक कालविशेष में प्रयुक्त होनेवाले कुछ शब्द दूसरे काल में नए सबंधों में प्रयुक्त होने के कारण बहुत कुछ अपना अर्थ बदल देते हैं। फिर तो वे इस काल में उसी बदले हुए अर्थ में ही बराबर ग्रहण होते हैं क्योंकि उनकी परिवर्तित अर्थवत्ता और उनका चुनाव बहुत कुछ सामाजिक जीवन में उनके चलन (करेसी) पर निर्भर होता है।

रीतिकाल में, विशेषतः रीतिबद्ध कवियों की रचनाओं में, राधाकृष्ण का प्रचुर प्रयोग हुआ है। पर क्या रीतिकाव्यों के राधाकृष्ण में वही अर्थवत्ता है जो भक्तिकाव्यों के राधाकृष्ण में पाई जाती है? क्या रीतिकवियों की दृष्टि में राधाकृष्ण के प्रति वही पूत भावना है जो भक्त कवियों में देखी जाती है? क्या रीतिकवियों के राधाकृष्ण भक्त कवियों के राधाकृष्ण की भाँति अलौकिक मर्यादा से अभिमण्डित तथा दैवी पराक्रम और ज्योति से देदीप्यमान है?

‘कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना’ की प्रतिज्ञा करनेवाले भावविह्वल भक्त कवियों की आत्मा राधाकृष्ण के स्मरण, कीर्तन और लीला-गान में इस तरह तन्मय हो गई कि बहुत सी इहलौकिक शृंगारपरक शब्दावली में भी पवित्रता की भावना भर गई। राधाकृष्ण तो परंपरा से प्राप्त उनके इष्ट देवता ही थे। अतः इनसे सबद्ध बहुत सी लौकिक अभिव्यजनाओं को भी तत्तत् सदर्थों में धार्मिक अर्थ ग्रहण करने पड़े। पर भक्त कवियों के आराध्य राधाकृष्ण रीतिकाव्यों में आकर सामान्य नायकनायिका के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे। यही नहीं, रीतिकाल के अंतिम चरण में ‘कन्हैया’ और ‘साँवलिया’ में नई अर्थवत्ता ही नहीं भरी गई वरन् व्यावहारिक जीवन में भी लोग ‘कन्हैया’ और ‘साँवलिया’ का नाटक करने लगे।

एक दूसरे शब्द ‘लाल’ को लीजिए। यह सामान्यतः पुत्र के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है, जैसे—दशरथलाल। यशोदा के ‘लाल’ सबोधन में वात्सल्य भाव निहित है पर गोपियों के ‘लाल’ शब्द में प्रिय भाव। रीतिकाल में यह सामान्य नायक का द्योतक हो गया। भक्तिकाल में ‘लाल’ शब्द का प्रयोग कृष्ण के लिये प्रचुर मात्रा में किया गया है। जब कृष्ण ही नायक के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे तब उनका पर्यायवाची शब्द क्यों न होता? ‘लला’ शब्द की भी यही स्थिति समझनी चाहिए। इसी तरह और भी अनेक शब्दों को ढूँढा जा सकता है जो रीतिकाल में आकर नए अर्थ में प्रयुक्त होने लगे।

(आ) वातावरण निर्माण : शब्दध्वनि—कविता में वातावरण निर्माण के लिये ध्वन्यात्मक शब्दों का विशेष महत्व है। इससे जो श्रुतिचित्र तैयार होता है वह अपेक्षित वातावरण को प्रत्यक्ष करने में बड़ा ही प्रभावशाली सिद्ध होता है। ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा जो प्रतिध्वनियाँ पैदा की जाती हैं वे मूलतः सवर्गों पर चोट करती हैं और उनकी गूँज देर तक बनी रहती है।

१ (आछे मेरे) लाल हो ऐसी आरि न कीजै। —सूरसागर, ना० प्र० सभा, पद ८०८।

×

×

×

लाल अनमने कतहि होत हौ तुम देखौ धौ कैसे कैसे करि तिहि लाइ हौ।

—वही, ३१३०।

रीतिकाव्यो मे, मुख्यत मिलन के अवसरो पर, ध्वन्यात्मक शब्दो द्वारा मादक वातावरण प्रस्तुत किए गए हैं। ऐसा करने के लिये प्रायः तीन तरह के शब्दों का प्रयोग किया गया है—(१) रगणात्मक, (२) अनुकरणात्मक और (३) लक्षणात्मक।

मिलन के विशिष्ट प्रसंग में आभूषणों का अनुरणन किस प्रकार सवेगो पर चोट करता है, इसके कुछ उदाहरण देखिए

(१) झँझरियाँ झनकेंगी खरी खनकेंगी चुरी तनकौ तन तोरें ।

—दास

(२) झिल्लिन लो झुनाइ कै किंकिनि बोले सुकी सुक को सुखदैनौ ।

यो बिछियान बजावत बाल मराल के बालनि ज्यो मृगनैनौ ॥

—तोष

अनुकरणात्मक शब्दध्वनियों का प्रयोग प्रायः वस्त्रों के हवा में इधर उधर उड़ने के आधार पर किया गया है

(१) फहर फहर होत पीतम को पीत पट लहर लहर होत प्यारी की लहरिया ।

—देव

(२) फहरै पियरो पट बेनी इतैं उनकी चुनरी के झवा झहरै ।

—बेनी

फहर फहर, लहर लहर शब्द वस्त्रों की लहर का ही द्योतन नहीं करते हैं बल्कि इनसे मिलन सबधी उल्लासात्मक वातावरण का निर्माण होता है।

लक्षणात्मक शब्दों को नादतत्त्व से विरहित नहीं माना जा सकता। पर उनका पूर्ण सौंदर्य लक्षणा द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। उदाहरणार्थ 'लहलहाति' शब्द को लिया जा सकता है। बिहारी ने इसका प्रयोग 'लहलहाति तन तरुनई' लिखकर किया है। हरी भरी खेती को हवा और धूप में हिलते डुलते देखकर लोग कहते हैं कि खेत खूब लहलहा रहे है। तरुणार्थ के प्रसंग में इसके मुख्यार्थ का बोध होता है और लक्षणा के सहारे उसके स्वस्थ, प्रसन्न और मादक यौवन की अर्थप्रतीति होती है। इसी तरह देव के 'उमडधो परत रूप' में लक्ष्यार्थ द्वारा रूपाधिक्य का इन्द्रियग्राही चित्र उपस्थित किया गया है। काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से ऐसे सौंदर्यचित्रों का विशेष महत्व आँका जाता है।

उपर्युक्त शब्दों द्वारा जो ऐन्द्रिय वातावरण और ऐन्द्रिय चित्र उपस्थित किए गए हैं वे उस काल के कवियों के उपभोगात्मक दृष्टिकोण के द्योतक हैं।

(इ) विशेषण—सामान्य विशेषणों तथा काव्योचित विशेषणों में स्पष्ट अंतर यह है कि जहाँ प्रथम में एक अस्पष्टता और अमूर्तता (एब्स्ट्रैक्टनेस) रहती है वहाँ द्वितीय में इन्द्रियगोचर मूर्त रूपसृष्टि की अद्भुत शक्ति। ये किसी विशेष क्रिया, अर्थ या रुचि का द्योतन करते हैं। ये विशेष क्रिया, अर्थ या रुचि के व्यापार मात्र नहीं हैं बल्कि इनके मूल में कवि का अपना दृष्टिकोण और व्यक्तित्व भी निहित है। वस्तु के प्रति अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिये कवि किसी एक ही विशेषण का चुनाव कर सकता है, उसका पर्याय अभिप्रेत अर्थ और काव्यसौंदर्य नहीं प्रकट कर सकता। कभी कभी विशिष्ट अर्थग्राही उत्पन्न करने के लिये असाधारण विशेषणों का भी चयन करना आवश्यक हो जाता है।

इन विशेषणों के चित्रोपम सौंदर्य और उनके मूल में निहित कवि की दृष्टि के विश्लेषण के लिये इस काल के प्रतिनिधि कवियों के काव्यग्रन्थों में प्रयुक्त विशेषणों का अध्ययन आवश्यक है। नीचे कुछ विशेषणों के उदाहरण दिए जाते हैं।

(ई) आँख—अनियारे नयन (बि० बो० दो० ८६), अहेरी नैन (बि० बो० दो० १२७), ललचीही चखनि (बि० बो० दो० २३६), लगौहै नैन (बि० बो० दो० ४०३), अलसोहै नैन (बि० बो० ४११), हसोहै नैन (वही, ३७७), निगोडे नैन (वही, ४५८) अनखभरी आँखियाँ (म० स० छ० ३३८), दोषभरी आँखियाँ (म० स० छ० ३५३) बडेरें दूग (देव, सु० ह० छ० १०६), बडी बडी आँखें (देव, सु० त० छ० १०६), तीखी चितवनि (दे०, सु० त० छ० ३२६), सुदर सुरग नैन (प०, ज० वि० छ० १२), रसभीने बडे दूग (प०, ज० वि० छ० ३४), चचल चितौनि (ज०, वि० छ० २१४), करेरे कटाच्छ (दे०, प्रे० च० पृ० ११), मोह मढी उमडी बडी आँखिन (प्रे० च० पृ० ३१), लाज कसी आँखियाँ (सु० वि० छ० १२), विसाल अनूप बडे बडे नैन री (सु० वि० छ० १५) ।

(उ) वक्षोदेश—उतग, खरे उरोजनि (बि० बो० ५६६), ओछे उरोजनि (दे०, भा० वि० छ० ३), करेरे कुच (सु० त० छ० २४५), ठाढे उरोजनि (सु० त० छ० २७६), निपट कठोर उरोजन (म०, र० रा० छ० २११), उच्च कुच (प०, ज० वि० छ० ४६) गोरे करेरे तोरे उरोजन (सु० ति० छ० ३१) ।

(ऊ) कुछ अन्य विशेषण—सुरँग कुसभी चूनरी (बि० बो० छ० ११८), नाजूक बाल, हसोहै मुख (बि० बो० १५), निबिड नितब (सु० त० छ० २१५), सघन जघन (सु० त० छ० १५), चटकीली चूनरी (सु० त० छ० २७८), थोरी थोरी बैस (सु० त० छ० २४६), जगमगे जोबन (सु० त० छ० २६४), गदगदे गोलन कपोलन (सु० त० छ० ७२५), मुखर मजरि (म०, रसराज छ० ४६७), चूनरी लाल खरी (देव, सु० वि० छ० १५) ।

विशेषणों की चित्रोपमता और भावोद्दीपनक्षमता उनके चुनाव की युक्तियुक्तता पर निर्भर करती है। इसके लिये जरूरी है कि कवि विशेषणों के औचित्य और आवश्यकता को ठीक ढंग से परखकर उनका प्रयोग करे। 'तरल तीखे अनसीले नैन' (देव०, सु० त० ३०७) को ही लीजिए। 'तरल' से आँखों की सहज आर्द्रता, अनुभूतिमयता, 'तीखे' से अचूक प्रभाव तथा 'अनसीले' से उनके प्रकृत भोलेपन का ऐंद्रिय चक्षुचित्त (विजुअल इमेज) उपस्थित होता है। आँखों का यह भावपूर्ण चित्र 'रूप' के साथ ही 'रस' से भी समन्वित है। इसी प्रकार पद्माकर के 'रसभीने' बडे दूग' में बडे आँख के आकार का द्योतक है तो 'रसभीने' नायिका की मन स्थिति (या नायक की मानसिक प्रवृत्ति) का प्रकाशक चाक्षुष चित्र है।

जहाँपर विशेषणों के औचित्य और आवश्यकता का निर्वाह नहीं हो पाता वहाँ पर विशेषणों की चित्रोपमता और भावोद्दीपनक्षमता निःशेष हो जाती है। ऊपर उद्धृत विशेषणों में एक विशेषण के लिये कही एक, कही दो और कही कही तीन, चार या पाँच विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। 'गोरे करेरे तरेरे उरोजनि' में पहला विशेषण किसी तरह का चित्र नहीं अंकित कर पाता। इसी तरह 'कटाक्ष' के लिये 'बक बिसाल रँगोले रसाल छबीले' पाँच विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं। इनमें पहले को छोड़कर शेष इस सदर्थ में उपयुक्त न होने के कारण कटाक्ष का रूप खडा करने में अशक्त है। पद्माकर के आँखों के लिये 'सुदर सुरग' विशेषण में चित्रोल्लेखन और भावोद्दीपन की कोई क्षमता नहीं है।

बिहारी ने इस काल के अन्य कवियों की भाँति एक विशेषण के लिये एकाधिक विशेषणों का प्रयोग प्रायः नहीं किया है। ऐसा करने के मूल में मुख्यतः दो कारण हैं— एक तो सजग कलाकार होने के कारण वे शब्दों का प्रयोग खूब जान बूझकर करते हैं,

दूसरा यह कि उनके दोहों की सकीर्ण सीमा में बहुत से विशेषण अंश भी नहीं सकते । उनके विशेषणों की विशेषता है उनका क्रियामूलक (फक्शनल) होना । अपने विशेषणों की क्रिया या स्वभाव को अंकित करने के लिये उन्होंने क्रियाविशेषणों का प्रयोग अधिक किया है । 'ललचौही', 'लगौहै', 'अलसौहै' आदि विशेषण ऐसे व्यापार की सूचना देते हैं और वे ऐसे जीवत चित्र उपस्थित करते हैं कि वे पाठकों के भावों को उद्दीप्त करने में अच्छी तरह समर्थ होते हैं ।

कुचों के लिये प्रयुक्त विशेषणों में 'उच्च', 'पीन' आदि उनके आकार तथा 'कठोर', 'कोरे' आदि उनके गुणों के प्रकाशक हैं । किंतु 'ठाढे', 'उँचौहै', 'उठे', 'उचके' उनके क्रियात्मक पक्ष के द्योतक हैं । अपनी क्रियात्मकता के कारण इनमें चित्तोल्लेखन तथा भावोद्दीपन की क्षमता अपेक्षाकृत अधिक परिलक्षित होती है । 'ठाढे' और 'खरे' सामान्यतः पर्यायवाची होते हुए भी सूक्ष्म अर्थभेद रखते हैं । 'खरे' में जो मासलता और विषयोत्तेजकता (सेसुअलिटी) निहित है वह 'ठाढे' में कहाँ ।

रीतिबद्ध कवियों के विशेषणों का वैशिष्ट्य तबतक पूर्णतः प्रकट नहीं किया जा सकता जबतक रीतिमुक्त कवियों के विशेषणों से इनकी तुलना न कर ली जाय । घनानन्द के विशेषण 'तृषित चखनि' (घ० क०, छ० ३), 'अँखिया निपेटनि' (घ० क०, छ० २६), 'प्रीति पगौ अँखियानि' (घ० क०, छ० ३४) आदि—एक अन्य प्रकार के दृष्टिकोण के द्योतक हैं । स्पष्ट है कि इन विशेषणों पर विषयनिष्ठता का गहरा रंग है । घनानन्द के विशेषण मुख्यतः आश्रयगत हैं तो रीतिबद्ध कवियों के आलंबनगत । इसलिये स्वाभाविक है कि आश्रयगत विशेषण जहाँ व्यथा और दैन्य के चित्र उपस्थित करते हैं वहाँ आलंबनगत विशेषण ऐंद्रियविलास के मदविह्वल चित्र । एक में विरह और जलन की गभीरता है तो दूसरे में सयोग और भोग की चटकीली रंगीनी ।

अप्रधान यौन अवयवों (सेकडरी सेक्जुअल कैरेक्टर्स) के अतिरिक्त नारी के वस्त्रों के लिये—विशेषतः चूनरी, साड़ी तथा चोली के लिये—रागोद्दीपक विशेषणों के प्रयोग हुए हैं । सामान्यतः साड़ी और चोली दोनों के लिये लाल विशेषण का प्रयोग अधिक हुआ है । लाल रंग अन्य रंगों की अपेक्षा अधिक चक्षुग्राह्य और उत्तेजनात्मक होता है । देव ने इस रंग को और भी उत्तेजनामूलक और प्रभावापन्न बनाने के लिये 'चूनि चूनरि लाल' लिखकर उसके साथ 'खरी' विशेषण जोड़ लिया है । इस विशेषण के सहारे चूनरी का जो चाक्षुष चित्र अंकित किया गया है वह अतिशय मार्मिक और भावपूर्ण बन पड़ा है ।

(२) **मुहावरे**—प्रयोगातिशय के कारण मुहावरों का अर्थ रूढ़ हो गया है । अपने प्रारंभिक काल में ये भी प्रयोजनवती लक्षणा ही रहे होंगे । पर बहुत दिनों तक एक ही अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण उन्हें रूढ़ लक्षणा के अंतर्गत मान लिया गया है । अधिक से अधिक भावों को तीव्रतर ढंग से व्यक्त करने के लिये मुहावरों का प्रयोग आवश्यक होता है । पर जहाँ मुहावरेदानी स्वयं कवि की साध्य हो जाती हैं वहाँ भावव्यंजना का स्थान चमत्कारप्रदर्शन ले लेता है । भावों की तीव्रता और चमत्कारप्रदर्शन के आधार पर कविता की प्रवृत्ति और कवि की मनोवृत्ति का विश्लेषण भी किया जा सकता है ।

लोकव्यवहार तथा काव्यभाषा में मुहावरों की अपेक्षा लोकोक्तियों या कहावतों का प्रयोग कम होता है । वाक्य में प्रयुक्त होने पर जहाँ लोकोक्तियाँ अपरिवर्तित रहती हैं वहाँ मुहावरा काल, पुरुष, लिंग और वचन के अनुसार अपने को ढाल लेता है । अलंकार की दृष्टि से विचार करने पर भी लोकोक्ति का अंतः अत्यधिक संकुचित दिखाई पड़ता है । लोकोक्ति के प्रयोग से केवल इसी नाम का अलंकार होता है । मुहावरों के कारण स्वभावोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि कई अलंकार रूपग्रहण करते हैं । मुहावरों

जहाँपर दुहरा काम करते हैं, वहाँपर उनके द्वारा अलंकारों को चमत्कारपूर्ण बनाया जाता है। एक तो उनके द्वारा भावों में तीव्रता आती है, दूसरे अलंकारों की चामत्कारिकता भी बढ़ जाती है।

रीतिकार्यों में आँख, मन और चित्त सबंधी मुहावरें अधिक संख्या में प्रयुक्त हुए हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि शृंगार और प्रेम से इनका घनिष्ठ संबंध है। अतः मुख्य रूप से इनसे सबद्ध मुहावरों की छानबीन कर लेनी चाहिए।

(अ) आँख संबंधी मुहावरें -

(बिहारीबोधिनी से)

नैन मिलत (दो १८१), नैना लागत (दो० २००), दोठि जुरि दीठि सो (दो० ६०), लगालगी लोयन करै (दो० २१६), कहा लडैते दृग करै (दो० २८०)।

(मतिरामकृत रसराम से)

आँखियाँ भरि आई (छ० १६), भौह चढाय (छ० ५३), दृग जोरै (छ० १२७, २२१), नैनन को फल पायो (छ० २३८)।

(देव)

बक बिलोकनि ही पै बिकान्यौ (प्रे० च०, पृ० ६), मिले दृग चारो (सु० वि० दृ० १२)।

(पद्माकरकृत जगद्विनोद से)

दृग दै रहति (छ० ४१), दृग फेरै रहै (छ० ६६), उनकी उनसे जो लगी आँखियाँ (छ० १०३), आँखियाँ ते न कढ्यो (छ० १३६)।

(आ) मन संबंधी मुहावरें--

(मतिरामकृत रसराम से)

गनत न मन पथ कुपथ (छ० ३३), मन बाँधत बेनी बँधे (छ० ३६), मन भायो न कियो (छ० १३८)।

(पद्माकरकृत जगद्विनोद से)

गुन औगुन गनै नही (छ० ५३), मन धरि आए हौ (छ० ५६), एकन को मन लै चलै (छ० १०७)।

(इ) हृदय, चित्त या दिल संबंधी मुहावरें--

लिए जात चित चोरटी (दो० २५०), चोरि चित्त (दो० १६१)।

—बिहारी

हिए हजारन के हरै (छ० ६६), उर आगि न लगाइए (छ० २५४), चित चोरि (छ० ३११)।

—मतिराम, रसराम

चित लाल चूमि रह्यो (प्रे० च०, पृ० ३६), मूरति चित्त चढी है (सु० वि०, पृ० २२)।

—देव

(ई) कुछ अन्य मुहावरें--

छाती फाटी जाति (बि० बो०, दो० २२३), कानन लाए कान (बि० बो०, दो० १६०), कुलकानि गँवाए (मतिराम, रसराम, छ०, १३२), गरे परि (देव०, प्रे० च०, पृ० १०), परचो मरिबो सिर तेरेई (वही, पृ० २१), तिन तोरत फिरत (देव, सु० वि०, पृ० ६), दतन दाबि रहे अँगुरी (वही, पृ० १६) आदि।

आँख, मन और चित्त सबधी मुहावरो की मूल प्रवृत्तियों को देखते हुए उन्हें तीन मुहावरो में सीमित किया जा सकता है—(१) आँखों का लडना, (२) मन का बँधना और (३) चित्त का चोरी जाना। इन मुहावरो से प्रेम के तीन सोपानों की जो अभिव्यक्ति होती है वे एक दूसरे से क्रमिक रूप से सबद्ध हैं। आँख के लडने के बाद मन का बँधना और चित्त का चोरी चला जाना अत्यंत स्वाभाविक क्रियाएँ हैं। रीतिकवियों के प्रेम का मूल आधार आँखों का लडना ही है जो मुख्यतः रूपलावण्य पर आश्रित है। अन्य मुहावरो का विवेचन करने पर हमें यह दिखाई देता है कि वे मन की विविध दशाओं का भी चित्र उपस्थित करते हैं पर उनमें अधिकांश ऐसे ही मिलेंगे जो आश्चर्यजनक शरीरी सौंदर्य की अभिव्यजना में योग देते हैं।

रीतिकाव्यों में ऐसे मुहावरे भी कम नहीं मिलेंगे जो मध्यवर्गीय घरेलू वातावरण से सगृहीत किए गए हैं। 'चलत चैरु घर', 'रवा राखत न राई सी', 'ठेग गनौगी' आदि मुहावरे घरेलू वातावरण का जीवत चित्र उपस्थित करते हैं। 'ठेग गनौगी' और 'जी का ज्यान' तो आज की मध्यवर्गीय नारी के भी नित्य व्यवहार के मुहावरे हैं।

भावों को तीव्रतर बनाने के लिये मुहावरो का सुविचारित प्रयोग करना पड़ता है। यदि एक विशेष मुहावरे के स्थान पर उससे मिलता जुलता दूसरा मुहावरा रख दिया जाय तो अभिप्रेत अर्थों की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ बिहारी सतसई का यह दोहा देखिए—'कहा लडैते दृग करै परे लाल बेहाल'। इसमें आँख लडाना मुहावरा एक चेष्टामूलक व्यापार है। यदि आँख लडाने के स्थान पर दूसरा मुहावरा रख दिया जाय तो दोनों के अर्थ में भारी अंतर पड़ जायगा। 'आँख लडाने' के प्रयोग से हृदिस्थ वासना को और भी अधिक तीव्रतर बनाया गया है।

अलंकारों को चामत्कारिक और कथन को वक्र बनाने के लिये रीतिकाव्यों में मुहावरो का सहारा लिया गया है। इस प्रकार के मुहावरे बिहारी में सर्वाधिक दिखाई पड़ते हैं:

दृग उरभूत दूटत कुटँब, जुरत चतुर चित प्रीति ।

परति गाँठ दुरजन हिए, बई नई यह रीति ॥

+

+

+

लगा लगी लीयन करै, नाहक मन बँधि जाय ।

ऊपर के दोहों में असंगति अलंकार का जो चमत्कार दिखाई पड़ता है उसका श्रेय बहुत कुछ उनमें प्रयुक्त मुहावरो को है। बिहारी और मतिराम ने अनिशयोक्ति और स्वभावोक्ति अलंकारों में भी चामत्कारिकता ले आने के लिये मुहावरो पर अधिक ध्यान दिया है। रीतिमुक्त कवि घनानंद ने विरोधाभास के लिये मुहावरो का प्रचुर प्रयोग किया है।

(३) चित्रयोजना—काव्य में मुख्यतः भावों और अनुभूतियों की ही अभिव्यक्ति होती है और इनको आकार देने के लिये चित्र का माध्यम ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। इसके विपरीत गद्य में, जो प्रधानतः विचारों का क्षेत्र है, चित्रयोजना की अपेक्षा प्रायः नहीं होती है। गद्य में जहाँ कहीं चित्रयोजना की भी जाती है वहाँ उसमें काव्यचित्रों की भावोद्बोधकता तथा रस की साधना प्रायः नहीं दिखाई पड़ती। वस्तुतः सधन मनोबैज्ञानिक क्षणों (इंटेसीफाइड साइकोलाजिकल मोमेंट्स) को काव्य की चित्र-भाषा में जितने सहज और प्रभावोत्पादक ढंग से बाँधा जा सकता है उतने स्वाभाविक ढंग से गद्यात्मक लय में नहीं।

सामान्यतः काव्यचित्रों के दो भेद किए जा सकते हैं—लक्षित चित्रयोजना (डाइरेक्ट इमेजरी) और उपलक्षित चित्रयोजना (फिगरेटिव इमेजरी)। लक्षित चित्रयोजना

को बाह्य रेखाओं या वर्णों या वर्णों द्वारा तुरत लक्षित किया जा सकता है, पर उपलक्षित चित्रयोजना को लक्षित करने के लिये अप्रस्तुतों के सादृश्यविधान की जानकारी आवश्यक है। लक्षित चित्रयोजना को भी स्थूल रूप से दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—रेखाचित्र और वर्णचित्र। एक में आलबन की रूपचेष्टाओं आदि को रेखाओं में तथा दूसरे में वर्णों में अंकित किया जाता है। रेखाओं और वर्णों द्वारा ये चित्र सहज में ही लक्षित हो जाते हैं और इनमें साधारणतः कवि का चेतन मन उद्घाटित होता है। पर काव्य में उपलक्षित चित्रों का विशेष महत्व है। इन चित्रों में अप्रस्तुतों के सादृश्यविधान द्वारा जिन घनोद्भूत मनोवैज्ञानिक क्षणों को अंकित किया जाता है उनमें कवि का अवचेतन मन भी चित्रित हो उठता है। इन उपलक्षित चित्रों के उपस्थापन में जिन अप्रस्तुतों का विधान किया जाता है उनका अध्ययन स्वयं में अत्यंत रोचक विषय है। इनके आधार पर सबद्ध कवियों की रूचि अरुचि, आस्था विश्वास, मान्यता अमान्यता आदि का उद्घाटन भी अच्छी तरह हो जाता है। इस तरह चित्रयोजनाओं के विश्लेषण द्वारा दुहरा कार्य संपन्न होता है—एक तो उससे रीतिवद्ध कवियों की चित्रोपस्थापन क्षमता का सम्यक् ज्ञान होता है और दूसरे इन चित्रों के मूल में निहित कवि का चेतन और अचेतन मन भी प्रत्यक्ष हो जाता है।

(४) लक्षित चित्रयोजना

(अ) रेखाचित्र—काव्यगत रेखाचित्र में केवल रूप का ही अंकन नहीं होता है बल्कि वह शब्द, स्पर्श, गंध और रस से भी संपुष्ट होता है। शब्द, स्पर्श आदि से विरहित केवल चाक्षुष चित्र (विजुअल इमेजरी) का विशेष साहित्यिक मूल्य नहीं आँका जा सकता। केवल चाक्षुष चित्र वस्तुमुखी होने के कारण सूक्ष्म ऐंद्रिय बोध की दृष्टि से सतोषप्रद नहीं होते। इन चित्रों की प्रभावोत्पादकता तभी बढ़ सकती है जब ये शब्द, गंध, रस आदि से समन्वित हों।

रीतिकाव्यों की नायकनायिका भेद की सकुचित सीमा में चित्रों की विविधता और व्याप्ति नहीं मिलेगी। कुछ चित्र तो रूढ़ियों पर आधृत होने के कारण एकरूप और नीरस हो गए हैं, जैसे, नखशिख वर्णन अत्यधिक रूढ़िग्रस्त, घिसे पिटे और ताजगी से शून्य है। अभिसारिका और खडिता के चित्रों में भी प्रायः एकरूपता मिलेगी। पर अपनी सीमा के अतर्गत नायिका के अनेक नयनाभिराम रूपों, भावों, चेष्टाओं आदि के उत्कृष्ट चित्रों से रीतिकाव्य भरे पड़े हैं, इसमें सदेह नहीं। इस प्रकार के चित्रों का अंकन लक्षित और उपलक्षित दोनों चित्रयोजनाओं के अतर्गत हुआ है।

आलबन का रूप प्रेमोत्पादन का मुख्य हेतु है तथा उसके हावभाव और चेष्टाएँ आदि उद्दीपन के प्रधान उपकरण हैं। इन चित्रों के अतिरिक्त नायिका का हृदयस्थ प्रेम जब अनुभावों के रूप में प्रकट होता है तब वह चित्र का स्वतंत्र विषय बन जाता है। इस तरह रेखाचित्रों में नायिका के रूप, चेष्टाएँ और अनुभाव—तीनों को बाँधने की कोशिश की गई है। कुछ रूपचित्र देखिए

कुदन कौ रँगु फीकौ लगै, झलकै अति अगन चारु गुराई ।

आँखिन में अलसानि चितौन में मजु बिलासन की सरसाई ।

को बिनमोल बिकात नहीं, 'मतिराम' लहै मुसकानि मिठाई ।

ज्यो ज्यों निहारिए नेरे हूँ नैननि त्यो त्यो खरो निकरै सी निकाई ।

—मतिराम

डोलत समीर लक लहकै समूल अंग,

फूल से डुकूलन सुगंध बिथुरयो परै ।

इंदु सौ बदन, मंद हाँसी सुधा विंदु,
अरविद ज्यौ मुदित मकरंदन मुरचौ परं ।
ललित लिलार त्रम कलक अलक भार,
मग मे धरत पग जावक धुरचौ परं ।
'देव' मनि नूपुर परमपद द्वपर द्वै,
सू पर अनूप रंगरूप निचुरचौ परं ।

—देव

मतिराम के रूपचित्र में बहुत कम रेखाओं का प्रयोग किया गया है पर जो थोड़ी सी रेखाएँ खिच पाई हैं वे काफी जोरदार हैं। इनमें न रुद्धिग्रस्त उपमानों का प्रयोग किया गया है और न नायिका के प्रत्येक अंग के पृथक् पृथक् सौंदर्यांकन का प्रयास। कुंद के रंग सा गौर वर्ण, आँखों में आलस्य और चितवन में विलास के उल्लेख द्वारा सौंदर्य का जो सश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया गया है वह काफी व्यंजक, आकर्षक और मनोरम बन पड़ा है। अंतिम इस रेखाचित्र की सर्वाधिक महत्वपूर्ण रेखा है। इसके कारण संपूर्ण चित्र इतना भावमय हो उठता है कि पाठकों की सौंदर्यचेतना पूर्णतः जागरूक हो जाती है।

देव के चित्र में मतिराम की अपेक्षा अधिक रेखाएँ लगी हैं तथापि वह वैसा प्रभावपूर्ण नहीं बन पड़ा है। इंदु, सुधाविंदु, प्रफुल्ल अरविद जैसे रूढ़ अग्रस्तुत सहज सौंदर्य नहीं अवित कर सकते। अंतिम दो पक्तियों में सौकुमार्य की ऐंद्रिय अनुभूति अवश्य जागरित होती है।

रीतिबद्ध कवियों में बिहारी ने नायिका का संपूर्ण रूपचित्र बहुत कम खींचा है। उनकी चित्तवृत्ति हावों और चेष्टाओं को ही अंकित करने में अधिक रम सकी है। इस तरह के चित्रों में एक प्रकार की गतिशीलता होती है जो आलबन की क्रियाओं या सचेष्ट व्यापारों में व्यक्त होती है। इसलिये ऐसे चित्रों को क्रियाविधायक (फक्शनल) चित्र कह सकते हैं। बिहारी की सतसई में इस तरह के चित्र भरे पड़े हैं। कुछ उदाहरण देखिए -

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहे नटि जाय ॥

+ + +

नासा मोरि नचाय दूग, करी कका की सौंह ।
काँटे सी कसकति हिंए, वहै कटीली भौंह ॥

दोनों दोहों में नायिका की विशिष्ट भगिमाओं को कुछ रेखाओं में बाँध दिया गया है। पहले दोहे में पहली पक्ति चित्र की पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित की गई है। दूसरी पक्ति में चार लघुलघु दृश्य हैं जो समवेत रूप में नायिका की भगिमाओं को आकार देते हैं। इस चित्र में चमत्कार प्रदर्शन के साथ ही भावात्मक काव्यानुभूति उत्पन्न करने की भी विशेष क्षमता है। दूसरे दोहे में तीन लघु दृश्य हैं जो समष्टि रूप में नायिका को चेतन चेष्टाओं को व्यक्त करते हैं। पर दोनों चित्रों की प्रभावोत्पत्तता में गुणात्मक और मात्रात्मक (क्वांटिटेटिव) अंतर है। एक विशेष सदर्थ से सबद्ध होने के कारण प्रथम दोहे में जो प्रभावोत्पादकता दिखाई पड़ती है वह दूसरे दोहे में, जो प्रायः सदर्थनिरपेक्ष सा है, नहीं दिखाई देती। पहले दोहे में आश्रय और आलबन, दोनों पक्ष समुपस्थित हैं। उसमें नायिका के प्रेमाधिक्य को उसकी मुखरता में बड़ी ही कुशलता से व्यक्त किया गया है और साथ ही नायक के बेचारेपन की भी व्यंजना हो गई है। इस प्रकार इस चित्र में जो नाटकीय व्यापार दृष्टिगोचर होता है वह नायिका की अनुपस्थिति में दूसरे चित्र में नहीं दिखाई पड़ता।

नायिका की चेष्टाओं को रूप देने में कवि विशेष सचेत रहता है पर अनुभावों के आधार पर निमित्त चित्रों में उसे बहुत कुछ आभ्यन्तरिक (सबजेक्टिव) होना पड़ता है। ऐसी स्थिति में इस तरह के चित्र अधिक भावोद्दीपक और रसार्द्र होते हैं। मतिराम की मुग्धा खडिता का एक मनोरम चित्र देखिए

लिखै कर के नख सो पग को नख, सीस नवाय के नीचे ही जोवै ।

बाल नवेली न रूसनो जानति, भीतर मौन मसूसनि रोवै ॥

नख से पैर के नख को कुरेदना, सिर झुकाकर नीचे देखना, मसोस मसोसकर रोना—एक पूर्ण चित्र की कतिपय रेखाएँ हैं। इस चित्र में नायिका के निष्क्रिय पर सशक्त क्षोभ को व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है। इसमें 'बाल नवेली' की व्यर्थ की रेखा है। इससे चित्र की भावप्रवणता में वृद्धि के स्थान पर ह्रास ही दिखाई पड़ता है, क्योंकि शेष रेखाएँ उसे 'बाल नवेली' सिद्ध करने में स्वयं समर्थ हैं। फिर भी इसमें अभिव्यक्त कवि की अनुभूति के साथ पाठकों का सहज तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

अनुभावों का सबध मन से होता है, इसलिये इसके द्वारा अंकित चित्रों में मन की विविध दशाएँ स्वतः व्यक्त हो उठती हैं। रीतिबद्ध कवियों में इस तरह की चित्र निर्माण-क्षमता देव में सर्वाधिक है।

सुख दै बुलाइ बन सूनो दुख दूनो दियो,

एकै बार उससे सरोस साँस सरकनि ।

औचक उचकि चित चकित चितौत चहूँ,

मुकताहरानि थहरानि कुच थरकनि ।

रूप भरे भारे वे अनूप अनियारे दुग—

कोरनि डरारे कजरारे बूँद ढरकनि ।

'देव' अरुनई अरु नई रिसि छबि सुधा,

मधुर अधर सुधा मधुर की करकनि ॥

(आ) वर्णचित्र—काव्य में जहाँ नपीतुली बाह्य रेखाओं द्वारा चित्र निर्मित किए जाते हैं, वहाँ वर्णों द्वारा भी उनका निर्माण होता है। वर्णयोजना में कवि की अभिप्रेत केवल वर्णयोजना नहीं है, बल्कि इसके द्वारा अभीप्सित भावों की अभिव्यक्ति करना तथा उन्हें पाठकों तक प्रेषणीय बनाना भी है।

रीतिकालीन कवियों ने रंगों का चुनाव मुख्यतः तीन क्षेत्रों से किया है—(१) प्रकृति के क्षेत्र से, (२) वस्त्राभूषणों के क्षेत्र से तथा (३) पावक और दीपशिखा के क्षेत्र से। प्राकृतिक उपकरणों को दो कोटियों में रखा जा सकता है—आकाशस्थित (सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, बादल, बिजली आदि) तथा पुष्पादि से सबद्ध (लता, पुष्प, पल्लव, मालती, मल्लिका, कज, गुलाब, सोनजुही, बधूक, जपा, गुल्लाला, कुदकली, नवकिसलय, कमलपत्र इत्यादि)। वस्त्राभूषणों में रंगीन और कामदार साड़ियाँ, अँगिया, चुनरी तथा विविध आभूषण, मणिमार्गिक्य, विद्रुममुक्ता आदि सन्निविष्ट हैं। पावक और दीपशिखा की ज्योति अगद्युति को प्रकाशित करने के लिये ले आई गई है। इन समस्त उपादानों का उपयोग चित्र को आकर्षक और भावोद्दीपक बनाने के लिये किया गया है। उनका महत्व अपने आप में न होकर रंग के प्रभाव को आकर्षक और सादक बनाने में है। सच तो यह है कि रंग तो गिने गिनाएँ रहते हैं, चित्रकार की सफलता उनके आनुपातिक मिश्रण और औचित्यपूर्ण चुनाव पर निर्भर करती है। रीतिकालीन काव्य में वर्णयोजना के प्रायः पाँच प्रकार मिलते हैं।

- १—नायिका के आगिक वर्ण
- २—अनुरूप वर्णयोजना (मैचिंग कलर)
- ३—वर्णों का मिश्रण (काबिनेशन आफ् कलर)
- ४—प्रतिरूप वर्णयोजना (कांट्रास्टिंग कलर)
- ५—वर्णपरिवर्तन (चेज आफ् कलर)

नायिका के अवयवों के रगनिर्देश के निमित्त जिन उपकरणों का उपयोग किया गया है वे बहुत कुछ वर्णनात्मक हो गए हैं। ऐसी स्थिति में वे ऐंद्रिय अनुभूति जागरित करने में अशक्त हैं। इन्हें रूढियों के अतर्गत ही समझना चाहिए। कचन, केसर, सोनजुही, बिजली आदि के रंगों द्वारा नायिका के शरीर का जो रगनिर्देश किया गया है वह परंपरा-भुक्त परिपाटी पर आधारित है। उदाहरणार्थ चरणों के लिये यह कहना कि 'विद्रुम औ बँधूक जपा गुललाला गुलाब की आभा लजावति' तथा 'कौहर कोल जपा दल विद्रुम का इतनी जो बँधूक ने होति है' परिगणन परिपाटी के द्योतक हैं।

(इ) वर्णों की गतिशीलता—जब वर्णों को जब कवि अपने प्रयोग से जीवत बना देता है तब कविता भी प्राणवान् हो उठती है। रीतिकाल के कुछ कवियों ने रंगों में इस तरह की प्राणप्रतिष्ठा कर नायिका के लावण्य को अत्यंत प्रभावोत्पादक ढंग से मूर्तिमान् किया है। इनके कुछ उदाहरण दिए जाते हैं

पाँव धरे अलि ठौर जहाँ तेहि ओर तें रंग की धार सी धावति ।

—सुंदरीतिलक

×

×

×

भीतर भौन तें बाहिर लौं द्विजदेव जुन्हाई की धार सी धावति ।

—वही, छं० ११

इन पक्तियों में अलग अलग दो रंगों का चुनाव किया गया है—लाल और श्वेत। पाँव की प्रकृत ललाई के लिये रंग की लाली और शरीर की द्युति के लिये ज्योत्स्ना की तरलता उपस्थित की गई है। नायिका जहाँ पैर रखती है वहाँ से रंग की धारा सी दौड़ पड़ती है। दौड़ती हुई रंग की धारा हमारे समुख जो चित्र उपस्थित करती है उसमें पैरों की सुकुमारता, कोमलता और ललाई का जो भावात्मक ऐंद्रिय बोध होता है उससे नायिका के समग्र सौंदर्य की भी एक मनारम कल्पित भाँकी मिल जाती है। दूसरा चित्र पहले की अपेक्षा अधिक ऐंद्रिय और सौंदर्यबोधात्मक है। 'जुन्हाई की धार' 'रंग की धार' की अपेक्षा मूर्त प्रत्यक्षीकरण में अधिक ममर्थ है; क्योंकि हमारे दैनिक जीवन से इसका गहरा लगाव है। ज्योत्स्ना में स्वयं एक प्रवाह होता है जो अपने आप रंग में नहीं होता। 'जुन्हाई की धार' पद हमारे सामने शुभ्रवर्णी, तन्वगी, ज्योति की तरंगों पर तैरती हुई सी एक अशेष सुकुमार सुंदरी का भावोद्रेकपूर्ण चित्र प्रत्यक्ष करता है। घर के भीतर से बाहर तक (जहाँ तक नायिका जाती है) चाँदनी की दौड़ती हुई धारा उसके असाधारण सौंदर्य और अगज्योति की सूचना देती है।

अनुरूप वर्णयोजना के अतर्गत वे चित्र आते हैं जिनमें बहुत कुछ मिलते जुलते रंगों (मैचिंग कलर्स) का प्रयोग इस ढंग से होता है कि सौंदर्य में एक नवीन आकर्षण आ जाय। कुछ उदाहरण देखिए

सहज सेत पचतोरिया, पहिरे अति छबि होति ।

जल चादर के दीप लौं, जगमगाति तन जोति ॥

—बिहारी

अंगन में चंदन चढाय घनसार सेत,
सारी छीर फेन की सी आभा उफनाति है ।

—मतिराम

दास पग पग दूनो देह दुति दग दग
जग जग ह्वै रही कपूर धूर सारी पर ।

—भिखारीदास

इन तीनों चित्रों में श्वेत रंग की साडी और गोरे रंग के शरीर में रंग की एक-रूपता ले आई गई है। इस वर्णयोजना का प्रयोजन है अनुकूल वेशविन्यास द्वारा नायिका की रूपानुभूति का भावात्मक चित्रण। श्वेत साडी के प्रभाव से तीनों कवियों की नायिकाओं की अगद्युति एक नई ज्योति से जगमगाती हुई दिखाई दे रही है। अनुरूप वर्णयोजना के सहारे नायिकाओं को ऐंद्रिय आकर्षण का केंद्र बनाते हुए उनके वैभवविलास को भी अंकित किया गया है।

(ई) वर्णों का मिश्रण (कांभिनेशन आफ कलर)—वर्णों के मिश्रण में कवि को दोहरे दायित्व का निर्वाह करना पड़ता है। एक ओर उसे चित्रविशेष के लिये अनुकूल रंगों का चुनाव करना पड़ता है, दूसरी ओर रंगों के आनुपातिक मिश्रण पर भी ध्यान देना पड़ता है। बिहारी और देव में विविध रंगों के मिश्रण की कला विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। इन दोनों में भी रंगों की छायाओं (शेड्स) की अद्भुत पकड़ में बिहारी की दृष्टि अचूक है।

बिहारी का रंगपरिज्ञान तथा उचित रंगों के मेल की क्षमता 'सतसई' के प्रथम दोहे से ही परिलक्षित होने लगती है। राधिका के पीतवर्णों की छाया में श्रीकृष्ण का श्याम-वर्ण हरा हो जाता है। इस दोहे में राधिका की शोभा, सौंदर्य और अगद्युति की अलौकिकता को उभारकर सामने रखना ही कवि का मुख्य प्रयोजन है। इसी तरह कई रंगों के मेल से बाँसुरी की इद्रधनुषी शोभा देखिए

अधर धरत हरि के परत ओठ डीठ पट जोति ।

हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्रधनुष छबि होति ॥

मूलवर्ण केवल पाँच होते हैं—श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण और हरित। 'श्वेतो-रक्तस्तथा पीतकृष्णो हरितमेव च। मूलवर्णा समाख्याता पंच पार्थिवसत्तम'। बाँसुरी के हरे रंग पर आँखों के श्वेतकृष्ण रंग, ओठ का लाल रंग और पीतांबर के पीत वर्णों की छाया पड़ती है। इनके समिश्रण से वशी इंद्रधनुष के रंग की हो जाती है। यहाँ पर वर्णंतरंगों से श्रीकृष्ण की एक अत्यंत मोहक भगिमा की व्यंजना भी हो जाती है।

वय सधि की अवस्था को बिहारी ने 'धूपछाँह' के रंग में देखा है

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोबन अंग ।

दोपति देह डूहन मिलि, बिपत ताफता रंग ॥

'धूपछाँह' के रंगसंकेत से वय सधि की रेशमी शोभा कितनी भावपूर्ण हो गई है।

देव के वर्णचित्रों में कई रंगों के मिश्रण प्रायः कम दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने प्रायः एक रंग से ही चमत्कारप्रदर्शन का प्रयास किया है। इनके चित्रों में रंगों का वैभव तो दिखाई पड़ता है, किंतु उनके मिश्रण द्वारा नए भावात्मक चित्र खड़े करने में उनका मन नहीं रम सका है। एक उदाहरण है,

मांग गुही मोतिन भुअंग ऐसी बेनी उर,
 उरज उतग औ मतंग गति यौन की ।
 अगना, अगन कैसी पहिरै सुरंग सारी,
 तरल तुरग दृग चाली मृगदौन की ।
 रूप की तरंगनि बरंगनि के अगनि से
 सोधे की अरंग लौ तरंग उठे पौन की ।
 सखी संग रंग मे कुरंगनैनी आवै तोलौ,
 कैयो रंगमई भूमि भई रगभौन की ।

आइए, पहले इसपर रूपभेद की दृष्टि से विचार करे । रूपभेद के अनुसार केवल रूपाधायक अंगों को ही अंकित करना चाहिए, लेकिन प्रारम्भिक पक्तियों में कवि ने नख-शिख वर्णन की परंपरा के अनुसार रूढ अंगों का भी उल्लेख किया है । आवश्यकतानुसार इसमें हल्के गहरे रंगों का स्पर्श भी दिखाई पड़ता है, इपलिये प्रमाण की दृष्टि से इस चित्र का औचित्य नहीं ठहराया जा सकता । रंगों की तडकभडक ने चित्र के सौंदर्य को बहुत कुछ विकृत कर दिया है । भावयोजना की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्व नहीं आँका जा सकता । हाँ, कुछ पक्तियों में लावण्य की सुष्ठु योजना की गई है । सादृश्य और वर्णिकाभंग की दृष्टि से भी इस चित्र को महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता । नायिकाके रंग, रूप द्वारा बहुरंगी रंगभूमि की कल्पना को साकार करने का प्रयास तो यहाँ अवश्य किया गया है किंतु इसमें स्वयं रंगों का महत्व इतना अधिक हो गया है कि ऐंद्रिय अनुभूति की अपेक्षित अन्विति नहीं हो पाई है ।

तीन रंगों के मेल से पद्माकर ने जो चित्र खींचा है उसमें जो ताजगी और वातावरण-निर्माण की क्षमता है वह कम चित्रों में दिखाई पड़ती है

जाहिरे जागति सी जमुना जब बूडे बहै उमहै वह बेनी ।
 त्यों पद्माकर हीर के हारन गंग तरंगन की सुख बेनी ॥
 पाँयन के रँग सो रँग जाति सी भाँति ही भाँति सरस्वती सेनी ।
 पैरे जहाँ ही जहाँ वह बाल तहाँ तहाँ ताल मे होत त्रिवेनी ॥

इस चित्र में कहीं हल्के, कहीं गहरे रंगस्पर्श से नायिका की छवि अंकित की गई है । 'बूडे', 'बहे', 'उमहे' शब्दों से गतिशील यमुना का दृश्य आँखों के समुख उपस्थित हो जाता है । हीरो के हार के स्पर्श से गंगा की तरंगों की भाँति ताल का जल भी झुझ हो जाता है । पाँवों का रंग जल को सरस्वती के रंग में रँग देता है । यहाँपर नायिका का सौंदर्य रेखाओं में नहीं बल्कि रंगों में बाँधा गया है । चित्र की दृष्टि से यह वर्णिकाभंग का श्रेष्ठ उदाहरण है । वास्तव में कवि यहाँ पर एक सुंदरी नायिका का रूप खड़ा करना चाहता है । विविध रंगों के मेल से सौंदर्यसंगम का नयानभिराम दृश्य उपस्थित करने में उसे यहाँ पूर्ण सफलता मिली है, इसमें सदेह नहीं ।

बिहारी नायिका की अँगुली का वर्णन करते हुए त्रिवेणी का दृश्य उपस्थित करते हैं :

गोरी छिगुनी अरुन नख, छला स्याम छबि देय,
 लहत मुकुत रति छिनक ये, नैन त्रिवेनी सेय ।

इस चित्र में अँगुली की गुराई, नख की ललाई और उसमें पहने हुए लोहे के छल्ले को एक स्थान पर एकत्र कर देने मात्र से रंगों को एकात्मित नहीं किया जा सकता । इससे न तो कोई मूर्त प्रत्यक्षीकरण हो पाता है और न प्रभावोत्पादन की क्षमता ही व्यक्त हो पाती है । इस प्रकार स्पष्ट है कि विविध रंगों के मिश्रण से नायक अथवा नायिका

का जो रूपचित्रण रीतिकालीन काव्य में किया गया है उसके मूल में कवि का उसे मोहक बनाने का दृष्टिकोण निहित है। इस रगमिश्रण के द्वारा भी नायिका के वैभव और रूपश्री दोनों को अभिव्यक्त किया गया है।

(उ) विरोधी वर्णयोजना—विरोधी रंगों का प्रयोग यद्यपि इस काल के कवियों ने कम किया है फिर भी कुछ स्थलों में इनके द्वारा नायिका की जगमगाती छवि के बड़े ही आकर्षक चित्र अंकित किए गए हैं। इस कला में भी बिहारी सबसे प्रवीण है। इस तरह के उनके दो चित्र दिए जाते हैं।

छप्यो छबोलो मुख लसै, नीले आँचर चीर ।

मनो कलानिधि झलमले, कालिंदी के नीर ॥

+

+

+

सोनजुही सी जगमगै, अँग अँग जोबन जोति ।

सुरँग कुसुमो चूनरी, दुरँग देह दुति होति ॥

पहले दोहे में नीले और श्वेत रंग का विरोध है और दूसरे में पीले और लाल का। एक में वस्त्रपेक्षा और दूसरे में पूर्णपेक्षा अलंकार द्वारा चित्र को अच्छी तरह निखार दिया गया है। पहले में रूपाधायक अंश मुख्य है, दूसरे में संपूर्ण अंग की काति। इस तरह नायिका की जगमग करती हुई अगज्योति के वर्णन द्वारा उसका संपूर्ण सौंदर्य प्रतिभासित हो उठा है।

लेकिन जहाँपर बिहारी ने चमत्कारप्रदर्शन के निमित्त गोरे मुख में चंदन की बेदी को मद की लाली की पृष्ठभूमि में उभार दिया है अथवा नीलमणिजटित लौंग के रंगों को चपा की कली पर बैठा हुआ भौरा कहकर पीले और काले दो विरोधी रंगों द्वारा चित्र को रूप देने का प्रयास किया है वहाँ न तो काव्यसौंदर्य प्रस्फुटित हो पाया है और न कोई रूप ही समर्पित हो सका है।

(ऊ) वर्णपरिवर्तन—वर्णपरिवर्तन मानवीय भावों का बैरोमीटर तथा मन-स्थितियों का प्रकाशक व्यापार है। रस की गणना सात्विक अनुभावों के अंतर्गत होनी चाहिए। पश्चिम के कवियों ने चेहरे में लज्जा की ललाई (ब्लश) का प्रचुर वर्णन किया है। रीतिकालीन कवि गिने गिनाए अनुभावों के चतुर्दिक चक्कर लगाने के कारण स्वतंत्र रूप से अनुभावों की अभिव्यक्ति प्रायः नहीं कर सके हैं। लेकिन ढूँढ़ने पर वर्णपरिवर्तन के कुछ अच्छे उदाहरण मिल जाते हैं।

नायक ने 'मौलसिरी' की माला सखी द्वारा नायिका के पास भेजी है। सखी नायिका को माला पहनाकर आई है और नायक से नायिका की दशा का वर्णन करती है :

पहिरत ही गोरे गरे, यों दौरी दुति लाल ।

मनो परसि पुलकित भई, मौलसिरी की माल ॥

—बिहारी

मौलश्री के स्पर्श में उसे नायक के स्पर्श का अनुभव हुआ, अतः उसका सारा शरीर रोमांचित हो उठा। यही नहीं, माला गले में पडते ही उसकी अगदीप्ति में ललाई दिखाई देने लगी। गोरेपन का सहसा बदलकर ईषत् लाल हो जाना नायक के प्रति उसके प्रेम की अभिव्यक्ति ही है।

लज्जा के कारण लाल होने का एक दूसरा चित्र देखिए .

ज्यो ज्यों परसत लाल तन, त्यो त्यो रखै गोय ।

नवल बधू डर लाज तें, इंद्रबधू सी होय ॥

—मतिराम

यह नवोढा नायिका का उदाहरण है। प्रिय के स्पर्श मात्र से वह डर और लज्जा के कारण सकुचित होती जाती है और उसका रंग इद्रवधू के रंग सा हो जाता है। 'इद्रवधू' शब्द हमारे सामने केवल वर्णपरक परिवर्तन ही नहीं उपस्थित करता, बल्कि अपने में सिमटती हुई बधू का प्रत्यक्षीकरण भी कराता है। इद्रवधू भी स्पर्श मात्र से ही सकुचित हो जाती है।

शरीर के रंग की छाया से नायिका की माला का रंग बदल गया है, किंतु अज्ञात-यौवना होने के कारण उसे इसका पता नहीं लगता। इस वर्णपरिवर्तन का एक अत्यंत मार्मिक चित्र उपस्थित करते हुए बेनी प्रवीन ने लिखा है

काल्हई गूँथि बबा कि सौ मै, गजमोतिन की पहिरी अति आला।

आई कहाँ तें इहाँ पुखराज की, संग गई यमुना तट बाला।

न्हात उतारी हौ 'बेनी प्रवीन' हँसै सुनि बैनन नैन रसाला।

जानत ना अँग की बदली, सब सो बदली बदली कहै माला ॥

बाबा की शपथ खाकर मै सच कहती हूँ कि अभी तो कल ही बैने गजमोटियों की माला गूँथकर पहन रखा था। यह पुखराज की माला कहाँ से आ गई? क्या यमुनातट पर स्नान करते समय किसी अन्य की माला से बदल तो नहीं गई?

उस बेचारी मुग्धा नायिका को क्या पता कि शरीर की पीताभ छाया कारण के गजमुक्ताओं की श्वेत माला का रंग कुछ इस प्रकार बदल गया है कि उससे पुष्पराग मणियों की माला की प्राति होती है। यहाँपर वर्णपरिवर्तन के सहारे नायिका के सौंदर्य की जो व्यंजना की गई है वह अतिशय मनोरम और हृदयग्राही है।

बिहारी के उपर्युक्त दोहे में कोई द्वितीयायक से नायिका की प्रेमानुभूति का चित्र खींचकर नायक के मन की ललक को और भी अधिक बड़ा देने का उपक्रम कर रही है। मतिराम के दोहे में नायिका को विशेष परिस्थिति में डालकर उसे छुईमुई होती हुई दिखाने का अभिप्राय उसके प्रति नायक के आकर्षण को और भी तीव्र बना देना है। बेनी प्रवीन का वर्णपरिवर्तन द्वारा नायिका के सौंदर्यअंकन का उद्देश्य उससे भिन्न नहीं है। चाहे अनुरूप वर्णयोजना हो चाहे प्रतिरूप वर्णयोजना, सबकी सब वर्णयोजनाओं द्वारा मुख्य रूप से नायिका के सौंदर्य को आकर्षणमूलक और उन्मादक बनाने का प्रयास किया गया है। कवि के चेतन मन का निर्माण उसकी समसामयिक परिस्थितियों द्वारा होता है। सामंतीय वातावरण में इसी तरह के रूपलावण्य और वैभवसमन्वित नायिका के वर्णन की आवश्यकता थी।

(ए) उपलक्षित चित्रयोजना (अप्रस्तुत विधान और चित्रयोजना)—अप्रस्तुत या उपमान द्वारा कवि एक ऐसा भव्य चित्र उपस्थित करता है जो प्रस्तुत या उपमेय का रूप खड़ा करने में पूर्ण समर्थ होता है। अधिकांश अलंकारों का आधार उपमान या सादृश्य होता है। इसलिये उपमालंकार को अलंकारिकों ने अलंकारविवेचन में प्रथम स्थान दिया है। अप्पय दीक्षित ने चित्रमीमांसा में लिखा है कि काव्य के रगमच पर विविध प्रकार के नृत्य आदि से सहृदयों का रजन करनेवाली केवल यही एक अभिनेत्री है^१। इसके बाद उन्होंने ऐसे चौबीस अलंकारों के नाम लिए हैं जो मूलतः उपमा ही हैं। उपमा की यह व्याप्ति उपमेय तथा उपमान के सादृश्य पर ही निर्भर है।

१. उपमेका शैलूषी संप्राप्त चित्रभूमिका भेदान् ।

रजयती काव्यरगे नृत्यन्ती तद्विदा चेत ॥

—चित्रमीमांसा, निर्णयसागर, पृ० ५

पश्चिम में उपमा को काव्योत्कर्ष में उतना विधायक नहीं माना जाता जितना रूपक को। अरस्तू ने रूपक को कविप्रतिभा की कसौटी माना है, क्योंकि अदृश्य वस्तुओं में सादृश्य की योजना प्रातिभ ज्ञान (इन्ट्यूशन) पर ही निर्भर है^१। मिडिल्टन मरी,^२ हर्बर्ट रीड आदि पाश्चात्य विचारकों ने काव्य के उत्कर्ष में रूपक को बहुत महत्वपूर्ण उपकरण बतलाया है। रीड का कहना है कि उपमा, जिसमें दो वस्तुओं में सादृश्यप्रयोजना की जाती है, साहित्यिक अभिव्यक्ति की प्राथमिक अवस्था की द्योतक है^३। किंतु विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय और पश्चिमी मत परस्पर विरोधी न होकर अपने अपने स्थान पर औचित्यपूर्ण हैं। अपने-अपने की चित्रयोजना में कहीं उपमा अधिक समर्थ प्रतीत होती है तो कहीं रूपक। उपमा का एक उदाहरण लीजिए—चंद्रमुखी न हिले न डुले निरबात निवास में दीपसिखा सी। इस स्थान पर अनुकूल भावाभिव्यक्ति के लिये उपमा का सहारा ही अपेक्षित है, इस तरह का चित्र खड़ा करने में रूपक अक्षम सिद्ध होगा। दूसरा उदाहरण ‘रूपक’ का देखिए—दृग खजन गहि लै गयो, चितवन चेपु लगाय। अथवा मानस का प्रसिद्ध रूपक देखिए—‘ढाहत भूपरूप तरमूला। चली बिपतिबारिधि अनुकूला’। इन दोनों भावपूर्ण चित्रों का उपमा इतने सफलतापूर्वक नहीं उपस्थित कर सकती।

उपमा और रूपक में उपमान का जो विधान किया जाता है उसके मुख्य प्रयोजन पर भी विचार कर लेना चाहिए। क्या इसको केवल स्वरूपबोध के लिये ही ले आया जाता है? ऐसा होने पर इसका महत्व केवल चाक्षुष् चित्र (विजुअल इमेजरी) तक ही सीमित हो जायगा। किंतु चाक्षुष् चित्र का सृजन इसका गौण प्रयोजन है। मुख्य रूप से उपमानों की सृष्टि भावों को तीव्र करने के लिये तथा एक वातावरण उत्पन्न करने के लिये की जाती है। ‘निरबात निवास में दीपसिखा सी’ हमारे मन में नायिका की खिन्न और उदास मन स्थिति का एक भावपूर्ण चित्र ही नहीं उपस्थित करता है बल्कि एक अवसादपूर्ण सन्नाटे का वातावरण भी अंकित करता है। रूपक के उदाहरण से भी यही बात सिद्ध होती है। बिपत्ति का समुद्र नहीं होता, लेकिन इससे बिपत्ति की अनतता और भयकरता का वातावरण तो उपस्थित हो ही जाता है। इस वातावरण का प्रयोजन भी भावों को तीव्र करना ही है।

ये उपमान रूढ़ अलंकारों के अग होने की अपेक्षा कहीं अधिक आंतरिक महत्व रखते हैं। कवि व्यक्तिगत ढंग से किसी विषयवस्तु को किस रूप में देखता है, इसकी सूचना उपमानों के चुनाव से मिलती है। परंपराभुक्त उपमानों के अतिरिक्त कवि ऐसे उपमानों का उपयोग भी करता है, जिससे उसकी रचि, वातावरण और देशकाल आदि का संकेत मिलता है। लेकिन उपमानों के चुनाव में सामान्यतः उसे सचेत नहीं रहना पड़ता है। ये तो उसकी अतश्चेतना से स्वतः उद्भूत होते हैं। इस चित्रयोजना का सबंध कवि की संपूर्ण बोधवृत्ति और भावपरिधि से स्थापित किया जाना चाहिए। उसकी बोधवृत्ति और भावपरिधि का निर्माण विशेष संस्कार, समाज और वैयक्तिक रचि के द्वारा होता है। एक ही विषय पर काव्यरचना करनेवाले दो कवियों की चित्रयोजना कुछ अंशों में समान होने पर भी अनेक अंशों में भिन्न होती है। एक कवि भिन्न भिन्न चित्र उपस्थित करने के लिये अपने कुछ प्रिय उपमानों को बार बार ले आता है, दूसरा कवि अपने-दूसरे

१. अरिस्टोटल पोएटिक्स, भाग २२, पृ० १६-१७
२. द प्रान्सेम. आर्व् स्टाइल, पृ० १२, ८२, ११४
३. इंग्लिश प्रोजे स्ट्वाइल, पृ० २८

प्रिय उपमानो का प्रयोग अधिक सख्या में करता है । दो कवियों के रुचिभेद को समझने के लिये इनके द्वारा प्रयुक्त उपमानो का अध्ययन एक उत्तम साधन है ।

रीतिकालीन कवियों ने नायिका के स्थूल अंगों के लिये रूढ उपमानो का प्रयोग किया है उनका विस्तृत उल्लेख यहाँपर अप्रासंगिक होगा । यहाँपर इस काल के कुछ प्रतिनिधि कवियों के अप्रस्तुतो की तालिका उपस्थित कर उसके आधार पर उनके चित्रों की भावनिरूपण क्षमता तथा प्रेम सबंधी दृष्टिकोण का विश्लेषण किया जायगा ।

अपनी चित्रयोजना के लिये कवि कई क्षेत्रों से अप्रस्तुतो को ग्रहण करता है । मुख्यतः उसके अप्रस्तुतो के चुनाव के पाँच क्षेत्र हैं

१—तत्कालीन वातावरण, २—प्रकृति, ३—पशुपक्षी, ४—शास्त्रज्ञान और ५—घरेलू जीवन । अब आइए यह देखें कि रीतिकाल के कुछ प्रमुख कवियों ने किस क्षेत्र से क्या ग्रहण किया है । पहले बिहारी को ही लें ।

तत्कालीन वातावरण और जीवन से :

| प्रस्तुत | अप्रस्तुत | ग्रंथ और छंदसंख्या |
|--------------|----------------------|--------------------|
| आँख | सुभट | वि० बो० ६८ |
| | किबलनुमा | " ६१ |
| | दलाल | " १६६ |
| रूप | फानस के भीतर का दीपक | " १५० |
| हँसी | फाँसी | " ६६ |
| देह | सुंदर देश | " १७५ |
| नायिका | राजा | " " |
| सुरति | रंग | " ३४० |
| दूती | मेहराब का भराव | " ३०७ |
| नागरितन | मुल्क | " ३२ |
| यौवन | शासक | " " |
| पुतली | पातुरराय | " ६३ |
| प्रेम | चौगान | " ३५० |
| काम | मीना | " १०४ |
| लज्जा | लगाम | " २४७ |
| आँसू | कौड़ा | " ५२२ |
| बरुनी | जजीर | |
| नेत्र | फकीर | |
| रूप | ठग | " ६६ |
| प्रकृति से— | | |
| प्रेम | सरिता | " २१५ |
| प्रेम | पेड़ | " २१६ |
| पशुपक्षी से— | | |
| आँख | तुरग | " ७४ |
| चित्त | " | " ३५० |
| मन | मृग | " १२७ |
| " | मस्त हाथी | " ३८२ |
| " | गौरा पक्षी | " ७३ |

| | | |
|---------------------------------|----------|------------|
| तरुण | मृग | बि० बो० ६४ |
| नायिका | नागिन | " २५१ |
| शास्त्रज्ञान (ज्योतिष) — | | |
| किशोरावस्था | सूर्य | " २५ |
| तिय | तिथि | " " |
| वय सधि | सक्राति | " " |
| कज्जल | शनि | " " |
| चख भख | लगन | " २५ |
| स्नेह | सुदिन | " " |
| विंदु | मंगल | " " |
| मुख | शशि | " " |
| गुरु | केसरि आड | " " |
| सौंदर्य | चूरन | " २३० |

घरेलू जीवन से—

| | | |
|----------------|--------------|-------|
| छवि (अगद्युति) | बरसा | " १४३ |
| " | गुड की डलिया | " १८७ |
| हृदय | हिडोल | " २०५ |

अब विविध क्षेत्रों से लिए गए 'देव' के कुछ अप्रस्तुत देखिए—

तत्कालीन वातावरण और जीवन से—

| | | |
|--------|------------|--------------|
| आँख | दलाल | सु० तरंग ११८ |
| वय सधि | चतुरंग चमू | " १८ |

प्रकृति से—

| | | |
|--------|-----------|-------|
| अश्रु | सावन भादो | " १६५ |
| रूप | सिंधु | " ४३४ |
| नायिका | मजरी | " ५८२ |

पशुपक्षी जगत से—

| | | |
|--------|---------------|-----------------|
| आँखे | मतवारे मतग | " २३८ |
| " | तुरी | " ३६० |
| " | तीखा तुरग | सु० वि० १८ |
| " | मधुमक्खी | " " |
| मन | जाल का मीन | प्रे० च० पृ० २० |
| रूप | कल्पवृक्ष | सु० ते० छ० ३६३ |
| नायिका | पिजरा की चिरी | " ५३६ |
| " | सोनचिरी | " ३०५ |
| प्रीति | पतंग | " ६०३ |

घरेलू जीवन से—

| | | |
|---------|----------------------|---------------|
| मन | घी (काम धूप है) | सु० त० छ० २४८ |
| " | माखन | " २६० |
| " | मोम | " ३८१ |
| नायिका | फिरकी | " ५३६ |
| वय संधि | मधु + दधि + दूध + ऊख | " ३६३ |
| वैभवन | दूध | " २६० |

इन दोनों कवियों के अप्रस्तुतों की सूची से स्पष्ट पता लग जाता है कि इनका भुकाव किस तरह के चित्रों की ओर है। स्मृति अतीत की घटनाओं का मालगोदाम नहीं, बल्कि चुनाव करने का यत्न है। यह स्मृतियत्न अपनी मनोवृत्तियों के अनुकूल दृश्यों और वस्तुओं का चयन और सुरक्षा करता है।

एक कवि की स्मृतिसीमा में प्रायः एक ही तरह के अप्रस्तुत घूम फिरकर आते हैं। बिहारी के अधिकांश अप्रस्तुत दरबारी वातावरण तथा पुस्तकों से संगृहीत किए गए हैं। देव ने अपने अप्रस्तुतों को प्रधान रूप से पशुपक्षी जगत् तथा घरेलू जीवन से लिया है। पशुपक्षी जगत् से बिहारी ने तुरग, मृग, कुही, मस्त हाथी, नागिन आदि को अप्रस्तुत के रूप में लिया है जबकि देव की दृष्टि मधुमक्खी, जाल के मीन, पतंग, सोनचिरी, लाल-मुनिया आदि की ओर गई है। चित्र की योजना में इन अप्रस्तुतों का प्रतीकात्मक अर्थ भी होता है जो कवि के दृष्टिकोण का प्रकाशन करता है। मन के लिये मृग कहने में उनका तात्पर्य यह है कि यह मृग की भाँति ही भोलाभाला है और सहज में ही बिँध जाता है। तुरग से उसकी चंचलता, मस्त हाथी से उसका मनमानापन और गौरा पक्षी से आँखें रूपी 'कुही' द्वारा मर्मांतक पीड़ा पाना द्योतक होता है। रूप से सहज में बिँध जाना तथा किसी की सुंदर आँखों की गहरी चोट खा जाना सामंतीय मन की विशेषताएँ हैं। अनिश्चित ढंग से मनमानी करना स्वच्छंद सामंतों का दैनंदिन व्यापार है। इससे प्रेम की नहीं, वासना और मुक्त बिहार के अतिरेक की गंध आती है। देव का मन जाल का मीन है। इसमें प्रेमजन्य तडप और बिह्वलता है। बिहारी की नायिका नागिन सी डस लेनेवाली है, तो देव की नायिका 'पिजरा की चिरी' है। बिहारी की नायिका के रूप का जो प्रभाव नायक पर पड़ा है और जिस ढंग से वह उसकी अभिव्यक्ति करता है वह उसकी रूपासक्ति और शारीरिक भूख को प्रकट करता है। लेकिन 'पिजरा की चिरी' प्रेमजन्य पीड़ा, वेदना, तडफडाहट, व्याकुलता आदि मानसिक स्थितियों को एक साथ ही अभिव्यक्ति करने में पूर्ण समर्थ है।

अब जरा घरेलू जीवन से संगृहीत अप्रस्तुतों की मार्मिकता और अमार्मिकता पर भी विचार कर लेना चाहिए। बिहारी को घरेलू जीवन के अप्रस्तुतों के लिये गुड की डलिया और बरमा ही मिले। ये दोनों अप्रस्तुत छवि के लिये आए हैं। इन अप्रस्तुतों से न तो रूप की तरलता आदि का स्वरूप खड़ा हो पाता है और न भाव को तीव्र ही बनाया जा सका है। लेकिन द्रष्टा और स्रष्टा की रूपपोषित मनोवृत्ति छिप नहीं सकती है, फारस और ईरान की आशिकी प्रवृत्ति को भारतीय लिबास पहनाने का प्रयत्न भी अप्रकट नहीं रह सका है।

घरेलू अप्रस्तुतों में देव ने मन के लिये घी, माखन, मोम आदि लाकर मन की द्रवणशीलता की ओर सकेत किया है। किसी के देखने, सभाषण करने आदि से मन का द्रवीभूत होना ही तो स्नेह है। दलाल, चतुरगिरी सेना आदि की ओर इनकी दृष्टि न गई हो, ऐसी बात नहीं है, लेकिन उनमें इस तरह के अप्रस्तुतों की संख्या कम है। बिहारी के ज्योतिषशास्त्रीय अप्रस्तुत कोई चित्र उपस्थित नहीं करते, हाँ, एक नया चमत्कार अवश्य खड़ा करते हैं। देव का मन इस तरह के अप्रस्तुतों में नहीं रम सका है। मतिराम और पद्माकर में भी इस तरह के चित्रों की कमी है। पर मतिराम के दोहों में जो अप्रस्तुत आए हैं उन्हें बिहारी की पुनरावृत्ति से अधिक नहीं समझना चाहिए।

धनभ्रान्त में अप्रस्तुतों की संख्या उतनी अधिक नहीं मिलेगी किंतु उनसे उनकी प्रेम सबंधी मनोवृत्ति का पता लग जाता है। पक्षियों में बार बार चातक और चकोर को याद किया गया है। ये विधोग, एकनिष्ठता और तन्मयता के प्रतीक हैं। विधोग के लिये

अक्षयवट और जीव के लिये गुडी का प्रयोग वियोग का अमरत्व और जीव की अस्थिरता सूचित करते हैं। यद्यपि घनग्रानद भी 'नैनमुभट' और 'प्रेमरणाक्षेत्र' से अपरिचित नहीं हैं, फिर भी इस रणाभूमि में सुभट नेत्रों के युद्ध सबधी दृश्यों को बहुत कम दिखलाया गया है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि :

१—सामान्यतः अपने भोगमूलक दृष्टिकोण के कारण अप्रस्तुतों के चुनाव में कवियों की दृष्टि रूप और प्रेम की उद्दीप्त करनेवाले अप्रस्तुतों पर विशेष रही है। मानसिक पक्ष को उभाड़कर सामने रखनेवाले अप्रस्तुतों की प्रायः उपेक्षा हो गई है।

२—अप्रस्तुतों को प्रधानतः तीन क्षेत्रों से चुना गया है—सामंतीय वातावरण तथा जीवन, पुस्तकों और घरेलू जीवन तथा प्रकृति से। सामंतीय वातावरण तथा जीवन से गृहीत अप्रस्तुत रूप के प्रति विज्ञासात्मक आसक्ति के द्योतक है। पुस्तकीय अप्रस्तुत तो बिब खड़ा करने में नितात असमर्थ है। बिहारी ने ऐसे अप्रस्तुतों को अधिक सख्या में ग्रहण किया है। देव के अप्रस्तुत अधिकतर घरेलू जीवन से लिए गए हैं जो मन की द्रवण-शीलता के द्योतक हैं। पशुपक्षियों के रूप में गृहीत अप्रस्तुत नायिका की सयोगवियोगजन्य मानसिक दशाओं को प्रकट करते हैं। प्रेम के मानसिक पक्ष के उद्घाटन में उनकी वृत्ति अधिक रमी है। मतिराम और पद्माकर की स्थिति इन दोनों की मध्यवर्तिनी है। वे सामान्यतः अप्रस्तुतों के फेर में अधिक नहीं पड़े हैं।

(५) अलंकारयोजना—काव्यरूपों की विवेचना करते समय इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि काव्यरूप, भावानुभूति और अभिव्यजना में कोई पार्थक्य नहीं है। भामह और वामन आदि अलंकारिकों ने सूत्र रूप में इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। अलंकारों को अभिव्यजना से पृथक् नहीं माना जा सकता। भामह ने अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को स्वीकार कर एक प्रकार से अलंकार को अभिव्यक्ति का अपरिहार्य अंग मान लिया है। काव्यसर्जना के सघन क्षणों में कवि की अभिव्यक्ति में असाधारणता आ जाती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उसकी अभिव्यक्तियाँ वक्रोक्तिपूर्ण हो जाती हैं। वामन ने तो कुछ और आगे बढ़कर अलंकारों को सौंदर्य का समानार्थी मान लिया है—सौंदर्यमलंकार। वामन का यह कथन पश्चिम में सौंदर्यशास्त्रियों के उस मत के समकक्ष रखा जा सकता है जिसमें भावानुभूति और अभिव्यक्ति में एकरूपता स्थापित की गई है।

किंतु आगे चलकर अलंकारों को काव्य का शोभाकर धर्म मान लिया गया और अलंकारिकों ने अलंकार और अलंकार्य के बीच सुस्पष्ट विभाजक रेखा खींच दी। अब अलंकार भावानुभूति को तीव्रतर बनानेवाला तथा वस्तु के रूप, गुण, व्यापार आदि को उत्कर्ष प्रदान करनेवाला माना गया। इसका एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि कुछ लोगों ने स्वयं अलंकार को साध्य मान लिया। इसके फलस्वरूप काव्य का आंतरिक पक्ष दुर्बल पड़ गया।

काव्य को शोभाकर अथवा काव्यगत भावानुभूति और वस्तु को तीव्रतर तथा भावप्रवण बनाने के लिये कवि जीवन और जगत् के विविध क्षेत्रों से अप्रस्तुतों का चुनाव करते हैं। कवि का अनुभव जितना व्यापक और परिज्ञान जितना गहरा होता है। उसका अप्रस्तुत भी प्रस्तुत को उतना ही प्रभावोत्पादक और मर्मस्पर्शी बना पाता है। यह अप्रस्तुत योजना मुख्यतः सादृश्य पर आधारित है। यह सादृश्य प्रधानतः तीन प्रकार का होता है—रूपसादृश्य, धर्मसादृश्य और प्रभावसादृश्य।

(अ) रूपसादृश्य—प्रस्तुत की रूपानुभूति को तीव्रतर बनाने की दृष्टि से जिन सादृश्यमूलक अप्रस्तुतों की योजना की जाती है वे आकार में प्रायः प्रस्तुत के अनुरूप होते हैं। लेकिन उनका मुख्य कार्य होता है प्रस्तुत के आकार का भावात्मक बोध कराना। जहाँ अप्रस्तुत भावात्मक बोध कराने में अक्षम प्रतीत होते हैं वहाँ उनकी सारी सार्थकता व्यर्थ सिद्ध होती है।

रीतिकवियों के रूपवर्णन—मुख्यतः नखशिखवर्णन—रूढिबद्ध और अव्यक्तिक है। उन्होंने प्रायः संस्कृत के लक्षणग्रंथों में निर्धारित प्रत्येक अंग के उपमानों को ही ग्रहण किया है। इस प्रकार के पिष्टमेषित उपमान सौंदर्यानुभूति जागरित करने में सर्वथा असमर्थ हैं। आँखों के लिये कुछ रूढ उपमानों का प्रयोग देखिए

(१) हरिनी के नैनान ते, हरि नीके ये नैन।

—बिहारी

(२) खजरीट, कंज, मीन, मृगन के नैनन की

छीन छीन लेहि छबि ऐसी तैं लड़ाई है।

—मतिराम

(३) हिरन चकोर, मीन, चंचरीक, मैनवान,

खंजन, कुमुद, कंजपुंज न तुलत हैं

—देव

(४) खंजन के प्रान, पिय विरह तिमिर पान

मीनन के मान, धनवान मनमथ के।

—श्रीपति

इन परंपराप्राप्त उपमानों के एकत्रीकरण से न तो आँखों की रूपानुभूति ही तीव्र हो पाती है और न उनके प्रति किसी प्रकार का भावोद्वेलन ही हो पाता है। कटि के लिये कैशव ने 'कटि जथा भूत की मिठाई', जैसो साधु की भुठाई, जैसी स्थार की ढिठाई, ऐसी छीन छहरतु है' लिखा तो देव ने बहुत कुछ उसी को दुहराते हुए 'जानि न परत अति सूक्ष्म ज्यो देवमलि, भूत की चाल कीधौ कला है कोटि नट की' लिख मारा।

जहाँ इन्हें मृग, मीन, खजन के रूढ उपमानों से छुट्टी मिली है वहाँपर इन्होंने भावोत्तेजक अप्रस्तुत योजना प्रस्तुत की है।

(१) पानिप विमल की झलक झलकन लागी

काई सी गई है निकल लरिकाई अंग ते।

—मतिराम

(२) डगर डगर बगरावति अगर अंग,

जगर मगर आपु आवति दिवारी सी।

—देव

(३) सीरे उपचारन घनेरे घनसारन सो,

देखत ही देखौ दामिनी लौ डुरि जायगी।

—पद्माकर

प्रथम उदाहरण में ज्ञातयौवना नायिका के आगत रूपलावण्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। लडकपन के बीत जाने पर यौवन के पानिप का आगमन होता है। इसे स्पष्ट करने के लिये काई के हटने पर जो स्वच्छ जल प्रकट होता है उसे अप्रस्तुत के रूप में ग्रहण किया गया है। यह अप्रस्तुत न तो असाधारण है और न चमत्कृत करनेवाला, इससे प्रायः सभी परिचित है। काई के हटने जाने पर पानी का सौंदर्य अपने प्रकृत रूप में

ही आता है किंतु वह हमारी आँखों को अत्यंत मनोरम, आकर्षक और ताजगी से भरा हुआ लगता है, क्योंकि कोई से बिल्कुल अलग करके उसे हम नहीं देख पाते। इस अप्रस्तुत द्वारा ज्ञातयौवना नायिका का लावण्यमय व्यक्तित्व उभर आता है। 'पानिप' शब्द उस रूप (आगत रूपानुभूति) को तीव्रतर बना देता है।

देव ने नायिका के लिये 'दिवारी' अप्रस्तुत की योजना करके हमारे समुख एक अत्यंत नयनाभिराम चित्र प्रस्तुत किया है—दीपमालिका की जगमगाहट नायिका की रूपच्छटा को अतिशय भावप्रवण बना देती है। नायिका मणिमणिमय जबे हुए आभूषणों से अलंकृत है। इन आभूषणों की चमक उसकी तनद्युति से मिलकर इस तरह शोभायमान हो रही है मानो दीपावली जगमगा रही हो। पर यह दीपावली की जड़ शोभा नहीं है—चलती हुई नायिका स्वयं गतिशील दीपमालिका बन गई है।

बेनी प्रवीन का दूसरा उदाहरण लीजिए

एक ही दिशा में जलधर सी उमड़ आई,
जोबन की उमंग अवाई सुनि कत की।

इस रूपसादृश्य के साथ साथ धर्मसादृश्य भी है। आषाढ के बादलो की उमड़न घुमड़न, उनके लघु दोर्घ आकारों को दौड़धूप, यौवनजन्य लालसा भरे सौंदर्य तथा उसकी उमंगों को मूर्त करने में कितने समर्थ है।

पद्माकर ने पुराने उपमान 'दामिन' का प्रयोग किया है। पर जिस प्रसंग में यह प्रयुक्त हुआ है उसमें यह शक्तिकता का भावात्मक रूप खड़ा करने में पूर्णतः समर्थ है।

(आ) धर्मसादृश्य—रूपसादृश्य की अपेक्षा धर्मसादृश्य सूक्ष्मतर विधान है। इसके द्वारा प्रस्तुत के गुरुधर्म की अनुभूति को तीव्रतर बनाया जाता है। आधुनिक कवियों ने रूपसादृश्य की अपेक्षा धर्मसादृश्य का अधिक ध्यान रखा है। साधर्म्यमूलक अप्रस्तुतों में प्रायः लक्षणा शक्ति का चमत्कार निहित रहता है और आधुनिक काव्यों में लक्षणा का प्रयोग बाहुल्य स्वभावतः साधर्म्यमूलक अप्रस्तुतों को समाविष्ट कर लेता है।

रीतिबद्ध कवियों में इस तरह के अप्रस्तुतों की साधारणतः कमी ही दिखाई देती है। रीतिमुक्त कवि घनानंद में अवश्य साधर्म्यमूलक अप्रस्तुतों की भरमार है, क्योंकि उनकी रचनाओं में लाक्षणिक प्रयोगों की बहुलता है। रीतिबद्ध कवियों में देव ही ऐसे कवि दिखाई पड़ते हैं जिन्होंने इस तरह के अप्रस्तुतों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग किया है।

इस सबंध में ध्यान देने की बात यह है कि यदि आलबन को परिस्थिति विशेष में डालकर उसकी मानसिक प्रतिक्रियाओं को स्पष्ट करने तथा उन्हें भावप्रवण बनाने के लिये अप्रस्तुतों की योजना की जायगी तो वे अधिक भावोद्रेकपूर्ण बन सकेंगे। प्रस्तुत के सामान्य धर्मबोध के लिये जो उपमान प्रयुक्त होंगे वे न तो उतने व्यक्त होंगे और न प्रभावपूर्ण। इस सबंध में 'देव' का ही एक उदाहरण देखिए

माखन सो तन दूध सो जोबन।

माखन अप्रस्तुत शरीर के कोमलता धर्म का बोध मात्र कराता है और यह बोध भावपरक भी नहीं बन पाया है। यदि 'माखन सो तन' के स्थान पर 'माखन सो मन' होता तो मन के धर्म की भावात्मक अनुभूति का मूर्तीकरण संभव हो पाता। 'दूध' अप्रस्तुत तो 'जोबन' के धर्मगुण के स्पष्टीकरण में नितान्त असमर्थ है।

देव का ही एक दूसरा उदाहरण देखिए जो अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली बन पड़ा है।

पारे ही के मोती किधौ प्यारी कै सिथिल गात,
ज्यों ही ज्यो बटोरियत त्यो त्यो बिथुरत है ।

प्राणयमान की मानसिक अवस्था में होने के कारण नायिका कृत्रिम शैथिल्य का अनुभव करती हुई प्रतीत होती है । यहाँपर नायिका को एक विशेष परिस्थिति में डालकर उसकी मानसिक प्रतिक्रिया स्पष्ट की गई है । नायिका के बिथुरते हुए शरीर की अनुभूति को स्पष्ट करने के लिये पारे के मोती का अप्रस्तुत ले आया गया है । स्पर्श मात्र से पारे के बिखरने का व्यापार नायिका की शिथिलता को मूर्त बना देता है ।

इसी प्रकार धर्मसादृश्य के आधार पर मतिराम ने गुरुजनो के बीच पड़ी हुई नवोढा नायिका के सकोच का बहुत मार्मिक चित्र खींचा है

ज्यो ज्यो परसै लाल तन, त्यो त्यो राखे गोय ।
नवल बधू डर लाज ते, इद्रबधू सी होय ॥

यहाँपर डर और लज्जा के द्वंद्व में पड़ी हुई नववधू के लिये 'इद्रबधू' अप्रस्तुत ले आया गया है । शालीनता नारी की आवश्यक (आरगैतिक) विशेषता है । नवागत बहू का प्रिय के स्पर्श मात्र से सकुचित हो जाना स्वाभाविक है । इस व्यापार को अनुभूतिमय बनाने के लिये 'इद्रबधू' को प्रस्तुत किया गया है । इद्रबधू को जहाँ स्पर्श किया कि वह छुईमुई हुई । दोनों के छुईमुई हो जाने में जो स्पर्शसाम्य ले आया गया है वह इस चित्र को काफी भावात्मक और उद्वेकपूर्ण बना देता है ।

हरख मरुधरनि को नीर भौ री,
जियरो मदन तीर गन को तुनीर भौ ।

—दास

इसमें हृदय के हर्ष और मरुधरणी के नीर में कोई रूपसाम्य नहीं है । मरु का धर्म जल को सोख जाना है । इस अप्रस्तुत के द्वारा हृदय के हर्ष के विलीन होने के व्यापार को प्रत्यक्ष किया गया है । इस अप्रस्तुत के अछूतेपन के कारण प्रस्तुत का मूर्त रूप और भी प्रभावोत्पादक हो गया है ।

(इ) प्रभावसादृश्य—प्रभावसादृश्य साधर्म्य की अपेक्षा भी सूक्ष्मतर अप्रस्तुत योजना है । रीतिबद्ध कवियों में इस तरह के अप्रस्तुतों की योजना और भी विरल है । इसका प्रयोग आलबन के प्रभाव को स्पष्ट और अनुभूतिमय बनाने के लिये किया जाता है । रीतिबद्ध कवियों में सर्वाधिक सवेदनशील होने के कारण देव ने इस तरह के अप्रस्तुतों का प्रयोग औरों की अपेक्षा अधिक किया है ।

ये अँखियाँ सखि आनि तिहारियँ जाय मिलीं जलबूँद ज्यो कूप में ।
कोटि उपाय न पाइए फेरि समाइ गई रँगराहू के रूप में ।

आँखों के श्रीकृष्ण के रूप में समा जाने तथा कूप में जलविंदु के मिलने में न तो रूपसादृश्य है और न विशेष धर्मसादृश्य ही । पर जलविंदु के कूपजल में समाहित हो जाने तथा आँखों के रूप में लय हो जाने में गहरा प्रभावसाम्य है । प्रभावसादृश्य के आधार पर लयमान होने के व्यापार का मूर्त प्रत्यक्षीकरण सहजसंभव है ।—

दास का एक दूसरा उदाहरण देखिए

दास न जानत कोऊ कहूँ तन में मन में छबि मे बस जाती ।

प्यारे की तारे कसौटिन में अपनी छबि कंचन की कसि जाती ॥

आँखों के श्याम तारों में बसी हुई नायिका की स्वरूप छवि के लिये कसौटी पर

कसे हुए सोने की पीतम्बरी लीक में स्थूलत रूपसादृश्य है पर लक्षणा के सहारे किसी की आँखों में छवि की रेखा खिच जाने का तात्पर्य है उसकी संपूर्ण चेतना का किसी की रूप-छटा से अभिभूत होना ।

पर, जैसा पहले कहा जा चुका है, अपनी सीमाओं और विशिष्ट शैली के कारण इस तरह के अप्रस्तुतों की प्रायः कमी मिलेगी ।

(ई) सभावनामूलक अप्रस्तुत योजना—कुछ सादृश्यमूलक अप्रस्तुत ऐसे भी होते हैं जो सभावनाओं पर आश्रित होते हैं । उत्प्रेक्षा ऐसा ही अलंकार है । 'प्रकृतस्य परात्मना सभावना उत्प्रेक्षा' अर्थात् उपमेय का उपमान रूप में सभावना उत्प्रेक्षा है । इसमें प्रकृत या उपमेय (प्रस्तुत) उतना प्रधान नहीं होता जितना उपमान या अप्रस्तुत होता है । प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का पार्थक्य बना रहता है, किंतु किसी न किसी कारण से दोनों में अभिन्नता स्थापित की जाती है ।

उन सादृश्यमूलक अलंकारों की अपेक्षा, जिनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है, रीति-काव्यों में उत्प्रेक्षा के लिये काफी अवकाश दिखाई पड़ता है । इसका कारण यह है कि इसमें कल्पना की उड़ान और चमत्कारप्रदर्शन की छूट रहती है । अद्भुत और चमत्कार के प्रति विशेष प्रेम के होने के कारण रीतिबद्ध कवियों ने इसका प्रचुर प्रयोग किया है ।

अन्य अलंकारों की भांति उत्प्रेक्षा में भी अप्रस्तुत जितना ही अधिक लोकानुभूति और लोककल्पना की सीमा में रहेगा वह उतना ही अधिक काव्यसौंदर्य की सर्जना में समर्थ हो सकेगा । पर बहुज्ञताप्रदर्शन और चमत्कारसर्जना के फेर में पड़कर प्रायः सभी कवियों ने किताबी अप्रस्तुतों का भी प्रयोग किया है । ऐसे अप्रस्तुत न तो रूपानुभूति में सक्षम होते हैं और न विषयों के धर्म और प्रभाव के समूर्तन में । इस तरह के अप्रस्तुतों के कुछ उदाहरण देखिए

(१) तिय सुख लखि हीराजरी, बेदी बड़े विनोद ।

सुत सनेह मानौं लियौ, बिधु पुरन बधु गोद ॥

—बिहारी

(२) भौहन मध्य केसरि बंदन लीक सुबेर पुरानो ,
भू पर ते नभ ऊँ शिरा शर मैं तनू पर तानो ।

—देव

(३) सारी महीन यो लीन बिलोकि बिचारत हैं कवि के अरुनी पै ,
सोदर जानि ससीरि सुत सग लिए मनो सिधु मै सीपै ॥

—दास

(४) बदन डिठौना दै दुरायें मुख घँघट में,
झीन स्याम सारी त्यों किनारी चहूँ फेर में ।

भूमिसुत भानुसुत जुत सोमभान मानौं
झलकै मयंक घनदामिनी के घेर में ।

—बेनीप्रवीन

इन अप्रस्तुतों से कवियों की सूझबूझ और दूर की कौड़ी ले आने की प्रवृत्ति पर दाद दी जा सकती है, पर इनके द्वारा काव्यसौंदर्य बहुत कुछ न्यून हो जाता है । अप्रस्तुत का कार्य प्रस्तुत को स्पष्ट करना तथा उसका भावात्मक रूप खड़ा करना होता है । इस दृष्टि से उपर्युक्त सभी उपमान अत्यंत अशक्त हैं । ये प्रस्तुत को स्पष्ट करने के स्थान पर उसे और भी धुँधला और अचिंतोपम बना देते हैं । पर इस तरह के अप्रस्तुतों की संख्या अधिक नहीं है । इनका उपयोग प्रायः नखशिख के वर्णन में किया गया है ।

उत्प्रेक्षा का प्रयोग अधिकांश में भाव को चमत्कारपूर्ण लालिभ्य प्रदान करने में किया गया है जिससे काव्यसौंदर्य की श्रीवृद्धि हुई है। लोकजीवन की कल्पना और अनुभव की सीमा के भीतर से चुने अप्रस्तुतों द्वारा रूप और भाव की रमणीयता में जो निखार आया है वह द्रष्टव्य है

(१) सोहत ओढे पीत पट स्याम सलोने गात ।
मनो नीलमणि सैल पर आतप परचो प्रभात ।
× × ×
लसत सेत सारी ढक्यौ, तरल तरचौना कान ।
परचौ मनौ सुरसरि सलिल, रबि प्रतिबिंब बिहान ॥ —बिहारी

(२) नील नलिन दल सेज मै, परी सुतनु तनु देह ।
लसै कसौटी में मनो, तनक कनक की रेह ।
× × ×
सारी सुही 'मतिराम' लसै मुख संग किनारी की यौ छबि छाजै ।
पूरनचंद पियूष मयूष मनो परवेश की रेख बिराजै ॥ —मतिराम

(३) हार मानि प्यारी विपरीत के विहार लगी,
सिथिल सरीर रही साँवरे के तन पर ।
मानहु सकेलि केलि केतिको कला की करि,
थाकी है चलाकी चचला की छोर घन पर ॥

—पद्माकर

बिहारी के पहले दोहे में अप्रस्तुत कविकल्पित है। लेकिन यह कल्पना ऐसी नहीं है कि उसका मानस प्रत्यक्षीकरण न किया जा सके। नीलमणि का शैल नहीं होता, पर कल्पना के द्वारा नीलमणि शैल पर पड़ती हुई बालारुण की किरणों का जो नयनाभिराम दृश्य उपस्थित होता है वह प्रस्तुत की रूपचेतना को अत्यंत रमणीय बना देता है। उन्हीं के द्वितीय दोहे का अप्रस्तुत सभावित है। श्वेत साडी से ढके हुए स्वर्ण तरौने की भावानुभूति कराने के लिये गगाजल में पड़ते हुए प्रातः कालीन सूर्य के प्रतिबिंब को अप्रस्तुत के रूप में रखा गया है। यद्यपि अति परिचित होने के कारण दूसरा अप्रस्तुत पहले की भाँति भावोद्रेक-क्षमता नहीं रखता, फिर भी श्वेत साडी में झिलमिलाते हुए तरौने का भावात्मक समूर्तन हो जाता है।

मतिराम के भी दो अप्रस्तुत उद्धृत किए गए हैं। ये दोनों सभावित हैं। दोहे में विरहिणी नायिका का वर्णन है। नील कमलदल की शय्या पर लेटी हुई पीतवर्णी तन्वी के लिये कसौटी पर कसी हुई क्षीरा स्वर्णरेखा को अप्रस्तुत के रूप में ले आया गया है। पिटापिटाया अप्रस्तुत होते हुए भी 'तनक' विशेषण के कारण यह बिलकुल ताजा हो गया है। यह 'तनक' उसकी तनुता का बहुत ही सजीव चित्र उपस्थित करता है।

दूसरा अप्रस्तुत प्रकृति के क्षेत्र से ग्रहण किया गया है। अमृतधारी पूर्णिमा के चाँद का ज्योतिर्मय परिवेश कासनी रंग की साडी की प्रदीप्त किनारी से आवृत नायिका के मुखमंडल की गहरी रूपचेतना जागरित करता है। पद्माकर का अप्रस्तुत केलिशल्य नायिका का रूपचित्र खड़ा करने में उतना भावात्मक नहीं बन पाया है जितना उसके क्रीड़ात्मक पंख का रूपचित्र खड़ा करने में।

यह तो रूपचेतना को उभारने और रमणीय बनानेवाले सभावनामूलक अप्रस्तुतों का चित्रण हुआ। भावानुभूति को तीव्रतर बनानेवाली अनेकानेक सभावनाएँ भी रीति-काव्यों में बिखरी पड़ी हैं :

(१) लौनी सलौनी के अंगनि नाह सु, गौने की चूनरि टोने से कीने ।

—मतिराम

(२) यों सुनि ओछे उरोजन पै, अनुराग के अंकुर से उठि आए ।

—देव

(३) मौने मौने सुंदर सलोने पद दास लोने,

मुख कौ चटक ह्वै लगन रागी टोने सी ।

—दास

टोना और अनुराग के अंकुर का रूपचेतना से कोई सबध नहीं है, किंतु वे भावोद्वेलन में अतिशय सशक्त हैं। यहाँ प्रभावसाम्य के आधार पर चूनरी और लगन के प्रभाव-तिशय को स्पष्ट करने के लिये टोना ले आया गया है। उरोजी के रोमहर्ष की अनुराग के अंकुर के रूप में जो सभावना की गई है, वह नायिका के गहरे प्रेम की द्योतक है।

(उ) चमत्कारमूलक अलंकार—काव्यसौंदर्य का विश्लेषण करने पर उसमें कुछ अद्भुत या विस्मय की सहिति भी दिखाई देती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर विस्मय को प्रादुर्भाव किसी नव्यतर या सामान्यतः अपरिचित विषयवस्तु या घटना के कारण होता है। कहा जा सकता है कि जब काव्य की आत्मा रस है तो इस विस्मय और अद्भुत के लिये उसमें कहाँ अवकाश है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि विस्मय और अद्भुत रसपोषक होने पर रसानुभूति को तीव्रतर बनाते हैं। हाँ, स्वयं साध्य हो जाने पर ये काव्य के अतः सौंदर्य को बहुत कुछ विकारग्रस्त बना देते हैं। चमत्कार का अत्यधिक प्रयोग बिहारी ने किया है। इसी लिये उनके चमत्कारिक विधान को देखकर पाठक आश्चर्यचकित होकर दाद देने के लिये बाध्य हो जाते हैं। लेकिन इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि उसकी रसोद्रेक क्षमता बहुत कुछ अग्रिम हो गई है। मतिराम के रसराम में अकाव्योचित चमत्कारप्रियता नहीं दिखाई देती, किंतु दोहावली में बिहारी के प्रभाव से वे अछूते नहीं रह सके। यमक के प्रति देव का आग्रह तो है, पर यह उनकी रचना का प्रधान अलंकार नहीं। पद्माकर में सामान्यतः इस तरह के अलंकारों की योजना कम ही हो पाई है। श्लेषमूलक चमत्कारिक अलंकार वे जरूर ले आए हैं पर चमत्कारमूलक अलंकारों की संख्या उनमें अधिक नहीं है।

पहले चमत्कारमूलक उन अलंकारों को देखिए जो केवल चमत्कारों की सर्जना करते हैं।

(१) अजौं तरचौना हीं रह्यौ, श्रुति सेवत इक रंग ।

नाक बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकतन के संग ॥

—बिहारी

(२) फूली नागरि कमलिनी, उड़ि गए मित्र मलिंद ।

आयो मित्र बिदेस तैं, भयो सु दिन आनंद ॥

—मतिराम

(३) तारे खुले न घिरी बरुणी घन नैन भए दोउ सावन भावौं ॥

—देव

बिहारी का श्लेष स्पष्ट रूप से चमत्कारविधायक है, पर इससे अर्थलालित्य का कोई सबध स्थापित नहीं हो सका है। मतिराम का 'मित्र' भी चमत्कार के लिये ही ले आया गया है। यद्यपि देव के 'तारे' से चमत्कार की ही सृष्टि होती है, तथापि परिस्थिति-निर्माण में योग देने के कारण यह बहुत कुछ सार्थक हो गया है।

अब कुछ उन अलंकारों को लीजिए जो चमत्कार तथा रसानुभूति को समन्वित रूप में अविच्छिन्न करते हैं :

- (१) दृग अरुम्भत, दूटत कुटुम, जुरत चतुर चित्त प्रीति ।
परहि गाँठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति ॥
(असंगति)
- (२) तत्रीनाब कवित्तरस, सरस राग रति रग ।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अग ॥
(विरोधाभास)
- (३) बिगसत नवबल्ली कुसुम, निकसत परिमल पाय ।
परखि प्रजारति बिरह हिय, बरसि रहे की बाय ॥
(बिषम)
- (४) लोचन लोल बिसाल बिलोकनि, को न बिलोकि भयो बस माई ।
बा मुख की मधुराई कहा कहाँ, सीठी लगै अखियान लुनाई ॥
(विभावना)
- (५) सेत सारी ही सौ सब सोहै रंगी स्याम रंग ,
सेत सारी ही सौ स्याम रंगे लाल रंग में ।
(बिषम)—मतिराम
- (६) कातिक की राति पूनो इंदु परगास दूनो,
आसपास पावस अभावस खगी रहै ।
ग्रीषम की ऊषमा, मयूष मान कीनी मुख
देखे सनमुख निसि सिसिर लगी रहै ।
बरसै जुन्हाई सुधा बसुधा सहसधार
कौमुदी न सूखे ज्यो ज्यो जामिनी जगी रहै ।
दोऊ पच्छ उज्ज्वल बिराजे राजहंसी देव,
स्याम रंग रंगी जगमगी उमगी रहै ।
(विरोधाभास)—देव

बिहारी के चमत्कारमूलक अलंकारों में जो सफाई और बारीकी दिखाई देती है वह बेजोड़ है, पर वे सूक्तियों अधिक है रससिक्त काव्य कम । इसके विपरीत मतिराम और देव के वैषम्यमूलक अलंकारों में वैलक्षण्य के साथ साथ भावगाभीर्य का मरिणाचन संयोग हुआ है ।

(ऊ) अतिशयमूलक अलंकार—सभी शोभाकर अलंकारों की भाँति अतिशय-मूलक अलंकार भी भावों को उद्दीप्त कर काव्यसौंदर्य की अभिवृद्धि करते हैं । न्यूनाधिक मात्रा में सब अलंकारों के मूल में अतिशयता तो होती ही है, पर जैसा कहा गया है, इसे उसी सीमा तक ग्रहण कर सकते हैं जिस सीमा तक वह काव्य को सवेद्य बनाती है । अलंकारों के मूल प्रयोजन को न समझने के कारण, दूर की कौड़ी ले आकर चमत्कृत कर देने की स्पृहा ने कवियों को ऊँची उड़ान भरने की छूट सी दे दी । केशव और बिहारी ने इसका खूब उपयोग किया है । बिहारी की कुछ उक्तियाँ देखिए ।

- (१) औंघाई सीसी, सुलखि, बिरह बरति बिललात ।
बिचहीं सूखि गुलाब गौ छोटै छुई न गात ॥
- (२) सीरे जतनन सिसिर ऋतु, सहि बिरहिनि तनताप ।
बसिबो कौ ग्रीषम बिनन परचौ परोसिनि पाप ॥

बिहारी

विरहताप की अतिशयता की जी व्यंजना उपर्युक्त दोहों में की गई है वह बाह्य और वृत्तात्मक है । एक तो यहाँ भावव्यंजना का अभाव है, दूसरे वस्तुव्यंजना को इस

ढंग से उपस्थित किया गया है कि वह बहुत कुछ निष्प्रभ और प्रभावहीन हो गई है। गुलाब के सूख जाने और शिगिर में ग्रीष्म का अनुभव करने की उक्तियाँ परंपराभुक्त और कृत्रिम हैं। जहाँ पर यह अतिशयता हेतु से परिपुष्ट है वहाँ विरहवर्णन भावानुभूति को तीव्रतर बनाता है

कहे जु बचन बियोगिनी, बिरह बिकल बिललाय ।

किए न केहि अँसुवा सहित, सुवा सु बोल सुनाय ?

वियोगिनी के विरहालाप को सुए ने मुन लिया था। वह उसी को पढ़ रहा है। उसकी बोली सुनकर भला किसकी आँखों में आँसू न भर आए ? यहाँ सुआ का बोलना सत्य है, पर उसके हेतु की कल्पना कर ली गई है। इसमें विरहताप के परिमाण की व्यजना न होकर हृदयस्थ भावानुभूति व्यजित हुई है। किंतु इस तरह के विरहवर्णन को अपवाद ही समझना चाहिए।

इस प्रकार की परिमाणात्मक विरहव्यजना मतिराम की दोहावली में भी मिलेगी पर उसमें ऐसे दोहों की संख्या कम है

भू पर कमल युग, ऊपर कनक खंभ,

ब्रह्मा की सी गति मध्य सूक्ष्म मन निदीवर ।

लिखकर देव ने भी उस परंपरा का पालन किया है, यद्यपि उनके इस तरह के छंद बहुत कम हैं। प्रायः उन्होंने रूप या भाव की अनुभूति को तीव्रतर करने की दृष्टि से इसका प्रयोग किया है, जैसे

लै रजनीपति बीच विरामिनि दामिनि दीप समीप दिखावै ।

जो निज न्यारी उज्यारी करै तब प्यारी के दंतन की झुति पावै ॥

संक्षेप में रीतिकाव्य में प्रयुक्त अलंकारों का विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुछ कवियों ने विशेष प्रसंगों में विशेष रूप से तथा कुछ ने साधारणतः परंपराभुक्त उपमानों का प्रयोग किया है जो सामान्यतः काव्योत्कर्ष विधायक नहीं हैं। नखशिख और विरहताप के वर्णन ऐसे ही प्रसंग हैं। पर अधिकांश प्रसंगों में अलंकार रूपचेतना या भावानुभूति को तीव्रतर बनाने के लिये ही ले आए हैं। प्रतिनिधि रीतिकाव्यों में बिहारी सतसई को छोड़कर शेष में चमत्कारप्रदर्शन की बहुलता नहीं मिलेगी।

जहाँतक रूपचेतना और भावानुभूति का संबंध है प्रधानता पहले की दी गई है। नायकनायिका भेद के घेरे में यही स्वाभाविक भी था, क्योंकि प्रेम का मुख्य आधार शारीरिक सौंदर्य था न कि और किसी अन्य तरह का सौंदर्य। रसवादी होने के कारण देव ने अवश्य भावानुभूति को तीव्रतर बनाने के लिये अपेक्षाकृत अधिक अलंकारों का प्रयोग किया है। पर सामान्यतः रीतिकाव्यगत अलंकारों की मुख्य प्रवृत्ति रूपचेतना को प्रगाढ़ और तीव्रतर बनाना ही है।

१२ भाषा

आधुनिक काल के पूर्व का हिंदी साहित्य ब्रजभाषा और अवधी का साहित्य है। पर अवधी की परंपरा न तो उतनी दीर्घ है और न व्यापक। आश्चर्य है कि जिस भाषा में जायसी का 'पद्मावत' और तुलसीदास का 'रामचरितमानस' लिखा गया वह अपनी कोई लंबी परंपरा न बना सकी। विचार करने पर लगता है कि ब्रजभाषा की लोकप्रियता और व्याप्ति के आगे उसका विकसित होना संभव न था।

दूसरी बात जो ब्रजभाषा के पक्ष में जाती है वह है उसकी भौगोलिक स्थिति । यह मध्यदेश की भाषा है । केंद्रीय भाषा होने के कारण इस प्रदेश की भाषा को व्याप्ति का जितना अवसर मिल पाता था उतना और किसी को नहीं । अत्यंत प्राचीन काल से इस प्रदेश की भाषाएँ अपनी चौहद्दी तोड़कर बाहर फैलती रही और देश के एक बृहद् भूभाग के विचारविनिमय और साहित्यसर्जना के माध्यम के रूप में व्यवहृत होती रही । वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, शौरसेनी प्राकृत, शौरसेनी अपभ्रंश इसी हृदयदेश की भाषाएँ थी जो अपने अविच्छिन्न रूप में आर्य सभ्यता और संस्कृति के उन्नयन और रक्षण में निरंतर सलग्न रही । ब्रजभाषा शौरसेनी अपभ्रंश से ही विकसित हुई है ।

ब्रजभाषा की संपूर्ण परंपरा को विकास की तीन अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है—प्रथम, द्वितीय और तृतीय । प्रथम अवस्था में सूरपूर्व की ब्रजभाषा, द्वितीय अवस्था में भक्तिकालीन ब्रजभाषा और तृतीय में रीतिकालीन ब्रजभाषा की गणना की जा सकती है । अपनी प्रथम अवस्था में ब्रजभाषा दर्पशायी की व्यंजना करती रही है । द्वितीय अवस्था इसके विस्तार और समृद्धि का काल है । भक्ति आंदोलन के माध्यम के रूप में यह बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और पंजाब तक पहुँची । इस भाषा में केवल श्रीकृष्ण की बाँसुरी का ही जादू नहीं था बल्कि अपनी भी कुछ ऐसी विशेषताएँ थी जिनके कारण यह शताब्दियों तक सहृदयों का कठहार बनी रही ।

ब्रजभाषा केवल भक्तों के निश्छल उद्गारों की ही अभिव्यक्ति नहीं करती रही है । भक्तिकाव्य परंपरा से अलग इस भाषा में शुद्ध साहित्यिक परंपरा का नैरतय भी कदाचित् किसी दिन सिद्ध हो जाय । कुछ दिन पूर्व सूरदास को कुछ विद्वानों ने ब्रजभाषा का पहला कवि मान लिया था । किंतु खोज करने के उपरान्त यह प्रकाशित हो चुका है कि सूरपूर्व ब्रजभाषा में निरंतर काव्यग्रंथ लिखे जाते रहे हैं और १४वीं शताब्दी में इसका रूप भी बहुत कुछ स्थिर हो गया था । स० १५६८ में कृपाराम ने अपनी 'हिततरंगिणी' में लिखा है

बरनत कवि सिंगार रस छंद बडे विस्तारि ।

सै बरन्यो दोहानि बिच यातें सुघरि विचारि ॥

इस दोहे से स्पष्ट है कि उनके पूर्व भी कवियों ने छंदों में विस्तारपूर्वक शृंगार रस का वर्णन किया है । निश्चय ही उनका संकेत भाषा के कवियों के सबंध में है । पहली पंक्ति में 'छंद' और दूसरी पंक्ति में 'दोहानि' के प्रयोग से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है । कृपाराम का कहना है कि जिस शृंगार रस का वर्णन और कवियों ने छंदों में विस्तारपूर्वक किया है उसे मैंने विचारपूर्वक, सँवार सँजोकर दोहा जैसे छोटे छंद में किया है । शृंगार रस से उनका तात्पर्य नायकनायिका भेद से ही है, इसमें सदेह नहीं । उसका भाषागत परिष्कार देखकर कुछ लोगो ने उसकी प्रामाणिकता पर सदेह प्रकट किया है । इसके सबंध में डा० नगेन्द्र का कहना है—'वास्तव में उसकी अतिशय स्वच्छता देखकर ही कुछ विद्वान् उसे अप्रामाणिक मानने लगे हैं परंतु उसकी रचनातिथि इतने असंदिग्ध रूप में दी हुई है कि उसपर सदेह करना, जबतक कि कोई विशेष प्रमाण न मिल जाय, सरल नहीं है । यह कवि शास्त्रज्ञ कवियों की परंपरा में होने के कारण भक्ति कविता से सर्वथा दूर था, यह तो निर्विवाद ही है, साथ ही उसकी भाषा से स्पष्ट है कि वह इस परंपरा का पहला कवि भी नहीं था । उससे पहले कुछ अन्य कवियों ने भी ब्रजभाषा का प्रयोग किया होगा ।' कहने का तात्पर्य यह है कि भक्त कवियों के साथ साथ सभ्यतः शास्त्रज्ञ कवियों ने भी इस भाषा के विकास और समृद्धि में योग दिया है ।

भक्तिकाल के अनंतर रीतिकाल में ब्रजभाषा अपनी समृद्धि के उच्चतम शिखर पर जा बिराजी । इस समय की भाषा पहले से अधिक मँज सँवरकर भावाभिव्यंजना के

अधिक अनुकूल हो गई। इस सस्कार और परिष्कार का अंतर सूर तुलसी की पदावली और मतिराम, देव और पद्माकर की पदावली की तुलना से स्पष्ट किया जा सकता है। रीतिकालीन कवियों की पदावली के लोच और माधुर्य के आगे भक्त कवियों की पदावली थोड़ी बहुत अनगढ़ लगेगी।

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या कारण है कि इतने दीर्घ काल तक देश के एक बड़े भाग में यह भाषा अपना एकछत्र साम्राज्य बनाए रहो। अपनी किन आंतरिक विशेषताओं के कारण इसका इस रूप में टिका रहना संभव हो सका? इसके साथ ही एक दूसरा सवाल भी पैदा होता है। क्या कारण है कि इतनी समृद्ध और उन्नत भाषा आधुनिक युग के अनुकूल नहीं बन सकी? वास्तव में दोनों प्रश्न एक दूसरे के पूरक हैं। पहले के उत्तर में उसकी विशेषताओं और दूसरे के उत्तर में उनकी खामियों का उल्लेख करना आवश्यक होगा।

(१) विशेषताएँ—मधुरता ब्रजभाषा की प्रकृति है। भाषा की प्रकृति का बहुत कुछ सबंध उसे बोलनेवाला की प्रकृति से जोड़ा जा सकता है। बँगला और खड़ी बोली का अंतर उक्त कथन को स्पष्ट कर देगा। फिर रससिक्ता, भक्तिपरक जिस पदावली को ब्रजभाषा ने रूप दिया उसने भी इसकी प्रकृति को ऋजु, मसूरा और मधुर बनाया। शुद्ध साहित्य के रूप में भी शृंगारिक कविताएँ ही इस भाषा में अधिक लिखी गईं। शृंगार-वर्णन के लिये कोमलकात पदावली की आवश्यकता होती है। यह गुण तो ब्रजभाषा में यो ही प्रस्तुत था। इस आवश्यकता के कारण उसे और भी ढूँढ़ निकाला गया। इसके फलस्वरूप अनेक शब्दों का आगम और अनेक का लोप हो गया। जैसे, स्त्री के आदि में 'इ' और स्नान के आदि में 'अ' का आगम उद्धृत किया जा सकता है। कठोर वर्णों—श, ण आदि—के स्थान पर स, र आदि रखकर उच्चारण को कोमल बनाया गया। स्वर-सकोच, जो ब्रजभाषा की मुख्य ध्वन्यात्मक प्रकृति है, इसकी मिठास को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ—जैसे, दीठि < दिठु < दृष्टि, पैठि < पइठि < प्रविष्ट।

इस भाषा को मधुर और शृंगारोचित बनाने के लिये सयुक्त वर्णों का सरलीकरण किया गया। यहाँपर श्रावण सावन, भाद्र भादौ, चंद्र चंद, शृंगार सिंगार, कृष्ण कान्हू बन गए। इस तरह संस्कृत के बहुत से तत्सम तद्भव के रूप में प्रयुक्त होकर ब्रजभाषा में एक विशेष प्रकार की लोच ले आए। अपने लचीलेपन के कारण एक एक शब्द के अनेक रूप बन गए। उदाहरणार्थ, प्रिय के लिये पिय, पिया, पीतम, कृष्ण के लिये कान्हू, कन्हैया, आँखों के लिये आँखिन, आँखियाँ आँखियन। ऐसे और बहुत से शब्द हैं। एक शब्द के विविध रूपों के कारण छंदों और तुकों के बंधन को बहुत बाधाविहीन बना लिया गया।

ब्रजभाषा में प्रयुक्त होनेवाले कारकचिह्नों के भी पर्याय मिलते हैं। कर्ता की मुख्य विभक्ति 'ने' है जो सकर्मक भूतकालिक क्रिया में कर्ता के साथ लगती है। इसके अतिरिक्त कई रूपों में उसके साथ पै, कौ या कौ आदि अन्य विभक्तियाँ भी लग जाती हैं। कर्म कारक में कौ, कौ, सो आदि, संप्रदान में को कौ आदि, अपादान में ते, ते, अधिकरण में 'मे' 'मह' 'पै' आदि। विभक्तियों के इन विकल्पों ने भी भाषा को माधुर्य और सौष्ठव प्रदान किया है। इनके अतिरिक्त 'हि' विभक्ति अकेले ही अनेक विभक्तियों का काम चला देती है। इसी लिये इसको डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने एक सर्वनिष्ठ (ए सार्ट आर्व मेडअप आर्व आल वर्क) विभक्ति कहा है। इस सुविधा का क्रम यही नहीं टूटता। इसमें निर्विभक्तिक प्रयोग की भी खुली छूट है। अपनी इन्हीं निर्बंध सुविधाओं के कारण ब्रज-भाषा के कवि इसको अधिकाधिक सुष्ठु, मधुर, व्यञ्जक और लचकदार बना सके।

यह ब्रजभाषा को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की समस्त भाव और शब्दसंपदा उत्तराधिकार में मिली। इस अत्यंत गौरवशाली और समृद्ध दाय को प्राप्त करना अपने आप में भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। विकासशील और व्यापक काव्यभाषा होने के कारण इसने अन्य भाषाओं और बोलियों के शब्दों को ग्रहण कर अपने को और अधिक समृद्ध बनाया। राजस्थानी, बुंदेलखंडी, अवधी, पूर्वी, छत्तीसगढ़ी आदि अनेक बोलियों के बहुत से कोमल तथा व्यंजक शब्दों के आ जाने से इसकी अभिव्यंजना शक्ति बढ़ गई। अपनी उदार प्रवृत्ति के कारण इसने अरबी फारसी जैसी विदेशी भाषाओं से भी शब्दचयन किया। इनमें से कुछ तो ब्रजभाषा के अंग हो गए पर कुछ की अपनी पृथक् सत्ता बनी रही। अपनी इस विशाल व्यापकता और सहज गंभीरता के कारण यह बहुत दिनों तक भक्तों, कवियों और सहृदयों में समान रूप से आदृत होती रही।

(२) मिलीजुली भाषा—मिलीजुली भाषा का समर्थन करते हुए भिखारीदास ने 'काव्यनिर्णय' में लिखा है

भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहै सुमति सब कोइ ॥
मिलै संस्कृत पारस्यो, पै अति प्रगट जु होइ ॥
दृज मागधी मिले अमर, नाग जमन भाषानि ॥
सहज पारसी हूँ मिले, षट बिधि कवित बखानि ॥

दास के मतानुसार ब्रजभाषा में ब्रज, मागधी (पूर्वी भाषा अवधी आदि), संस्कृत, नाग (अपभ्रंश), यवन (खड़ी बोली) और फारसी का समिश्रण था। इस षड्विध भाषा को उन्होंने तुलसी और गंग की रचनाओं में भी देखा था। बात यह थी कि ब्रजभाषा के काव्यप्रयोग की सीमा इतनी विस्तृत हो गई थी कि वह बहुत सी बोलियों को स्वच्छदतापूर्वक ग्रहण करती गई। इसे इसका दोष नहीं माना जा सकता। कोई भी समृद्ध भाषा अपनी भौगोलिक सीमा में नहीं अँट सकती। उसे अपने घेरे को छोड़ना ही होगा। सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में इस क्षेत्र के बाहर भी—बुंदेलखंड, राजस्थान आदि में—कवि इसी भाषा में काव्यरचना करते थे। इसी लिये स्वाभाविक था कि तत्तत् बोलियों का समावेश उसमें हो जाता। ब्रजभाषा की इस समृद्धि और व्यापकता को देखते हुए ही दास ने कहा था कि ब्रजभाषा की जानकारी के लिये श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं का अध्ययन भी करना चाहिए

सूर, केशव, बिहारी, कालीदास ब्रह्म,
चिंतामणि, मतिराम, भूषण सु जानिए ।
लीलाधर, सेनापति, निपट, नेवाज निर्ध,
नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए ।
आलम, रहीम, रसखान, सुंदरादिक,
अनेकन सुमति भए कहाँ लौ बखानिए ।
बृजभाषा हेत बृजबास ही न अनुमानौ,
ऐसे ऐसे कबिन की बानी हूँ सो जानिए ।

(३) व्यापक शब्दभांडार—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रजभाषा में बहुत सी भाषाओं और बोलियों के शब्द मिश्रित थे। संस्कृत भाषा से निकट सबंध होने के कारण तथा संस्कृत के रीतिग्रंथों से सीधे प्रभावित होने से भी रीतिकाव्यों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। किंतु केशव को छोड़कर अन्य कवियों में इसकी बहुलता नहीं दिखाई पड़ती। बिहारी सतसई में 'कज्जल', 'अद्वैतता', 'द्वैज सुधादीधिति', सचिक्कन, सुगंध, निदाब, जालरंध्र, अमस्वेद कन कलित, पाक्स प्रथम पथोद, काव्यव्यूह आदि अनेक

तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। मतिराम में अपेक्षाकृत तत्सम शब्दों की कमी पाई जाती है, फिर भी कत, सीमत, पीयूष, अभिनव, परिकर, कदर्प, अनत, अनलज्वाल, ज्वलित-ज्वाल ऐसे शब्दों को उनमें ढूँढा जा सकता है। देव ने तो चामोकर, ऊर्ध्व, शबरारि, सरीसृप, आसीविष ऐसे क्लिष्ट शब्दों का भी प्रयोग किया है। आचार्य भिखारीदास अपने आचार्यत्व के अनुरूप अंतरवर्तिन, आसमुद्र, कुचद्वय, क्षिप्र, क्षामोदरी, (छामोरी), दोषाकर, परिधान, वक्रतुड, विघ्नखड, वेत्ता, व्रीडित, सुकृत आदि शब्दों से अपनी रचनाओं का शृंगार करते दीख पड़ते हैं। इस प्रकार इस काल की रचनाओं में संस्कृत की यह गल्तम शब्दावली सर्वत्र बिखरी हुई है। यहाँपर उन शब्दों का उल्लेख नहीं किया गया है जो हैं तो तत्सम ही पर जिनकी वर्तनी ब्रजभाषा के अनुरूप बना ली गई है।

ब्रजभाषा की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से हुई है। इसलिये स्वाभाविक है कि उसमें प्राकृत, अपभ्रंश के शब्द भी प्रयुक्त होते। मुद्ग, मेह, बिज्जु, कज्जल, दिच्छ, दिशा, खग्ग, चक्क, गुज्जर, जूह, नाह, दिग्घ (दीर्घ), हट्टि आदि शब्दों का प्रयोग इस काल की भाषा में सामान्यतः हुआ है। ये शब्द ब्रजभाषा में ऐसे घुल मिल गए हैं कि उसकी शब्दावली के अनिवार्य अंग बन गए हैं। मुसलमानों के आगमन के साथ ही उनकी भाषा और संस्कृति भी इस देश में आई। हिंदी की प्रारंभिक अवस्था से ही उसमें अरबी और फारसी के शब्दों का प्रयोग होने लगा था। घुमक्कड़ी वृत्तिवाले कबीर जैसे साधुओं की बात जाने दीजिए, तुलसीदास जैसे भारतीय संस्कृति के पोषक ने भी अरबी फारसी के शब्दों का निःसकोच प्रयोग किया। रीतिकाल में मुसलमानी सभ्यता और संस्कृति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई थी और हिंदू आचार विचार पर उनकी गहरी छाया पड़ी। रीतिकाल के कई कवियों ने समय समय पर मुसलमान राजाओं और रईसों का आश्रय ग्रहण किया। इसलिये इस काल की कविताओं में अरबी फारसी के शब्दों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग हुआ। बिहारी, भूषण, रसलीन, ग्वाल आदि में इस तरह के शब्द काफी संख्या में पाए जाते हैं। इन शब्दों में कुछ तो ऐसे हैं जो बोलचाल की भाषा के अभिन्न अंग बन चुके थे और कुछ केवल साहित्य में ही प्रयुक्त होते थे। पहले प्रकार के शब्दों में कुबत, चश्मा, जोर, बेकाम, नेजा, शिकार, कबूल, निवाजिबो, निसान, हद, हमाम (बिहारो), गुलाम, जोहारे, तिलास (तलाश), फिरादी (फरियादी), बेगारी, बहरि, गिरद (गिद), कसीस (कशिश), कहरु (कहर), करामति (करामात) (दास), जरह, दस्ताने तमक, जाहिर, फबत, चिराग, कसाला, कलाम (पद्माकर) आदि का उल्लेख किया जा सकता है। दूसरे प्रकार के शब्दों में इजाफा, बदराह, ताफता, रोहाल, सेल, रकम, जोर, आमिर, मलिग, छाँहगीर, सबी (शबीह) (बिहारी), महल, मखमल, किर्च, कज्जाक, सरीक (देव), महुम (मुहिम्म), गलीम (गनीम), सफजग, गिलमे, गजक (पद्माकर) आदि की गणना की जायगी। पर सब मिलाकर अरबी फारसी के आमफहम शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है।

(४) बोलियों का सन्निवेश—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा अरबी फारसी जैसी विदेशी भाषाओं के शब्दों के अतिरिक्त ब्रजभाषा में बुदेलखडी, अवधी, पूर्वी के शब्द भी घडल्ले से मिश्रित होते गए। केशव, जो रीतिकान्य के आद्याचार्य माने जाते हैं, बुदेलखडी से अप्रभावित नहीं रह सके। ओरछा दरबार से संबद्ध होने के कारण उनका उस अंचल की बोली से प्रभावित होना स्वाभाविक था। जिस 'स्यो' बुदेलखडी शब्द को बिहारी सतसई में खोजा गया है वह केशव द्वारा प्रयुक्त हो चुका था। बिहारी के सबंध में तो प्रसिद्ध ही है—'जन्म ग्वालियर जानिए खड बुंदेले बाल।' लड़कपन के गहरे संस्कारों से बिहारी का अस्पृष्ट रह जाना ही अस्वाभाविक होता।

कौन भांति रहिहै बिरद अब देखबी मुरारि :

बीधे मौंसो आनि कै गीधे गीधीह तारि ॥

इस दोहे में 'देखबी' तो बुदेलखडी है ही, 'गीधे', 'बीधे' भी ठेठ बुदेलखडी है। 'घैर' शब्द का प्रयोग भी अनेक कवियों ने किया है। अन्य कवियों की रचनाओं में आए हुए बुदेलखडी शब्दों के उदाहरण देखिए

(१) लोग मिलै, घर घैर करै, अब ही ते ये चेरे भए दुलही के।

—मतिराम

(२) धीर घरबी न धरा कुतुब के धुर की।

—भूषण

(३) सोचै सुख मोचै सुकसारिका लचाये चोचै,
रोचै न रुचिर बानि, मानि रहै अम्ता सी।

—देव

(४) दास घर बसी घैरहारिनि के डर हियो,
चलदर पात लौ है तोसो बहलात लौं।

—दास

(५) लागत बसंत के सु पाती लिखी प्रीतम को,
प्यारी परबीन है 'हमारी सुधि आनबी।'।
कहै पद्माकर इहाँ को यो हवाल
बिरहानल की ज्वाल सो दावानल ते मानबी ॥
ऊब को उसासन को पूरो परगास, सो तौ
निपट उसास पौन हू ते पहिचानबी।
नैनन के ढंग सो अनंग पिचकारिन तैं,
गातन के रंग पीरे पातन ते जानबी ॥

—केशव

कहना न होगा कि मोटे अक्षरों में छपे हुए सभी शब्द बुदेलखडी के हैं।

अवधी में भूतकालिक क्रियाओं के लघ्वत रूप खूब चलते हैं, इसमें लिंग, वचन और पुरुषगत विकार की आशका नहीं रहती। ब्रजभाषा में भी इन प्रयोगों को देखा जा सकता है। अवधी और पूर्वी के अन्य बहुत से शब्द भी ब्रजभाषा में इस तरह प्रयुक्त हुए हैं कि उन्हें सरलतापूर्वक अलग करना कठिन हो जाता है। अवधी से प्रभावित ब्रजभाषा के कुछ नमूने उद्धृत किए जाते हैं

(१) माता पिता कवन कौनहि कर्म कौन ?
बिद्या विनोद सिख, कौनहि अस्व दीन ?

—केशव

(२) किती न गोकुल कुलबधू, काहि न किहि सिख दीन।
कौने तर्जौ न कुल गली हूँ मुरली मुरलीन ॥
पिय तिय सौ हँसिके कह्यौ लखै दिठौना दीन।
चंदमुखी मुखचंद तै, भलौ चंदसम कौन ॥

—बिहारी

(३) जो बिहँस मुख सुंदर तौ मतिराम बिहान को बारिज लाजै।

—मतिराम

(४) भालुकपि कटक अचंभा जकि ज्वै रह्यो ।

—दास

(५) सावनी तीज सुहावनी को सजि सृहे डुकूल सबै सुख साधा ।

—पद्माकर

किंतु व्याकरणिक अनियंत्रण का परिणाम यह हुआ कि कुछ कवियों ने शब्दों की मनमानी तोड़मरोड़ की। ऐसे कवियों में भूषण और देव का नाम खास तौर पर बदनाम है। भूषण ने ब्रजभाषा के शब्दों के साथ साथ अरबी फारसी के शब्दों को भी अपने ढंग पर तोड़ा-मरोड़ा। सुष्ठु के लिये सुठार, आदिलशाह के लिये औदिलु, तनाव के लिये तनाय, बलगार के लिये बगार, पार्थ के लिये पथ्य, बिदनूर के लिये बिधनोल, नगरो मे के लिये नैरनि शब्द प्रयुक्त किए गए हैं जो भूषण के मनमानेपन के स्पष्ट उदाहरण हैं। तुक के आग्रह से देव की कविता में कदुक का कद बन जाता है, इच्छा का ईछी, अभिलाषिणी का अनिध्या, हिरण्य का हिरन, तुला का तुलही, उल्लसित हृदयवाली का हिये उलही, विदित का विद्रोत, द्रव का ददरा इसी तरह यमक अनुप्रास के आग्रह से भी पूर्णेंद्रु का पुमनेद्रु, व्यामोह का व्योह, जल्पना का लूपना, पांडुर का पडल, हेमत का हैउत बन गया है^१

(१) लपनै कहाँ लौ बालपने की विकल बातें—

(२) है उत बसंत सदा इत 'हैउत' है हिय कंप महाबस ।

इन समस्त बातों का परिणाम यह हुआ कि ब्रजभाषा कभी भी व्याकरणसमत नहीं बन सकी। यह सही है कि कविता में सर्वत्र व्याकरण के नियमों का पालन नहीं हो पाता। तुकों का आग्रह, छदगत वर्णों और मात्राओं की नियमितता के कारण कवि जगह जगह निरकुश हो जाता है। पर ब्रजभाषा के कवियों की निरकुशता अत्यधिक बढ़ गई थी। फलतः उनमें कारकचित्तों की गड़बड़ी, लिंग सबधी दोष, क्रियारूपों की अनेकरूपता, पदविन्यासगत शिथिलता का दिखाई पड़ना स्वाभाविक हो गया। कोई भी रीतिकवि इन सब दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं है। फिर भी रीतिकवियों में बिहारी की भाषा को, अपने कतिपय दोषों के बावजूद भी, आदर्श कहा जा सकता है।

(५) व्याकरण—यह पहले ही कहा जा चुका है कि व्याकरणिक प्रतिबंधों के अभाव में ब्रजभाषा दोषपूर्ण बनी रही। अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है—‘रीतिकाल में एक बड़े अभाव की पूर्ति हो जानी चाहिए थी, पर वह नहीं हुई। भाषा जिस समय सैंकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढता को पहुँची उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी जिससे उस च्युतसंस्कृति दोष का निराकरण होता जो ब्रजभाषा काव्य में थोड़ा बहुत सर्वत्र पाया जाता है। और नहीं तो वाक्यदोषों का ही पूर्ण रूप से निरूपण होता जिससे भाषा में कुछ और सफाई आती। बहुत थोड़े कवि ऐसे मिलते हैं जिनकी वाक्यरचना सुव्यवस्थित पाई जाती है। भूषण अच्छे कवि थे। जिस रस को उन्होंने लिया उसका पूरा आवेश उनमें था, पर भाषा उनकी अनेक स्थलों पर सदोष है। यदि शब्दों के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपों के प्रयोग पर जोर दिया जाता तो शब्दों को तोड़ मरोड़कर विकृत करने का साहस कवियों को न होता। इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हुई जिससे भाषा में बहुत कुछ गड़बड़ी बनी रही।’^२

१. डा० नगेन्द्र . रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, उत्तरार्ध, पृ० २०८ ।

२. आचार्य रामचंद्र शुक्ल . हिंदी साहित्य का इतिहास, ना० प्र० सभा, काशी, २००६ वि०, पृ० २३७-३८ ।

इस तरह की गड़बड़ी के मूल में कवियों का असामर्थ्य उतना काम नहीं कर रहा था जितना व्याकरणिक व्यवस्था का अभाव । जहाँ कहीं उन्होंने सचेत होकर भाषा का व्यवहार किया है वहाँ की पदावली प्रायः प्रसन्न और व्यवस्थित दिखाई पड़ती है । बिहारी ऐसे समर्थ कवि की तो बात ही जाने दीजिए, इस सबंध में अधिक बदनाम भूषण और देव में भी जगह जगह सुंदर वाक्यविन्यास की व्यवस्था मिलेगी । भूषण का एक प्रसिद्ध छंद लीजिए

इंद्र जिमि जंभ पर बाड़व ज्यों अंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुलराज है ।
पौन बारिबाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है ।
दावा दुमदंड पर, चीता मृगभुंड पर,
भूषण बितुंड पर जैसे मृगराज है ।
तेज तमअंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
यों म्लेच्छबंस पर सेर सिवराज है ।

कवितागत अनिवार्य परिवर्तनों को छोड़कर उपर्युक्त छंद की पदावली और वाक्यविन्यास स्थूलनहीन और स्वच्छ है । पद और वाक्यगत ऋजु विन्यास का एक उदाहरण 'देव' का देखिए

राधिका कान्ह को ध्यान धरै, तब कान्ह हूँ राधिका के गुन गावै ।
त्यो अंसुआ बरसै, बरसाने को पाती लिखै, लिखि राधे को ध्यावै ॥
राधे हूँ जात घरीक मैं 'देव', सुप्रेम की पाती लै छाती लगावै ।
आपने आपु ही मैं अरुभै, सुरभै, बिरुभै, समुभै, समुभावै ॥

प्रत्येक पद, और वाक्य में इतनी सफाई है कि कहीं पर किसी तरह की जटिलता या उलझन नहीं आती । संपूर्ण पदावली को बिना किसी उलटफेर के गद्य में बदला जा सकता है ।

पर यह स्वच्छता इस काल की भाषागत सामान्य विशेषता नहीं मानी जा सकती । प्रायः सभी कवियों में व्याकरणिक अव्यवस्था पाई जाती है ।

(अ) कारक—इसका उल्लेख किया जा चुका है कि एक एक कारक के अनेक विकल्प होने तथा निर्विभक्तिक प्रयोग की छूट के कारण ब्रजभाषा की कविता में एक विशिष्ट लोच आ गई थी । 'ही' का प्रयोग तो सर्वनिष्ठ विभक्ति के रूप में किया ही जाता था । लेकिन इस प्रकार की छूट भाषा की स्थिरता और एकरूपता के लिये अत्यंत भयावह सिद्ध होती है ।

कर्ता कारक की विभक्ति 'ने' का प्रयोग तो ब्रजभाषा की कविता में अत्यंत विरल मिलेगा । यह ठीक है कि ब्रजभाषा के काव्यप्रवाह में यह उचित रीति से समाहित नहीं हो पाता, पर भूतकालिक सकर्मक क्रिया के साथ 'ने' का प्रयोग भाषा की शुद्धता की दृष्टि से अनिवार्य है । वातांशों में इस तरह का प्रयोग मिलता भी है—'अब जो यह बात श्री गुसाईं जी ने कही ।' मंडन के एक सर्वेण में 'ने' का प्रयोग दिखाई पड़ता है

अलि हौं तौ गई जमुना जल को सो कहा कहौं बीर बिपत्ति परी ।
घहराय कैं कारी घटा उनई, इतनेई से गागर सीस धरी ॥
रफट्यो पग, घाट चढ़्यो न बघी, कबि मंडन कैं बिहाल बिरी ।
चिर जीवहु नंद को बारो, अरी, गहि बौह मरीब ने ठाढ़ी करी ॥

पर ब्रजभाषा कविता की सामान्य प्रवृत्ति 'ने' रहित प्रयोग की है। अब कुछ विभक्तियों के लोप के उदाहरण देखिए

(१) चूनौ होइ न चतुर तिय, क्यों पट पोछचौ जाइ ।

—बिहारी

(२) चढ़त अँटारी गुरु लोगन की लाज प्यारी,
रसना दसन दाबै रसना झनक तै ।

—मतिराम

(३) जिन फन फूतकार उड़त पहार भारे,
कूरम कठिन जनु कमल बिदलियो ।

× × ×

खग खगराज महराज सिवराज को,
अखिल भुजंग मुगलदल निगलियो ।

—भूषण

प्रथम उदाहरण में 'पट पोछचौ' में करण विभक्ति, द्वितीय में 'अँटारी' तथा 'गुरु' के बीच अधिकरण और तृतीय में 'मुगलदल' में कर्म विभक्ति का लोप है। छंद के आग्रह से इन विभक्तियों का लोप क्षम्य माना जा सकता है। लेकिन इसे भाषागत त्रुटि तो कहा ही जायगा।

कारकचिह्नो के विकल्पो का उल्लेख किया जा चुका है। विभक्तिव्यत्यय के कारण भी कम गड़बड़ी नहीं हुई। ब्रजभाषा को यह अपभ्रंश की विरासत में मिला है। इस तरह का निर्देश हेम व्याकरण में मिलता है—'षष्ठी क्वचिद् द्वितीयादे', 'द्वितीया तृतीययो सप्तमी' आदि। रीतिकालीन कविताओं में भी इसके उदाहरण मिल जायेंगे।

(१) जोरि करि जैहै अब अपर नरेस पर
लरिहै लराई ताके सुभट समझ पै ।

—भूषण

(२) खुले भुजमूल प्रतिकूल बिधि बंक मै

—देव

दोनों उदाहरणों में करण के स्थान पर अधिकरण का प्रयोग किया गया है।

(आ) क्रियारूप—ब्रजभाषा में कारकचिह्नो के विकल्पो की भाँति क्रियापदों के भी अनेक विकल्प मिलते हैं। भूतकाल में छंद के आवश्यकतांनुसार 'करना' आदि के अनेक रूप बना लिए जाते हैं—कियो, कीनो, करघो, करियो, कीन, किये। इसी तरह और क्रियारूपों को भी समझना चाहिए

(१) बदन दुरावन क्यों बने चंद कियो जिहि दीन ।

—बिहारी

(२) रावरे रूप भरघौ अँखियाँ, भरघौ सु भरघौ
उमडघौ सु ढरघौ परै ।

—देव

(३) मनु सति सेखर की अकस किय सेखर सतचंद ।

—बिहारी

'जाना', 'होना' के भूतकाल 'गयो', 'हुयो' का काम 'गो', 'भो', से लिया जाने लगा :

(१) एक घरी घन से तन सौं अंखियान धनो धनसार सो दैगो ।

—मतिराम

(२) मोहि लखि सोवत बिथोरिगो सु बेनी बनी
तोरिगो हियो को हरा छोरिगो सुगैया को ।

—पद्माकर

(३) हिय को हरष मरुधरनि को नीर भो री
जियरो मदन तीर गन को तुनीर भो ।

ए री बेगि करिकं मिलाप थिर थाप

न त आप अब चाहत अतन को तुनीर भो । —बास

भविष्यत् काल की सूचक मुख्य विभक्ति 'गो' है जो लिंग वचन के अनुसार 'गे' और 'गी' भी हो जाती है। इसके अतिरिक्त 'इहै' के रूप में भी भविष्यत् कालसूचक विभक्ति आती है जिसका प्रयोग सूर और तुलसी के काव्यों में भी मिलता है। दोनों प्रयोग रीतिकाव्यों को विरासत में मिले हैं

(१) सुख कौं दिवैया वह प्यारौ परदेसन तें,
फेर कब आवेगो री सखि ! धन लावेगौ ।

—सोमनाथ

(२) साँचे बुलाई बुलावन आई हहा कहि मोहि कहा करिहैं हरि ।

—देव

ज्यों 'पद्माकर' धीर समीरनि जीय धनी कहु क्यों धरि जौहै ।

—पद्माकर

पर देव ने जहाँ भविष्यत् कालसूचक दुहरी विभक्तियाँ लगा दी हैं वहाँ क्रियापद बहुत ही भोडा हो गया है

माधव को मिलिए बिना धव कितैं हौ मास

माधव बितैहौगी उमाधव कै ध्यान कै ।

'बितैहौगी' में ही (यहाँ 'हैं' को भी 'हौ' कर दिया गया है) भविष्यत् सूचक पहले ही से मौजूद है, उसके बाद 'गी' निरर्थक जोड़ा गया है।

खड़ी बोली में आज्ञा और विधि में आइए, कीजिए, दीजिए आदि रूप पाए जाते हैं। ब्रज में यह इसी रूप में सुरक्षित है। इनके दूसरे रूप कीजै, दीजै, पीजै भी मिलते हैं। इसमें पहला अपभ्रंश इज्जाइ का ईए और दूसरा उसी का ईजै हो गया है। एक ही कवि की रचनाओं में दोनों प्रयोग मिल जायेंगे

(१) बरज्यो न मानत हौ बार बार बरज्यो मै,

कौन काम मेरे इत भौन मै न आइए ।

(२) ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै ।

—मतिराम

तिङंत प्रत्यय लगाकर भी उपर्युक्त क्रियाएँ बनती हैं। इसका व्यवहार ब्रजभाषा में पहले से ही चला आ रहा था—

(१) रहिमान कखे मुंखनि कौं, चहियत यही सजाय ।

—रहीम

(२) कहा चतुराई ठानियत आणप्यारौ तेरो

मान जानियत रुखे मुह मुसकान सों ।

—मतिराम

(३) क्यों करि झूठी मानिए, सखि सयने की बात ।

जु हरि हस्यो लोखत हियो, सो न पाइयत प्रात ॥

—पद्माकर

‘कीजै’, ‘दोजै’ तथा ‘इयत’ प्रत्यय से संयुक्त क्रियाएँ भाववाच्य हैं। रीतिकाव्यों में ‘इयत’ लगाकर अनेक जगह क्रियाएँ बनाई गई हैं। इस सपदा का सहारा प्रायः प्रत्येक कवि ने लिया है

(१) बिरह तिहारे लाल । बिकल भई है बाल
नोद, भूख, प्यास, सिगरी बिसारियतु है ।

—नतिराम

(२) दीनता को डारि औ अधीनता बिडारि दीह
दारिद को मार तेरे द्वार आइयतु है ।

—भूषण

(३) नीकी कै अनैसी पुनि जैसी होइ तैसी
तऊ यौवन का मूरि ते न दूरि भागियतु है ।

—पद्माकर

पर देव तथा अन्य कवियों ने इसके कुछ चित्य प्रयोग किए हैं

(१) शोभा सुनै जाकी कवि देव कहै कोन कोन
होत चित चीरुनो चतुर चेरियतु है ।

(२) ‘देव’ सुर मजु रस पुज कुंज मंदिर नै
सुंदरी सुनी सुचित चो पै चुनियती है ।

(३) मोहिनी को मूरति सो मोही मन मोहिनी सु,
मोहि महामोह ब्योह मो हिय मढ़ायत ।

प्रथम उदाहरण में तुक के आग्रह से ‘चोरियतु’ का ‘चेरियतु’ कर दिया गया है। दूसरे में व्यर्थ से हो ‘त’ का ‘तो’ प्रयोग हुआ है। तीसरे में ‘मढ़ायत’ शब्द के कारण यह अर्थ निकालना होगा कि हृदय मोह से मढ़ाया जा रहा है, जो औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता ।

(इ) वाक्यविन्यास—वाक्य की परिभाषा करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है—‘वाक्य स्याद्योग्यताकाक्षासत्तियुक्त पदोच्चयः ।’ अर्थात् योग्यता, आकाक्षा और आसत्ति से युक्त पदसमूह वाक्य कहा जाता है। पदार्थों के पारस्परिक संबंध का बाधाभाव योग्यता है। वाक्यार्थ के पूर्णार्थ जिज्ञासा का बना रहना आकाक्षा है। और प्रकरण से संबंध पदार्थों के बीच व्यवधान न आने देना आसत्ति है। पर कविता में वाक्यगत इन विशेषताओं को प्राप्त करना साधारणतः कठिन ही है। मात्ता, बर्ण, प्रवाह और तुकों के आग्रह से सभी व्यवस्थाओं का उचित निर्वाह नहीं हो पाता। उपर्युक्त व्यवस्था का पूर्ण पालन गद्य में ही देखा जा सकता है। पद्य में छंद की सुविधा के लिये गद्य का क्रम नहीं रखा जा सकता। पर ऐसा भी नहीं होना चाहिए कि क्रिया, कर्ता आदि में इतनी अधिक दूरी आ जाय कि अर्थ-बोध में कठिनाई उत्पन्न होने लगे। इसी को अन्वय दोष कहा गया है। इस प्रकार के दोषों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं

(१) आज कछु औरै भए, छए नए ठिक ठैन ।

चित के हित के चुगल ए नित के होहि न नैन ॥

—बिहारी

(२) काके कहैं लूटत सुने हो दधिदान मै ।

—देव

बिहारी के दोहे में 'भाए' क्रिया से कर्ता 'नैन' दूर पड़ गया है। दूसरे उदाहरण का अन्वय होगा 'काके कहैं दधि दान लूटत मै सुने हो ।'

वाक्य में न्यूनपदत्व दोष के कारण अर्थ के लिये काफी खींचतान करनी पड़ती है, साक्षात्ता आदि का निर्वाह नहीं हो पाता। इस तरह के दोष भूषण और देव में अधिक मिलते हैं

दच्छिन के सब दुग्ग जिति दुग्ग सहाय बिलास ।

सिव सेवक सिव गढ़पती कियो रायगढ बास ॥

—भूषण

'दुग्ग सहाय' का अर्थ दुर्ग को सहायक बना लेना किया जाता है, जो 'सहाय' शब्द से नहीं निकलता। सामान्यतः इसका मतलब होगा—दुर्ग है जिसका सहायक। इसमें 'बनाने' जोड़ना पड़ेगा।

अब देव का एक उदाहरण लीजिए—

अंत रुकै नहि अंतर कै मिलि, अंतरु कै सु निरंतर धारै ।

ऊपर बाहि न, ऊपर बा हित, ऊपर बाहिर की गति चारै ।

बातन हारति, बात न हारति, हारति जीभ न बातन हारै ।

देव ख्यौ सुरत्यो सुरत्यो मनु देवर की सुरत्यो न बिसारै ।

इस पर डा० नगेन्द्र की टिप्पणी है

'अब इसका अर्थ कीजिए। पहले तो अतिम पक्ति से देवर शब्द लीजिए। देवर से अंतर करके भी अत मे नहीं रुकती अर्थात् उससे मिलती ही है। मिलकर जब पृथक् होती है तो उसे निरंतर हृदय मे धारण करती है। ऊपर से (प्रकट रूप मे) उससे प्रेम नहीं करती, प्रकट रूप मे तो वर अर्थात् पति से प्रेम करती है। इस प्रकार ऊपर बाहरवाली गति से अर्थात् प्रकट रूप मे औचित्य का ध्यान रखते हुए चलती है इत्यादि। इस छंद मे न्यूनपदत्व और कष्टार्थत्व तो स्पष्ट ही है, कथितपदत्व भी पहली पक्ति मे मिलता है।'

वाक्य का दूसरा मुख्य दोष है अधिकपदत्व। इस दोष के अंतर्गत अनावश्यक रूप से ले आए गए पदों की गणना की जाती है।

संका दै दसानन को डका दै सुबंका वीर

डंका दै बिजै को कपि कूद परचो लंका में ।

—पद्माकर

इसमें एक 'डका दै' अनावश्यक रूप से प्रयुक्त किया गया है। फिर भी अधिकपद दोष बिहारी, सतिराम और पद्माकर में ढूँढने पर ही मिलेगा। इस दोष का उत्तरदायित्व भूषण और देव पर अधिक है :

(१) कातिक की बिमल पुन्यौ राति की जुन्हाई

जोति जगमग होति रूप ओप उपजति है ।

(२) बहबह्यो गंध, बहबह्यो है सुगंध

—देव

पहले उदाहरण में 'राति' अधिक पद है और दूसरे में 'बहबह्यो है सुगंध' अनावश्यक पिष्टपद है।

(ई) लिंग की गड़बड़ी—कोई भी भाषा अपनी माता तथा मातामही भाषा से बहुत कुछ ग्रहण करती हुई भी बहुत कुछ बदल जाती है। सस्कृत के बहुत से शब्दों ने हिंदी में आकर अपना लिंग बदल लिया। सस्कृत का नपुंसक लिंग तो हिंदी से उड़ा ही दिया गया। सस्कृत के आत्मा, अग्नि, वायु, अजलि आदि पुल्लिंग शब्द हिंदी में आकर स्त्रीलिंग बन गए। सस्कृत का 'तारा' स्त्रीलिंग है पर हिंदी में 'नक्षत्र' के पर्याय के रूप में वह पुल्लिंग हो गया। स्त्री का पुरुष, पुरुष का स्त्री हो जाना (वह भी आज के वैज्ञानिक युग में) आश्चर्यजनक नहीं माना जा सकता। सस्कृत के अधिकांश नपुंसक हिंदी में पुंवर्ग में आ डटे, डटे ही नहीं वे पुल्लिंग हो भी गए। जल, वन, दुग्ध आदि सस्कृत के नपुंसक शब्द हैं जो हिंदी में पुल्लिंग हो गए हैं। पर यह आश्चर्य का विषय नहीं है और इसके कारण कोई गड़बड़ी भी नहीं होती। गड़बड़ी तो तब आरंभ होती है जब एक ही वर्ग के कुछ शब्द पुंवर्ग में चले जाते हैं और कुछ स्त्रीवर्ग में। परमात्मा और आत्मा एक ही वर्ग के हैं किंतु पहला पुंवर्गीय माना गया तो दूसरा स्त्रीवर्गीय।

हिंदी में इस तरह की गड़बड़ी का एक मुख्य कारण यह है कि इसके भिन्न भिन्न अचलो की बोलियों में शब्दों के लिंगों में एकरूपता नहीं मिलेगी। रीतिकाव्यों के कवि भी, जैसा पहले दिखाया जा चुका है, बहुत सी बोलियों से प्रभावित थे। इसलिये उनके शब्द-प्रयोग में लिंग का दोष आ जाना अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। पर है यह दोष ही, भाषागत अव्यवस्था ही।

कुछ उदाहरण देखिए

(१) भूषन भनत पातसाहन त्यो बंधुजन,
बोलला वचन यौ सलाह की इलाज के।

—भूषण

(२) उचकैं कुच कद कदंब कली सी। —देव

पहले उदाहरण में 'सलाह' के बाद 'के' और 'इलाज' के बाद 'की' होना चाहिए। दूसरे में 'सी' की जगह 'से' व्याकरणसमत है।

यह अव्यवस्था तो अपने आप ही अग्राह्य है, किंतु जब एक ही शब्द कभी स्त्रीलिंग और कभी पुल्लिंग में व्यवहृत होने लगता है, और वह भी एक ही कवि द्वारा, तो अव्यवस्था अपनी सीमा तोड़ देती है

(१) लपटी पुहुप पराग पर, सनी स्वेद मकरंद।

आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद वायु गतिमद॥

(२) चुवत स्वेद मकरंदकन, तर तर तर बिरमाइ।

आवतु दच्छिन देस तैं, थक्यो बटोही बाइ॥

पहले दोहे में 'वायु' स्त्रीलिंग में प्रयुक्त है, दूसरे में पुल्लिंग में।

इसी तरह देव ने भी 'लक' शब्द को कही पुल्लिंग में और कही स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया है

(१) सु भयो छबि द्वारो लंक विचारो।

(२) लक लचकि लचकि जात।

उपर्युक्त अव्यवस्थाओं का दुष्परिणाम जो होना था वही हुआ। गद्य के उदय के साथ-साथ ब्रजभाषा अस्त हो गई। यहाँपर भाषा की जिस शिथिलता, दोष और अस्थिरता का उल्लेख किया गया है उससे स्पष्ट है कि इस तरह की भाषा गद्य के लिये व्यावहारिक नहीं हो सकती थी। इसका मतलब यह नहीं है कि परिनिष्ठित ब्रजभाषा लिखनेवाले कवि थे ही नहीं। रसखान, घनआनंद की भाषा को सब लोगो ने परिनिष्ठित ब्रजभाषा माना है, बिहारी की भाषा अपनी वृत्तियों के बावजूद भी टकसाली ही कही जायगी। किंतु अधिकांश ने भाषा की शुद्धता को और प्रायः ध्यान नहीं दिया है।

षष्ठ अध्याय

रीतिबद्ध कवियों का वर्गीकरण

रीतिकाल में निर्मित रीतिशास्त्रीय ग्रंथों पर विहगम दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि ये ग्रंथ दो प्रकार के हैं। एक वर्ग उन ग्रंथों का है जिनमें शास्त्रीय चर्चा भी की गई है तथा उसके उदाहरणस्वरूप मुक्तक पद्यों की रचना भी। दूसरे शब्दों में, इन ग्रंथों में लक्षण तथा लक्ष्य दोनों रूपों को समुचित स्थान मिला है। उदाहरणार्थ, चिंतामणि का कविकुलकल्पतरु, मतिराम का रसरज, कुलपति का रसरहस्य, देव का शब्दरसायन और सुखसागरतरंग, श्रीपति का काव्यसरोज, सोमनाथ का रसपीयूषनिधि, भिखारीदास का काव्यनिर्णय, प्रतापसाहि का काव्यविलास आदि इसी कोटि के ग्रंथ हैं। दूसरा प्रकार उन ग्रंथों का है जिनमें लक्षणबद्ध रूप में शास्त्रीय चर्चा तो प्रस्तुत नहीं की गई—केवल कवित्वमय पद्यों को ही स्थान मिला है, पर उन पद्यों की रचना करते समय कवियों का ध्यान रीतिशास्त्रीय सिद्धांतों पर अवश्य रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं है। इन ग्रंथों में शास्त्रीय सिद्धांतरूपक लक्षण भले ही न हों, पर इनके पद्य किसी न किसी काव्याग के किसी न किसी रूप में लक्ष्य अवश्य हैं। उदाहरणार्थ बिहारी सतसई, मतिराम सतसई, रसनिधि का रतनहजारा, रामसहाय की रामसतसई आदि ग्रंथ इसी कोटि के हैं। इनके अतिरिक्त रीतिकाल में रचे गए कतिपय नखशिख, षड्भक्तु, बारहमासा आदि भी इसी कोटि के अंतर्गत आते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि ये रीतिग्रंथ दो प्रकार के हैं—लक्षणलक्ष्य बद्ध तथा लक्ष्यबद्ध। इन दो प्रकारों के आधार पर रीतिकवियों को भी दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—शास्त्रकवि तथा काव्यकवि। चिंतामणि, तोष, जसवतसिंह, मतिराम, भूषण, कुलपति, सुखदेव, देव, सूरति मिश्र, कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ, गोविंद, रसलीन, भिखारीदास, दूलह, पद्माकर, बेनीप्रवीन, प्रतापसाहि आदि लक्षणलक्ष्य बद्ध ग्रंथों के निर्माता होने के कारण रीतिशास्त्र कवि हैं, और बिहारी आदि लक्ष्यबद्ध ग्रंथों के निर्माता होने के कारण रीतिकाव्य कवि। वस्तुतः दूसरे वर्ग के विशुद्ध कवियों की संख्या प्रथम वर्ग के कवियों की अपेक्षा बहुत कम है। ऐसे अनेक कवि हैं जिन्होंने दोनों प्रकार की रचनाएँ की हैं। उदाहरणार्थ कुलपति ने रसरहस्य की भी रचना की है तथा नखशिख की भी। इसी प्रकार मतिराम ने ललितललाम, अलंकार-पचाशिका और रसरज के अतिरिक्त मतिराम सतसई का भी प्रणयन किया है। देव की भी दोनों प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध हैं। एक ओर शब्दरसायन, सुखसागरतरंग आदि ग्रंथ हैं तो दूसरी ओर देवशतक आदि।

निष्कर्ष यह कि रीतिकालीन संपूर्ण रीतिग्रंथों को हम दो व्यापक वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) लक्षणलक्ष्य बद्ध और (२) लक्ष्यबद्ध। इनके आधार पर इनके निर्माताओं के भी दो वर्ग हो जाते हैं—(१) शास्त्रकवि और (२) काव्यकवि। इनमें कतिपय कवि ऐसे हैं जो शास्त्रकवि भी हैं और काव्यकवि भी।

तृतीय खंड

आचार्य कवि

प्रथम अध्याय

लक्षणाबद्ध काव्य की सामान्य विशेषताएँ

१ सस्कृत में रीतिशास्त्र (काव्यशास्त्र) की परंपरा

रीतिकालीन लक्षणाबद्ध काव्य का विवेच्य विषय अधिकांशतः सस्कृत काव्य-शास्त्रीयपरंपरा पर आधारित होते हुए भी विषयवस्तु और प्रतिपादन शैली, दोनों दृष्टियों से उसके समान गंभीर एवं प्रौढ़ नहीं है । सस्कृत का काव्यशास्त्र क्रमशः विकसित सिद्धान्तों का विश्वकोश है । २री-३री शती ई० पू० से लेकर १७वीं शती तक इसके सिद्धान्तों में निरंतर कभी तीव्र और कभी मंद गति से विकास होता रहा । काव्यविधान की जो अवस्था रसवादी भारत के समय (२री-३री शती ई० पू०) में थी, वह अलंकार को काव्यसर्वस्व माननेवाले भामह और दंडी के समय (६ठी-७वीं शती ई०) में परिवर्तित हो गई । इनके अनुसार रस अलंकार का एक रूप बन गया । आगे चलकर ९वीं शती में एक साथ तीन प्रबल काव्याचार्यों का आविर्भाव हुआ । इनमें से वामन ने रीति का आविष्कार कर अलंकार और रस को गौण स्थान दिया । उद्भट ने अलंकारवाद का प्रबल समर्थन किया और आनंदवर्धन ने ध्वनि सिद्धांत का प्रतिष्ठापन कर काव्यशास्त्र को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया । इनके पश्चात् पूरे दो सौ वर्षों तक विभिन्न काव्यशास्त्री ध्वनि सिद्धांत का विरोध भी करते रहे । धनंजय (१०वीं शती) ने उसे तात्पर्य में अंतर्भूत किया, कुतक (१०वीं-११वीं शती) ने वक्रोक्ति में और महिम भट्ट (११वीं शती) ने अपने गंभीर विवेचन द्वारा ध्वनिविरोधियों का समर्थन शैली में खंडन प्रस्तुत कर ध्वनि सिद्धांत की अकाट्य रूप से स्थापना की और इसके प्रति बद्धमूल आस्था को दृढ़ कर दिया । यह आस्था आगामी छह शताब्दियों तक निरंतर बनी रही । यहाँ तक कि अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग स्वीकृत करनेवाले जयदेव (१३वीं शती) ने अपने ग्रंथ में ध्वनि प्रकरण को स्थान दिया, और ध्वनि के स्थान पर रस को काव्य की आत्मा घोषित करनेवाले विश्वनाथ (१४वीं शती) ने केवल ध्वनिप्रकरण का निरूपण ही नहीं किया, अपितु मम्मट की परंपरा के अनुसार ध्वनि के भेदों में रस का भी यथावत् अंतर्भाव किया । सस्कृत के अंतिम प्रकांड आचार्य जगन्नाथ (१७वीं शती) ने भी ध्वनि सिद्धांत का पूर्ण समर्थन किया ।

उक्त मूल आचार्यों के अतिरिक्त टीकाकारों का भी इस दिशा में योगदान कुछ कम नहीं है । भारत के प्राचीन व्याख्याताओं में उद्भट, लोल्लट, शकुन, भट्ट तौत, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं । इनमें से अभिनवगुप्त की टीका अभिनव-भारती उपलब्ध है । अन्य टीकाकारों का इसी टीका में उल्लेख मिलता है । उद्भट ने भामह के ग्रंथ की भी टीका प्रस्तुत की थी । दंडी के ग्रंथ के प्रसिद्ध टीकाकार तरुण वाचस्पति हैं । उद्भट के ग्रंथ के दो टीकाकार हैं—रजानक तिलक तथा प्रतिहारेदुराज । वामन के ग्रंथ के प्रसिद्ध टीकाकार हैं गोपेन्द्र त्रिपुर हरभूपाल । आनंदवर्धन के ग्रंथ के टीकाकारों में अभिनवगुप्त का नाम उल्लेख्य है । धनंजय के ग्रंथ के टीकाकार धनिक हैं और महिम भट्ट के मुख्यतः मम्मट के ग्रंथ के लगभग सत्तर टीकाकार बताए जाते हैं जिनमें से उद्भावक एवं प्रख्यात टीकाकार गोविंद ठक्कुर हैं । विश्वनाथ के ग्रंथ के प्रसिद्ध टीकाकार

रामचरण तर्कवागीश और शालग्राम हैं तथा जगन्नाथ के नागेश भट्ट । इन टीकाकारों के गभीर, प्रौढ एवं तर्कसमय व्याख्यान विवेचन ने काव्यशास्त्रीय समस्याओं को सुलझाने में महत्वपूर्ण सहायता दी है । मम्मट से पूर्व और उनके पश्चात् अनेक आचार्यों ने सग्रह-ग्रंथों का भी निर्माण किया । मम्मट से पूर्ववर्ती आचार्यों में रुद्रट, भोज और अग्निपुराणकार के नाम उल्लेखनीय हैं एवं परवर्ती आचार्यों में जयदेव तथा विश्वनाथ के अतिरिक्त हेमचंद्र, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, विद्याधर, विद्यानाथ, केशव मिश्र और कवि कर्ण-पूर के । मम्मट के परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों पर मम्मट का विशिष्ट प्रभाव है । इन सभी आचार्यों ने काव्य के सभी अंगों का निरूपण किया है । इनके अतिरिक्त भानु मिश्र ने दो ग्रंथों का निर्माण किया । इनमें से रसतरंगिणी रसविषयक ग्रंथ है और रसमंजरी नायक नायिका भेद-विषयक । अप्पय्य दीक्षित के तीन ग्रंथों में से वृत्तिवार्तिक का वर्ण्य विषय शब्दशक्ति है और कुवलयानंद तथा चित्रमीमांसा का अलंकार ।

संस्कृत के काव्याचार्यों ने काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के अतिरिक्त नाट्यशास्त्रीय सिद्धांतों का भी समय समय पर विवेचन किया । भरत के नाट्यशास्त्र को व्यापक, विस्तृत एवं बहुविध विषयसामग्री यह मानने को बाध्य करती है कि यह ग्रंथ नाट्यविधान सबंधी अनेक ग्रंथों की सामग्री के आधार पर रचित है । इसके पश्चात् अनेक शताब्दियों से प्रचलित यह परंपरा समाप्त सी हो गई । इसका कारण यह प्रतीत होता है कि काव्यविधान के उत्तरोत्तर गभीर निर्माण ने आचार्यों को उस दिशा से विमुख सा कर दिया । इनके तेरह चौदह सौ वर्षों उपरांत धनजय, सागरनदी, रामचंद्र गुणचंद्र, शारदातनय और शिगभूपाल ने प्रमुख नाट्यशास्त्र के ग्रंथों का निर्माण कर इस काव्यांग का पुनरुद्धार किया । सर्वांग-निरूपक आचार्यों में अकेले विश्वनाथ ने ही धनजय के ग्रंथ से प्रेरणा प्राप्त कर नाट्यविधान को भी अपने ग्रंथ में समिलित किया है । हमारे विचार में नायक नायिका भेद का विषय काव्यशास्त्र की अपेक्षा नाट्यशास्त्र से ही अधिक सबद्ध है । यही कारण है कि उक्त सभी नाट्यशास्त्रकारों ने इस प्रसंग का भी निरूपण आवश्यक समझा है । इनके अतिरिक्त रुद्रट, रुद्र भट्ट, भोज, अग्निपुराणकार, भानु मिश्र, रूप गोस्वामी, अकबर शाह आदि ने भी इस प्रकरण का शृंगार रस के अंतर्गत निरूपण किया है । इनमें से रुद्र भट्ट, भानु मिश्र, रूप गोस्वामी और अकबर शाह के ग्रंथों का तो प्रधान विषय ही नायक नायिका भेद है ।

काव्यसिद्धांत और नाट्यसिद्धांत के अतिरिक्त संस्कृत, काव्यशास्त्र का तीसरा प्रधान विषय है—कविशिक्षा । राजशेखर, वाग्भट द्वितीय, अमरचंद्र और देवेश्वर ने अपने ग्रंथों में अन्य काव्यांगों के साथ कविशिक्षा का भी विस्तार से आख्यान किया है । इस प्रकार दो सहस्राब्दियों तक व्याप्त यह काव्यशास्त्रीय परंपरा काव्य, नाटक और कविशिक्षा सबंधी सिद्धांतों का निरंतर सर्जन, विवेचन एवं सकलन प्रस्तुत करती रही ।

२. हिंदी रीतिकालीन लक्षणबद्ध काव्य

(१) विवेच्य विषय एवं स्रोत—ईसा की १७वीं शती के मध्य भाग में संस्कृत की उक्त काव्यशास्त्रीय परंपरा के क्षीण होते ही इसे हिंदी के आचार्यों ने अपना लिया । संस्कृत के अंतिम प्रकांड आचार्य जगन्नाथ और हिंदी के प्रथम प्रतिनिधि आचार्य चित्तामणि, दोनों समकालीन थे । जगन्नाथ शाहजहाँ के सभापंडित थे और चित्तामणि का शाहजहाँ द्वारा पुरस्कृत किया जाना इतिहासोल्लिखित घटना है । वस्तुतः हिंदी की यह काव्यशास्त्रीय परंपरा ईसा की १६वीं शती के उत्तरार्ध से प्रारंभ हो गई थी । इस शती के पिछले ५० वर्षों में कृपाराम, सूरदास, नंददास, रहीम, मोहनलाल, सुंदर आदि नायक-नायिका भेद सबंधी ग्रंथों का और गोपा तथा करनेस अलंकार सबंधी ग्रंथों का प्रणयन कर चुके थे । इनके अतिरिक्त केशव ने काव्य के लगभग सभी अंगों का निरूपण किया

था। १७वीं शती का पूर्वार्ध, अर्थात् केशव के उपरांत ५० वर्ष तक का समय, काव्यशास्त्रीय ग्रंथ निर्माण की दृष्टि से नितांत निष्क्रिय समझा जाना है। परंतु यह धारणा तभी तक रहेगी, जबतक इस काल में निर्मित काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की उपलब्धि नहीं होती। हमारा विश्वास है कि यह परंपरा इस अंतराल में भी विच्छिन्न नहीं हुई। हाँ, यह अलग बात है कि इस कालखंड के काव्यशास्त्रीय ग्रंथ सख्या की दृष्टि से अपेक्षाकृत अत्यल्प तथा साधारण कोटि के भी हो और संभवतः इसी कारण काल के कराल गत में लुप्त हो गए हों। अस्तु। हिंदी काव्यशास्त्र की यह धारा वि० स० १७०० (सन् १६४३ ई०) के आसपास तीव्र वेग से प्रवाहित हुई और लगभग वि० स० १९०० (सन् १८४३) तक निरंतर चलती रही। हिंदी के तत्कालीन आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों को 'रीति' नाम से अभिहित किया है। इसी आधार पर आधुनिक इतिहासकारों ने दो सौ वर्षों के इस साहित्यिक काल को 'रीतिकाल' की संज्ञा दी है। इस काल के प्रथम प्रतिनिधि आचार्य चित्तामणि हैं और अंतिम प्रतापसाहि। लगभग २०० वर्षों के इस दीर्घ काल में शतशत रीति-ग्रंथों का निर्माण हुआ।

जैसा हम स्केत कर चुके हैं, रीतिकालीन लक्षणबद्ध रीतिग्रंथ अपने शास्त्रीय विवेच्य विषय के लिये संस्कृत के काव्यशास्त्रों के ऋणी हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य-विधान, नाट्यविधान तथा कविशिक्षा इन तीनों विषयों का विवेचन होता रहा है, पर इधर हिंदी रीतिकालीन रीतिग्रंथों में अधिकांशतः काव्यविधान को ही स्थान दिया गया है, शेष दो विषयों को नहीं। नाट्यविधान से सबद्ध हिंदी का केवल एक ग्रंथ उपलब्ध है—नारायणकृत नारायणदीपिका। कविशिक्षा सबंधी उल्लेख भी केवल एक ही ग्रंथ—केशवप्रणीत कविप्रिया—में उपलब्ध है पर यह ग्रंथ रीतिपूर्व युग का है।

संस्कृत का काव्यशास्त्र समय समय पर रसवाद, अलंकारवाद, रीतिवाद, ध्वनिवाद तथा वक्रोक्तिवाद का समर्थन एवं खंडन मंडन प्रस्तुत करता रहा है। इधर हिंदी के रीतिकालीन आचार्य इन वादों के पचड़े में नहीं पड़े। इनमें से अधिकांश ने नायक-नायिका भेद विषयक ग्रंथों का निर्माण किया है, कुछ ने अलंकार ग्रंथों का और कुछ ने इन दोनों का। नायकनायिका भेद के लिये वे प्रायः भानुमिश्र के ऋणी हैं तथा अलंकारों के लिये प्रायः अप्यय्य दीक्षित के। संस्कृत के ये दोनों आचार्य वस्तुतः किसी भी उपर्युक्त वाद अथवा संप्रदाय से सबद्ध नहीं थे। अतः इनके अनुकर्ता हिंदी के आचार्यों को भी किसी वाद अथवा संप्रदाय का समर्थक कहना युक्तियुक्त नहीं होगा। हिंदी के कुछेक आचार्यों ने विविधागनिरूपक ग्रंथों का भी निर्माण किया है जिनकी सख्या अपेक्षाकृत अत्यल्प है। इस क्षेत्र में वे प्रायः मम्मट अथवा विश्वनाथ अथवा दोनों के ऋणी हैं। मम्मट ध्वनिवादी आचार्य थे और विश्वनाथ रसवादी। ये दोनों आचार्य काव्यशास्त्रीय अन्य वादों एवं संप्रदायों से पूर्णतया अवगत थे। उनसे अवगत रहकर इन्होंने ध्वनिवाद अथवा रसवाद का निर्वाचन एवं समर्थन किया है। इधर हिंदी के आचार्य अलंकारवाद, रीतिवाद तथा वक्रोक्तिवाद से पूर्णतया अवगत नहीं थे—अतः इनके लिये पाँचों वादों में से किसी एक वाद के निर्वाचन का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। वस्तुतः मम्मट के उपरांत उनके ग्रंथ का इतना अधिक प्रभाव एवं प्रचार हो गया था कि संस्कृत के आचार्य भी शताब्दियों तक ध्वनि को छोड़ अन्य वादों की ओर प्रायः प्रवृत्त नहीं हो सके। हेमचंद्र, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जगन्नाथ—ये सभी प्रख्यात आचार्य ध्वनिवाद के समर्थक और अधिकांशतः मम्मट के अनुकारक रहे हैं। एक भी ऐसा आचार्य नहीं है जिसने अलंकारवादी भामह, दंडी और उद्भट का अनुकरण किया हो, अथवा जो रीतिवादी वामन अथवा वक्रोक्तिवादी कुतक का अनुगामी रहा हो यहाँ तक कि जयदेव ने भी, जिन्हें अलंकारवादी समझा जाता है, उक्त तीनों अलंकारवादियों

का अनुकरण नहीं किया। इस प्रकार मम्मट और फिर विश्वनाथ के अनुकरण की यह परंपरा संपूर्ण हिंदी रीतिकाल तक अक्षुण्ण बनी रही। इसी परंपरागत मार्ग का अवलंबन करते हुए विविध काव्यागनिरूपको में से किसी ने मम्मट के समान ध्वनि का तथा किसी ने विश्वनाथ के समान रस का समर्थन किया। पर इस समर्थन का उत्तरदायित्व इस बात पर इतना नहीं है कि वे किसी एक सिद्धांतविशेष के प्रति विवेचनबुद्धि से उन्मुख हुए थे, अपितु इस बात पर अधिक है कि उन्होंने मम्मट अथवा विश्वनाथ में से किसी एक के ग्रंथ का आधार लिया था। हिंदी के प्रख्यात आचार्यों में देव ने अलंकारों के लक्षणों के लिये दंडी के ग्रंथ से भी सहायता ली है पर इसका कारण भी अलंकारवाद का समर्थन नहीं है। एक कारण तो केशव का अनुकरण है और दूसरा कारण सग्रहप्रवृत्ति है। इन्होंने अपने एक ग्रंथ में अलंकारों के स्वरूप के लिये मम्मट और विश्वनाथ की सहायता ली है, तो दूसरे ग्रंथ में दंडी की।

निष्कर्ष यह है कि

(१) नायकनायिकाभेद निरूपक आचार्यों को यदि हम रसवादी आचार्यों माने, तो इस कारण नहीं कि इन्होंने विश्वनाथ के समान रस को कव्य की आत्मा मानते हुए रस की तुलना में ध्वनि, वक्रोक्ति आदि को अपेक्षाकृत निम्न कोटि का काव्याग स्वीकृत किया है, अपितु इसलिये मानेंगे कि इन्होंने भानु मिश्र के समान रस प्रकरण के एक व्यापक अंग नायकनायिका भेद का विस्तृत निरूपण प्रस्तुत किया है, जिससे प्रकारांतर से इनकी प्रवृत्ति 'रसवाद' की ओर प्रतीत होती है।

(२) ठीक यही स्थिति अलंकारनिरूपक आचार्यों की भी है। इन्हें यदि हम अलंकारवादी मानेंगे तो इस दृष्टि से नहीं कि ये भामह, दंडी एवं उद्भट के समान अन्य काव्यागों का अंतर्भाव 'अलंकार' में करने के समर्थक है, अपितु इसलिये मानेंगे कि इन्होंने जयदेव एवं अप्पय्य दीक्षित के समान 'अलंकार' का विस्तृत निरूपण प्रस्तुत कर प्रकारांतर से अलंकारवाद की ओर अपनी प्रवृत्ति दिखाई है।

(३) इसी प्रकार विविधागनिरूपक आचार्यों ध्वनिवाद अथवा रसवाद से इसलिये सबद्ध समझे जाने चाहिए कि वे मम्मट अथवा विश्वनाथ के ग्रंथों के ऋणी हैं, न कि इसलिये कि वे पाँचों वादों के पूर्ण ज्ञाता होकर किसी एक वाद को सर्वोत्कृष्ट समझने के कारण उसके समर्थक हो गए हैं।

(२) सस्कृत के आचार्यों और हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों की उद्देश्य-भिन्नता—रीतिकालीन ग्रंथों के विवेच्य विषय के सामान्य अवलोकन के उपरांत स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि ये कवि लक्षणबद्ध साहित्यनिर्माण की ओर आकृष्ट क्यों हुए? क्या इसलिये कि ये हिंदी साहित्य से सबद्ध काव्यशास्त्र का निर्माण करना चाहते थे? अथवा इसलिये कि ये सस्कृत काव्यशास्त्र का हिंदी में उल्था प्रस्तुत करना चाहते थे? इन दो संभावनाओं में से द्वितीय संभावना अपेक्षाकृत अधिक सबल है। यदि इनका उद्देश्य हिंदी साहित्य सबद्धी काव्यशास्त्र का निर्माण करना होता तो ये अपने ग्रंथों के उदाहरण पक्ष के लिये सस्कृत आचार्यों के समान अपने पूर्ववर्ती काव्यों से उद्धरण देते, न कि स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत करते। हिंदी साहित्य का आदिकालीन तथा भक्तिकालीन साहित्य विषयसामग्री एवं प्रतिपादन शैली, दोनों दृष्टियों से बहुमुखी एवं व्यापक होने के कारण उक्त उद्देश्यपूर्ति के लिये किसी भी रूप में कम उपादेय अथवा समर्थ सिद्ध न होता। सस्कृत काव्यशास्त्र का निर्माण निस्संदेह सस्कृत साहित्य को लक्ष्य में रखकर हुआ था। शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, नायकनायिका भेद, अलंकार, रीति और दोष की उत्तरोत्तर वर्धमान संख्या इस तथ्य का प्रमाण है कि लक्ष्यग्रंथों की आलोचना के आधार

पर सस्कृत काव्यशास्त्री काव्यागो के प्रकारों में वृद्धि करते चले गए । यदि कुतक तथा जयदेव ने अलंकारों की सख्या को और मम्मट ने गुणों तथा अलंकारों की सख्या को सीमित किया, अथवा मम्मट ने अलंकारदोषों को नितात अस्वीकृत किया, तो उनका आशय इन सबका स्वसमत काव्यागो में अतर्भाव करना ही था, इन्हें लक्ष्यग्रथों में अस्वीकृत करना उनको अभीष्ट नहीं था । सस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धांत धीरे धीरे विकसित एवं खडिन-मडित होते होते आनंदवर्धन और तदुपरांत मम्मट के समय तक प्रौढ तथा स्थिर रूप धारण कर चुके थे । पर इधर हिंदी के आचार्यों ने लक्ष्यग्रथों को आधार बनाकर स्वतंत्र सिद्धांतों का निर्माण नहीं किया । यही कारण है कि सस्कृत के आचार्यों के समान इनके ग्रंथों में सिद्धांतों का क्रमिक विकास परिलक्षित नहीं होता । चित्तामणि के दो सौ वर्ष उपरांत भी प्रतापसाहि द्वारा प्रतिपादित मूलभूत सिद्धांतों में कोई अंतर नहीं आया । यदि हिंदी के किसी आचार्य ने पूर्ववर्ती हिंदी आचार्यों के ग्रंथों का अवलोकन किया भी है, तो उनके सिद्धांतों के परीक्षण, पोषण, समालोचन, विवेचन, परिवर्धन अथवा खडिन-मडन के उद्देश्य से नहीं, अपितु सस्कृत के ग्रंथों का आधार ग्रहण करने से बचने अथवा एकत्र वस्तुविषय को अपने रूप में ढालने के ही उद्देश्य से । उदाहरणार्थ, प्रतापसाहि कृत काव्यविलास अधिकांशतः कुलपति की सामग्री पर आधारित है, सोमनाथ ने अलंकारप्रकरण के लिये जसवतसिंह के ग्रंथ से प्रायः सहायता ली है और भूषण ने मतिराम के ग्रंथ से ।

निस्संदेह कुछ आचार्य ऐसे भी हैं, जिन्होंने हिंदी काव्य की विकासशील प्रवृत्तियों को भी ध्यान में रखा है । भिखारीदास ने 'तुक' का विवेचन हिंदी को ही लक्ष्य कर किया है । अपने काव्यहेतु प्रसंग में उन्होंने हिंदीभाव के कवियों का नामोल्लेख किया है । साथ ही उनके दोषप्रकरण के उदाहरणों में भी हिंदी का बानावरण है । देव और दास दोनों ने नवीन प्रकार की नायिकाओं तथा दूतियों का उल्लेख किया है जो हिंदी काव्य की सभ्यता अपनी है । पर एक तो दो सौ वर्षों तक इस रीतिपरंपरा में ऐसे आचार्य इने गिने ही हैं, दूसरे, इन आचार्यों की ये नवीनताएँ समस्त विषयसामग्री का शतांश भी नहीं हैं, तीसरे, यदि गवेषणा की जाय तो आश्चर्य नहीं कि इन आचार्यों की अधिकतर उद्भावनाएँ भी सस्कृत काव्यशास्त्रों में ही उपलब्ध हो जायँ । उदाहरणार्थ, नायकनायिका-भेद प्रसंगों में तोष, रसलीन, दास आदि ने उद्बुद्ध, उद्बोधिता आदि ऐसे भेदों का उल्लेख किया है जो भानु मिश्र के प्रख्यात ग्रंथ रसमंजरी में उपलब्ध नहीं हैं, पर इनका स्रोत सद्यः-उपलब्ध अकबर शाह कृत शृंगारमंजरी में मिल जाता है । कहीं कहीं ये तथाकथित नवीनताएँ अपने मूल रूप से अथवा स्वाभाविक रूप से इतनी भिन्न हो गई हैं कि हम इन्हें मौलिक समझ लेते हैं । उदाहरणार्थ, केशवसमत लगभग सभी नवीन दोष नामभेद के साथ मम्मट के दोषप्रसंग पर आधारित मालूम पड़ते हैं । उनका 'अध' दोष मम्मट का 'प्रसिद्धिविरुद्ध' है । 'बधिर' के केशवप्रस्तुत उदाहरण में मम्मटसमत 'अममर्थ' दोष की छाया है । 'पंगु' दोष परंपरागत 'हतवृत्तता' है, आदि । इसी प्रकार भूषण का 'आविक छवि' अलंकार कोई नया अलंकार नहीं है, सस्कृत काव्यशास्त्र के 'आविक' का ही एक अन्य अथवा प्रवर्धित रूप है । देव का 'छल' नामक सचारी भाव विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में उपलब्ध नहीं है, पर भानु मिश्र की रसतरंगिणी में मिल जाता है ।

इस प्रकार कुछ मिलाकर यह निष्कर्ष निकालने में सकोच नहीं होना चाहिए कि हिंदी के आचार्यों का उद्देश्य हिंदी साहित्य संबंधी नवीन काव्यशास्त्र का निर्माण करना नहीं था । निस्संदेह ये आचार्य सस्कृत काव्यशास्त्र का हिंदी उल्था ही प्रस्तुत करना चाहते थे । इस प्रवृत्ति का प्रमुख उद्देश्य शृंगार रस परिपूर्ण अथवा स्तुतिपरक कवित्त सबैएँ लिखकर अपने आश्रयदाता राजाओं से सुखद आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त करना था और गौण उद्देश्य था उन सुकुमारबुद्धि आश्रयदाताओं, उनके कुमारी एवं पारिषदों को सरल

रूप में काव्यशास्त्र सबधी शिक्षा देना । बाह्य राजनीतिक वातावरण से उदासीन इन शासकों की दरबारी सभाओं का विभिन्न प्रकार के कलाविदों से परिपूर्ण रहना स्वाभाविक था । हिंदी के ये रीतिकालीन आचार्य उन कलाविदों में से ही थे । ये एक साथ ही कवि भी थे और शिक्षक भी । कवि होने के नाते इन्होंने शृंगार रस परिपूर्ण अथवा स्तुतिपरक रचनाओं का निर्माण किया और शिक्षक होने के नाते काव्य के विभिन्न अंगों का परंपरागत शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया । उनके रीति ग्रंथ इस दोहरे उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर रचे गए हैं । इससे एक लाभ तो यह हुआ कि इन कवियों को शृंगार रस की धारा प्रवाहित करने के लिये उपकरणभूत बहुविध सामग्री अनायास मिल गई, और दूसरा लाभ यह कि विलासप्रिय एवं कामुक राजाओं एवं उनके पारिषदों को शृंगार-रस के चषकों के साथ साथ काव्यशास्त्र की सुबोध शिक्षा भी श्रवण श्रावण अथवा पठन-पाठन के रूप में मिलती रही ।

उधर संस्कृत के काव्यशास्त्री इन बंधनों एवं दरबारी वातावरण से नितांत विनिर्मुक्त विद्याव्यसनी आचार्य थे । इनमें से अधिकतर स्वयं कवि भी नहीं थे । डेढ़ दो हजार वर्षों की काव्यशास्त्रीय शृंखला में केवल दो चार आचार्यों—दंडी, जयदेव, विद्या-धर, विद्यानाथ, जगन्नाथ और नरसिंह कवि—ने स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत किए हैं । इनमें दंडी, जयदेव और जगन्नाथ का उद्देश्य उदाहरणनिर्माण द्वारा किसी को प्रसन्न करके आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त करना नहीं था । शेष तीनों आचार्यों ने स्वनिर्मित उदाहरणों को अपने आश्रयदाताओं के स्तुतिगान का माध्यम अवश्य बनाया है, पर शृंगार रस के चषक पिलाना इनका लक्ष्य नहीं था । और फिर, ये तीनों आचार्य संस्कृत काव्यशास्त्र के महारथी भी नहीं समझे जाते । पर इधर हिंदी के अधिकांश काव्यशास्त्रियों का प्रमुख लक्ष्य शृंगार एवं स्तुतिपरक उदाहरणों का निर्माण करना है । इस सामान्य प्रवृत्ति के कतिपय अपवाद भी हैं । भूषण के उदाहरणों में शृंगार रस की मृदु एवं मादक तरंगों के स्थान पर वीर रस की उच्छल और उत्तेजक तरंग हैं । पर काव्यनिर्माण के विभिन्न उद्देश्यों में से उनका एक उद्देश्य कदाचित् शिवाजी की स्तुति गाकर पुरस्कारप्राप्ति भी था । इस उद्देश्य के भी अपवाद उपलब्ध हैं । राजा जसवतसिंह जैसे आश्रयदाताओं को न तो स्वरचित उदाहरणों द्वारा किसी को प्रसन्न करने की चिंता थी और न राजसभामंडपको हर्षध्वनि से गुंजित करने के लिये उदाहरण के रूप में कवित्त सवैया प्रस्तुत करने की । जयदेव के समान उन्होंने शास्त्रीय विवेचन और उदाहरण को एक ही छोटे से छंद (दोहा और सोरठा) में समाविष्ट करने का सफल प्रयास किया है । इस दृष्टि से उनका भाषाभूषण विशुद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है । पर ऐसे ग्रंथ गिने चुने ही हैं । अधिकतर ग्रंथ उदाहरणनिर्माण की दृष्टि से ही लिखे गए हैं, और उनमें अनेकरूपता लाने के उद्देश्य से परंपरागत काव्यांगों का आश्रय लिया गया है । हाँ, शृंगार रस परिपूर्ण उदाहरणनिर्माण की प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि केवल उन्हीं काव्यांगों का निरूपण अधिकता से किया गया, जिनके निरूपण में आचार्यों को सरस उदाहरणनिर्माण के लिये पर्याप्त सामग्री एवं सुविधा मिल जाती थी । फलस्वरूप नायक नायिका भेद सबधी जितने ग्रंथों का निर्माण हुआ, उतने अन्य काव्यांग सबधी ग्रंथों का नहीं । ग्रंथसंख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान अलंकार ग्रंथों का है और तीसरा स्थान विविधांगनिरूपक ग्रंथों का ।

३ प्रतिपादन शैली

हिंदी रीतिकालीन आचार्यों की प्रतिपादन शैली पर प्रकाश डालने से पूर्व संस्कृत के आचार्यों की प्रतिपादन शैली पर सामान्य दृष्टिपात आवश्यक है । इन आचार्यों की शैली को तीन प्रधान रूपों में विभक्त कर सकते हैं—पद्यात्मक शैली, वृत्ति शैली और कारिकावृत्ति शैली ।

(क) पद्यात्मक शैली—संस्कृत के कुछ आचार्यों ने केवल पद्यात्मक शैली को अपनाया है। उदाहरणार्थ भरत, भामह, दंडी, उद्भट, वाग्भट प्रथम, जयदेव, अण्णय्य दीक्षित आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से भरत ने कुछ स्थलों पर गद्य का भी आश्रय लिया है।

(ख) सूत्रवृत्ति शैली—वामन और रुय्यक के शास्त्रीय सिद्धांत सूत्रबद्ध हैं, और सूत्रों की वृत्ति गद्यात्मक है। उदाहरणों के लिये इन दोनों ने पद्य का आश्रय लिया है। इनसे मिलती जुलती शैली भानु मिश्र, जगन्नाथ, अकबर शाह आदि की है।

(ग) कारिकावृत्ति शैली—आनंदवर्धन, कुतक, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने कारिकावृत्ति शैली को अपनाया है। इनके प्रमुख शास्त्रीय सिद्धांत कारिकाबद्ध हैं। उनकी व्याख्यात्मक विवेचना गद्यबद्ध वृत्ति में है और उदाहरण पद्यात्मक है।

इधर हिंदी के अधिकतर आचार्यों ने सामान्यतः प्रथम शैली को अपनाया है। वाग्भट प्रथम की प्रतिपादन शैली के समान शास्त्रीय विवेचन के लिये इन्होंने दोहा और सोरठा जैसे छोटे छंदों का प्रयोग किया है और उदाहरण के लिये प्रायः कवित्त सर्वैया जैसे बड़े छंदों का। केशव, तोष, मंतिराम, भूषण, देव, कुमारमणि भट्ट, भिखारीदास, दूलह, पद्माकर, बेनीप्रवीन आदि की प्रतिपादन शैली यही है। जसवतसिंह की शैली इन आचार्यों से थोड़ी भिन्न है। इन्होंने जयदेव के समान शास्त्रीय विवेचन और उदाहरण को प्रायः एक ही दोहे में समाविष्ट करने का प्रयास किया है। सूत्रवृत्ति शैली में रचित हिंदी का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। कारिकावृत्ति शैली में चिंतामणि, कुलपति, सोमनाथ, प्रतापसाहि के ग्रंथों को रख सकते हैं। पर वस्तुतः ये ग्रंथ संस्कृत आचार्यों की इस शैली के ठीक अनुरूप नहीं हैं। आनंदवर्धन, मम्मट आदि आचार्यों ने गद्यबद्ध वृत्ति को कारिकागत शास्त्रीय सिद्धांतों की व्याख्या का साधन बनाया है। इधर कुलपति आदि उक्त आचार्यों ने भी कही कही गद्यबद्ध वृत्ति का आश्रय इसी उद्देश्य से लिया है, पर इनका गद्यभाग एक तो संस्कृत ग्रंथों में प्रयुक्त गद्यभाग की तुलना में मात्रा की दृष्टि से शतांश भी नहीं है, और दूसरे, न तो यह परिष्कृत एवं पुष्ट है, और न इसमें गंभीर विवेचन का प्रयत्न ही किया गया है। 'शृंगारमजरी' ग्रंथ निस्संदेह एक अपवाद है। पर एक तो यह हिंदी का मौलिक ग्रंथ न होकर सत अकबर शाह की आधुनिक रचना 'शृंगारमजरी' का संस्कृत के माध्यम से चिंतामणिद्वारा हिंदी अनुवाद है, और दूसरे, इसके अनुवादक ने प्रायः सर्वत्र पद्यात्मक शैली का भी समावेश कर दिया है। कारिकावृत्ति शैली में लिखनेवाले संस्कृत आचार्यों का इन आचार्यों से एक भेद और भी है कि उन आचार्यों के उदाहरण जहाँ उद्धृत हैं वहाँ इनके स्वनिर्मित हैं। इस शैली के कुछ उदाहरण लीजिए—

कुलपति—

अथ काव्य का कारण ॥

दो०—शब्द अर्थ जिततें बनें नीकी भाँति कवित्त ।

सुधि धावन समरथ्य तिन कारण कबि को चित्त ॥

टी०—वैसे चित्त का कारण कही शक्ति, कही वित्पत्ति, कही अभ्यास, कही तीनों जानिए विशेष भेद कहने के लिये कवित्त की शरीरसामग्री कहते हैं

प्रतापसाहि—

अनुचितार्थ—याको नाम ही लक्षण है ॥ यथा—

सहे घाव अंगन अमित सुनि दुहुभि घनघोर ।

समरभूमि अविचल रहे हैं कर काठ कठोर ॥

टी०—इहा काठ पद ते कातरता अनुचितार्थ है सब के घाव सहै आप काहू को न नम्यो ताते सुमेर कह्यो चाहिए ॥

शृंगारमजरी—

अथ प्रगल्भा निरूपन

रसमजरीकार पतिमात्रविषयकेलिकलापकोविदा प्रगल्भा, यह प्रगल्भा को लच्छन लिख्यो है इहाँ सका । पतिमात्र यह पद जो दीन्हौ है तौ परकीया अरु सामान्या प्रगल्भा कैसे कहाइ है जो कोउ कहे कि वै प्रगल्भा नाही सो न कहि सकै काहे ते जो उनमें मुग्धात्व अरु मध्याव न कहि सकिए प्रगल्भात्व तो उनमें प्रगट देखियतु है तातैं रसमजरीकार को लच्छन स्वीया प्रगल्भा ही में नीको बनतु है साधारन प्रगल्भा में नीको नाही । आमोदकार मदनविजितलज्जा प्रगल्भा, यह प्रगल्भा को लच्छन कियो है । सोई हमहूँ अगीकृत कियो ।

अथ प्रगल्भा लच्छन

मदनविजित लज्जा जु तिय, सु तो प्रगल्भा जानि ।

सकल प्रगल्भा भेद जे, तिन में प्रापित मानि ॥

निष्कर्ष यह है कि हिंदी के अधिकतर आचार्यों ने पद्यात्मक शैली को अपनाया है । जिन्होंने कारिकावृत्ति शैली को अपनाया है, वे उसके वृत्तिभाग में सस्कृताचार्यों के समान गभीर, प्रौढ एवं खडनमडनात्मक विवेचन प्रस्तुत नहीं कर सके ।

४. विषयसामग्री के चयन में सरल मार्ग का अवलंबन

जहाँतक विषयसामग्री के निरूपण का प्रश्न है, इन्होंने सस्कृत ग्रंथों का कही सरल अनुवाद किया है, कही उसका भाव लेकर अपने सुबोध शब्दों में ढाल लिया है और कही वही का वही शब्द प्रयोग करते हुए इधर उधर हेरफेर कर उसे रूपांतरित मात्र कर दिया है । सामग्री के निर्वाचन में भी इन्होंने सरल मार्ग का अवलंबन किया है । नायक-नायिका भेद तथा अलंकार के निरूपणों ने तो जान बूझकर सरल विषय का चयन कर दुरूह शास्त्रार्थ एवं जटिल समस्याओं से अवकाश पा लिया है । इधर विविधागनिरूपणों में भी यही प्रवृत्ति लक्षित होती है । गभीर शास्त्रार्थों से दूर रहकर इन्होंने अधिकांशतः स्थूल विषयसामग्री तक—काव्यांगों तथा उनके स्थूल भेदोपभेदों के लक्षण एवं उदाहरण-निर्माण तक—ही अपने रीतिकर्म को सीमित रखा है । जहाँ इन्होंने सूक्ष्म और जटिल समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया भी है, वहाँ प्रायः ये असफल रहे हैं । इस धारणा की पुष्टि के लिये कुछ उदाहरण लीजिए

विश्वनाथ ने काव्यलक्षण प्रकरण में मम्मट के लक्षण का खडन किया है । इस प्रसंग को कुलपति और प्रतापसाहि के सिवा शायद किसी भी अन्य आचार्य ने अपने ग्रंथ में स्थान नहीं दिया । परंतु कुलपति में भी यह प्रसंग एकांगी और अपूर्ण रूप में, तथा प्रतापसाहि में सर्वथा शास्त्रासम्मत और भ्रामक रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

शब्दशक्ति प्रकरण के अतर्गत तात्पर्य वृत्ति के प्रसंग में अन्विताभिधानवादी और अभिहितान्वयवादी के मतों को समझाने का किसी आचार्य को साहस नहीं हुआ । कुलपति ने इस प्रसंग को अवश्य छोड़ा है, पर पाठक उसमें उलझकर रह जाता है । इसी प्रकार व्यञ्जनास्थापना जैसे गभीर प्रसंग पर भी लेखनी चलाना इनकी सामर्थ्य से बाहर था । रस प्रकरण में भरतसूत्र के चारों व्याख्याताओं के मतव्यो पर भी इन्होंने प्रकाश नहीं डाला । प्रतापसाहि इस मार्ग की ओर अवश्य बढ़े, पर कुछ दूर तक जाकर वे वापस मुड़ आए । जहाँतक गए हैं, उसे भी साफ नहीं कर सके । गुण प्रकरण में गुण और

अलंकार के पारस्परिक अंतर पर कुछ एक आचार्यों ने थोड़ा बहुत प्रकाश डालने का प्रयास किया है, परन्तु वे उद्भट के मत को भी यथेष्ट रूप में प्रकाशित नहीं कर सके। लगभग यही अवस्था अन्य काव्यांग प्रसंगों की भी है। दोषप्रकरण के शास्त्रार्थ प्रसंगों का तो नितांत त्याग ही कर दिया गया है, अपेक्षाकृत जटिल दोषों का स्वरूप भी निरूपित नहीं किया गया। कुछ आचार्यों ने प्राचीन शास्त्रीय प्रसंगों में इधर उधर नवीनता लाने का प्रयास किया है, पर उसमें वे प्रायः पूर्णतः सफल नहीं हुए हैं। उदाहरणार्थ दास ने अलंकारों को तथाकथित मूल अलंकारों के अंतर्गत वर्गीकृत किया है, पर यह वर्गीकरण न वैज्ञानिक है और न सगत। उसी प्रकार कुलपति की शात रस सबंधी नवीन धारणा भी पूर्णतः शास्त्रसमत नहीं है।

देखा जाय तो रीतिकालीन विविधागनिरूपक ग्रंथों में एक भी ऐसा ग्रंथ नहीं है जो काव्यप्रकाश अथवा साहित्यदर्पण का, जिनके आधार पर इनका निर्माण हुआ है, पूर्ण, शुद्ध और व्यवस्थित उल्था उपस्थित कर सके। एक ही क्यों, यदि सभी उपलब्ध ग्रंथों की सामग्री का सचयन करके देखा जाय, तो भी इन संस्कृत ग्रंथों की सामग्री व्यवस्थित रूप में हमारे समुख उपस्थित नहीं होती। इनके नायकनायिका भेद प्रकरण निस्संदेह विशालकाय हैं। इन्होंने भानु मिश्र और उनकी रसमजरी का नाम अमर कर दिया है। इनका उदाहरण पक्ष सरस, शास्त्रसगत और जीवन के मार्मिक। चित्रों का उद्घाटक है, पर ऐसे प्रसंगों का भी शास्त्रीय पक्ष दुर्बल है। ऐसा एक भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं, जिसमें रसमजरी के समान नायकनायिका के भेदोपभेदों के अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषों से रहित लक्षण प्रस्तुत किए गए हों। यहाँ तक कि चित्तामणि ने शृंगारमजरी के शास्त्रीय पक्ष का शब्दशः अनुवाद करने का प्रयास करते हुए भी उसे नितांत अस्पष्ट बना दिया है, जिसे मूल पाठ के बिना समझ सकना हमारे विचार में नितांत असंभव है।

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र की तुलना में हिंदी का रीतिकालीन काव्यशास्त्र वर्ण्य विषय की दृष्टि से लगभग समान होता हुआ भी विषय की व्यापकता, शास्त्रीय विवेचना और प्रतिपादन शैली की दृष्टि से शिथिल है और इस शिथिलता का प्रधान कारण है उद्देश्य की भिन्नता। वहाँ लक्ष्यग्रंथों को ध्यान में रखकर लक्षणनिर्माण प्रमुख उद्देश्य रहा है और यहाँ लक्ष्यनिर्माण को ही प्रमुख उद्देश्य बनाकर पूर्वनिर्मित लक्षणों का आधार ग्रहण किया गया है।

हाँ, अपने प्रमुख उद्देश्य—उदाहरण (लक्ष्य) निर्माण—में ये आचार्य निस्संदेह अत्यंत सफल रहे हैं। इन्होंने सरस उदाहरणों का एक अक्षय्य कोश सा तैयार कर दिया है। काव्यसौंदर्य की दृष्टि में तो ये महत्वपूर्ण हैं ही, तत्कालीन सामाजिक, पारिवारिक एवं गार्हस्थ्य जीवन पर भी इनके द्वारा पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पर साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि इन ग्रंथों में उदाहरणों की संख्या इतनी अधिक है कि इन्होंने अपना अनुपात खोकर शास्त्रीय विवेचन को आच्छादित सा कर दिया है। इस प्रकार ये ग्रंथ लक्षणग्रंथों की अपेक्षा लक्ष्यग्रंथ ही अधिक बन गए हैं, और इसी आधार पर कह सकते हैं कि रीतिकालीन रीतिग्रंथकार वस्तुतः कवि पहले थे और आचार्य बाद में। इधर इनके विपरीत संस्कृत के काव्यशास्त्रनिर्माता, विशेषतः वे जिनका इन्होंने आधार ग्रहण किया है, अपने ग्रंथों में केवल आचार्य थे, कवि नहीं थे।

५ शास्त्रीय विवेचन में असफलता के कारण

जैसा हम स्पष्ट कर चुके हैं रीतिकालीन आचार्य शास्त्रीय विवेचन को न तो पूर्णतः शुद्ध और व्यवस्थित रूप में रूपांतरित कर सके हैं और न हिंदी साहित्य को लक्ष्य में रखकर

उन्होंने कोई महत्वपूर्ण स्थापनाएँ की है। उनकी इस विफलता का प्रथम और प्रधान कारण है—आचार्यत्व और कवित्व का एकीकरण तथा कवित्व द्वारा आचार्यत्व का आच्छादन। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य गौण कारण भी हैं। ये आचार्य—विशेषतः एकागनिरूपक आचार्य—काव्यशास्त्र के प्रकाश पड़ित नहीं थे। विविधागनिरूपक आचार्य अपेक्षाकृत अधिक निष्णात थे, पर उनमें भी सस्कृत के परंपरागत, शास्त्रीय, गभीर विवेचन से पूर्णतया अवगत होने की न तो क्षमता थी, न दरबारी वातावरण में रहकर उन सिद्धांतों से अवगत होने के लिये उनके पास समय था। वस्तुतः उन्हें इसमें उलझने की आवश्यकता ही नहीं थी। फिर, सस्कृत का काव्यशास्त्र अत्यंत गभीर, विशाल, एवं सूक्ष्मजटिल होने के साथ साथ इतना पूर्ण एवं संपन्न बन चुका था कि अब उनमें अन्य धारणाओं के समावेश के लिये अवकाश कम रह गया था। इसके अतिरिक्त एक बड़ी बाधा थी उपयुक्त गद्यशैली का अभाव। सस्कृत का गद्य गभीर एवं प्रांढ विवेचन के लिये जितना सशक्त तथा समर्थ था, हिंदी का गद्य उतना ही शिथिल एवं अशक्त। गद्य के अभाव में एक छोटे से छंद दोहा अथवा सोरठा में किसी काव्यांग के शास्त्रीय विवेचन को समा देने की प्रचलित प्रक्रिया भी उनके अपूर्ण एवं अव्यवस्थित विवेचन के लिये अशक्त उत्तरदायी है। फिर भी ये सब गौण कारण ही हैं, मूल और प्रमुख कारण तो यही है कि उनका आचार्यकर्म उनके कविकर्म का आधार मात्र था, मुख्य उद्देश्य कविकर्म ही था।

द्वितीय अध्याय

रीतिकालीन रीतिशास्त्र के वर्ग

रीतिकाल के दो सौ वर्षों के दीर्घकाल में शतशत रीतिशास्त्रों (लक्षणालक्ष्य-ग्रंथों) का निर्माण हुआ। त्रिषयानुसार इन ग्रंथों को प्रमुखतः चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—रस विषयक ग्रंथ, अलंकार विषयक ग्रंथ, विविध काव्यागनिरूपक ग्रंथ, तथा पिगलनिरूपक ग्रंथ।

(१) रस विषयक ग्रंथ—रस विषयक प्रायः सभी ग्रंथ प्रधिकांशतः शृंगार रस की विविध सामग्री से परिपूर्ण हैं। इनमें शृंगार रस के आलंबन के रूप में नायक-नायिकाभेदों का विस्तृत निरूपण है और उद्दीपन विभाव के रूप में नखशिख, बारह-मासा तथा षड्भूतियों का। कुछेक ग्रंथों में शृंगारेतर रसों को भी स्थान मिला है, पर अत्यल्प मात्रा में और चलता सा। कुछ प्रख्यात एवं उपलब्ध ग्रंथों के नाम ये हैं—सुधानिधि (तोष), रसरत्न (मतिराम), रसविलास तथा सुखसागरतरंग (देव), रससारांश तथा शृंगारनिर्णय (भिक्षारोदास), रसप्रबोध (रसलोक), जगद्विनोद (पद्माकर), नवरस-तरंग (बेनोप्रसाद), व्यंग्यार्थकोमुदो (प्रतापसाहि)। इन ग्रंथों का शास्त्रीय विवेचन अधिकांशतः भानु मिश्र प्रणीत रसमञ्जरी पर आधारित है।

(२) अलंकारग्रंथ—अलंकारग्रंथों का निर्माण रसग्रंथों की अपेक्षा बहुत कम हुआ है। उपलब्ध अलंकारग्रंथ निम्नलिखित हैं—भाषाभूषण (जमवतसिंह), ललितल-लाम तथा अलंकारपचाशिका (मतिराम), शिवराजभूषण (भूषण), भाषाभूषण (श्रीधर कवि), अलंकारचंद्रोदय (रसिक सुमति), रसिकमोहन (रघुनाथ), कर्णाभरण (गोविंद कवि), कविकुलकटाभरण (दूलह), अलंकारमणिमञ्जरी (ऋषिनाथ), अलंकारदर्पण (रामसिंह), पद्माभरण (पद्माकर), भारतभूषण (गिरिधरदास)। इनमें से अधिकतर ग्रंथों का शास्त्रीय निरूपण जयदेवप्रणीत चंद्रालोक तथा अप्पय्य दीक्षित प्रणीत कुवलयानंद पर आधारित है।

(३) विविध काव्यागनिरूपक ग्रंथ—इन ग्रंथों की संख्या अत्यल्प है। केवल १५ आचार्यों के १५ ग्रंथ उपलब्ध हैं—कविकुलकल्पतरु (चिंतामणि), रसरहस्य (कुल-पति), काव्यरसायन अथवा शब्दरसायन (देव), काव्यसिद्धांत (सुरति मिश्र), रसिक-रसाल (कुमारमणि), काव्यसरोज (श्रीपति), रसपीयूषनिधि (सोमनाथ), काव्यनिर्णय (भिक्षारोदास), रूपविलास (रूपसाहि), कवितारसविनोद (जनराज), साहित्यसुधा-निधि (जगतसिंह), काव्यरत्नाकर (रणवीरसिंह), काव्यविलास (प्रतापसाहि), दलेल-प्रकाश (थान कवि), फतहप्रकाश (रतन कवि)। इनमें से अधिकतर ग्रंथ मम्मटकृत काव्यप्रकाश तथा विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण की सहायता से निर्मित हुए हैं।

(४) पिगलनिरूपक ग्रंथ—छंदमाल (केशवदास), पिगल (चिंतामणि), छंदसार (मतिराम), वृत्तविचार (सुखदेव मिश्र), श्रीनाग पिगलछंदविलास (माखन), पिगलरूपदोष भाषा (जयकृष्ण भुजंग), छंदार्णव (भिक्षारोदास), छंदसार (नारायण-दास), वृत्तविचार (दशरथ), पिगलप्रकाश (नंदकिशोर), लघुपिगल (चेतन), वृत्त-तरंगिणी (रामसहाय), छंदयोनिधि (हरिदेव), छंदानंद पिगल (अयोध्याप्रसाद वाजपेयी)।

तृतीय अध्याय

सर्वांग (विविधाग) निरूपक आचार्य

जैसा पीछे लिख आए है, रीतिकालीन रीतिवद्ध ग्रंथ वर्ण्य विषय की दृष्टि से चार प्रकार के है—सर्वांग (विविधाग) निरूपक, रसनिरूपक, अलकारनिरूपक और पिगलनिरूपक। इन ग्रंथों में से प्रौढता की दृष्टि से सर्वांगनिरूपक ग्रंथ सर्वोच्च कोटि के रीतिग्रंथ है और इनके प्रणेता सर्वोच्च कोटि के रीतिआचार्य। इनके पश्चात् क्रमशः अलकारनिरूपक और रसनिरूपक ग्रंथों और आचार्यों का स्थान है।

सर्वांगनिरूपक ग्रंथों एवं आचार्यों की प्रमुखता की पुष्टि में अनेक कारण दिए जा सकते हैं। सर्वप्रमुख कारण है उदाहरणनिर्माण की ओर इनकी अपेक्षाकृत कम प्रवृत्ति। स्पष्ट है कि सरस उदाहरणनिर्माण के लिये आचार्यों को रस, नायकनायिका-भेद तथा अलकार के निरूपण द्वारा जितनी सुविधा मिल जाती है उतनी काव्य के अन्य अंगों द्वारा सुलभ नहीं है। ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य के भेदोपभेदों में भी मरस उदाहरण-निर्माण की सामग्री जुटाने की क्षमता अवश्य निहित है, पर इनके शास्त्रीय प्रतिपादन के लिये परिपक्व ज्ञान और अनल्प धैर्य अपेक्षित है। अर्थ और यश के अभिलाषी रीतिकालीन सभी आचार्यों के लिये यह सब सुगम न था। इधर काव्य के शेष अंगों—काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, दोषगुण और रीति एवं वृत्ति में न तो उदाहरणों की सृष्टि के लिये पर्याप्त अवकाश है और न प्रतिपादन की दृष्टि से रस, नायकनायिका भेद नामक काव्यांगों की भाँति ये सरल हैं। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेना असंगत नहीं है कि रस और अलकार संबंधी ग्रंथ के प्रणेताओं की जितनी प्रवृत्ति उदाहरणनिर्माण की ओर थी, उतनी सर्वांगनिरूपक आचार्यों की नहीं थी। यह अलग प्रश्न है कि ये आचार्य भी उदाहरणों की सरसता और शास्त्रीयता की दृष्टि से उतने ही सफल हुए हों जितने एकांगनिरूपक आचार्य। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उन आचार्यों के समान इनका लक्ष्य केवल सुगम काव्यांगों का चयन नहीं था। इसके अतिरिक्त कविक्षिक्षक पद के अधिकारी भी ये ही आचार्य हैं, क्योंकि काव्यशास्त्रों की विभिन्न सामग्री का अपेक्षाकृत जितना पूर्ण और प्रौढ ज्ञान इन्हें प्राप्त था उतना एकांगनिरूपक आचार्यों को नहीं।

निष्कर्षतः निम्नोक्त आधारों पर सर्वांगनिरूपक आचार्यों को हम प्रमुख आचार्य-पद से भूषित कर सकते हैं

- १—इन्होंने आचार्यकर्म को अधिक मनोनिवेश के साथ ग्रहण किया था।
- २—लक्ष्यकाव्य के निर्माण की ओर इनका ध्यान कम था, लक्षणकाव्य की ओर अधिक।
- ३—केवल सुगम काव्यांगनिरूपण की ओर इनकी प्रवृत्ति नहीं थी।
- ४—इनका अध्ययन अपेक्षाकृत पूर्ण था, अतः कवि होने के साथ ये आचार्य कविक्षिक्षक भी थे।

इसी प्रमुखता के आधार पर केशव और चिंतामणि जैसे सर्वांगनिरूपक आचार्यों में से किसी एक को रीतिकाल का प्रवर्तक मानने का प्रश्न उपस्थित होता है, अन्यथा रस एवं नायकनायिका भेद तथा अलकारनिरूपक आचार्यों का अभाव न तो केशव से पूर्व रहा

और न केशव और चितामणि के बीच । रीतिकाल के प्रवर्तन का श्रेय ऐसे किसी प्रमुख आचार्य को ही देने के उद्देश्य से केशव और चितामणि पर इतिहासकार विद्वानों की दृष्टि गई है । यह ठीक है कि परवर्ती दो ढाई सौ वर्षों में कम आचार्यों ने ही इनके अनुकरण पर सर्वांगनिरूपण प्रस्तुत किया है, पर किसी लेखक को प्रमुख एवं प्रवर्तक मानने का वास्तविक कारण अनुकर्ताओं की संख्या न होकर ज्ञानगर्भिणी का विस्तार एवं शास्त्रीय प्रौढता ही होता है । इस दृष्टि से निस्संदेह ये ही आचार्य प्रमुख हैं । इस निष्कर्ष की पुष्टि संस्कृत के आचार्यों के साथ इन आचार्यों की तुलना करने पर और भी ग्रंथिक हो जाती है । जो प्रतिष्ठा और प्रमुखता सम्मत, विश्वनाथ आदि विविधांगनिरूपक आचार्यों को प्राप्त है, वह रुद्रभट्ट, भानु मिश्र, अप्पय्य दीक्षित आदि रस अथवा अलंकारनिरूपक आचार्यों को नहीं । इसलिये केशव, चितामणि आदि विविधांगनिरूपक आचार्य मणिगम, भूषण आदि रस अथवा अलंकारनिरूपक आचार्यों की अपेक्षा निस्संदेह श्रेष्ठ हैं । इसी दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ में सर्वप्रथम इन्हीं आचार्यों का विवेचन किया जा रहा है । अद्यावधिक गवेषणा के आधार पर केवल निम्नोक्त सर्वांगनिरूपक आचार्यों के ग्रंथ उपलब्ध हैं मके हैं, अतः हमें अभी इन्हीं पर सतोष करना होगा ।

केशव, चितामणि, कुतपति पदुमनदाम, देव, सूरनि मिश्र, कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, जनराज, जगतसिंह, रसिकगोविंद, प्रतापमाहि और ग्वाल ।

१ केशवदास

केशवदास ने अपना परिचय स्वप्रणीत निम्नोक्त पाँच ग्रंथों में प्रस्तुत किया है— कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचंद्रिका, विज्ञानगीता और वीरसिंहचरित । इनमें से कविप्रिया ग्रंथ में यह परिचय अपेक्षाकृत विस्तृत अधिक है, शेष ग्रंथों में प्रायः उसी का पुनरावर्तन है तथा जो कुछ नूतन है भी वह उनका महत्वपूर्ण नहीं है । कविप्रिया के अनुसार इनका जन्म सनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ था । इनके पिता का नाम काशीनाथ था जिन्हें राजा मधुकरशाह से विशेष समान प्राप्त था । ये तीन भाई थे, बड़े का नाम बलभद्र था और छोटे का नाम कल्याण । इनके कुल के दास भी भाषा में बातें न कर संस्कृत बोलते थे । ऐसे कुल में उत्पन्न होकर भी परिस्थितियों के कारण केशव को 'भाषा' में कविता करनी पड़ी । ओरछानरेश महाराज इद्रजीतसिंह केशव को अपना गुरु मानते थे और उन्होंने इन्हें इक्कीस गाँव दान में दिए थे । महाराज इद्रजीतसिंह के ह्रा कारण उनके बड़े भाई रामशाह भी केशव को मंत्री और मित्र के समान मानते थे । रसिकप्रिया से ज्ञात होता है कि केशवदासजी बुदेलखंडके ओरछा राज्यातर्गत नुगारगय के निकट बेतवा नदी के तट पर ओरछा नगर में रहते थे । विज्ञानगीता के अनुसार राजा वीरसिंह ने केशव के माँगने पर इनके पुत्रों को वही वृत्ति और पदवी दी जो राजा वीरसिंह के पूर्वजों ने इनके पूर्वजों को दी थी । इस ग्रंथ से यह भी ज्ञान होता है कि इनमें रुठ होकर महाराज रामसिंह ने कुछ काल तक इनकी पैतृक वृत्ति का अपहरण कर लिया था ।

केशवदास का जन्मसंवत् अनुमानत १६१२ विक्रमी माना जाता है और मृत्यु-संवत् अनुमानत १६७४ विक्रमी ।

निम्नलिखित ६ ग्रंथ केशव की प्रामाणिक रचनाएँ मानी जाती हैं रसिकप्रिया, नखशिख, कविप्रिया, छंदमाला, रामचंद्रिका, वीरसिंहदेवचरित, रत्नवावनी, विज्ञानगीता और जहाँगीरजसचंद्रिका^१ । इनमें से प्रथम चार ग्रंथ काव्यशास्त्र से संबद्ध हैं ।

१ इनके अतिरिक्त उनके नाम से अन्य आठ ग्रंथ भी संबद्ध किए जाते हैं जैमुनि की कथा, हनुमानजन्मलीला, बालिचरित, आनंदलहरी, रसललित, कृष्णलीला, अमीचूट और रामालंकृत मजरी । इनमें से अंतिम ग्रंथ की स्थिति सिद्ध है, शेष ग्रंथ अप्रामाणिक माने जाते हैं ।

रामचंद्रिका रामचरित से सबद्ध महाकाव्य है। रतनबावनी में ओरछा नरेश मधुकर शाह के पुत्र रतनसेन की वीरता का वर्णन है। वीरसिंहदेवचरित में इद्रजीतसिंह के अनुज वीरसिंह की वीरगाथा का गौरवगान है और जहाँगीरजसचंद्रिका में वीरसिंह के परम हितैषी सम्राट् जहाँगीर का यशोगान है। विज्ञानगीता में रूपक शैली पर आध्यात्मिक विषयों का निरूपण किया गया है। इन ग्रंथों के वर्ण्यविषय को देखकर कह सकते हैं कि केशव में हर शैली में ग्रंथनिर्माण की क्षमता थी। एक तो उन्होंने आदिकालीन ग्रंथों के समान वीरचरितात्मक काव्य का सर्जन किया, दूसरे, रामचंद्रिका जैसे भक्तिपरक प्रबध-काव्य की रचना की, तीसरे, विज्ञानगीता के निर्माण द्वारा 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक की रूपक शैली को काव्य के रूप में ढाला, और चौथे, हिंदी की उस काव्यशास्त्रीय परंपरा को पुनर्जीवन प्रदान किया, जो पुष्प, कृपाराम, मोहनलाल, रहीम कर्णेश (करनेस) आदि कवियों अथवा आचार्यों की रचनाओं में पिछली कई शताब्दियों से मद गति से बढ़ती चली आ रही थी। इनमें से कविप्रिया ग्रंथ हिंदी साहित्य में अपने प्रकार का प्रथम प्रयास है। इसमें काव्य के विविधांगों का निरूपण प्रस्तुत हुआ है, जबकि पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्यशास्त्र विषयक ग्रंथ एक अथवा दो काव्यांगों से सबद्ध थे। रसिकप्रिया ग्रंथ का प्रमुख वर्ण्य विषय शृंगार रस है, और नखशिख में कविनियमानुसार राधा के नख से शिख तक प्रत्येक अंगों का वर्णन है। इसके दोहे में प्रत्येक अंग के लिये कविपरंपरासिद्ध उपमानों का उल्लेख है और उसके बाद कवित्तो में उन उपमानों की सहायता से अंगविशेष का वर्णन है। कविप्रिया के चौदहवें प्रकाश में उपमालकार के अंतर्गत भी नखशिख वर्णन किया गया है, पर वह 'नखशिख' ग्रंथ से भिन्न है।

देखा जाय तो उक्त चारों विषयों में से कवि की चित्तवृत्ति काव्यशास्त्र में ही अधिक रमी थी। उनकी ख्याति के आधारभूत ग्रंथ कविप्रिया और रसिकप्रिया ही हैं। रामचंद्रिका के निर्माण का भी प्रमुख उद्देश्य अलंकारों और छंदों के उदाहरण प्रस्तुत करना और गौण उद्देश्य रामचरितगायन प्रताप होता है। इधर काव्यशास्त्रीय विविधांगों के निरूपण का सर्वप्रथम श्रेय भी इन्हीं को प्राप्त है। यह अलग प्रश्न है कि अगले ५० वर्षों तक काव्यशास्त्र की परंपरा में प्रायः अवरोध ही बना रहा और आगे चलकर चिंतामणि से लेकर प्रतापसाहि तक पूरे दो सौ वर्षों तक जिन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण पूरे वेग से हुआ वे केशव के आदर्श पर निर्मित नहीं हुए, फिर भी अनेक प्रमुख आचार्यों ने केशव के ग्रंथों से सहायता अवश्य ली है। इस प्रकार केशव प्रमुखतः आचार्य रूप में और गौणतः कवि रूप में हमारे समुख उपस्थित होते हैं। इन्हीं दो दृष्टियों को लक्ष्य में रखकर हम केशव की उक्त चार कृतियों पर प्रकाश डालेंगे।

(१) आचार्यत्व

रसिकप्रिया—रसिकप्रिया की रचना सवत् १६४८ में हुई^१। यह ग्रंथ प्रमुखतः शृंगार रस से सबद्ध है। इसके १६ प्रकाशों में से प्रथम १३ प्रकाशों में इसी रस का सांगोपांग निरूपण है। १४वें प्रकाश में शृंगारेतर रसों का वर्णन है। १५वें प्रकाश में कैशिकी आदि चार वृत्तियों का वर्णन है और अंतिम प्रकाश में 'अनरस' नाम से पांच रसदोषों का निरूपण किया गया है। शृंगार रस के प्रकरण के अंतर्गत नायकनायिका भेद का निरूपण भी किया गया है जो अधिकांशतः भानु मिश्र की रसमजरी तथा विश्वनाथ के साहित्यदर्पण पर समाधृत है। इनके अतिरिक्त इस विषय से सबद्ध जो अन्य प्रसंग इसमें वर्णित किए गए हैं, इस प्रकार हैं :

१. सवत सोरह सैं बरस बीते अडतालीस ।

कातिक सुदि तिथि सप्तमी बार बरन रजनीश ॥ —२० प्रि०, ११

(क) नायक तथा नायिकाओं के प्रकाश्य तथा प्रच्छन्न उपभेद । इन दोनों भेदों का उल्लेख संस्कृत काव्यशास्त्रों में रुद्रटप्रणीत काव्यालंकार तथा भोजप्रणीत शृंगार-प्रकाश में उपलब्ध हो जाता है, पर वे रमिकप्रिया से भिन्न प्रसंग में निर्दिष्ट हुए हैं ।

(ख) कामशास्त्र सवधी चार प्रकार की नायिकाएँ—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी । संस्कृत के काव्यशास्त्रों में अकबर प्रणीत शृंगारमंजरी में ये भेद निरूपित हुए हैं । श्रीकृष्ण कवि ने अपने ग्रंथ मदारमरद चंपू में इनका उल्लेख किया है । उधर कामशास्त्रीय ग्रंथों में हमें इनका उल्लेख कवकोक (कोका पंडित) रचित रतिरहस्य, कल्याणमल्लरचित अनंगरग, ज्योतिरीश्वरचित पंचसायक में देखने को मिला है । हरिहररचित 'शृंगारदीपिका' में भी इन भेदों का निरूपण है । केशव के उक्त निरूपण का आधार कौन सा ग्रंथ है, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है । अनुमानत रतिरहस्य और अनंगरग दोनों रहे होंगे ।

(ग) मुग्धा नायिका के नवलवधू, नवलअनंगा तथा लज्जाप्राहरति उपभेदों का आधार शिगभूपल्लकृत रसार्णव सुधाकर में निर्दिष्ट नववयसा, नवकामा तथा सत्रीड-सुरतप्रयत्ना नामक उपभेदों को माना जा सकता है ।

इन भेदोपभेदों के अतिरिक्त केशव ने एतत्सवधी अन्य प्रसंगों का भी उल्लेख किया है—यथा, दपतिचेष्टा वर्णन, स्वयदूतत्व, प्रथम मिलनस्थान, बाहर रति, अतर रति, अगम्या वर्णन आदि । इनमें से प्रथम प्रसंग साहित्यदर्पण तथा कामसूत्र और अनंगरग में मिल जाता है । 'स्वयदूती' नामक दूती, बाहर रति, अतर रति तथा अगम्या नारियों का उल्लेख भी प्रकारांतर से कामसूत्र में उपलब्ध है । 'मिलनस्थान' का प्रसंग साहित्यदर्पण में प्राप्य तो है, पर केशव का प्रसंग इनसे भिन्न है । संभव है, इन्हें प्रेरणा यही से मिली हो ।

उदाहरणों की दृष्टि से इस ग्रंथ की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि ये सभी राधाकृष्ण को आलंबन मानकर निर्मित किए गए हैं, यहाँ तक कि शृंगारेतर रसों में भी यही युग्म आलंबन रूप में गृहीत है और प्रकारांतर से इन रसों को शृंगार रस में अंतर्भूत करने का प्रयास किया गया है । ग्रंथारंभ में 'नवरस में ब्रजराज निव' लिखकर आचार्य ने ग्रंथ की मूलवर्तिनी विचारधारा का संकेत प्रारंभ में ही कर दिया है । इस प्रक्रिया से दो बातें सिद्ध हो सकती हैं । एक यह कि केशव ने रूपगोस्वामी आदि भक्त आचार्यों का अनुमोदन करते हुए राधाकृष्ण के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है, दूसरी यह कि इन्हें शृंगार रस को, जिसे इन्होंने सब रसों का नायक माना है^१ सर्वोपरि रस इसलिये भी मानना अभीष्ट है कि इसमें अन्य रस प्रकारांतर से अंतर्भूत हो जाते हैं । पर उनका यह प्रयास अशास्त्रीय तो है ही, साथ ही हास्यास्पद भी बन गया है । दो उदाहरण लीजिए :

श्रीकृष्ण का बीभत्स रस—

टूटे टाटि घुनघुने घूम घूम सेन सने,
भीगुर छगोड़ी सोंप बिच्छिन की घात जू ।
कंदक ललित त्रिन बलित विगंध जल, १
तिनके तल पत लता को ललचात जू ।
कुलटा कुचील गात अंध तम अधरात,
कहि न सकत बात अति अकुलात जू ।

१ नवहू रस को भाव बहु, तिन के भिन्न विचार ।
सबको केशवदास हरि, नायक है शृंगार ॥

छेड़ी मे घुसे कि घर ईधन के घनश्याम,
घर घर धरनीति जात न घिनात जू॥

बीभत्सपूर्णा छेड़ी (सकर गली) में राधा के मिलनेच्छुक कृष्ण के इस प्रसंग को केशव ने शृगाररस की पृष्ठभूमि में बीभत्स रस के उदाहरण स्वरूप उपस्थित किया है। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण लीजिए

श्रीकृष्ण का सम (शात) रस—

खारिक खान न बारौ उदाखन,
माखन हूँ सह मेटि हठाई ।
केशव ऊख मयूखहि दूखत,
आइहौ तो पहुँ छाड़ि जिठाई ।
तो रदनच्छद को रस रंचक,
चाखि गए करिके हूँ ढिठाई ।
ता दिन ते उन राखी उठाय,
समेत सुधा वसुधा की मिठाई॥

राधा के मधुर अधर रस को चखनेवाले कृष्ण ने ससार के सभी स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों को तिलाजलि दे दी है। केशव ने इस प्रसंग को भी शृगार रस की पृष्ठभूमि में शात रस के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है।

कविप्रिया—कविप्रिया की रचना सवत् १६५८ में हुई।^१ इस ग्रंथ में भी १६ प्रभाव हैं। केशव ने प्रभावों की इतनी सख्या जान बूझकर रखी है, ताकि कवियों की यह 'प्रिया' षोडशशृगार भूषिता बने -

केशव सोरह भाव शुभ सुबरनमय सुकुमार ।
कविप्रिया के जानिए ये सोरह शृगार॥

ग्रंथनिर्माण का उद्देश्य कवि के शब्दों में है सुकुमारबुद्धि पाठकों के लिये काव्य-शास्त्र जैसे जटिल विषय का सुगम रूप से अवबोध

समुझै बाला बालकहुँ, वर्णन पंथ अगाध ।
कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध॥

ग्रंथ के प्रथम दो प्रभावों में केशव ने अपने आश्रयदाता इद्रजीतसिंह, अपनी प्रेयसी एव शिष्या प्रवीणाराय तथा अपने वंश का परिचय प्रस्तुत किया है। तीसरे प्रभाव में दोषप्रकरण है, चौथे प्रभाव में कविप्रिया प्रसंग है, और शेष प्रभावों में अलंकारनिरूपण है।

कविशिक्षा के अंतर्गत तीन प्रकार के कवियों तथा तीन प्रकार की रीतियों का उल्लेख किया गया है। तीन प्रकार के कवि हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। इनके जो लक्षण केशव ने प्रस्तुत किए हैं उनका स्रोत भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक 'एके सत्पुरुषा परार्थघटका' को माना जा सकता है। वस्तुतः ये लक्षण केवल कविसमाज पर घटित नहीं होते, संपूर्ण मानवसमाज पर घटित होते हैं। तीन प्रकार की कविरीतियाँ ये हैं—सत्य बात का वर्णन करना, झूठ को सत्य मानकर वर्णन करना और कविपरपरागत वर्णन

१ प्रकट पंचमी को भयो कविप्रिया अवतार ।

सोरह सँ अट्ठावनौ फागुन सुदि बुधवार । —क० प्रि०, १।५

करना^१। इस प्रसंग का स्रोत अमरकविकृत 'काव्यकल्पलतावृत्ति' तथा केशव मिश्र कृत 'अलंकारशेखर' में प्राप्त है।

केशव ने कुल मिलाकर २३ दोषों का निरूपण किया है, १८ दोषों का कविप्रिया में और ५ दोषों का रसिकप्रिया में। कविप्रिया के प्रथम पाँच दोष नाम की दृष्टि से सभ्यत-केशव की मौलिक उपज है—अध, बधिर, पगु, नग्न और मृतक। वस्तुतः 'अध' मम्मट-समत प्रसिद्धिविरुद्ध है। 'बधिर' के केशवप्रस्तुत उदाहरण में मम्मटसमत असमर्थ दोष की छाया है। 'पगु' दोष परंपरागत हनवृत्तता है। अलंकारविहीन रचना में केशव ने नग्नदोष माना है। यह दोष भामह आदि अलंकारवादी आचार्यों को भले ही स्वीकृत हो, पर 'अनलकृती पुन क्वापि' माननेवाले मम्मट आदि परवर्ती आचार्य इसे स्वीकृत नहीं करेंगे। निरर्थक रचना को केशव ने 'मृतक' दोष माना है। पर इस दोष की सत्ता ही काव्य में सभव नहीं है। निरर्थक वाक्यावली को जब वैयाकरण 'भाषा' के नाम से अभिहित ही नहीं करता, तो चमत्कारप्रिय काव्यशास्त्री का उसे काव्य न मानना स्वतः सिद्ध है। कविप्रिया में वर्णित अन्य १३ दोषों में से अधिकांश का स्रोत दंडी का काव्यादर्श है, तथा शेष मम्मटसमत दोनों के रूपांतर मात्र है। रसिकप्रिया में वर्णित पाँच अनरस (रसविरोधी) दोषों के नाम ये हैं—प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दुःसंधान और पात्रादुष्ट। प्रत्यनीक मम्मट के प्रतिकूलविभादिग्रह दोष से मेल खाता है। विरस वस्तुतः उक्तदोषका प्रभाग मात्र है। नीरस तथा दुःसंधान दोष मम्मट के मत में रसाभास है, दोष नहीं, तथा पात्रादुष्ट को मम्मटसमत अपुष्टार्थता नाम दिया जा सकता है।

कविप्रिया में केशव ने वर्ण्य विषय को तथा उसे भूषित करनेवाले साधनों को 'अलंकार' कहा है। प्रथम को उन्होंने 'साधारण' अलंकार नाम दिया है और द्वितीय को 'विशिष्ट' अलंकार। साधारण अलंकार के चार भेद हैं—वर्ण, वर्ण्य, भूषी और राजश्री। इन तथाकथित अलंकारों की विषयसामग्री का स्रोत काव्यकल्पलतावृत्ति तथा अलंकारशेखरग्रंथ है। पर इन संस्कृत ग्रंथों के प्रणीताग्रो ने इन प्रमगों को 'अलंकार' नाम नहीं दिया। यह केशव की अपनी धारणा है, जो समुचित नहीं है। ये वर्णादि चारों वर्ण्य विषय हैं, अतः अलंकार्य हैं, स्वयं अलंकार नहीं हैं।

विशिष्ट अलंकारों के अंतर्गत इन्होंने स्वभावोक्ति, विभावना आदि चालीस अलंकारों का निरूपण किया है। इन्हें इन्होंने ८ प्रभावों में विभक्त किया है, पर इस वर्गीकरण का आधार वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत नहीं है। इनमें से कुछ अलंकार दंडी के काव्यादर्श के आधार पर निरूपित हुए हैं, कुछ ख्यक के अलंकारसर्वस्व के आधार पर। पर वे इन्हें पूर्णतः निर्भ्रात रूप में निरूपित नहीं कर पाए। कहीं इनके लक्षण, कहीं उदाहरण और कहीं दोनों भ्रामक, अपूर्ण अथवा शिथिल हैं।

अलंकार के सबध में केशव की निम्नलिखित धारणाएँ उल्लेखनीय हैं।

(१) उनके निम्नोक्त कथन से प्रतीत होता है कि उन्हें वामन^२ के अनुसार काव्यशास्त्रीय सभी उपादेय अंगों को अलंकार नाम देना अभीष्ट है

१. साँची बात न बरनही, भूठी बरननि बानि।

एकनि बरनै नियम कै, कविमत विविध बखानि॥ —क० त्रि०, ४।४

२. सौंदर्यमलकार। का० सू० वृ० १।१।२

अलकार कवितान के सुनि सुनि विविध विचार ।

कविप्रिया केशव करी, कांवता को सिंगार ॥

यही कारण है कि भामह, दंडी एवं उद्भट के समान इन्होंने नवरस का निरूपण रसवत् अलकार के अंतर्गत करके प्रकारांतर से रस (अलकार्य) को भी अलकार मान लिया है

रसमय होय सु जानिए, रसवत केशवदास ।

नवरस को संक्षेप ही, समुझो करत प्रकाश ॥

(२) इन्होंने अलकार को कविता का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते हुए सर्व-गुणसंपन्न अलकाररहित कविता को भी उसी प्रकार शोभाहीन माना है, जिस प्रकार सर्वगुणसंपन्न आभूषणरहित नारी

जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त ।

भूषण बिन न बिराजई कविता वनिता मिस ॥

उनकी यह धारणा भामह के इस कथन का रूपांतर है

न कान्तमपि निर्भूष विभ्राति वनितामुखम् ॥

इन दोनों धारणाओं के आधार पर केशव को अलकारवादी आचार्य कहा जाता है । पर इतना होते हुए भी केशव का रस के प्रति समादर भाव भी कुछ कम नहीं है :

ज्यो बिन डीठ न भोगिए, लोचन लोल विशाल ।

त्यो ही केशव सकल कवि, बिन वाणी न रसाल ॥

इसके अतिरिक्त रसो का, विशेषतः शृंगार रस का, सागोपाग निरूपण करने-वाले तथा रसविरोधी दोषों का उल्लेख करनेवाले केशव को हमारे विचार में भामह, दंडी आदि के समान कोरा अलकारवादी मानना युक्तिसंगत नहीं है । यहाँ एक शका का उपस्थित होना स्वाभाविक है कि उन्होंने मम्मट और विश्वनाथ जैसे प्रख्यात परवर्ती विविधागनिरूपक काव्यशास्त्रियों का आदर्श ग्रहण न कर पूर्ववर्ती दंडी का आदर्श क्यों ग्रहण कर लिया । इस शका का समाधान दो तीन विकल्पो में संभव है । शायद उनके हाथ केवल दंडी का ही ग्रंथ लगा हो, अथवा इन्होंने केवल इसी का अध्ययन और मनन किया हो अथवा उन्हें यही ग्रंथ अपेक्षाकृत अधिक सरल प्रतीत हुआ हो । कारण जो भी हो, इसमें सदेह नहीं कि शताब्दियों पश्चात् उन्होंने काव्यशास्त्रीय इतिहास के पुनरावर्तन में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण सहयोग दिया है । संस्कृत काव्यशास्त्र में जिस प्रकार भामह, दंडी, उद्भट आदि अलकारवादियों के पश्चात् आनंदवर्धन आदि रसध्वनिवादियों का आगमन हुआ, उसी प्रकार हिंदी के काव्यशास्त्र में भी अलकारवादी केशव के पश्चात् रसध्वनिवादियों का आगमन हुआ है ।

केशव का छंद सबधी ग्रंथ है—‘छंदमाला’ । इस ग्रंथ का उल्लेख प्राचीन इतिहास ग्रंथों में नहीं मिलता । इस पुस्तक का प्रथम प्रकाशन हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद से प्रकाशित ‘केशव ग्रंथावली’ के द्वितीय भाग में हुआ है । पुस्तक प्रामाणिक है । श्रीवर्धमान जैन ग्रंथालय में इस ग्रंथ का एक हस्तलेख उपलब्ध है जिसका लिपिकाल स० १८३६ है । इस पुस्तक में उदाहरण रामचंद्रिका से ही गृहीत है । ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने रामचंद्रिका में विविध छंदों का प्रयोग इस प्रकार किया था मानो ये छंदशास्त्र का उदाहरणग्रंथ लिख रहे हो और फिर लक्ष्मणों के अभाव की पूर्ति करके इन्होंने छंद का यह एक नया ग्रंथ ही रच डाला । ग्रंथकार का उद्देश्य छंदशास्त्र का विवेचन नहीं है, छंद का उपयोग करनेवाले उदीयमान कवियों या छात्रों के उपयोग के लिये लघु पुस्तिका का निर्माण करना है :

भाषाकवि समुह सदैव सिंगरे छंद सुझाई ।

छंदन की माला करी सोभन केसवराइ ॥

यह ग्रंथ दो भागों में विभक्त है । प्रथम भाग में ७७ वर्णित वृत्तों का निरूपण है, और द्वितीय भाग में २६ मात्रा छंदों का । वर्णित छंदों में से अंतिम एक छंद दंडक है, शेष ७६ वृत्त साधारण हैं । मात्रा छंदों के अंतर्गत गाथा, दोहा और पद्य के अनेक भेदों का उल्लेख भी केशव ने कर दिया है । कुन मिताकर यह ग्रंथ साधारण कोटि का है, फिर भी हिंदी का प्रथम छंदग्रंथ हान के कारण इसका ऐतिहासिक महत्व अवश्य है ।

(२) कवित्व—

रीतिकाल के अंतर्गत आचार्यत्व की दृष्टि से ही नहीं कवित्व की दृष्टि से भी केशव का अत्यंत गौरवपूर्ण स्थान है । मध्यकालीन साहित्य के अंतर्गत वे ही अभी तक ऐसे प्रथम कवि देखने में आए हैं जिन्होंने ब्रजभाषा के अंतर्गत मुक्तक काव्य के साथ प्रबध काव्य की रचना का भी सूत्रपात किया । इस प्रकार वर्गीकरण की दृष्टि से उनके काव्य को दो भागों में रखा जा सकता है—(१) प्रबध और (२) मुक्तक । प्रबध काव्यों में उनकी 'रामचंद्रिका' अत्यंत प्रसिद्ध है । इसके अंतर्गत मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम की जीवनगाथा का महाकाव्य की शैली पर वर्णन है । परन्तु आज विद्वान् इसके महाकाव्यत्व को संदेह की दृष्टि से देखते हैं । बात यह है कि इस विशद ग्रंथ में न तो वह कथाक्रम है जो महाकाव्य के लिये अपेक्षित है, और न समुचित प्रवाह का ही इसमें सम्यक् निर्वाह किया गया है—प्रसंगों को भी कवि ने अपनी रस के अनुसार विस्तार और संकोच प्रदान किया है । दूसरी ओर चरित्रचित्रण और भाषाशैली की दृष्टि से भी यह ग्रंथ अपने आप में अव्यवस्थित ही है । किंतु फिर भी इसके महत्व को उपेक्षित नहीं किया जा सकता । स्थान स्थान पर छंदपरिवर्तन भले ही इसके प्रवाह में व्याघात उत्पन्न कर देता हो, पर शैली से तो नया प्रयोग है ही । इसी प्रकार विषयवस्तु में वर्णन का अनुपात न होना भी इसी बात का द्योतक है कि इस ग्रंथ का रचयिता जीवन के सरस प्रसंगों को ही अधिक मनोयोग के साथ ग्रहण करना उचित समझता रहा है । इधर राजकीय वर्णनों और संवादों की दृष्टि से यह काव्य अपने आपमें इतना अनूठा है कि इस सीमा तक हिंदी साहित्य का कोई भी कवि नहीं पहुँच पाता । ऐसी दशा में यह कहना असंगत प्रतीत नहीं होता कि रामचंद्रिका केशव का ऐसा असाधारण महाकाव्य है जिसमें परंपरापालन के स्थान पर वैशिष्ट्य के समावेश का ध्यान अधिक रखा गया है ।

रामचंद्रिका के अनिरुक्ता विज्ञानगीता, वीरसिंह देवचरित, जहाँगीर जसचंद्रिका और रतनबावनी, इन चार प्रबध काव्यों की रचना भी इन्होंने की है, किंतु इनमें प्रथम का महत्व जहाँ तत्त्वचिंतन तक ही सीमित है वहाँ शेष तीन ऐतिहासिक सामग्री के लिये अच्छे साधन सिद्ध हो सकते हैं । कवित्व की दृष्टि से इनमें रतनबावनी को ही थोड़ा आदर दिया जा सकता है जिसमें वीररस का उत्कृष्ट रूप दृष्टिगोचर होता है ।

मुक्तक काव्यों में केशव के रसिकप्रिया, कविप्रिया और नखशिख ये तीन ग्रंथ आते हैं । इनका वर्ण्य विषय मुख्यतः शृंगार ही है, यद्यपि रसिकप्रिया के अंतर्गत इतर रसों का भी संक्षिप्त वर्णन मिल जाता है । परन्तु यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि इनका रचयिता रसिक होता हुआ भी रस का समुचित परिपाक करने में पूर्ण रीति से समर्थ नहीं हो पाया । इसका मुख्य कारण यह है कि उसने रसपरिपाक को अनुभावों के वर्णन तक ही सीमित माना है—सचारियों का वर्णन खोजने पर ही उसकी कविता में मिलता है । दूसरी ओर इस व्यक्ति ने प्रतिभा होने पर भी उसका समुचित उपयोग नहीं किया । किसी भी विषय को रसात्मक बनाने के लिये कल्पना के उचित प्रयोग को और उसके फलस्वरूप जिस भव्य चित्रयोजना की आवश्यकता होती है उसको, वह प्रायः उपेक्षित

ही कर गया है। इसी लिये रचनाओं में वह रमणीयता नहीं आ पाई जो अपनी स्वाभाविकता द्वारा सहृदय को आह्लादित कर देती है। इसका कारण वस्तुतः यही मानना चाहिए कि इस प्रकार के वर्णनों में उसका मन नहीं रमा—बुद्धि के सहारे ही सब कुछ किया गया, क्योंकि दूसरी ओर राजसी ठाटबाट के वर्णनों में उसका काव्य अत्यंत निखरता हुआ प्रस्तुत होता है।

अभिव्यजना की दृष्टि से केशव का समग्र साहित्य शिथिल ही कहा जायगा। उसमें न तो भावों के अनुकूल गुण और रीति का ही उपयोग किया गया है और न शब्दों का ही यथार्थ प्रयोग हुआ है। साधारणतः काव्यरचना की दृष्टि से ही नहीं, कही कही व्याकरण की दृष्टि से भी वे अत्यंत शिथिल हो गए हैं। वस्तुओं के रूप, रंग, आकार आदि को स्पष्ट करने के लिये जिन उपमानों की अपेक्षा होती है, उनको प्रस्तुत करने पर भी विषयों को अस्पष्ट अथवा हास्यास्पद बना दिया गया है। कोई कोई उपमान तो ऐसा है जिसे देखकर आश्चर्य होता है कि केशव जैसा आचार्य यह क्या कर बैठा। इसके अतिरिक्त छंदों में अनगढ़पन है जिससे लगता है मानो केशव से ही इनका आरम्भ हुआ है—उनमें न संगीत है और न लय ही। न्यूनपदत्व और अधिकपदत्व दोषों से इनमें और भी भोडापन आ गया है। भावों की मौलिकता की भी इनमें न्यूनता ही है। इनकी अधिकांश विदग्ध उक्तियाँ संस्कृत की उक्तियों का ब्रजभाषा में रूपांतर हैं। परंतु इतना होते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि भाषा को अर्थवहन करने की शक्ति और गाभीर्य प्रदान करनेवाले ब्रजभाषा कवियों में वे ही प्रथम व्यक्ति हैं। उदाहरण के लिये कुछ छंद दिए जाते हैं। देखिए :

- (१) केशोदास लाख लाख भाँतिन के अभिलाष,
बारि दे री बावरी न बारि हिए होरी सी।
राधा हरि के री प्रीति सबते अधिक जानि,
रति रतिनाहू हूँ मे देखो रति थोरी सी।
तिन हूँ में भेद न भवानि हूँ पं पारघो जाइ
भारती को भारती है कहिबैं को भारी सी।
एकै गति एकै मति एकै प्राण एकै मन
देखिबे को देह द्वै है नैनन की जोरी सी।

- (२) भूषण सकल घनसार ही कै घनश्याम कुसुम कलित केसरहि छबि छाई सी।
मोतिन की लरी शिर कठ कंठमाल हार और रूप जोति जात हेरत हेराई सी।
चंदन चढ़ाए चारु सुंदर शरीर सब राखी शुभ शोभा सब बसन बसाई सी।
शारदा सी देखियतु देखौ जाइ केसौराय बाढ़ी वह कुँवरि जुन्हाई में अन्हाई सी॥

- (३) काछे सितासित काछनी 'केशव' पातुर ज्यो पुतरीन बिचारो।
कोटि कटाक्ष नचै गति भेद नचावत नायक नह निहारो।
बाजत है मृदु हास मृदंग सो दीपति दीपति को उजियारो।
देखत हो हरि देखि तुम्हें यह होतु है आँखिन बीच अखारो॥

- (४) आये ते आवैगी आँखिन आगे ही डोलिहैं मानहु सोल लई हैं।
सोवै न सोवन देय न यो तन सौं इनमे उन साख दई हैं।
मेरिए भूल कहा कहौ 'केशव' सौति कहौ ते सहेली भई हैं।
स्वारथ ही हितु है सबके परदेश गए हरि नोद गई हैं॥

- (५) रे कपि कौन तू ? अक्ष को घातक दूत बली रघुनंदन जू को।
को रघुनंदन रे ? त्रिशरा खर दूषण दूषण भूषण भू को॥

सागर कैसे तरचो ? जस गोपद, काज कहा ? सिय चोरहि देखो ।
कैसे बँधायो ? जु सुंदरि तेरी छुई दूग सोवत पातक लेखो ॥

(३) भाषाशैली—

केशव की कृतियों की भाषा प्रमुखतया ब्रजभाषा है। बुदेलखंड का निवासी होने के कारण इनकी भाषा में बुदेलखंडी मुहावरों और पदों का भी प्राचुर्य मिलता है। केशव संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे, अतः संस्कृत की छाप भी उनकी भाषा पर स्पष्ट है। अरबी और फारसी के शब्द भी उनकी कृतियों में मिलते हैं, पर केशव ने उन्हें ब्रज की प्रकृति के अनुरूप ढाल दिया है। काव्य को अलंकृत करने की प्रविण्य प्रवृत्ति ने उनकी भाषा को पांडित्य से बोझिल कर दिया है। अनुप्रास के नियम बहुधा उन्हें अपने शब्दों को विकृत भी करना पड़ा है। अलंकारिता की धुन में व्यर्थ का शब्दजाल बुनने की प्रवृत्ति भी इनमें लक्षित होती है, जिसके परिणामस्वरूप इनकी कविता दुर्बोध और क्लिष्ट हो गई है। आलोचकों ने तो इन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' तक कह डाला है। रामचंद्रिका का भाषाविधान च्युतसंस्कृति, अक्रमता, न्यूनपदता, अधिकपदता आदि दोषों से दूषित है। वस्तुतः केशव की भाषा और केशव का वाग्जाल उसके कवित्व के नहीं, अपितु पांडित्य के ही परिचायक है।

इस प्रकार आचार्यत्व, कवित्व और भाषाशैली के आधार पर यद्यपि केशव सफल आचार्य अथवा कवि नहीं कहे जा सकते, फिर भी अपनी कतिपय विशिष्टताओं के कारण इन्हें जनश्रुति सूर और तुलसी के उपरांत स्थान देती आई है।

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास ।

तथा दास आदि रीतिकालीन आचार्यों ने इनकी गणना प्राचीन आचार्यों के साथ बड़े समानपूर्वक की है। देव, रामजी उपाध्याय 'गंगापुत्र' ने इनके अलंकारप्रकरण से, पदुमनदास और शिवप्रसाद कवीश्वर ने इनके कविशिक्षाप्रकरण से, देव, सोमनाथ, जानकी-प्रसाद ने इनके नायकनायिकाभेद प्रकरण से तथा रामजी उपाध्याय 'गंगापुत्र' ने इनके दोषप्रकरण से कुछ प्रसंग ग्रहण किए हैं। यह आधारग्रहण केशव की महानता का सूचक है। इस अनुकरण का प्रमुख कारण है केशव का हिंदी के आचार्यकर्म में सर्वप्रथम अग्रसर होना, दूसरे शब्दों में, हिंदी काव्यसरणि को भक्तिपथ से रीतिपथ की ओर मोड़ देना, भले ही वे स्वयं इस नूतन पथ के पूर्णतः सफल यात्री न हो सके हों।

२ चितामणि

चितामणि तिकवाँपुर (कानपुर) के निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे। भूषण, मतिराम और जटाशंकर, ये तीनों इनके भाई कहे जाते हैं। इनका जन्मकाल सवत् १६६६ के लगभग माना जाता है। ये बहुत दिनों तक नागपुर में सूर्यवंशी भोसला राजा मकरदशाह के यहाँ रहे और उन्हीं के आज्ञानुसार इन्होंने अपने ग्रंथ 'पिंगल' की रचना की थी।

सूरजवंशी भोसला लसत साह मकरंद ।

महाराज दिगपाल जिमि, भाल समुद सुभ चद ॥

चितामणि कवि को हुकुम कियो साहि मकरंद ।

करौ लच्छि लच्छन सहित भाषा पिंगल छद ॥

बाबू रुद्रसाहि सोलकी^१, बादशाह शाहजहाँ^२ और जैनदी ग्रहमद ने इनको बहुत

१. साहेब सुलकी सिरताज बाबू रुद्रसाह तासो रन रचत बचत खलकत है।—क० क० त० (शि० सि० स०, पृ० ८६ से उद्धृत)

२. केब्रिज हिस्ट्री आफ् इंडिया (बोलजले हेग), जिल्द ४, मुगल पीरियड, पृ० २२१

मिला है। काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, ध्वनि, गुण और दोषप्रकरणों के लिये ये मम्मट के ऋणी हैं। इनके रस और अलंकार प्रकरण अधिकांशतः विद्यानाथ प्रणीत प्रताप-रुद्रयशोभूषण पर आधारित हैं पर साथ ही मम्मट और विश्वनाथ के ग्रंथों के अतिरिक्त रस प्रकरण में धनजय के और अलंकार प्रकरण में अप्पय्य दीक्षित के ग्रंथ से भी सहायता ली गई है। इनके नायकनायिकाभेद प्रकरण में निरूपणपद्धति तो विश्वनाथ की है, पर अधिकांश विषयसामग्री भानु मिश्र से ली गई है।

इस ग्रंथ में काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों का प्रतिपादन दोहा सोरठा छंदों में किया गया है और उदाहरणों को अधिकांशतः कवित्त सर्वांग में प्रस्तुत किया गया है। कुछ स्थलों पर गद्य का भी आश्रय लिया गया है, पर ऐसे स्थल संपूर्ण ग्रंथ में दो चार ही हैं। इनमें भी इन्होंने स्वनिर्मित लक्षणोदाहरणों का समन्वय मात्र दिखाया है—मम्मट, विश्वनाथ आदि संस्कृत के आचार्यों के समान शास्त्रीय विवेचन नहीं प्रस्तुत किया।

विषयप्रतिपादन की दृष्टि से इस ग्रंथ में चिंतामणि की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि ये संस्कृत ग्रंथों को सामने रख लेते हैं और उनमें से अधिकाधिक सामग्री का सकलन प्रस्तुत करते हुए प्रायः उसे शाब्दिक अनुवाद के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। उदाहरणार्थ, यमक अलंकार का स्वरूप द्रष्टव्य है।

क० क० त०—अरथ होत अन्यारथक बरनन को जहँ होइ ।

फेर अवन को जनम कहि बरनत यों सब कोई ॥ ३।२१

का० प्र०—अर्थ सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।

यमकम् ॥ ६।८३

कही कही यह अनुवाद अत्यधिक शाब्दिक हो जाने के कारण दुरुह भी हो गया है, पर ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं। शब्दशक्ति तथा गुणप्रकरण को छोड़कर शेष ग्रंथभाग में इनकी शैली गंभीर, विषयानुकूल एवं व्यवस्थित होने के कारण विषय को स्पष्ट कर देने में पूर्ण सशक्त है। वस्तुतः शब्दशक्ति प्रकरण में चिंतामणि की आत्मा रमी नहीं है। यही कारण है कि रुचिजन्य श्रम के अभाव में यह प्रकरण अपूर्ण भी है और अस्पष्ट भी। गुणप्रकरण में इनकी शैली व्यासप्रधान एवं विस्तृत हो गई है। इस शैलीपरिवर्तन का एक संभव कारण यह है कि यह प्रकरण अधिकतर मम्मट के गद्य भाग का ही हिंदी पद्यबद्ध रूपांतर है। उनके गद्य को ब्रजभाषा पद्य का सुसंबद्ध रूप दे पाना संभव था भी नहीं। कारण जो भी हो, पर केवल इन्हीं दो प्रकरणों को छोड़कर इनका शेष ग्रंथभाग गंभीर, व्यवस्थित एवं सुसंबद्ध शैली में प्रतिपादित हुआ है। शास्त्रीय सामग्री के निर्वहण की दृष्टि से भी चिंतामणि का प्रयास अत्यंत स्तुत्य है। इनके समग्र ग्रंथ में कुछ ही प्रसंग ऐसे हैं जो खटकते हैं। उदाहरणार्थ, इनके शब्दशक्ति तथा दोषप्रकरण शास्त्रीय दृष्टि से शिथिल भी हैं और अपूर्ण भी। नायकनायिकाभेद प्रकरण में धीरा और अधीरा नायिकाओं के कोपजन्य व्यवहार का शास्त्रीय स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ है। प्रोषितपतिका के तीन रूप भी शास्त्रसमत नहीं हैं। पर इन्हीं दो चार स्थलों को छोड़कर इनका संपूर्ण ग्रंथ विशुद्ध रूप में प्रतिपादित हुआ है। गंभीर प्रसंगों के विवेचन की ओर भी इनकी प्रवृत्ति है। उदाहरणार्थ, गुणप्रकरण में वामनसमत गुणों का मम्मटसमत तीन गुणों में समावेश इन्होंने सफलतापूर्वक दिखाया है। कुछ एक स्थलों पर इन्होंने मूल ग्रंथकार से असहमति भी प्रकट की है। मम्मटसमत काव्यलक्षण को अपनाते हुए भी अलंकार की अनिवार्यता का प्रश्न न उठाकर इन्होंने प्रकारांतर से उसके महत्व को कम नहीं किया। विश्वनाथ के समान हाव, भाव आदि सत्वज अलंकारों को स्वतंत्र न मानकर इन्हें अनुभाव का ही अंग माना है। मद तथा मरण नामक संचारी भावों को इन्होंने अपेक्षाकृत पुष्ट एवं स्वस्थ

रूप दिया है। इसी प्रकार उदारता गुण मे अर्थचाख्ता और अर्थव्यक्ति गुण मे अलक्रियता के समावेश द्वारा इन्होने इन गुणो का रूप और भी अधिक निखार दिया है।

इस प्रकार पपने ढग से प्रथम हिंदी आचार्य का यह समग्र प्रयास अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह ठीक है कि इनके ग्रंथ से भावी आचार्यों ने सामग्री नहीं ली, पर विविधागनिरूपण से सबद्ध जो मार्ग इन्होने दिखाया, उसी का अनुकरण आगे के प्रमुख आचार्यों ने भी किया। चाहे हम इसे एक सयोग कह ले, पर इसमे सदेह नहीं कि मम्मट के आदर्श को लेकर चलनेवाले सर्वप्रथम आचार्य ये ही हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया जाय कि नायकनायिकाभेद अथवा अलकार ग्रंथो के रीतिकालीन निर्माताओ ने इनके आदर्श का अनुकरण नहीं किया नायकनायिकाभेद प्रकरण मे इन्होने जिस ग्रंथ—रसमजरी—का प्रधानत आश्रय लिया, उसी का आश्रय, कृपाराम आदि सभी पूर्ववर्ती आचार्य पहले ही ले चुके थे। इसी प्रकार इनके परवर्ती अलकारनिरूपक अधिकांश आचार्यों ने इनके समान मम्मट अथवा विद्यानाथ का आदर्श न लेकर ग्रन्थ्य दीक्षित का ही आदर्श लिया, जिसे उपलब्ध ग्रंथो के अनुसार सर्वप्रथम जसवतसिंह ने अपनाया था। इस प्रकार यद्यपि सभी आचार्य इनके स्वीकृत आदर्श पर नहीं चले, पर विविधागनिरूपक आचार्यों का इन्ही के स्वीकृत आदर्श पर चलना इनके लिये कम गौरव की बात नहीं है।

चितामणि कृत छदग्रंथ का नाम पिंगल है, जैसा कि पुस्तक के आरम्भ और अंत के इन दोनों उद्धरणो से स्पष्ट है -

अथ चितामणि पिंगल लिख्यते ।

इति श्री चितामनि कवि कृत पिंगल संपूर्ण ॥

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस ग्रंथ का नाम 'छदविचार' भी लिखा है, जो निम्नोक्त दोहे के आधार पर निर्धारित जान पड़ता है -

ताते चितामनि करत नीकौ छंदविचार ।

पिंगल कौ मत देखिकै निज मति के अनुसार ॥

पर वस्तुतः यहाँ 'छदविचार' शब्द ग्रंथनाम का वाचक नहीं है, अपितु प्रसंग के विषय का निर्देशक है। इस पुस्तक की एक हस्तलिखित प्रति राज पुस्तकालय, दतिया मे प्राप्त है और तीन प्रतियाँ नागरीप्रचारिणीसभा, काशी के पुस्तकालय मे प्राप्त है। सभा की प्रतियो मे से दो तो अपूर्ण हैं और एक पूर्ण है^१। पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर भी 'पिंगल' नाम ही मिलता है। पुस्तक ग्रामाणिक प्रतीत होती है। विभिन्न प्रतियो मे पाठ समान मिलते हैं।

ग्रंथ के आरम्भ मे छदनियमो पर साधारण सा प्रकाश डाला गया है। इसका आधारग्रंथ प्राकृत पिंगल है, अतः इसी के अनुरूप छंदो के लक्षण प्रस्तुत किए गए हैं, तथा छंदो का क्रम भी इसी ग्रंथ के क्रम के समान है। इसके अतिरिक्त कतिपय नूतन छंदो का उल्लेख भी इस ग्रंथ मे है। छदनियमो के उपरांत 'वरनमेरु और मात्त्रामेरु' का निरूपण है और इसके उपरांत वरनपताका, मात्त्रापताका, वरनमर्कटी, मात्त्रामर्कटी, गाथा, गाहा, विग्गाहा, सघनी और अश्वमेधा का। इसके पश्चात् दोहाप्रकरण प्रारम्भ हो जाता है जिसमे दोहा के अनेक भेद निर्दिष्ट हुए हैं। इसके बाद रोला, गधान, चौपैया,

१ लिपिकार कुम्हेर (भरतपुर राज्यनिवासी) मोहनलाल मिश्र, लिपिकाल सवत् १८१०।

शुक्र अमावस शुभ्र की अन्न ब्रह्म गजमिन्दु।

इन मिलि सवत होत है जाकी (?) बुद्धिबिन्दु ॥

धत्ता, धत्तानद, पद्धरि, अरिल्ल, पादाकुलक, चौबोला छदो के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत हुए हैं और फिर छप्पय प्रकरण के अंतर्गत इसके अजय, विजय आदि अनेक भेदों का उल्लेख है और अंत में पद्मावली, कुडलिया, अमृतध्वनि, द्विपदी और भूलना के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत करने के बाद ग्रंथ की समाप्ति हो जाती है।

कुल मिलाकर यह ग्रंथ साधारण कोटि का है। सरल ब्रजभाषा में जैसे जैसे लक्षण उपस्थित किए गए हैं। उदाहरणों में भी कवित्व साधारण है। भाषा के लालित्य या चमत्कार का समावेश नहीं है। इस ग्रंथ का फिर भी अपना स्थान है। केशवदासजी की 'छदमाला' इससे पूर्व लिखी गई थी, पर वह शास्त्रीय दृष्टि से अपूर्ण पुस्तक थी, उसमें छदशास्त्र के प्रारंभिक प्रकरण लघु, गुरु, गण, प्रस्ताव, मर्कटी आदि का कोई उल्लेख न था। चितामणि के पिगल में छद सबधी सभी विचार मिलते हैं। साथ ही इस ग्रंथ में कुछ नए छद भी हैं, पर इन्हें निश्चित रूप से चितामणि की मौलिक उद्भावना नहीं कही जा सकती। कदाचित् इन्होंने तत्कालीन कवियों या प्राचीन कवियों से ही इन्हें लिया है।

(१) कवित्व—चितामणि यद्यपि आचार्य ही है, तथापि कविकर्म की दृष्टि से भी ये रीतिकाल के अतर्गत अत्यंत गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। ये सिद्धांत रसवादी थे, इसी लिये इनकी कविता में रस, विशेषतः शृंगार रस, का सम्यक् परिपाक देखने को मिलता है—केशव के समान रस की दुहाई देकर भी कविता को नीरस नहीं रहने दिया गया है। परंतु इस सबध में यह कह देना असंगत न होगा कि इनका काव्य देव आदि परवर्ती कवियों के समान नहीं है—न तो इनमें देव का सा आवेग ही आ पाया है और न वैसी चित्रमयता ही। कल्पना की ऊँची उड़ान भी ये नहीं भर पाए। केवल मतिराम के समान सीधी सादी शब्दावली में अपनी सच्ची अनुभूति को व्यक्त कर गए हैं। यही कारण है कि इनके काव्य में बिहारी की सी नक्काशी के स्थान पर ऐसी स्वाभाविकता देखने को मिलती है, जिससे इनकी रचनाओं को मतिराम के समकक्ष कहने में सकोच नहीं होता।

भाषाशैली की दृष्टि से भी इनकी रचनाएँ अत्यंत परिष्कृत कही जा सकती हैं। पूर्वी प्रदेश के निवासी होते हुए भी इन्होंने ब्रजभाषा का अत्यंत स्वच्छ प्रयोग किया है। केशव के पश्चात् संभवतः ये ही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने भाषा को नियमानुसार व्यवहृत किया है। इतर शब्दावली का भी सहो प्रयोग इनके काव्य में मिलता है। भावात्मक शब्द ही नहीं, ध्वन्यात्मक शब्दों का भी उत्कृष्ट रूप इनकी रचनाओं में सामान्य है—पदावली में मतिराम की कविता का लालित्य और अनुप्रासयोजना है। केशव के समान अलंकारों के पीछे हाथ धोकर ये नहीं पड़े। छंदयोजना भी अपने आपमें सुंदर कही जा सकती है—कवित्व और सवैयो में यदि स्वर और लय की अधिक संगति नहीं आ पाई तो कम से कम उनपर अनपठन का आरोप तो नहीं लगाया जा सकता। कुल मिलाकर चितामणि का काव्य उपादेय है। उदाहरण के लिये कुछ छंद दिए जाते हैं। देखिए

- (१) केसरि बारहि बार उतारत केसरि अग लगावनि लागी ।
आई है नैननि चंचलता दृग अवल आप छिपावनि लागी ॥
दुलह के अवलोकन को वा अटानि झरोखन आवनि लागी ।
छोस दो तीनक ते बतिया मनभावन को मन भावन लागी ॥
- (२) अवलोकनि में पलकैं न लगै पलकौ अवलोकि बिना ललकैं ।
पति के परिपूरन प्रेम पगी मन और सुभाव लगै न लकैं ॥
तिय की बिहँसौही विलोकनि में 'मनि' आनद आँखिन यों झलकैं ।
रसवंत कवित्तन कौ रसु ज्यो अखरान के ऊपर ह्वै छलकैं ॥

(३) ओढ़े नील सारी घन घटा कारी 'चिंतामनि'

कंचुकि किनारी चार चपला सुहाई है ।
इंद्रबधू जुगुनू जवाहिर की जगो जोति
बग मुकतान माल कैसी छबि छाई है ॥
लाल पीत सेत बर बादर बसन तन
बोलत सु भूंगी धुनि नूपुर बजाई है ।
देखिबे को मोहन नवल नटनागर को
बरषा नवेली अलबेली बनि आई है ॥

(४) को महा मूढ छबीली के अंगन जाय परचो ज्यों ससारी बहोर में ।

ठानै अठान अघीन जो आपते ताहि को आनि सके पुनि तीर में ॥

जोबर पूर बिलासन रंग उठै मन मोद उमंग समीर में ।

सैल उरोज तै कूदि परचौ मनु जाइ प्रभानदि भौर गंभीर में ॥

इस प्रकार आचार्यत्व और कवित्व दोनों दृष्टियों से चिंतामणि अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अपने प्रकार के प्रथम आचार्य होने के नाते वे रीतिकालीन प्रवर्तक माने जाते हैं। प्रथम आचार्य होते हुए भी शास्त्रीय प्रसंगों को अधिकांशतः स्वच्छ रूप में प्रस्तुत करने के कारण वे निस्संदेह एक सफल आचार्य हैं। इधर कवित्व की दृष्टि से भी ये सफल कवि हैं। अपनी अनुभूतियों को सीधी सादी शब्दावली में अभिव्यक्त कर देना एक विशिष्ट गुण है—इस नाते रीतिकालीन आचार्यों में जो समान मतिराम को प्राप्त है, वही चिंतामणि को भी प्राप्त है और यह समान किसी भी रूप में कुछ कम गौरवपूर्ण नहीं है।

३ कुलपति मिश्र

कुलपति मिश्र आगरा के निवासी माथुर चौबे परशुराम मिश्र के पुत्र थे^१। प्रसिद्ध कवि बिहारी इनके मामा कहे जाते हैं। ये जयपुर के कूर्मवशीय महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे^२। इनके बनाए पाँच ग्रंथ उपलब्ध हैं—द्रोणपर्व, मुक्तितरंगिणी, नखशिख, सग्रामसार और रसरहस्य। इनमें से अंतिम ग्रंथ काव्यशास्त्रीय है। इन्होंने इस ग्रंथ की रचना अपने आश्रयदाता रामसिंह के आज्ञानुसार उनके विजयमहल में की। इस ग्रंथ के अंत में ग्रंथ का रचनाकाल सवत् १७२७ कार्तिक बदी एकादशी दिया हुआ है।

संवत् सत्रह सौ बरस अरु बीते सत्ताईस ।

कार्तिक बदि एकादशी, बार बरनि बानीस ॥

इस ग्रंथ में आठ वृत्तांत हैं और ६५२ पद्य। शास्त्रीय सिद्धांतों को दोहा सोरठा में प्रतिपादित किया गया है और उदाहरणों को कवित्त संवैया में। ग्रंथ में यत्नतः गद्य का भी आश्रय लिया गया है जिसमें अधिकांशतः लक्षण और उदाहरण का समन्वय प्रदर्शित

१ वसंत आगरे आगरे गुनियन की जहाँ रास ।

विप्र मथुरिया मिश्र है हरि चरनन के दास ॥

अम्बुव मिश्र तिन वश में परसराम जिमि राम ।

तिनके सुत कुलपति कियो, रसरहस्य सुखधाम ॥

—रसरहस्य, ८।२०८, २०६

२ राजाधिराज जयसिंह सुख जित्त कियउ सब जगत बसि ।

अभिराम काम सम लसत महि, रामसिंह कूरम बलसि ॥

—वही, १।५

किया गया है और कही कही शास्त्रीय विषय का स्वीकारण भी । कहने को कुलपति की इस निरूपण शैली को काव्यप्रकाश शैली कह सकते हैं, पर यह उसके ठीक अनुरूप नहीं है । पहला कारण यह है कि इस ग्रंथ का गद्यभाग काव्यप्रकाश के गद्य की तुलना में मात्रा की दृष्टि से शतांश भी नहीं है तथा विवेचन शक्ति की दृष्टि से नितान्त शिथिल एवं अपरिपक्व है । दूसरा कारण यह है कि इस गद्य में काव्यप्रकाशानुरूप गभीर तर्क वितर्क को स्थान नहीं मिला । तीसरा कारण यह है कि मम्मट का कारिकाबद्ध शास्त्रीय विवेचन तो अपना है और उदाहरण अधिकतर उद्धृत है, पर डधर कुलपति के सभी उदाहरण स्वनिर्मित हैं ।

इस ग्रंथ के पहले वृत्तांत के प्रारम्भिक पद्यों में कृष्ण की वदना है, अगले १३ पद्यों में राज्यवर्णन और सभावर्णन है । इसके बाद ३ पद्यों में ग्रंथकार ने ग्रंथ का साधारण सा परिचय दिया है । १९वें पद्य से लेकर ४२वें पद्य तक काव्यलक्षणा, काव्यप्रयोजन, काव्यकारण, काव्यपुरुष रूपक तथा काव्यभेदों की चर्चा है । दूसरे वृत्तांत का नाम 'शब्दार्थनिरणय' है । इसके ४८ पद्यों में शब्दशक्ति का विवेचन किया गया है । तीसरे और चौथे वृत्तांतों में क्रमशः ध्वनि और गुणोद्भूत व्यंग्य का निरूपण है । इनकी पद्यसंख्या क्रमशः १२६ और २२ है । ध्वनिप्रकरण के अंतर्गत 'रसादि' का भी विस्तृत निरूपण है । पाँचवें और छठे वृत्तांतों में गुण और दोष का निरूपण है । ये क्रमशः १४१ और २३ पद्यों में समाप्त हुए हैं । अंतिम दो वृत्तांतों में क्रमशः शब्दालंकारों और अर्थालंकारों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है । अनुप्रास अलंकार के अंतर्गत रीतियों की भी चर्चा है । इन वृत्तांतों की पद्यसंख्या क्रमशः ४४ और १२१ है । इस प्रकार नायकनायिका भेद को छोड़कर इस ग्रंथ में शेष सभी काव्यांगों को स्थान मिला है । नायकनायिका भेद प्रसंग को इस ग्रंथ में सम्मिलित न करने का एक कारण तो मम्मट के काव्यप्रकाश का अनुकरण है, और दूसरा संभव यह कि कुलपति ने 'नखशिख' नामक एक अन्य ग्रंथ का भी निर्माण किया है, जो मूलतः नायकनायिका भेद का ही ग्रंथ है ।

रसरहस्य ग्रंथ के निर्माण में कुलपति ने मूलतः काव्यप्रकाश का आधार ग्रहण किया है । इसके अतिरिक्त अलंकारप्रकरण में इन्होंने साहित्यदर्पण से तथा रसप्रकरण में साहित्यदर्पण और कुछ स्थलों में केशवप्रणीत रसिकप्रिया से भी सामग्री ली है । हिंदी के अनेक आचार्यों के समान कुलपति ने भी संस्कृत के उक्त ग्रंथों को सामने रखकर इस ग्रंथ का निर्माण किया है, पर इन्होंने उल्था मात्र प्रस्तुत न करके शास्त्रीय सामग्री को सुबोध एवं सरल अनुवाद के रूप में ढाल दिया है । पर वर्ण्य विषय को सुबोध बनाने के उद्देश्य से इन्होंने उसे गभीरता से वचित नहीं होने दिया ।

हिंदी रीतिकालीन आचार्यों में जिनकी प्रवृत्ति काव्यशास्त्र के गभीर प्रसंगों के विवेचन की ओर रही है उनमें कुलपति का नाम भी उल्लेखनीय है । इन्होंने मम्मट तथा विश्वनाथ के काव्यलक्षणों पर आक्षेप प्रस्तुत किए हैं, शब्दशक्ति प्रकरण में तात्पर्यार्थ वृत्ति की चर्चा की है, तथा रसनिष्पत्ति प्रसंग में अभिनवगुप्त के मत का उल्लेख किया है । निःसंदेह ये सभी स्थल न तो पूर्ण एवं सर्वांशतः मान्य हैं और न व्यवस्थित रूप में प्रतिपादित ही हुए हैं । फिर भी इन गभीर स्थलों का उल्लेख कुलपति के गभीर आचार्यत्व का सूचक अवश्य है । इस ग्रंथ में इन्होंने कतिपय मौलिक धारणाएँ उपस्थित करने का भी प्रयास किया है । उदाहरणार्थ, इन्होंने काव्य का स्वतन्त्र लक्षण प्रस्तुत किया है

दो०—जग तैं अद्भुत सुख सदन शब्दर अर्थ कबित्त ।

ये लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रंथ बहु चित्त ॥ —२० २०, १।२०

टी०—जग से अद्भुत सुख लोकोत्तर चमत्कार यह लक्षण काव्य का कहा है ।

अर्थात् काव्य उस शब्दार्थ को कहते हैं जो लोकोत्तर चमत्कार से युक्त हो ।

निस्संदेह इस लक्षणा पर एक ओर भामह और रुद्रट के काव्यलक्षणा 'शब्दाथौ' सहितौ काव्यम् तथा 'ननु शब्दाथौ' काव्यम् की छाया है और दूसरी ओर विश्वनाथ के रस-विषयक कथन 'लोकोत्तरचमत्कारप्राण' की छाया लेकर इन्होंने इसे 'जग तै अद्भुत मुखसदन' के रूप में अनूदित किया है। इस प्रकार यह लक्षणा नितात नवीन न होता हुआ भी निर्दोष तथा सामान्य अवश्य है। कुलपति के ग्रंथ में दूसरी मौलिक धारणा है विश्वनाथ के काव्यलक्षणा 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' पर यह आक्षेप कि यदि अग्रीभूत रस को काव्य की आत्मा स्वीकृत किया जायगा, तो रसवद् आदि अलंकारों से सबद्ध स्थल, जहाँ रस अग्न बन जाता है, काव्य से बहिष्कृत हो जायेंगे। इन्होंने विश्वनाथ के काव्यलक्षणा पर एक अन्य आक्षेप भी किया है कि रस को ही काव्य मानने पर (सलक्ष्यक्रम व्यंग्य के दो भेदों) वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को, जहाँ रस के बिना भी काव्य में चमत्कार रहता है, 'काव्य' नाम से अभिहित नहीं किया जायगा^१, पर उनका यह आक्षेप नूतन न होकर जगन्नाथ के आक्षेप पर ही आवृत है^२। कुलपति की तीसरी मौलिक धारणा है काव्यप्रयोजनो में काव्य द्वारा जगत् के 'राम' अथवा 'राग' के वश होने का उल्लेख

जस संपति आनद अति दुरित न ओरै खोइ ।

होत कबित में चतुरई, जगत राम बस होइ^३ ॥ —रसरहस्य, १।३२

और इनकी चौथी मौलिक धारणा है नाटक में शात रस को स्थान न देने के सबध में यह नवीन कारण कि 'नाटक बहुविषयी है और काव्य एकविषयी है', 'निर्वेद वासनावत' अर्थात् विरक्त पुरुष इस भय से (शात रस प्रधान भी) नाटक नहीं देखता कि कहीं कोई विषय उसके लिये विकारोत्पादक न हो, अतः काव्य में तो शात रस को स्थान मिलना चाहिए, पर नाटक में नहीं^४। सस्कृत आचार्यों में धनजय की भी यही धारणा थी कि शात रस नाटक का विषय नहीं है^५। उनके टीकाकार धनिक ने इस सबध में जो विवेचन प्रस्तुत किया है^६, कुलपति उससे नितात अप्रभाविन है। उन्होंने उपर्युक्त जो कारण प्रस्तुत किया है वह मौलिक है, यह प्रश्न अलग है कि वह पूर्णतः मान्य नहीं है।

१. पुनि रसही जु कबित्तु सो कहै न लच्छन होइ ।
कै प्रधान कै अग है रसहू द्वै विधि जोय ॥
जो प्रधान रसही जहाँ कहौ कबित्त हौ सोइ ।
अलंकार अरु वस्तु जहँ मुख्य सु कबित्त न होइ ॥
जहाँ अग रस है तहाँ, अलंकार है जाय ।
कछुक बातहू में लखै सो वह रस न कहाय ॥ —रसरहस्य, १।२८-३०
२. यत्तु रसवदेव काव्यम्, इति साहित्यदर्पणे निर्णयितम्, तन्न वस्त्वलंकारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्ते । —रसगंगाधर, पृ० ६, १म अ०
३. दतिया राज पुस्तकालय में प्राप्त प्रति के अनुसार अंतिम चरण का पाठ इस प्रकार है.
'जगत राग बस होइ ।'
४. यह (शात) रस काव्य में ही होता है, नाटक में नहीं होता। सो इसके न होने का कारण कहते हैं। निर्वेद वासनावत सहृदय की नाट्य देखने की इच्छा नहीं होती, इस डर से कि नृत्य में बहुतेरे विषय हैं, कदाचित् किसी से विकार उपजे और काव्य तो एक विषय ही है, इससे इसके श्रवण करने में कुछ अटक नहीं, इस कारण कबित्त में इसको कहौ । —रसरहस्य, ३।६२ वृत्ति ।
५. अममपि केचित्प्राहु पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य । —दशरूपक, ४।३५
६. दशरूपक, ४।३५, ४५ (वृत्ति भाग)

इनके ग्रंथ में कुछ दोष भी हैं। उदाहरणार्थ शब्दशक्ति प्रकरण के अंतर्गत वाचक शब्द, व्यञ्जना शक्ति और तात्पर्यार्थ वृत्ति का स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ है। रस प्रकरण में भाव का स्वरूप अस्पष्ट है तथा उसके चार भेद—विभाव, अनुभाव, संचारिभाव और स्थायिभाव कुछ सीमा तक असंगत हैं। उद्दीपन विभाव का स्वरूप भी भ्रान्त है। दोष प्रकरण में रसदोष प्रसंग अपूर्ण है। 'अनगाभिधान' नामक दोष का लक्षण एवं उदाहरण नितात भ्रामक है। गुण प्रकरण भी पर्याप्त मात्रा में अपूर्ण है। पर केवल इन्हीं दोषों की गणना की जा सकती है। इनका शेष सभी निरूपण शास्त्रसमत, विशुद्ध, व्यवस्थित तथा गंभीर एवं सुबोध शैली में प्रतिपादित हुआ है।

(१) कवित्व—आचार्य कुलपति ने यद्यपि 'काव्यप्रकाश' के आधार पर रस-ध्वनि की स्थापना की है, तथापि इनके काव्य में उसका सम्यक् निर्वह बहुत कम दृष्टिगत होता है। इस दिशा में प्रयत्न तो इन्होंने पर्याप्त किया है पर अनुश्रुति की सचाई का समावेश न हो पाने से इनका काव्य प्रायः रसत्व को प्राप्त नहीं हो पाया। इसका मुख्य कारण यह भी है कि यह व्यक्ति आचार्य पहले था कवि बाद में—आचार्यकर्म को अत्यंत मनोयोग के साथ ग्रहण करने के कारण कवित्व पर अपना ध्यान अधिक केंद्रित नहीं कर सका। इसी लिये 'रसरहस्य' के कवित्व और सबैयों में कल्पनावैभव और उसके फलस्वरूप चित्र-योजना को स्थान नहीं मिल पाया। फिर भी, इतना तो निश्चित ही है कि रसपरिपाक की दृष्टि से उनका काव्य किसी प्रकार से हीन नहीं कहा जा सकता—यद्यपि तत्कालीन कवियों की तुलना में इसके उत्कर्ष को स्वीकार करने में मकोच होता है। दूसरी ओर भाषा यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से स्वच्छ है, तथापि उसमें वह लोच लचक नहीं आ पाई जो सत्काव्य के लिये अनिवार्य है—शैली में अभिव्यक्ति की निश्छलता का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आचार्यकर्म की दृष्टि से कुलपति मिश्र का चाहें अपने युग के कवियों में प्रथम स्थान हो पर काव्यक्षेत्र में इनका स्थान द्वितीय श्रेणी का ही है। उदाहरण के लिये इनके कुछ अत्यंत उत्कृष्ट छंद देते हैं

(१) लोचन लजौहैं सोहैं होत न सखीन हू सो,
 बातन में कोजत अनूप सुरभंग की ।
 मन-मन आनंदमगन हूँ बिहसति,
 याही तैं सहेली न सुहाति कोऊ सग की ।
 डगमगी डगै पल झपकि झपकि लगै,
 कहे देत गति तन झलक अनग की ।
 आली औरै आभा आज भई है बदन पर,
 जगर मगर जोति होति अग अंग की ॥

(२) मेरी चित चाह ते मिटो है उरदाह पिय,
 आए हरबरे पायें धारे भय मन के ।
 सीतल समीर लागै कपित है गात यातें,
 बातें तुतरात हौं रखैया निज पन के ।
 देखें छबि आज भूलि गए दुख साज कोटि,
 कोटि जुग वारि डारौ ऊपर या छन के ।
 पूष की निसा में लाल आए मोसो प्यार करि,
 करौ हौं बयारि सूखें स्वेद कन तन के ॥

(३) देह धरी परकाजहि कौं जग मॉक है तोसी तुही सब लायक ।
 दौरे थके अंग स्वेद भयो समझी सखी हूँ न मिले सुखदायक ।

मोही सौ प्यार जनायो भली विधि जानी जु जानी हितुनकी नायक ।
साँच की मूरति सील की सूरति मद किए जिन काम के सायक ।

(४) मेरे युद्ध उद्ध करि आयुध सकै न कोइ,
मानस की कहा गति दानव न देव की ।
अर्जुन की गर्ज कहा सनमुख हमारे रहै,
कछू ह न जानै गति बानन के भेव की ।
कुटिल बिलोकनि ते होत लोक खंड खंड,
जाकौ कर प्रगट धराधर की टेव की ।
भीषम हौ आयौ रन भीषम मचाई आजु,
खग बल पैजहि छुडाऊँ वासुदेव की ॥

इस ग्रंथ में कुलपति ने एक उदाहरण रखता भाषा में भी प्रस्तुत किया है । इसमें रखता भाषा, हिंदी छंद और रीतिकालीन वातावरण, इन तीनों का एक साथ समन्वय दर्शनीय है

हूँ बे मुश्ताक तेरी सूरत का नूर देख,
दिल भरि पूरि रहै कहने जबाब सो ।
मिहर का तालिब फकीर है मिहरबान,
चातक ज्यो जीवता है स्वाति वारा आव सो ।
तू तौ अयानी यह खूबी का खजाना तिसे,
खोलि क्यों न दीजे सेर कीजिए सबाब सो ।
ढेर की न ताब जान होत है कबाब बोल,
ह्याती का आव बोलो मुख महताब सो ॥

४ पदुमनदास

पदुमनदास का एक ही ग्रंथ उपलब्ध है 'काव्यमजरी' । इस ग्रंथ के साक्ष्य के अनुसार बादमनगर के शासक तथा रामसिंह के पुत्र दलेलसिंह के यहाँ कवि ने इसका निमर्ण सवत् १७४१ में किया ।

एकगल चालीस शत सत्रह सम्बत् जान ।
दरसी ऋतुपति पंचमी कविमंजरी प्रमान ॥
बादमनगर महीपमणि सिंह दलेल प्रवीन ।
परम भागवत संत हित सतत हरिरस लीन ।
तिन्हके पिता पुनीत नृप रामसिंह बल भीम ।
टरी न तिन्हकी बचन इमि जिमि अजातरिपु सीम ॥

ग्रंथकार ने अनेक स्थलों पर नृप दलेलसिंह की स्तुति की है तथा ग्रंथ के प्रत्येक अध्याय के समाप्तिसूचक वाक्य से विदित होता है कि नृप दलेलसिंह ने इस ग्रंथ को प्रकाशित कराया था । उदाहरणार्थ

इति श्री पदुमनदास विरचिताया श्री दलेलसिंह प्रतापक प्रकाशित काव्यमजर्याम् प्रथमकलिका प्रकाश ॥

इस ग्रंथ में १४ कलिकाएँ (अध्याय) हैं । सिद्धांतरूपण दोहो में है तथा उदाहरण प्रायः कवित्तो में । स्वयं कवि के कथनानुसार इस ग्रंथ के कुल पद्यों की संख्या ७१६ है ।

पदुमन भरिणत सोहावने, काव्यमंजरी भाहि ।

कवित दोहरनि सात सौ, सोरह अधिक सोहाहि ॥

ग्रंथ के प्रथम अध्याय में अधिकांशतः कविशिक्षा सबधी सामग्री संगृहीत है। सर्वप्रथम कवि का लक्षण प्रस्तुत किया गया है

ज्ञान व्याकरण कोष में छंद ग्रंथ को जान ।

अलंकार रस रीति में निपुन सुकवि तेहि मान ॥

पुन काव्य के प्रसिद्ध तीन हेतुओं की चर्चा है। फिर उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन प्रकार के कवियों का उल्लेख और अंत में तीन प्रकार के कविप्रदायों का निरूपण है

संप्रदाय तिन्ह कविन की तीन भाँति बुध जान ।

असत निबंधन त्याग सत तृतीय नियम परिमाण ॥

‘असत निबंध’ से आचार्य का तात्पर्य है मिथ्या को सत्य रूप में वर्णित करना :

मिथ्या है तेहि साधु कै कविकुल करहि बखान ।

असत निबंधन ताहि कहि संप्रदाय कवि जान ॥

‘सत्यत्याग’ अथवा ‘सत्यअनिबंध’ कहते हैं सत्य का वर्णन जान बूझकर न करना ।

साँचो है तिहि कर्हि नहि सत अनिबंध बखान ।

और ‘नियमपरिमाण’ अथवा ‘कविनियम निबंध’ के अंतर्गत शेष सभी कवि-समय आ जाते हैं। उदाहरणार्थ, मलय पर्वत पर चंदन की प्राप्ति, वर्षा में मयूर का उल्लास, विभिन्न पदार्थों, देवताओं अपना भावों के छिन्न भिन्न वर्णन आदि ।

ग्रंथ के दूसरे अध्याय का नाम प्रत्यगवर्णन है। इसमें नायिका का का नखशिख सोदाहरण रूप में निरूपित है। तीसरे अध्याय में पुरुष के चरण, वक्ष, भुजा, स्कंध, वाणी, पीठ और नेत्र का सोदाहरण निरूपण है। चौथे अध्याय का नाम ‘वर्णकरत्न सामान्यालंकार वर्णन’ है। संभवतः सामान्यालंकार नाम इन्होंने केशव के ग्रंथ ‘कविप्रिया’ से लिया है। इस अध्याय में राजा, राणी, नगर, देश, ग्राम, घोटक, गज, प्रयाण, आखेटक, सग्राम, सूर्योदय, चंद्रोदय, नदी, सरोवर, सिंधु, गिरि, तरु, तथा ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत और शिशिर ऋतुओं का सोदाहरण वर्णन है। पाँचवें अध्याय का नाम भी ‘वर्णकरत्न’ है। इसमें अधकार, वय संधि, अभिसार, व्याह, स्वयंवर, सुरापान, सभोग, जलकेलि, विरह और उद्यान का वर्णन किया गया है। छठे अध्याय में सख्यावर्णन है। इसमें एक से सोलह तक सख्याओं तथा बत्तीस सख्यावाले पदार्थों की सूची प्रस्तुत की गई है। सातवें अध्याय में सीधे, कुटिल, त्रिकोण, मंडल, स्थूल, पानर (पनला), कुरूप, सुंदर, कोमल, कठोर, कटु, मधुर, शीतल, तप्त, मदगति, चंचल, निश्चल, मदागति, माँचभूठ, दुःखद और सुखद पदार्थों की सूची उदाहरणसहित प्रस्तुत की गई है।

काव्यशास्त्रीय प्रकरण का आरंभ सातवें अध्याय से होता है। सर्वप्रथम वैदर्भी, गौडी और मागधी रीतियों की सामान्य चर्चा है। इसके पश्चात् ‘उक्तिप्रसंग’ के अंतर्गत लोकोक्ति, छेकोक्ति, अर्थकोक्ति और उन्मत्तोक्ति के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। पुन ८ पदगत, १२ वाक्यगत और ८ अर्थगत दोषों की मम्मटानुसार चर्चा है, यहाँ तक कि जुगुप्साव्यंजक अश्लील का मम्मटप्रस्तुत उदाहरण दे दिया गया है। इस प्रसंग में उन्होंने कतिपय उपमादोषों का भी उल्लेख किया है। दोषत्याग के सबंध में इनकी धारणा दंडी के अनुरूप है :

काव्यमजरी—

ते दूषण लघु जानि जनि, देहु कवित्त निकासु ।
ऐसे सुंदर देह मे कुठ छीट ते नाशु ॥

काव्यादर्श—

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्यं दुष्टं कथंचन ।
स्याद् वपुः सुंदरमपि शिवत्रैलोक्येन दुर्भंगम् ॥

नवे अध्याय मे काव्यगुणो का निरूपण है । गुण तीन प्रकार के हैं—शब्दगत, अर्थगत और वैशेषिक । सक्षिप्त, उदात्त, प्रसाद, उक्ति और समाधि ये पाँच शब्दगुण हैं । सस्कृताचार्यों मे इनकी चर्चा केशव मिश्र ने की है ।^१ अर्थगुण चार हैं—भाविकत्व, पर्यायोक्ति, सुधर्मिता और सुशब्दता । इनकी चर्चा भी केशव मिश्र ने की है^२ । वैशेषिक गुणो की स्थिति उन काव्यप्रसंगो मे मानी जाती है, जहाँ कोई काव्यदोष दोषरूप मे स्वीकृत नहीं किया जाता

जे जे दोष प्रथम कहै, तिन्ह में एकक टम ।
दोष न मानाहि विदुष तहि, वैशेषिक गुण नाम ॥

इस अर्थ मे वैशेषिक शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भोजराज ने किया है ।

दसवे और ग्यारहवें अध्याय मे क्रमशः शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का निरूपण है । इन प्रकरणो मे कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है । बारहवें अध्याय मे विभाव, अनुभाव और सचारी भावो का निरूपण है । इस प्रकरण मे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वितर्क नामक सचारी भाव के चार रूपो की चर्चा की गई है—सशय, विचार, अनध्यवसाय और विप्रतिपत्ति ।

ग्रंथ के अंतिम दो अध्यायो मे रसप्रकरण का निरूपण है । तेरहवें अध्याय मे शृंगार रस के आलंबन विभाव के अंतर्गत नायकनायिका भेद प्रसंग की सक्षिप्त चर्चा है । नायिकाभेदो मे मध्या नायिका के इन नवीन उपभेदो का भी उल्लेख हुआ है—सावहित्था, सादरा और सुरतोदासा । चौदहवें अध्याय मे विप्रलभ शृंगार तथा अन्य आठ रसो का निरूपण है । अंत मे नृप दलैलसिंह के गुणकथन तथा ग्रंथ को विष्णु के चरणो मे अर्पण करने के उपरांत उसकी समाप्ति हो जाती है ।

इस ग्रंथ की प्रमुख विशेषता है कविशिक्षा का सविस्तर निरूपण । हिंदी आचार्यों मे सर्वप्रथम यह प्रयास केशव ने किया था । इस दिशा मे दूसरा प्रयास सभरत इन्ही का है । केशव के समुख इस सबंध मे केशव मिश्र, अमरचंद्र आदि सस्कृताचार्यों का आदर्श था । इधर पदुमन्यदास ने सभरत केशव की 'कविप्रिया' से भी सहायता ली है । पर इनका यह प्रकरण कविप्रिया के इस प्रकरण की अपेक्षा कहीं अधिक स्वच्छ, व्यवस्थित एवं सशक्त है । निदर्शन के लिये सप्रामवर्णन का प्रसंग देखिए :

युद्ध धर्म बल बरगिए बंदा तोप अघात ।
धूरि धूम शोणित नदी, सर मंडप निघात ॥

१. संक्षिप्तत्वमुदात्तत्व प्रसादोक्तिसमाधय ।

अत्रैवान्यसमावेशात्पच शब्दगुणा स्मृता ॥ —अ० शो० ३।१।२

२. भाविकत्व सुशब्दत्व पर्यायोक्ति. सुधर्मिता ।

चत्वारोऽर्थ गुणा प्रोक्ता. परे त्वत्रैव सगता ॥ —अ० शो० ३।२।१

भंग पताका चमर रख, करि कर धनुया किष्टि ।
 सूरि नारि सूरन्ह बरै, सुर सुमनस की बिष्टि ॥
 भूमि भयानक भूतमय योगिनि गण को गान ।
 काक कक जड़ुक शिवा, लोथनि में लपटान ॥
 उठि उठि गिरहि कबध रण तुमुल रोर चहुँ ओर ।
 वरणाहु पडुमन जिमि लरे, मागध नद किशोर ॥

यथा कवित्त—

छाड़ बाण मंडप कलस गज शशिन्हको,
 बाँधे देत कंचन दिया से बरत है ।
 चारो ओर चंगुलनि गोध लए उडत अति,
 मानो तरु तोरण को बधन करत है ।
 तुपक अवाजै तोप बाजत कबंध नाचै,
 योगिनि हू गीत गाए आनंद भरत हैं ।
 यदुपीत जरासिंधु समर मे व्याह बिधि,
 अछरी अनेक सुर बरन्ही बरत है ॥

पर इस ग्रंथ का काव्यशास्त्रीय भाग सामान्य कोटि का है । रीति प्रकरण अत्यंत सक्षिप्त है । गुण प्रकरण मे उन गुणों का उल्लेख है जो न परंपरासमत हैं और न माधुर्य आदि तीन गुणों के समान रस के साथ साक्षात् संबद्ध हैं । इनके उक्ति प्रसंग मे से लोकोक्ति और छेकोक्ति को अलंकार प्रकरण मे स्थान मितना चाहिए था । अर्थकोक्ति तथा उन्मत्तोक्ति कोई काव्यांग अथवा उसका उपभेद नहीं है, अतः इनका उल्लेख काव्यशास्त्रीय ग्रंथो मे नहीं होना चाहिए । इस ग्रंथ के अन्य प्रकरण साधारण कोटि के हैं ।

(१) कवित्व—काव्यमजरी का अधिकांश भाग लक्षणपरक ही है, इसके उदाहरण सबधी छंद अधिक नहीं है । ऐसी दशा मे उनके काव्य के सबध मे किसी प्रकार का अंतिम निर्णय तो नहीं दिया जा सकता, केवल इतना कर सकते हैं कि इस ग्रंथ मे उपलब्ध गिने चुने छंदों के आधार पर ही उनके काव्य का मूल्यांकन किया जाय । इस दृष्टि से सूत्र रूप मे यह कहा जा सकता है कि ये केशव की परंपरा के कवि हैं । यह ठीक है कि इनकी रचनाओं मे केशव की विषयवस्तु की सी व्यापकता और भाषा मे उनका जैसा अलगढपन नहीं, पर अलंकार सामग्री और अभिव्यजना शैली लगभग वैसी ही है—प्रायः किसी भी वस्तु के रूप को स्पष्ट करने के लिये वही परंपरागत उपमानों अथवा कवि-समयों का चयन मात्र कर दिया गया है । इसका परिणाम प्रायः यह हुआ है कि यह व्यक्ति कहीं पर भी अपने भावचित्रों मे कल्पना को उचित स्थान नहीं दे पाया और यदि कहीं उसने देने का प्रयत्न भी किया है तो वह अपने आपमे केशव जैसा ही स्थूल हो गया है । षट्कृत, गज, वाजि आदि का वर्णन यद्यपि सक्षिप्त है तथापि कवित्व की दृष्टि से अवश्य ही उत्कृष्ट कहा जा सकता है—शृंगारिक रचनाओं मे कवि अपने समकालीनों के समान भावात्मकता नहीं ला पाया । उदाहरण के लिये कतिपय छंद देखिए

(१) नूतन दंतारे भारे भूधर से कारे तन,
 चुचुयत कपोल मद मोतिया के माथ मे ।
 मंद गति चपल चलत कान काँध ते,
 महाजत न उतरत अकुश ले हाथ मे ॥
 डोलत अधारी डारे जकरे जजीर पद,
 संतत समीप गडदार भोज साथ में ।

- हरिदल दारक सिंगार निज दल के,
उदार दल साहि ताहि दीन्ह बैजनाथ में ॥
- (२) मदन भुयार फौजदार ऋतुपति जाके,
बना फहरात नव पल्लव लुह लुह ।
दक्षिण पवन दूत दिशि दिशि धावत है,
गावत है मधुकर करखा मुह मुह ॥
भने 'पदुमन' सुमनस के समूह बाण,
बिछुरै जो दंपति तौ बधत डुहु डुहु ।
कोकिला कसाई ताको बिरहिन कुहिवे को,
बोलत न पूछै ऋतुराज सो कुह कुह ॥
- (३) कपटी कुटिल मित्र पुत्र न गदानै बात,
बादी बकबादी वाम दास चित्त चोरी में ।
थोरी बोन प्रापति किया आश प्रभू पाश,
ऋणयाचन ते आस नित खास पर बोरी में ॥
दारिद दुरित दुखदाई घने घेरे पाश,
तौह न तजत सुख आस मति थोरी में ।
'पदुमन' प्रभु भगवत में न भाव आए,
वासर गवाए परवार के अगोरी में ॥
- (४) कोउ कहै कुच कंचन कुंभ सुधारस ते भरिए रखि सोऊ ।
श्रीफल शंभु सुमेरु सरोज मनोज के गेँद कहै कवि कोऊ ॥
मो मन मे उपमा यह आवत विश्व सबै वश याहि के होऊ ।
जीति जगत्रय औंधि धरी कि मनो मनमथ के दुंदुभि दोऊ ॥

४ देव

(१) जीवनवृत्त—देव कवि का पूरा नाम देवदत्त था, 'देव' इनका उपनाम था । अपने भावविलास ग्रंथ के रचनाकाल का उल्लेख करते हुए इन्होंने लिखा है कि सर्वत् १७४६ मे मेरी आयु १६ वर्ष की थी

शुभ सत्रह से छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष ।
कही देव मुख देवता, भावविलास सहर्ष ॥

अतः इनका जन्म सर्वत् १७३०-३१ मानना चाहिए । इसी ग्रंथ मे इन्होंने अपने को इटावा (उत्तर प्रदेश) का निवासी तथा छोसरिया ब्राह्मण लिखा है

छौसरिया कवि देव को नगर इटायो बास ।
जोवन नवल सुभाव रस कीन्हौ भावविलास ॥

छौसरिया अथवा दुसरिहा कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की अल्ल होती है । देव के प्रपौत्र भोगीलाल के पास उपलब्ध वंशवृक्ष से भी देव काश्यपगोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण सिद्ध होते हैं ।

काश्यपगोत्र द्विवेदि कुल कान्यकुब्ज कमनीय ।
देवदत्त कवि जगत मे भए देव रमनीय ॥

देव के वंशजों में प्राप्य वंशवृक्ष से इनके पिता का नाम बिहारीलाल दुबे ज्ञात होता है । मौलिक रूप से प्राप्त एक छंद से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है :

दुबे बिहारीलाल भए निज कुल मह दीपक ।

तिनके भे कवि देव कविन मंह अनुपम रोचक ॥

देव को अपने जीवननिर्वाह के लिये अनेक आश्रयदाताओं के पास भटकना पड़ा था । अतः साक्ष्य के अनुसार इनके कतिपय आश्रयदाताओं के नाम ये हैं—(१) आजम-शाह, जिन्हें इन्होंने अपने दो ग्रंथ भावविलास और अष्टयाम भेंट किए थे । (२) चर्खी—(ददरी) पति राजा सीताराम के भतीजे सेठ भवानीदत्त वैश्य । इनके नाम पर देव ने भवानीविलास ग्रंथ का निर्माण किया था । (३) फरूद रियासत के राजा कुशलसिंह । कुशलविलास ग्रंथ की रचना इनके नाम पर की गई । (४) राजा अथवा सेठ भोगीलाल, जिन्हें देव ने निम्नलिखित श्रद्धाजलि भेंट की है

भोगीलाल भूप लख पाखर लिवैया जिन,

लाखाने खरचि खरचि आखर खरीदे है ।

(५) इटावा के समीपवर्ती ड्योडिया खेरा के राजा (जमींदार) उद्योतसिंह । इन्हें देव ने अपना 'प्रेमचंद्रिका' ग्रंथ समर्पित किया था । (६) दिल्ली के रईस पातीराम के पुत्र सुजानमणि, जिनके लिये 'सुजानविनोद' की रचना की गई थी । (७) पिहानी के अधिपति अकबर अली खाँ, जिन्हें देव ने 'सुखसागरतरंग' समर्पित किया है ।

देव की मृत्यु अनुमानतः सवत् १८२४-२५ में मानी जाती है । इस समय इनकी आयु ६४-६५ वर्ष हुई थी ।

(२) ग्रंथ—जैसा ऊपर कहा गया है, देव के उपलब्ध ग्रंथों की संख्या १८ है । इनकी सूची इस प्रकार है .

| क्र०सं० | ग्रंथ | निर्माणकाल |
|---------|--------------------------|--|
| १ | भावविलास | सवत् १७४६ |
| २ | अष्टयाम | अनुमानत " " |
| ३ | भवानीविलास | " " १७५०-५५ |
| ४ | प्रेमतरंग | " " १७६० |
| ५ | कुशलविलास | " " १७६० |
| ६ | जातिविलास | " " १७८० |
| ७ | देवचरित | " " १७८० के बाद |
| ८ | रसविलास | " " १७८३ |
| ९ | प्रेमचंद्रिका | " " १७९० |
| १० | सुजानविनोद या रसानंदलहरी | " " १७९० के उपरांत |
| ११ | शब्दरसायन या काव्यरसायन | " " १८०० |
| १२ | सुखसागरतरंग | " " १८२४ |
| १३ | रागरत्नाकर | " " अज्ञात |
| १४ | जगद्दर्शन पचीसी | } वैराग्यशतक अथवा देवशतक अंतिम दिनो की रचना |
| १५ | आत्मदर्शनपचीसी | |
| १६ | तत्त्वदर्शनपचीसी | |
| १७ | प्रेमपचीसी | |
| १८ | देवमायाप्रपंच (नाटक) | अज्ञात |

इन ग्रंथों को वर्ण्य विषय के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—काव्यशास्त्रीय ग्रंथ तथा अन्य ग्रंथ । प्रेमचंद्रिका, रागरत्नाकर, देवशतक के चारों

भाग, देवचरित और देवमायाप्रपंच को छोड़कर शेष ग्रंथ काव्यशास्त्र से सबद्ध है। इन ग्रंथों का परिचय इस प्रकार है

(अ) **प्रेमचंद्रिका**—इसका वर्ण्य विषय प्रेम है। देव ने इसमें सशक्त शब्दों में विषय का तिरस्कार करते हुए प्रेम का माहात्म्य प्रतिष्ठित किया है। इस पुस्तक में चार प्रकाश हैं। पहले में साधारण प्रेम का वर्णन है, जिसके अंतर्गत प्रेमरस, प्रेमस्वरूप, प्रेम-माहात्म्य तथा प्रेम और विषय का अंतर स्पष्ट रूप में व्यक्त किया गया है। दूसरे प्रकाश में प्रेम के पाँच भेद किए गए हैं—सानुराग शृंगार, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य। तीसरे प्रकाश में मध्या और प्रोढ़ा का प्रेम वर्णित है। चौथे प्रकाश में प्रेम के शेष चार भेदों का—क्रमशः गोपियों के सौहार्द, गोपियों की भक्ति, यशोदा के वात्सल्य और राजा नृग के कार्पण्य आदि के व्याज से—वर्णन है।

(आ) **रागत्नाकर**—संगीत से सबद्ध लक्षणग्रंथ है। इसमें दो अध्याय हैं। पहले अध्याय में छह रागों का उनकी भार्याओं सहित सागोपाग वर्णन है और दूसरे में तेरह उपरागों का उल्लेख मात्र है। रागों और उनकी भार्याओं का वर्णन रीतिनिरूपण और काव्य दोनों दृष्टियों से अत्यंत रोचक है।

(इ) **देवशतक**—जैसा ऊपर कह आया है, इसमें चार पृथक् पञ्चीसियाँ हैं—जगद्दर्शनपञ्चीसी, आत्मदर्शनपञ्चीसी, तत्त्वदर्शनपञ्चीसी और प्रेमपञ्चीसी। प्रथम तीन पञ्चीसियों का प्रधान विषय वैराग्य है। इनमें जीवन और जगत् की असारता, उसमें लिप्त रहने के लिये जीवन एवं मानव मन की निर्भय भर्त्सना, जीव के भ्रम का वर्णन और ब्रह्मतत्त्व का निरूपण है। प्रेमपञ्चीसी में प्रेमतत्त्व का वर्णन है। परमात्मा केवल प्रीति में मिलता है। जीवन में प्रेम ही सार है। प्रेम के बल पर ही गोपियों ने उद्धव के निर्गुण ज्ञान को मिथ्या सिद्ध कर दिया था।

देवशतक अत्यंत प्रौढ़ रचना है। इसमें कवि ने दार्शनिक भावनाओं को पूर्ण अनुभूति के साथ अभिव्यक्त किया है। अतएव वे कोरा दर्शन न रहकर काव्य बन गई है। उसके आत्मग्लानि के उद्गारों में उतनी ही तन्मयता है जितनी भक्त कवियों में मिलती है। देव की वृद्धावस्था की रचना होने के कारण इसमें भाषा और भाव दोनों की परिपक्वता है।

(ई) **देवचरित**—यह ग्रंथ कृष्ण के आद्योपात जीवन से सबद्ध एक खड्काव्य है। इसमें श्रीकृष्ण जन्म, बक्री और तूणावर्त का वध, माखनचोरी, वृंदावनप्रयाण, बकासुरवध, कालियदमन, गोवर्धनलीला, अक्रूरागमन, कुब्जाउद्धार, कंसवध, रुक्मिणी-स्वयंवर, सत्यभामावरण, भौमासुर के बधन से सोलह सहस्र रानियों का उद्धार तथा उनका पत्नीरूप में ग्रहण, महाभारत में पांडवों की सहायता आदि अनेक छोटे बड़े प्रसंगों का अत्यंत सक्षिप्त तथा खंडित वर्णन है। यह ग्रंथ खड्काव्य की दृष्टि से अधिक सफल नहीं है, परंतु इतना सकेत अवश्य करता है कि कवि ने कथानिर्वाह की प्रतिभा निस्संदेह थी।

(उ) **देवमायाप्रपंच**—यह ग्रंथ प्रबोधचंद्रोदय की शैली पर लिखित पद्यबद्ध नाट्य रूपक है। कथानक के पात्र प्रतीकात्मक हैं—परपुरुष, माया (मन), प्रकृति (बुद्धि), जनश्रुति, तर्क आदि। कथानक का उद्देश्य अधर्म पर धर्म की विजय दिखाना है।

(ऊ) **काव्यशास्त्रीय ग्रंथ**—देव के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में शब्दरसायन विविधागनिरूपक ग्रंथ है, भावविलास में शृंगार रस तथा अलंकारों का निरूपण है, भवानी-विलास, प्रेमतरंग, कुशलविलास, जातिविलास, रसविलास, सुजानविनोद और सुखसागर-तरंग शृंगार रस और विशेषतः इसके नायकनायिका भेद प्रसंग से सबद्ध ग्रंथ है तथा

अष्टयाम में नायक नायिका के आठो पहर के विविध विलास का वर्णन है। एक कवि द्वारा एक ही विषय से सबद्ध अनेक ग्रंथों के प्रणयन का परिणाम यह हुआ है कि शृंगार रस तथा नायकनायिका भेद सबधी अनेक प्रसंगों का कई बार पुनरावर्तन हो गया है, यहाँ तक कि भावविलास में जिन ३६ अलंकारों का निरूपण है, उन सबकी पुनरावृत्ति शब्दरसायन में कर दी गई है। इसके अतिरिक्त उदाहरणों की भी इधर उधर पुनरावृत्ति अथवा उनमें परिवर्द्धन करके नवीन ग्रंथ की सृष्टि कर दी गई है। इस दृष्टि से सुखसागर-तरंग का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। यह कवि के अंतिम दिनों का बृहद् काव्यग्रंथ है, पर कुछ एक नवीन पद्यों को छोड़कर शेष इधर उधर से संगृहीत है। यदि देव के सभी ग्रंथ—५२ अथवा ७२ ग्रंथ—उपलब्ध हो जायें तो यह प्रवृत्ति और भी अधिक बृहदाकार धारण करके हमारे समुख आ जाय। जीविकावृत्ति की तलाश में इधर से उधर भटकने-वाले बेचारे देव के पास 'घटत बढत' के अतिरिक्त भला और उपाय ही क्या था ?

जैसा ऊपर निर्दिष्ट कर आए हैं, शब्दरसायन में विविध काव्यांगों का निरूपण है। ये काव्यांग हैं—काव्यस्वरूप, पदार्थनिर्याय (शब्दशक्ति), नौ रस, नायकनायिका-भेद, दस रीति (गुण), चार वृत्ति, अलंकार तथा पिंगल। इसके अतिरिक्त भावविलास में भी अलंकार को स्थान मिला है। इस प्रकार इन ग्रंथों में लगभग सभी काव्यांगों का निरूपण हो गया है जिसका आधार संस्कृत के प्रख्यात ग्रंथों—काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण तथा रसतरंगिणी और रसमजरी—में ग्रहण किया गया है। कुछ एक नवीन प्रसंग भी इधर उधर लक्षित हो जाते हैं। इनमें से कुछ मान्य हैं और कुछ अमान्य।

(३) काव्यस्वरूप—काव्यस्वरूप प्रसंग के अंतर्गत देव ने काव्यपुरुष की चर्चा करते हुए अपने ग्रंथ शब्दरसायन में एक स्थान पर छंद (शब्दरचना) को काव्य का तन, रस को जीव तथा अलंकार को शोभावर्धक धर्म कहा है

अलंकार भूषण सुरस जीव छंद तन भाव ।

पर इसी ग्रंथ में उन्होंने उपर्युक्त परंपरासमत धारणा से हटकर शब्द को जीव, अर्थ को मन तथा रसमय सौंदर्य को काव्य का शरीर माना है। छंद और गति ये दोनों (पग के सदृश) उसे संचारित और प्रवाहित करते हैं तथा अलंकार से उसमें गभीरता आती है

सब्द जीव तिहि अर्थ मन रसमय सुजस सरीर ।

चलत बहै जुग छंद गति अलंकार गंभीर ॥

देव की दूसरी धारणा परंपराविरुद्ध तो है, पर नितांत अशुद्ध नहीं है। इन दोनों धारणाओं में अपने-अपने दृष्टिकोण का प्रतिपादन है—पहली में काव्य का आंतरिक पक्ष उभारा गया है और दूसरी में बाह्य पक्ष।

(अ) शब्दशक्ति—शब्दशक्ति प्रकरण के अंतर्गत भी देव ने कुछ एक नवीन धारणाएँ प्रस्तुत की हैं, पर वे अधिकतर भ्रात और असंगत हैं। उदाहरणार्थ—तात्पर्य शक्ति के सबंध में देव के निम्नलिखित विभिन्न उल्लेखों में से अभिहितान्वयवादी समत तात्पर्य शक्ति के वास्तविक स्वरूप पर किसी भी रूप में प्रकाश नहीं पड़ता। ऐसा प्रतीत होता है कि तात्पर्य से उनका अभिप्राय या तो व्यंग्यार्थ से है या वाच्यदि तीनों अर्थों से :

१. अभिहितान्वयवादियों के मत में अभिधा शक्ति के द्वारा वाक्य के भिन्न भिन्न पदों के ही संकेतित अर्थ का ज्ञान होता है, पदों के अन्वित अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता, इस अर्थ के लिये तात्पर्य वृत्ति माननी पड़ती है। ऐसा माननेवाले

- (क) मुर पलटत ही शब्द ज्यों वाचक व्यंजक होत ।
तातपर्ज के अर्थ हूँ तीन्यो करत उदोत ॥

—श० २०, पृष्ठ २

- (ख) तातपर्ज चौथो अरथ तिहूँ शब्द के बीच ।

—बही, पृ० २

- (ग) सकल भेद के लक्षणा और व्यजना भेद ।

तातपर्ज प्रकटत तहाँ, दुख के सुख सुख खेद ॥

—बही, पृ० १२

लक्षणा के मम्मटसमत गौणी नामक भेद को देव ने 'मिलित' नाम दिया है

द्विविध प्रयोजन लक्षणा सुद्ध मिलित पहिचानि ।

—बही, पृ० ४

पर यह नाम हमारे विचार में गौणी के यथार्थ स्वरूपसादृश्य सबध का किसी भी रूप में द्योतक नहीं है ।

जाति, क्रिया, गुण और यदृश्या को इन्होंने अभिधा के मूलभेद कहा है^१ । पर वस्तुतः वे अभिधा के मूल भेद न होकर सकेतित (वाच्य) अर्थ के ही विभिन्न रूप हैं^२ । इन चारों के देवसमत उदाहरणों में गुण को छोड़कर शेष प्रकारों के उदाहरण भ्रात हैं

जाति अहीरी क्रिया पकरि हर गुन सुकुल सुबानि ।

चोर यदृश्या चहुँ बिधि अभिधा मूल बखानि ॥

—बही, पृ० २३

इस प्रकार देव ने लक्षणा और व्यजना के भी चार चार मूल भेदों का उल्लेख किया है

लक्षणा—कारजकारण, सदृशता, वैपरीत्य, आछेप ।

व्यजना—वचन, क्रिया, स्वर, चेष्टा^३ ।

पर इनमें उक्त शक्तियों का संपूर्ण क्षेत्र समाविष्ट नहीं हो सकता । लक्षणा के ये भेद क्रमशः शुद्धा, गौणी, विपरीत लक्षणा और उपादान लक्षणाओं से संबद्ध हैं । पर लक्षणा का विषय कहीं अधिक विस्तृत है । व्यजना के उक्त भेदों में स्वर और चेष्टा आर्थी व्यजना से संबद्ध हैं । क्रिया को भी चेष्टा का रूपांतर मानते हुए इसी व्यजना से संबद्ध कहा जा सकता है । वचन भेद अस्पष्ट है । यदि यह 'वाच्य' का पर्याय है, तो यह भी आर्थी व्यजना से संबद्ध है । पर व्यजना का भी विशाल क्षेत्र इन तथाकथित मूल भेदों पर न तो आधृत है और न इन्हीं तक सीमित । इन्हें 'मूल भेद' जैसे गौरवास्पद नाम से श्रुषित करना ही भ्रातिजनक है ।

मीमांसक कुमारिल भट्ट के मतानुयायी होने के कारण 'भट्ट' मीमांसक कहाते हैं । ये अभिहितान्वयवादी भी कहाते हैं, क्योंकि इनके मत में अभिधा से अभिहित (प्रोक्त) अर्थों का आपस में एक अन्य तात्पर्य नामक वृत्ति के द्वारा अन्वय (सबध) स्थापित करना पड़ता है

अभिहिताना स्वस्ववृत्त्या पदैरुपस्थापितानामर्थानामन्वय इति बादिन अभिहितान्वयवादिन ।

—का० प्र० (बा० बो०), पृ० २६

१. शब्दरसायन, पृष्ठ २१.

२. काव्यप्रकाश, २॥८

३. शब्दरसायन, पृष्ठ २३, २५

देव ने अभिधादि शक्तियों के परस्पर सबधजन्य १२ प्रकार के अर्थों का उल्लेख किया है। पर इनमें से कुछ शास्त्रसमत है और कुछ शास्त्रासमत

शास्त्रसमत—(१-३) अभिधा, अभिधा में लक्षणा, अभिधा में व्यजना
(४-५) लक्षणा, लक्षणा में व्यजना
(६-७) व्यजना, व्यजना में व्यजना

शास्त्रासमत—(१) अभिधा में अभिधा
(२-३) लक्षणा में अभिधा और लक्षणा में लक्षणा
(४-५) व्यजना में अभिधा और व्यजना में लक्षणा

(आ) रस—ऊपर निर्दिष्ट कर आए है कि रस प्रकरण इनके सभी काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में निरूपित हुआ है। निरूपण का आधार विश्वनाथ तथा भानु मिश्र के ग्रंथ है। उल्लेखनीय विशिष्टताओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है

देव ने भाव के दो भेद माने हैं—कायिक और मानसिक। स्तभ, स्वेद आदि (सात्विक) भाव कायिक है, तथा निर्वेद आदि (संचारिभाव) मानसिक। इस वर्गीकरण का आधार भानु मिश्र की रसतरंगिणी है। छल को जोड़कर इन्होंने संचारिभावों की संख्या ३४ मानी है। यह संचारिभाव भी रसतरंगिणी से लिया गया है। रस दो प्रकार का है—लौकिक और अलौकिक। लौकिक रस के शृंगार आदि नौ भेद हैं तथा अलौकिक रस के स्थापनिक, मानोरथ्यु तथा औपनायका—ये तीन भेद। इन भेदों का स्रोत भी रसतरंगिणी है। देव ने शृंगार रस को सर्वाधिक महत्व दिया है—रसों की संख्या नौ मानना समुचित नहीं है। वस्तुतः रस एक ही है—वह है शृंगार

भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार ।

देव की यह धारणा भोजराज पर आश्रित है। शृंगार रस के महत्वसूचक निम्न-लिखित कथन पर भी भोज की छाया स्पष्ट झलकती है

भाव सहित सिंगार में नव रस झलक अजलन ।
ज्यो कंकन मनि कनक को ताही मे नव रत्न ॥^१

रसों के पारस्परिक सबध के विषय में देव ने दो रूपों का उल्लेख किया है—

(क) नौ रसों में तीन रस मुख्य हैं—शृंगार, वीर और शात। इनमें भी शृंगार ही मुख्य है, शेष दोनों इसके आश्रित हैं। फिर, इन्हीं तीनों पर शेष छह रस आश्रित हैं—शृंगार के आश्रित हास्य तथा भय है, वीर के आश्रित रौद्र तथा कर्षण है और शात के आश्रित अद्भुत तथा वीभत्स। देव की यह धारणा पूर्णतः वैज्ञानिक न होने के कारण समान्य नहीं है।

(ख) मूल रस चार हैं—शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स। शेष चार रस—हास्य, अद्भुत, कर्षण और भयानक—क्रमशः इन्हीं के आश्रित हैं। इस कथन का आधार भरतप्रणीत नाट्यशास्त्र है।

१ तुलनार्थ—रत्यादयोऽर्धशतमेकविर्वजिता हि

भावा पृथग्विधविभावभुवो भवन्ति ।

शृंगारतत्त्वमभित परिवारयान्त

सप्तार्चिष द्युतिचया इव वर्धयन्ति ॥ —शृ० प्र०, पृ० ४६६

देव ने शृंगार के दो रूप गिनाए हैं प्रच्छन्न और प्रकाश । सस्कृत आचार्यों ने सर्वप्रथम रुद्रट ने इस ओर सकेत किया था और फिर भोज ने । हिंदी आचार्यों में देव से पूर्व केशव ने इन भेदों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं । इन्होंने हास्य रस के तीन भेद माने हैं—उत्तम, मध्यम और अधम । इन भेदों का आधार स्मित, विहसित आदि प्रचलित छह भेद ही हैं । देव ने करुण के पाँच भेद गिनाए हैं—करुण, अर्धकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुखकरुण । वीभत्स के दो रूप—जुगुप्साजन्य तथा ग्लानिजन्य और शात के दो भेद—भक्तिमूलक तथा शुद्धभक्तिमूलक । शात के तीन उपभेद—प्रेमभक्ति, शुद्ध-भक्ति और शुद्धप्रेम ।

(इ) नायकनायिका भेद—नायकनायिका भेद की दृष्टि से देव अपेक्षाकृत अधिक विस्तारप्रिय आचार्य थे । रीतिकालीन अन्य कवियों एवं आचार्यों ने जहाँ नायिका भेद का वर्णन कर्म, काल, गुण, वय क्रम, दशा और जाति के आधार पर किया है, वहाँ देव ने इनके अतिरिक्त देश, प्रकृति और सत्व के आधार को भी ग्रहण किया है । उदाहरणार्थ, देशगत भेद—मध्यदेशवधू, मगधवधू, कोशलवधू, पाटलवधू, उत्कलवधू आदि । इनका विस्तार और भी आगे चला है और जाति अर्थात् वर्णव्यवसाय तथा वास की दृष्टि से भी भेदों को बढ़ाया गया है । उदाहरणार्थ

नागरी—देवलदेवी, पूजनहारी, द्वारपालिका ।

राजनगर—जौहरिन, छीपिन, पटवाइन, सुनारिन, गधिन, तेलिन, तमोलिन आदि ।

ग्रामीण—अहीरिन, काछिन, कलारिन, कहारी, नुनेरी ।

पथिकतिय—बनजारिन, जोगिन, नटनी, कुघेरनी ।

इसी प्रकार देव ने वात, पित्त और कफ—इन तीन प्रकार की प्रकृतियों, सुर, किन्नर, यक्ष, नरपिशाच, नागर, खर और कपि—इन तत्वों के आधार पर भी नायिका-भेदों की ओर सकेत किया है । पर स्पष्ट है कि इस भेदविस्तार से काव्यचमत्कार में कुछ वृद्धि नहीं होती अपितु इनका बोझिल व्यापार इसे आक्रांत कर विकृत कर देता है । इनके अतिरिक्त इन नायिकाओं की स्थिति न तो किसी सुसूचितपूर्ण पाठक का मनोरंजन कर सकती है और न काव्यशास्त्रीय परंपरागत नायको के साथ इनका गठबंधन शोभनीय लगता है ।

देव ने शब्दरसायन में अन्य दोषों के अतिरिक्त निम्नलिखित रसदोष भी गिनाए हैं—सरस, निरस, उदास, समुख, विमुख, स्वनिष्ठ और परनिष्ठ । सस्कृत काव्यशास्त्रों में इन्हीं नामों के दोषों का उल्लेख हमें कहीं नहीं मिला । देव ने केशव के अनरस दोषों से प्रेरणा प्राप्तकर इन दोषों की कल्पना की है अथवा स्वतंत्र रूप से, निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है । शब्दरसायन में वामनसमत गुणों का निरूपण करते हुए इन्होंने गुण को 'गुण' नाम से अभिहित न कर 'रीति' नाम से अभिहित किया है तथा अनुप्रास और यमक को भी तथाकथित 'रीति' के अंतर्गत निरूपित किया है ।

(ई) अलंकारप्रकरण—भावविलास और शब्दरसायन, इन दोनों ग्रंथों में से प्रथम ग्रंथ में ३६ अलंकारों का निरूपण है जो दंडी और भामह के ग्रंथों में उपलब्ध है । द्वितीय ग्रंथ में उक्त अलंकारों के अतिरिक्त ४५ अन्य अलंकारों का प्रतिपादन है जो भामह और अप्यय्य दीक्षित के बीच विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रचलित और प्रतिपादित हुए हैं । इन अलंकारों के लिये देव ने किसी एक ग्रंथ विशेष को अपना आधार नहीं बनाया ।

उपर्युक्त सिंहावलोकन से स्पष्ट है कि देव का आचार्यत्व उच्च कोटि का एवं पूर्णतः शास्त्रसमत नहीं है । पर कवित्व की दृष्टि से रीतिकालीन आचार्यों में इच्छक विशिष्ट स्थान है ।

(उ) पिंगल—देव ने अपनी काव्य की परिभाषा में रस, भाव और अलंकार के साथ छंद का भी उल्लेख किया है, इसलिये सापेक्षिक महत्व के अनुसार शब्दरसायन के अंतिम भाग में उन्होंने उसका भी वर्णन कर दिया है। छंद को उन्होंने कविताकामिनी की गति माना है। इस प्रसंग में कवि ने लघु, गुरु, गण, देवता, फल आदि का परिपाटी-भुक्त वर्णन करने के उपरांत, फिर केवल उन वर्णिक एवं मात्रिक छंदों का विवरण दिया है जो हिंदी में प्रचलित है। वर्णवृत्त के तीन भेद माने हैं—(१) गद्य, जिसमें कोई सख्या नहीं होती, (२) पद्य, जिसमें एक गण अर्थात् तीन वर्णों से लेकर २६ वर्ण तक होते हैं (नाडी से लेकर सवैया तक अनेक प्रकार के छंद इसके अंतर्गत आ जाते हैं), और (३) दंडक, जिसमें २७ से ३३ वर्ण तक होते हैं। मात्रिक छंदों में दोहा से लेकर चौपैया, अमृत-ध्वनि आदि तक का वर्णन है।

पिगल वास्तव में विवेचन का विषय न होकर वर्णन का ही विषय है, अतएव मुख्यतया इनकी वर्णनशैली में ही थोड़ी बहुत नवीनता लाई जा सकती है। इस प्रसंग में देव के दो तीन प्रयुक्त उल्लेखनीय हैं—(१) छंद का लक्षण और उदाहरण उसी छंद में दिया गया है। यह शैली संस्कृत के पिगल ग्रंथों में भी ग्रहण की गई है—उदाहरण के लिये वृत्तरत्नाकर या छंदोमजरी में। बाद में हिंदी में भी छंद प्रभाकर आदि में इसका प्रयोग मिलता है। (२) सवैया के विभिन्न भेदों के लक्षण भरण द्वारा किए गए हैं। यह एक नई सूक्ष्म अवश्य है परंतु इससे विद्यार्थी की कठिनाई बढ़ जाती है, उसको कोई विशेष लाभ नहीं होता। दूसरे, अकेला भरण विभिन्न सवैया की गति का पूर्णतः चोत्तन करने में भी असमर्थ रहता है। (३) सवैया और घनाक्षरी के कुछ नवीन भेद भी दिए हैं—सवैया मजरी, ललित, सुधा, अलसा। ये चार भेद सवैया के साधारण भेदों के अतिरिक्त हैं, और देव ने इनको 'नवीन' मत के अनुसार माना है। घनाक्षरी में ३१-३२ वर्णों की घनाक्षरियों के अतिरिक्त देव ने ३३ वर्ण की घनाक्षरी भी मानी है जो आज 'देव घनाक्षरी' के नाम से प्रसिद्ध है। ये उद्भावनाएँ वास्तव में महत्वपूर्ण हैं, परंतु इनसे देव के आचार्य रूप की अपेक्षा उनके कलाकार रूप पर ही अधिक प्रकाश पड़ता है। अतः देव ने मेरु, पताका, मर्कटी, नष्ट और उद्दिष्ट को केवल कौतुक का विषय मानते हुए उनको त्याज्य बताया है।

(४) कवित्व—देव के काव्य का मुख्य विषय शृंगार है। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने यद्यपि तत्त्वचिंतन सबंधी रचनाएँ की हैं, पर उनके रीतिकाव्य के साथ इनका कोई सबंध नहीं। ये मूलतः उनके शृंगारी जीवन की प्रतिक्रिया के रूप में ही प्रस्फुटित हुई हैं। इसी कारण इनमें निर्वेद तथा तत्त्वचिंतन अधिक है, सूर और तुलसी की सी अपने उपास्य के प्रति भक्तिभावना नहीं है। शृंगारिक रचनाओं में देव के रागपक्ष का सबसे अधिक निखरा हुआ रूप दृष्टिगत होता है। उन्होंने सिद्धांत रूप से रस की स्थापना जिस विश्वास के साथ की है, उसका सही निर्वाह उतने ही मनोयोग के साथ उनके काव्य में देखने को मिलता है। किसी भी छंद को उठाकर परीक्षा कर लीजिए, उसमें प्रेम का आवेग इतना अधिक मिलेगा कि सहज ही उनकी रसवेतना की गंभीरता का आभास मिल जायगा।

देव की रचनाओं में कल्पनावैभव भी कम नहीं है। इस सबंध में यह कहना अनुचित न होगा कि उनके समस्त शृंगारी काव्य की रसाद्रता में कल्पना की ऊँची उड़ान का पर्याप्त योग रहा है जिसे मूर्त रूप प्रदान करने के लिये उन्होंने साधारणतः ऐसे चित्रों की योजना की है जिनमें प्रत्येक रेखा अपना विशेष महत्त्व तो रखती ही है, साथ में रग-वैभव और प्रसाधनसामग्री ने उसमें और भी सौंदर्यसृष्टि की है। क्या स्थिर और क्या

गतिशील, किसी भी चित्र को उठा लीजिए, सबमें कवि की भावना का आवेश अपने आप ही उभरता दिखाई देगा, और यही कारण है कि सहृदय को उनकी अनुभूति के धरातल तक पहुँचने में देर नहीं लगती। यद्यपि इन चित्रों में कही कही क्लिष्टता आ गई है, तथापि इसका कारण कवि का दृष्टिदोष न मानकर उसकी भावना का आवेग ही मानना चाहिए।

चित्रों को सजीव बनाने तथा भावसामग्री की निश्छल अभिव्यक्ति करने में भी देव ने अत्यंत सतर्कता से काम लिया है। विषयवस्तु के अनुरूप ही उन्होंने शब्दों का चयन किया है—भावावेग की अभिव्यक्ति के समय वे प्रायः भावात्मक शब्दावली का प्रयोग करते हैं जिससे सहृदय को उनकी अनुभूति अनायास ही हो जाती है। इसमें सदेह नहीं कि व्याकरण की दृष्टि से उनकी भाषा अपेक्षाकृत सदोष है, उसमें शब्दों की तोड़मरोड़ और व्याकरण रूपों की अव्यवस्था है, पर ऐसा उन्हें अपनी रचनाओं की सौंदर्यवृद्धि के लिये ही करना पड़ा है—पुनरुक्ति, अनुप्रास आदि भाषाप्रसाधनों की योजना तथा छंद में लय के आग्रह को वे उपेक्षित नहीं कर सके। फिर भी, काव्यगुणों को देखते हुए उनके ये दोष उपेक्षणीय हैं। कतिपय छंद दिए जाते हैं, बात स्पष्ट हो जायगी

(१) ऐसो जो हों जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
ए रे मन मेरे हाथ पाँय तेरे तोरतो ।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाही सुनि,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो ।
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चिताउनीनि मारि मुँह मोरतो ।
भारो प्रेम पाथर नगारौ दै गरे सौं बाँधि,
राधाबर बिरद के बारिधि में बोरतो ॥

(२) पीतरंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव',
खीफल उरोज आभा आभासँ अधिक सी ।
छूटी अलकनि छलकनि जलबूंदन की,
बिना बँदी बंदन बदन सोभा बिकसी ।
तजि तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप गुंज गुंजरत,
मजु रव बोले बाल पिकसी ।
नीबी उकसाइ नेकु नयन हँसाय हँसि,
ससिमुखी सकुचि सरोबर तैं निकसी ॥

(३) रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै,
साँसँ भरि आँसू भरि कहत दई दई ।
चौँकि चौँकि चकि चकि औचकि उचकि 'देव',
जकि जकि बकि बकि परत बई बई ।
दुहुन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरै,
घर न थिरात रीति नेह की नई नई ।
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधामन मोहि मोहि मोहन मई मई ॥

(४) देव मैं सीस बसायौ सनेह कै भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यो ।
कंचुकी में चुपरयो करि चोवा लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो ॥
कै मखतूल गुहे गहने रस मुरतिबंत सिंगार कै आख्यो ।
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यो ॥

६ सूरति मिश्र^१

आचार्य सूरति मिश्र के सबध में किसी भी प्रकार की मामूली उपलब्ध नहीं है। इनके विषय में केवल इतना ही पता चला है कि ये आगरानिवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इन्होंने निम्नलिखित ग्रंथ लिखे १—अलंकारमाला, २—रसमाला, ३—सरस रस, ४—रस ग्राहक चंद्रिका, ५—नखशिख, ६—काव्यमिद्धांत, ७—रसरत्नाकर, ८—अमरचंद्रिका (बिहारी सतसई की टीका), ९—कविप्रिया की टीका, १०—रसिक-प्रिया की टीका और ११—वैतालपत्रविशति का ब्रजभाषा अनुवाद।

इनके अलंकारमाला का रचनाकाल स० १७६६ वि० और अमरचंद्रिका का स० १७६४ वि० है। अतएव कहा जा सकता है कि ये विक्रम की १८वीं शताब्दी के अंतिम त्तरण के बाद तक विद्यमान रहे। इनके इन ग्रंथों में से संप्रति एक भी उपलब्ध नहीं है। केवल एक छंद आचार्य शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में उद्धृत किया है जिसके आधार पर किसी भी प्रकार का निर्णय देना हमारे लिये कठिन है। आचार्यत्व के सबध में भी यही स्थिति है। अतएव उस सरस छंद को उद्धृत करते हैं जिससे उनके कवित्व के सबध में अनुमान भीत लगाया जा सकता है

तेरे ये कपोल बाल अति ही रसाल,
मन जिनको सदाई उपमा विचारियत है।
कोऊ न समान जाहि कीजै उपमान,
अरु बापुरे मधूकन की देह जारियत है ॥
नेकु दरपन समता की चाह करी कहूँ,
भए अपराधी ऐसी चित्त धारियत है।
'सूरति' सो याहीं तैं जगत बीच आजहूँ लों,
उनके बदन पर छार डारियत है ॥

७. कुमारमणि शास्त्री

कुमारमणि शास्त्री के पिता का नाम हरिवल्लभ शास्त्री था। ये वत्सगोत्री तैलंग ब्राह्मण थे। इनके एक वंशज कठमणि शास्त्री के कथनानुसार इनके पूर्वपुरुष १४वीं १५वीं शताब्दी के बीच दक्षिण भारत से उत्तर भारत के अंतर्गत मध्यप्रांत में आ बसे थे।^१ ये एक विद्वान् परिवार के थे। पिता प्रख्यात पौराणिक, धर्मशास्त्रज्ञ तथा हिंदी भाषा के प्रसिद्ध कवि थे और सप्तशतीकार गोवर्धनाचार्य के छोटे भाई बलभद्रजी की छठी पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। इनके भ्राता वासुदेव तथा मातुल जनार्दन ने भी संस्कृत भाषा में आर्यासप्तशतियों की रचना की थी। ये स्वयं हिंदी और संस्कृत दोनों भाषाओं के विद्वान् थे। पौराणिक वृत्ति तो इनकी वंशपरंपरागत थी ही, साथ ही ये काव्यशास्त्र से भी अवगत थे। रसिकरसाल ग्रंथ इस कथन का प्रमाण है। रसिकरजन (संस्कृत ग्रंथ) में इन्होंने अपने गुरु प० पुरुषोत्तम की वदना की है और रसिकरसाल (हिंदी ग्रंथ) में प० जयगोविंद की।^२ संभवतः ये दोनों विद्वान् इनके क्रमशः संस्कृत और हिंदी के साहित्यगुरु रहे होंगे।

- १ यह विवरण 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (आचार्य शुक्ल) के आधार पर है।
- २ रसिकरसाल, श्री विद्याविभाग, काँकरोली से प्रकाशित (भूमिका भाग), पृष्ठ ४
३. (क) मण्डनतनूजमनूज जयगोविन्दस्य, वन्द्यगुरुवृन्दम्।
श्रीमन्त पुरुषोत्तममिव गुरुपुरुषोत्तम वदे ॥
(ख) सुरगुरुसम मण्डनतनय बुध जयगोविन्द ध्याइ।
कवितरीति गुरूपद परसि अरु पुरुषोत्तम पाइ ॥

कुमारमणि का जन्म सवत् १७२०-२५ के बीच मानना चाहिए, क्योंकि इनके ग्रंथो—रसिकरजन और रसिकरसाल—का रचनाकाल क्रमशः सवत् १७६५ और १७७६ है।

(क) कथिता 'कुमार' कविता प्रथिता रसिकानुरंजने ग्रथिता ।

सप्तशती शरषण्मुख मुखसिधुविधिश्चिते (१७६५) राधे ॥

—रसिकरंजन

(ख) रससागर रवितुरग बिधु (१७७६) संवत मधुर बसंत ।

बिकस्यौ 'रसिकरसाल' लखि हुलसत सुहृद बसंत ॥

—रसिकरसाल

ये दोनों ग्रंथ इनकी प्रौढावस्था के सूचक हैं। रसिकरजन के निर्माण के समय उनकी आयु ४० वर्ष के आसपास रही होगी। यदि रसिकरजन ग्रंथ का सकलन इन्होंने २५-३० वर्ष की आयु में कर लिया हो, तो इनका जन्म सवत् १७३५-४० में मानना चाहिए।

'शिवसिंहसरोज' के आधार पर 'मिश्रबद्धविनोद' के प्रथम संस्करण में कुमारमणि को दासकाल (सं० १७९१-१८१०) के अंतर्गत रखा गया था, पर उक्त कठमणि शास्त्री के सशोधन उपस्थित करने पर दूसरे संस्करण में उसका सुधार कर लिया गया था।

कुमारमणि ने रसिकरसाल में कई बार रामनरेद्र की स्तुति की है। संभवतः यह इनके आश्रयदाता का नाम होगा।

(क) राम नरपाल को निहारि रन ख्याल खग,

खुले बिकराल दिगपाल कसकाल है ।

(ख) राम नरिंद की सेन सजै, अरि नारि अलंकनि संकती केती ।

(ग) राम नरेश के संगर धार्काहि धीरिनि मे रहै धीरज काको ?

(घ) रामनरिंद ! तिहारे पयान, धुकै धरनी धर धारन हारे ।—इत्यादि

यह 'राम' नामक नरपाल कौन थे, इस सबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। कठमणि शास्त्री का अनुमान है कि ये दतिया के कोई राजा होंगे। दतिया राज्य के आश्रय की पुष्टि इससे और भी अधिक होती है कि संप्रति भी कवि कुमारमणि के वंशज, इस लेखक (कठमणि शास्त्री) के पितृचरण पूज्य बालकृष्ण शास्त्रीजी को भी दतिया से समान प्राप्त है। कुमारमणि के पूर्वपुरुषों को सागर जिले में धर्मसी केनरा आदि ग्राम जयसिंहदेव राजा द्वारा प्रदान किए गए थे जिनमें से प्रथम ग्राम अब भी उनके वंशजों के पास माफी के रूप में है। सागर जिला और बुंदेलखंड ये दोनों परस्पर संयुक्त हैं, अतः स्थायी निवासस्थान सागर जिले का गढ़पहरा ग्राम होने पर भी कवि कुमारमणि का आवागमन बुंदेलखंड में चालू रहा होगा, और इसी कारण उन्हें वहाँ की रियासतों में राज्यसमान समय समय पर प्राप्त होता होगा। कठमणि शास्त्री के पितृव्य श्रीकृष्ण शास्त्री के कथनानुसार कुमारमणि को भारखंड में कुछ भूमि प्राप्त हुई थी जो आगे चलकर वंशजों की उपेक्षा तथा राज्यक्रांति के कारण हस्तांतरित हो गई।

कुमारमणिरचित दो ग्रंथ उपलब्ध हैं—रसिकरंजन और रसिकरसाल। रसिकरंजन सूक्तिसंग्रह है। इसमें संस्कृत की कतिपय आर्यासप्तशतियों का संकलन

प्रस्तुत किया गया है। इनमें से एक सप्तशती इनकी अपनी है, एक इनके भाई वासुदेव की है और एक किसी मधुसूदन कवि की है। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित कवियों तथा उनकी कतिपय सूक्तियों का संग्रह इसमें प्रस्तुत किया गया है—गोवर्धनाचार्य, चितामणि दीक्षित, जनार्दन, जयगोविंद वाजपेयी, बालकृष्ण भट्ट, वाराभट्ट और लीलावतीकार। कठमणि के अनुसार ये सभी कवि आध्र हैं।

कुमारमणिरचित दूसरा ग्रंथ रसिकरसाल है। इसका विषय काव्यशास्त्र है। इसमें दस उल्लास हैं। इस ग्रंथ की अधिकांश शास्त्रीय सामग्री काव्यप्रकाश पर समाधृत है। कवि स्वयं इस आधार की स्वीकृति ग्रंथारम्भ में ही कर देता है

काव्यप्रकाश विचार कछु रचि भाषा में हाल।

पंडित सुकवि 'कुमारमणि' कोन्हौ 'रसिकरसाल' ॥

प्रथम उल्लास का नाम 'त्रिविध काव्यनिरूपण' है। इसमें मम्मट के अनुसार काव्य के तीन भेद—ध्वनि, अगुरुव्यंग (गुणीभूत व्यंग) और चित्र के अतिरिक्त काव्य-प्रयोजन एवं काव्यहेतु की चर्चा की गई है। पर इनका काव्यलक्षण मम्मट पर आधारित न होकर अधिकांशतः जगन्नाथ और अश्वतथ विश्वनाथ के काव्यलक्षण की छाया पर निर्मित है।

उपजत अद्भुत वाक्य जो शब्द अर्थ रमनीय।

सोई कहियतु कवित है, सुकवि कर्म कमनीय ॥

ग्रंथ के दूसरे उल्लास का नाम 'चतुर्विध व्यंगकथन' है। उल्लास के आरम्भ में लेखक ने 'व्यंग्य' अर्थात् ध्वनिकाव्य के पाँच प्रमुख भेद गिनाए हैं। अभिधामूला ध्वनि के तीन भेद—वस्तुगत, अलंकारगत और रसगत, तथा लक्षणामूला ध्वनि के दो—अर्थतिर-सङ्गमित वाच्य और अत्यंततिरस्कृत वाच्य। इनमें से रसध्वनि को छोड़कर शेष चार ध्वनिभेदों का सामान्य निरूपण किया गया है, इसी लिये इस उल्लास का नाम 'चतुर्विध व्यंगकथन' है। इसके अतिरिक्त इसी उल्लास में उन्होंने वृत्ति (शब्द शक्ति) के भेदोपभेदों की चर्चा भी कर दी है और इसका कारण उनके शब्दों में यह है कि 'अर्थव्यंग जानिबो को वृत्तिविचार कहियतु है।' पर उनका यह कथन अशास्त्रीय एवं असंगत है। शब्दशक्ति प्रकरण को स्वतंत्र उल्लास में निरूपित करना समुचित था, ध्वनिकाव्य प्रकरण के एक प्रमाण रूप में नहीं। इस उल्लास में उन्होंने रसव्यंग के दो भेद गिनाए हैं—अलक्ष्यक्रम और लक्ष्यक्रम। पर ये दोनों भेद अभिधामूला व्यङ्गना के हैं। इनमें से प्रथम भेद रस-ध्वनि का पर्याय है और द्वितीय भेद के उक्त दो उपभेद हैं—वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि।

ग्रंथ के तृतीय उल्लास का नाम 'रस व्यंग निरूपण' है और चतुर्थ का नाम 'स्थायिभाव, संचारिभाव, अनुभाव निरूपण'। वस्तुतः इन उल्लासों का विषयक्रम विपरीत होना चाहिए था। स्थायिभाव आदि रसाभिव्यक्ति के साधन हैं और रसाभिव्यक्ति साध्य है। अतः साधनों से प्रथम परिचित कराना अधिक वाञ्छनीय है। इन दोनों उल्लासों की विषयसामग्री में एकाग्र स्थल को छोड़कर विशेष नवीनता परिलक्षित नहीं होती। एक स्थान पर कुमारमणि ने रस को दो वर्गों में विभक्त किया है—लौकिक और अलौकिक। लौकिक रस से उनका तात्पर्य है सांसारिक विषयोपभोगजन्य आनन्द-प्राप्ति और अलौकिक रस को वे काव्य, नृत्य आदि (ललित कला) का पर्याय मान रहे हैं :

लौकिक तथा अलौकिक द्वै जानहु रस ठौर।

लौकिक लोकप्रसिद्ध त्यों, कवित नृत्य में और ॥

शृंगारादिक लोकगत कवित नृत्य में ल्याइ।

होत अलौकिक हैं सबै रस आनंद बढ़ाइ ॥

सकल लोकरस के सिरै आनंद लोक विलच्छ ।

रसै एक अनुभवत है पंडित सहृदय वच्छ ॥

काव्य (शृंगारादि रसों) को अलौकिक मानना तो निस्संदेह शास्त्रसंगत है, पर लौकिक विषयानंद को 'रस' जैसे पारिभाषिक शब्द का भेद स्वीकार करना अशास्त्रीय है। इसके अतिरिक्त सभी लौकिक अनुभूतियाँ आनंदप्रद नहीं मानी जा सकती। लोक में शोक, भय, घृणा और क्रोध के प्रसंग कदापि आनंदजनक नहीं हो सकते।

ग्रंथ के पंचम उल्लास का नाम 'आलबनोद्दीपनविभाव व्यगकथन' है। अन्य रीतिकालीन ग्रंथों के समान आलबन विभाव के अंतर्गत यहाँ भी नायकनायिकाभेद-प्रसंग का निरूपण किया गया है। इस प्रसंग में कतिपय नूतन नायिकाओं का भी उल्लेख हुआ है। उदाहरणार्थ, मध्या के ये भेद—उन्नतयौवना, उन्नतकामा और लघुलज्जा, तथा प्रौढा के ये भेद—अधिककामा, सकलतारुण्या, रतिमोहिनी और विविधभावा। इन्होंने सामान्य नायिका के भी तीन भेदों का उल्लेख किया है—स्वाधीना, जनन्याधीना और नियमिता। इन भेदों का मूल स्रोत अकबर शाह कृत शृंगारमंजरी है।

ग्रंथ के छठे उल्लास का नाम 'मध्यम काव्यविचार' है। इसमें गुणीभूत व्यंग के मम्मटसमत आठ भेदों की चर्चा है। ग्रंथ के सातवें और आठवें उल्लासों में क्रमशः शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का निरूपण है। अनुप्रास अलंकार के अंतर्गत रीतिप्रसंग की भी चर्चा है। सातवें उल्लास में काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण की सहायता ली गई है तथा आठवें उल्लास में कुवलयानंद की। नवें उल्लास में काव्य के तीन गुणों का निरूपण है और दसवें उल्लास में सोलह दोषों का। दोष प्रकरण की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें निम्नलिखित हिंदी कवियों की रचनाओं को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया गया है—जगदीश, केशवप्रसाद, बेनी, गग, सविता, ब्रह्म, मुरलीधर, कासीराम, गदाधर, मतिराम, केशवराय और मनिकठ। संस्कृत आचार्यों में तो यह परिपाटी प्रचलित थी, पर हिंदी आचार्यों में श्रीपति और कुमारमणि जैसे इन्हें गिने आचार्यों ने ही यह स्तुत्य प्रयास किया है।

कुमारमणि के शास्त्रीय विवेचन की प्रमुख विशेषता यह है कि इसकी भाषा स्पष्ट और ऋजु है। विविधांगनिरूपक आचार्यों में चिंतामणि और कुलपति के पश्चात् हमारे विचार में शास्त्रीय विवेचन की शुद्धता की दृष्टि से इन्हीं का स्थान है। इनके परवर्ती आचार्यों में सोमनाथ का विवेचन अपेक्षाकृत सरल अवश्य है, पर इनके समान सरल होते हुए भी प्रौढ नहीं है। दास की मौलिक धारणाएँ उनकी निजी विशिष्टता है। कुमारमणि ने कोई उल्लेखनीय नवीन धारणा प्रस्तुत नहीं की, पर दास के विवेचन में जो भाषा-शैलित्व है उसका एक अंश भी कुमारमणि के ग्रंथ में परिलक्षित नहीं होता।

(१) कवित्व—काव्यरचना के अंतर्गत कुमारमणि अपने युग के कवियों में अत्यंत सजग हैं। सामान्यतः रीतिकालीन कवि अपनी रचनाओं में अपनी रीति-विषयक मान्यताओं का सम्यक् निर्वाह नहीं कर पाए, पर कुमारमणि का प्रत्येक छंद अपनी ध्वनिपरकता द्वारा यह स्वतः सिद्ध कर देता है कि ध्वनिकाव्य की उत्तमता सबंधी अपनी मान्यता के प्रति यह व्यक्ति कितना ईमानदार है? परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि रसदृष्टि से यह काव्य ओछा है। इस दृष्टि से भी इसका उत्कर्ष उतना ही अतर्क्य है—मजमून ऐसे क्लिष्ट नहीं जो रसास्वादन में बाधक होते हो।

कल्पना के क्षेत्र में अवश्य ही यह व्यक्ति ऊँची उड़ान नहीं भर सका। इसका मुख्य कारण यह है कि आचार्यकर्म को मनोयोगपूर्वक ग्रहण करने के कारण उसने किसी ऐसी रचना को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया जो किसी प्रकार से सदिग्ध कही जाय।

सामान्यतः वे ही छंद लक्षणों की पुष्टि में दिए गए हैं जो संस्कृत अथवा हिंदी के काव्यशास्त्र के ग्रंथों में अत्यंत प्रसिद्ध रहे हैं। और यही कारण है कि रसिकरसाल की अधिकांश उक्तियाँ ऐसी हैं जो पूर्ववर्ती संस्कृत और हिंदी कवियों एवं काव्यशास्त्रकारों की उक्तियों का रचयिता की अपनी शब्दावली के रूपांतर मात्र हैं। किंतु फिर भी जहाँ कहीं इसे अपनी मौलिक रचना करने का अवसर प्राप्त हुआ है, वहाँ निश्चय ही इसका काव्य मतिराम और पद्माकर की परंपरा में रखा जा सकता है। सर्वेभ्यो पर मतिराम की तरल शैली का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है और कवियों की गंभीर शैली में वे पद्माकर का पथ-प्रदर्शन करते हुए दृष्टिगत होते हैं^१। इसमें सदेह नहीं कि मतिराम की सी स्वरसाधना

- १ कठमणि ने कतिपय उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कुछेक स्थलों में पद्माकर ने कुमारमणि का समाश्रय ग्रहण किया है। उदाहरण लीजिए :

रसिकरसाल—

दोऊ ढिग है बाल इक, आँखिन नाँखि गुलाल ।

अक माल दूजी लई चूमि कपोलनि लाल ॥

जगद्विनोद—

भुँदे तहाँ अलबेली के अनोखे दृग,

सुदृग मिचावनी के ख्यालनि हितै हितै ।

नैसुक नवाई ग्रीवा धन्य धन्य दूसरी को,

औचक अचूक मुख चूमत चितै चितै ॥

रसिकरसाल—

खौर को राग छुट्यौ कुच को मिटि गौ

अधरा रस देख्यौ प्रकासहि ।

अजन गौ दृग कजन ते तनु,

कपत तेरी रसच हुलासहि ।

नैकु हितु जन को हित चीन्हौ न,

कीन्हो अरी ! मन मेरो निरासहि ।

बावरी ! बावरी न्हान गई कै,

वहाँ न गई उहि पीव के पासहि ॥

जगद्विनोद—

घाइ गई केसरि कपोल कुच गोलन की,

पीक लोक अधर अमोलनि लगाई है ।

कहै 'पद्माकर' त्यों नैनहू निरजन मे,

तजत न कप देह पुलकनि छाई है ।

बाद मति ठानै झूठवादिनि भई री अब,

दूतिपनो छोड़ि धूनपन मे सुहाई है ।

आई तोहि पीर न पराई महापापिन तू,

पापी लौ गई न कहूँ वापी न्हाइ आई है ॥

रसिकरसाल—

रूप सो विचित्र कान्हू मित्र को बिलोकि चित्र,

चित्रित भई तू चित्र पूतरी सुभाई है ।

जगद्विनोद—

मोहन मित्र को चित्र लिखै,

भई चित्र ही सी तो बिचित्र कहा है ।

यहि कहि कन्ह कदव की हरषि हिलाई डार ॥

के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इन्होंने इन सात ग्रंथों की रचना की थी १—कविकल्पद्रुम, २—रसमागर, ३—अनुप्रासविनोद, ४—विक्रमविलास, ५—सरोज-कलिका, ६—अलंकारगंगा और ७—काव्यसरोज^१। इनमें 'काव्यसरोज' का रचना-काल संवत् १७७७ वि० है। यह ग्रंथ डा० भगीरथ मिश्र को प० कृष्णबिहारी मिश्र के पुस्तकालय में देखने को मिला था,^२ किंतु अब प्रयत्न करने पर भी हमारी दृष्टि में नहीं आ सका है। शेष ग्रंथों का पता भी इस ग्रंथ में चलता है। ऐसी दशा में कोई उपलब्ध सामग्री न होने के कारण इनके कतिपय विकीर्ण छंदों के आधार पर ही सतोष किया जा सकता है।

जो हो, आचार्य श्रीपति का अपने युग में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसका परिचय इसी बात से मिल जाता है कि दास जैसे प्रौढ़ प्राचार्यों ने इनके विवेचन के कतिपय स्थलों को अपने काव्यनिर्णय में ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है^३। इन्होंने काव्यशास्त्र के दशांग का अत्यंत पांडित्य के साथ विवेचन किया है तथा अपने पूर्ववर्ती कवियों तक के उद्धरण देने में सकोच नहीं किया^४। इसमें यह कहा जा सकता है कि इस व्यक्ति ने आचार्य-कर्म को अत्यंत मनोयोगपूर्वक ही ग्रहण नहीं किया, प्रत्युत इसमें आलोचक की प्रतिभा और निर्णय देने का साहस था।

काव्यरचना की दृष्टि से आचार्य श्रीपति का महत्व कम नहीं है। ये रसवादी थे और रस का अपनी रचनाओं में भली प्रकार निर्वाह किया है। इनके जितने भी छंद उपलब्ध हैं उन सबमें रस की प्रधानता पहले दिखाई देती है उसके बाद अन्य किसी काव्यांग की। अनुप्रास इनकी रचनाओं में प्रायः मिलता है, पर उससे इनके काव्य की श्रीवृद्धि ही हुई है और वह रसानुकूल होकर ही आया है। इनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विषयवस्तु को अत्यंत सरल और सीधे सादे ढंग से प्रस्तुत कर दिया गया है। इसमें कल्पनावैभव का अभाव कहा जा सकता है पर चित्रों की स्वभाविकता, विशेषतः पावस-वर्णन में ऐसी है, कि मन सहज ही इनमें रम जाता है। भाषा भी अनुभूति के अनुरूप ही चलती है। उदाहरण के लिये कतिपय छंद देते हैं। देखिए

- (१) कैसे रतिरानी के सिधारे कवि 'श्रीपति' जू,
जैसे कलधौत के सरोरुह सवारे हैं।
कैसे कलधौत के सरोरुह सवारे कहि,
जैसे रूप नट के बटा से छबि ढारे हैं।
कैसे रूप नट के बटा से छबि ढारे कहु,
जैसे काम भूपति के उलटे नगारे हैं।
कैसे काम भूपति के उलटे नगारे कहु,
जैसे प्राणप्यारी ऊँचे उरज तिहारे हैं॥

- (२) कंत बिन भावत सदन ना सजनि,
मोपै बिरह प्रबल मेनमंत कोप्यौ बाढ़ के।
'श्रीपति' कलोलै बोलै कोकिल अमोलै
खोल मौन गाँठ तोपै गौन राखे आढ़ आढ़ के।

१ हिंदी साहित्य का इतिहास (आचार्य शुक्ल), पृ० २७१-७२ (आठवा सस्करण)।

२ हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास (प्रथम सस्करण), पृ० ११६

३ आचार्य शुक्ल का वही इतिहास, पृ० २७२।

४ डा० भगीरथ मिश्र का वही इतिहास।

- हहरि हहरि हिय, कहरि कहरि करि,
थहरि थहरि दिन बीते जिय गाढ़ के ।
लहरि लहरि बिजु फहरि फहरि आवै,
घहरि घहरि उठै बादर असाढ़ के ॥
- (३) धूम से धुंधारे कहूँ काजर से कारे
ये निपट बिकरारे, मोहि लागत सघन के ।
'श्रीपति' सुहावन, सलिल बरसावन
सरीर मे लगावन, बियोगिनि तियन के ।
दरजि दरजि हिय, लरजि लरजि करि
अरजि अरजि परें दूत ये मदन के ।
बरजि बरजि अति तरजि तरजि मोपै,
गरजि गरजि उठै बादर गगन के ॥
- (४) घाँघरे की घुमडि, उमडि चारू चूनरी की
पाँयन मलूक मखमल बरजोरे की ।
भूकुटी बिकट छुटी अलकै कपोलन पै,
बड़ी बड़ी आँखिन में छबि लाल डोरे की ।
तरवन तरल जड़ाऊ जरबीले जोर,
स्वेदकन ललित बलित मुख मोरे की ।
भूलत न भामिनी की गावन गुमान भरी,
सावन में 'श्रीपति' मँचावन हिंडोरे की ॥

६ सोमनाथ

सोमनाथ का दूसरा नाम शशिनाथ भी है^१। ये माथुर ब्राह्मण नीलकंठ मिश्र के पुत्र थे और भरतपुर नरेश बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के यहाँ रहते थे। इनके पाँच ग्रंथ उपलब्ध हैं—रसपीयूषनिधि, शृंगारविलास, कृष्णलीलावती, पंचाध्यायी, सुजानविलास और माधवविनोद। इनमें से प्रथम दो ग्रंथ काव्यशास्त्र से संबद्ध हैं और अभी तक अप्रकाशित हैं।

सोमनाथ ने रसपीयूषनिधि का प्रणयन अपने आश्रयदाता प्रतापसिंह के लिये किया था, जैसा ग्रंथ की हर तरंग के समाप्तिसूचक शब्दों से प्रकट होता है 'इति श्रीमन् महाराजकुमार श्री प्रतापसिंह हेतु कवि सोमनाथ विरचित रसपीयूषनिधि प्रथमस्तरंग आदि। ग्रंथ का रचनाकाल सवत् १७६४ है^२।

इस ग्रंथ में २२ तरंग हैं और ११२७ पद्य। कहीं कहीं गद्य का भी आश्रय लिया गया है, जिसमें शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत न करके अधिकतर लक्षणा उदाहरण का समन्वय ही प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथ की पहली तरंग के प्रथम ७ पद्यों में गरुडेश, राम, महादेव और कृष्ण की वदना के बाद अगले १७ पद्यों में राजकुल, ब्रज, नगर और सभा का वर्णन

१ हूजे सहाइ शशिनाथ को जय जय सिंधुर मुष जननि ।

—शृ० वि० १

२ सत्रह सौ चोरानवो सवत् जेठ सु मास ।

कृष्ण पक्ष दसमी मृगौ भयो ग्रंथ परकास ॥

—२० पी० नि०, २२।३०३

है। दूसरी तरंग में ११ पद्य हैं, जिनमें आचार्य ने अपना परिचय दिया है। तीसरी से पाचवी तरंग तक छंद शास्त्र पर प्रकाश डाला गया है जो कुल १८५ पद्यों में समाप्त हुआ है। छठी तरंग के प्रथम १२ पद्यों में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यकारण, काव्य के शरीर की सामग्री तथा काव्यभेद की सक्षिप्त सी चर्चा है। अगले ४३ पद्यों में शब्दशक्ति का निरूपण है। सातवी से अठारहवी तरंग तक कुल ४२७ पद्यों में ध्वनि का वर्णन है। ध्वनि के एक भेद के रूप में ही रस आदि का विस्तृत निरूपण हुआ है और शृंगार रस के आलंबन विभाव के रूप में नायकनायिका भेद का। उन्नीसवी तरंग में १९ पद्य हैं। इनमें गुराणभूतव्यग्य की चर्चा है। बीसवी तरंग में दोष का निरूपण है और इक्कीसवी तरंग में गुण और शब्दालंकार का। ये निरूपण क्रमशः ४७, १६ और ४० पद्यों में समाप्त हुए हैं। अंतिम तरंग में अर्थालंकार का ३०३ पद्यों में विस्तृत निरूपण किया गया है।

सोमनाथ का दूसरा काव्यशास्त्रीय ग्रंथ शृंगारविलास है। इसमें छह पूर्ण उल्लास हैं। सातवें उल्लास में कुल चार पद्य हैं। आगे का ग्रंथभाग खंडित है। ग्रंथ में कुल २१ पत्र अर्थात् ४२ पृष्ठ हैं और ४२ पृष्ठ हैं और २१९ पद्य। वस्तुतः शृंगारविलास कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। रसपीयूषनिधि में प्रतिपादित शृंगाररस और नायिकाभेद की ही सामग्री को नाममात्र के परिवर्तन के साथ प्रस्तुत कर ग्रंथ को स्वतंत्र नाम दे दिया गया है। अनुमान है कि केवल एक पत्र जीर्ण होकर ग्रंथ से विलग हो चुका है जिसमें रसपीयूषनिधि के अनुसार नायिकाभेद की अंतिम सामग्री उत्तमा, मध्यमा, अधमा, तथा दिव्या, अदिव्या और दिव्यादिव्या नायिकाएँ निरूपित होंगी।

रसपीयूषनिधि के निर्माण में सोमनाथ ने संस्कृत एवं हिंदी के विभिन्न काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का आधार ग्रहण किया है। उनका रसप्रकरण प्रमुखतः भानुमिश्र प्रणीत रसतरंगिणी पर आधारित है। कुछ स्थलों में मम्मट और विश्वनाथ की सामग्री भी गृहीत हुई है। अलंकारप्रकरण में शब्दालंकारों के लिये कुलपति के रसरहस्य का आश्रय लिया गया है और अर्थालंकारों के लिये जसवतसिंह का। नायकनायिका भेद प्रकरण में भानुमिश्र की रसमंजरी का आधार लिया गया है और शेष प्रकरणों में अधिकांशतः मम्मट के काव्यप्रकाश का।

सोमनाथ के ग्रंथनिर्माण का उद्देश्य सुकुमारबुद्धि पाठकों के लिये काव्यशास्त्रीय सामग्री प्रस्तुत करना है, जैसा उनके वर्ण्यविषयनिर्वाचन तथा निरूपण शैली से स्पष्ट है। काव्यशास्त्रीय विषयों का निर्वाचन करते समय इनका प्रमुख उद्देश्य रहा है सरल मार्ग का अवलंबन। यही कारण है कि विषयसामग्री को वे अत्यंत सक्षिप्त और कहीं कहीं अपूर्ण रूप में भी प्रस्तुत करते चले गए हैं। उदाहरणार्थ अपने काव्यहेतु प्रसंग में इन्होंने मम्मटसमत अभ्यास का तो उल्लेख किया है, पर शक्ति और व्युत्पत्ति का नहीं। शब्दशक्ति प्रकरण में आर्थी व्यजना के दस वैशिष्ट्यों में से इन्होंने केवल चार पर ही प्रकाश डाला है। रस प्रकरण में भरतसूत्र की विभिन्न व्याख्याओं में से केवल अभिनवगुप्त के सिद्धांत की चर्चा की गई है और वह भी अत्यंत सक्षिप्त रूप में। दोष प्रकरण में इन्होंने मूलभूत मम्मट का आधार ग्रहण करते हुए भी उनके अनुसार लगभग ९० दोषों की चर्चा न कर केवल १९ दोषों की चर्चा की है तथा दोषपरिहार प्रसंग में केवल एक दोष का उल्लेख कर इस प्रसंग का नमूना सा प्रस्तुत कर दिया है। इसी प्रकार गुण प्रकरण में इन्होंने न वामनसमत गुणों की चर्चा की है और न वर्णादि की प्रतिकूलता के अवसरानुसार औचित्य पर प्रकाश डाला है। मम्मटसमत तीनों गुणों का स्वरूप भी अत्यंत सक्षिप्त रूप में प्रतिपादित किया गया है।

फिर भी इस ग्रंथ की निजी विशिष्टताएँ हैं। संपूर्ण ग्रंथ का लक्षण भाग अत्यंत सरल भाषा में प्रतिपादित हुआ है। कुछ एक उदाहरण लीजिए।

छप्पयलक्षण—

ग्यारह तेरह कल प्रथम चारि चरण रचि संत ।
पंद्रह तेरह चरण छै छप्पय कह गुणवंत ॥

काव्यप्रयोजन—

कीरति वित्त विनोद अरु अति मंगल को देति ।
करै भलो उपदेस नित वह कवित्त चित चेति ॥

लक्षणा—

मुख्यारथ को छोड़िकै पुनि तिहिँ के ढिँग और ।
कहै जु अर्थ सु लक्षणा वृत्ति कहत कवि और ॥

रतिलक्षण—

इष्ट मिलन की चाह जो रति समुझौ सो मित्त ।
दरसन तें कै श्रवन तें कै सुमिरन ते नित्त ॥

स्वकीया नायिका—

निज पति ही सौ प्रीति अति तन मन वचन बनाय ।
ताहि स्वकीया नाइका कहत सकल कविराय ॥

कर्णकटु दोष—

सुनि कानन करुवो लगै ताहि कर्णकटु जानि ।

वक्रोक्ति अलंकार—

शब्द कछू औरै कहै कढै और ही अर्थ ।
ताही को वक्रोक्ति कहि वरणात सुकवि समर्थ ॥

विभावना प्रथम—

बिना हेतु जहँ कारन सिद्ध । सो विभावना जानि प्रसिद्ध ।

इस ग्रंथ की दूसरी विशिष्टता ध्वनि प्रकरण में (जिसमें रस तथा नायकनायिका भेद प्रसंग भी सम्मिलित हैं) अवेक्षणीय है। प्रस्तुत प्रकरण को सोमनाथ ने छोटे छोटे १२ भागों (तरंगों) में विभक्तकर काव्यशास्त्र के इस दीर्घकाय विषय को हृदयगम कराने का सफल प्रयास किया है।

रसपीयूषनिधि की छठी तरंग छंद शास्त्र से सबद्ध है। सर्वप्रथम छंदरीति के ज्ञान की महिमा वर्णित है

छंद रीति समझे नहीं बिन पिंगल के ज्ञान ।

पिंगलमत ताते प्रथम रचियतु सहित सयान ॥

फिर मंगलाचरण के उपरांत 'गुरु लघु विचार' प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद मात्राप्रस्तार, वर्याप्रस्तार, गण देवता फल, गणों के मित्त, शतु, दास, उदासीन आदि की चर्चा है। फिर दो से लेकर बत्तीस मात्राओं तक के छंदों का निरूपण है। तदुपरांत कुडलिया, अमृतध्वनि और छप्पय नामक मात्रिक छंदों को स्थान मिला है। इसके बाद बर्णिक छंदों का प्रसंग प्रारंभ हो जाता है जिनमें एक से लेकर बत्तीस वर्ण तक के कतिपय छंदों का निरूपण है। अंत में दडक का लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

सोमनाथ का यह प्रसंग भी अन्य प्रसंगों के समान साधारण कोटि का तथा

कवित्व—रीतिकालीन कवियों में सोमनाथ का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। कवित्व की दृष्टि से इनको सहज ही मतिराम और देव की परंपरा में रखा जा सकता है। ध्वनिरस वाद की इन्होंने जिस मनोयोग के साथ स्थापना की है, अपने काव्य में भी उसी सहृदयता और लगन के साथ इसका, विशेषतः ध्वनिसमन्वित शृंगार रस का, परिपाक कर दिखाया है। यह सत्य है कि इनकी अनुभूति में यद्यपि देव का सा आवेग नहीं, फिर भी मतिराम की सी स्वच्छता पर्याप्त है। यही कारण है कि सहृदय को इनका प्रत्येक शृंगारिक छंद अपनी ओर बरबस ही खींच लेता है। दूसरी ओर राजप्रशस्ति सबंधी छंद भी इन्होंने लिखे हैं। इनमें एक ओर जहाँ मतिराम का सा विशुद्ध उत्साह है वहाँ दूसरी ओर भूषण की सी भावना की तीव्रता भी स्पष्टतः दृष्टिगत होती है।

कल्पनावैभव भी इनकी रचनाओं में कम नहीं है। इस दृष्टि से इन्हें रीतिकाल के किसी भी कवि के समकक्ष रखा जा सकता है। इनके किसी भी रूप अथवा अनुभावचित्र को उठाकर देख लीजिए, प्रत्येक रेखा स्पष्ट होती हुई दृष्टि में आएगी—रूपचित्रों में सजीवता लाने में ब्रिये कहीं कहीं रंगों का भी उपयोग करने में इन्होंने सकोच नहीं किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके लिये इन्हें साधारणतः देव के समान ही भावात्मक शब्दावली का प्रयोग करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त इनकी सफलता का सबसे बड़ा एक रहस्य यह भी है कि अपने समकालीनों के समान अलंकारों का सहारा न लेकर इन्होंने विषयवस्तु की सीधे सादे शब्दों में सहज अभिव्यजना ही की है। इसी लिये इनकी रचनाओं में चमत्कार का प्राधान्य न होकर अनुभूति की सरल अभिव्यक्ति है—मतिराम की भावाभिव्यक्ति की सी तरलता है। इस प्रकार यह कहना अनुचित नहीं कि ये सामान्य रूप से देव और मतिराम की परंपरा में आते हैं। किंतु फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भाषा की सगीतात्मकता की दृष्टि से ये उक्त दोनों कवियों से कुछ हटे हैं। इनके सबै तो किसी सीमा तक उनकी कविता के निकट कहे भी जा सकते हैं, पर कवित्व में इतनी अनगढ़ता लक्षित होती है कि कतिपय स्थलों पर भाव का सौंदर्य भी नष्ट हो गया है। वैसे कुल मिलाकर इनके काव्य का उत्कर्ष अतर्क्य है। उदाहरणार्थ कुछ छंद देखिए :

(१) रचि भूषन आइ अलीन के संग तैं, सासु के पास बिराजि गई ।

मुखचंद मऊषनि सौ 'ससिनाथ', सबै घर में छबि छाजि गई ।

इनको पति ऐहैं सबार सखी कह्यौ, यो सुनि कै हिय लाजि गई ।

सुख पाइकैं, नार नबाइ तिया, मुसक्याइ के भौन में भाजि गई ॥

(२) उज्जल सरद चंद चंद्रिका अनंद दुति,

त्रिबिध समोर की रुकोर आनि फहरैं ।

मुकता अनंद मकरंद के से बिंदु चार,

बदनारविंद की छबीली छटा छहरैं ।

साजि रंग रंगनि के सुंदर सिंगार प्यारी,

गई केलिधाम दूजी जामनी की पहरैं ।

पेखि परजंक नंदनंद बिन 'सोमनाथ',

लागी अग उठनि भुजंग की सी लहरैं ॥

(३) हरि तौ मनुहार मनाइ गए जिनयें जियरा रति वारति है ।

'ससिनाथ' मनोज की ज्वालिनि सौं अब कुदन सौ तन जारति है ।

उठि लेटति सेज पैं चंद्रमुखी पछिताइ के पौरि निहारति है ।

न कहै मुख तैं दुख अंतर कौ अँसुआनि सौं आँखि पखारति है ॥

(४) सोहति कसूँभी सारी सुंदर सुगंध सनी,

जगमग देह दुति कुंदन के रंग सी ।

सील सुघराई की सी सीव अरविदमुखी,
 नैनन की गति गूढ तरल तुरग सी ।
 छुटती चहुँधा मनि भूषन मयूष चारु,
 'सोमनाथ' लागै बानी उपमा बिरग सी ।
 राजै रतिमदिर अनग अगना सी आजु
 बाढ़ै अंग अंगनि मे जोबन तरंग सी ॥

(५) प्रबल प्रताप दावानल सो बिराजै वीर,
 अरनि के पारे रोरि घमकि निसाने की ।
 ठट्ट मरहट्टा के निघट्ट दारे बाननि सो,
 पेस कर लेत है प्रचड तिलगाने की ॥
 'सोमनाथ' कहै सिंह सूरजकुमार जाको,
 क्रोध त्रिपुरारि को सौ लाज बर बाने की ।
 चढ़िकै तुरंग जग रंग करि सैलनि सो,
 तोरि डारी तीखी तरवार तुरकाने की ॥

१० भिखारीदास

(१) जीवन—भिखारीदास जाति के कायस्थ थे और प्रतापगढ़ (अवध) के पास टचोगा नामक ग्राम के निवासी थे । पिता का नाम कृपालदास था । ये सवत् १७६१ से सवत् १८०७ तक प्रतापगढ़ के अधिपति श्रीपृथ्वीसिंह के भाई हिंदूपतिसिंह के आश्रय मे थे ।

(२) ग्रंथ तथा वर्ण्य विषय—दास के सात ग्रंथ उपलब्ध हैं—रससारांश, काव्यनिर्णय, शृंगारनिर्णय, छंदोर्णवर्णन, शब्द नाम प्रकाश (शब्दकोश), विष्णु-पुराण भाषा और शतरजशतिका । इनमे से प्रथम तीन ग्रंथ काव्यशास्त्रीय हैं, चौथा ग्रंथ छंदशास्त्र से संबद्ध है—अंतिम तीन ग्रंथों का विषय उनके नाम से ही स्पष्ट है । रससारांश और शृंगारनिर्णय मूलतः रस तथा नायकनायिका भेद विषयक ग्रंथ हैं और काव्यनिर्णय विविधागनिरूपक ग्रंथ है ।

भिखारीदास ने 'रससारांश' ग्रंथ की रचना अरवर (प्रतापगढ़) में सवत् १७६१ में की थी ।

सत्रह सैं इक्यानवे नभ शूदि छठि बुधवार ।

अरवर देश प्रतापगढ़, भयो ग्रंथ अवतार ॥

ग्रंथनिर्माण का उद्देश्य है जिज्ञासु रसिक जनो को रस का स्थूल परिचय देना

चाहन जानि जु थोर ही, रस कवित्त को वंश ।

तिन रसिकन के हेत यह, कीन्हो रस सारांश ॥

ग्रंथकार ने स्वयं इस ग्रंथ का सक्षिप्त संस्करण भी प्रस्तुत किया था । दोनों संस्करणों में प्रधान अंतर यह है कि मूल संस्करण में लक्षण (सिद्धांतनिरूपण) और उदाहरण दोनों हैं, पर सक्षिप्त संस्करण में केवल लक्षण । सक्षिप्त संस्करण का नाम 'तिरिज रससारांश' है । इनमें क्रमशः ५८६ और १५८ पद्य हैं ।

रससारांश के प्रथम चार दोहों में मगलाचरण प्रसंग है । पाँचवे दोहे में ग्रंथ का उक्त उद्देश्य बताया गया है । छठे और सातवें दोहों में रसिक की प्रशंसा और उसकी परिभाषा है । नवें दोहे से वास्तविक ग्रंथ का आरंभ होता है । प्रथम चार दोहों में नव रसों के नाम तथा विभाव, अनुभाव और स्थायी भाव का साधारण सा परिचय है ।

चौदहवें पद्य से नायकनायिका भेद आरम्भ हो जाता है जो २८०वें पद्य पर समाप्त होता है। इसके बाद सयोग शृंगार के निरूपण के अंतर्गत नायिका के हावभावादि सात्विक अलंकारों की चर्चा है और फिर स्तब्ध, स्वेद आदि सात्विक भावों की। वियोग शृंगार के निरूपण के अनंतर शृंगार रस सबंधी सभी सामग्री की एक लंबी सूची सी प्रस्तुत की गई है जो २२ दोहों में समाप्त हुई है। इस सामग्रीसंक्षेप को आचार्य ने 'शृंगार नियम कथन' का नाम दिया है। इस प्रकार शृंगार रस के विस्तृत निरूपण के उपरांत ३० पदों में हास्य आदि शेष आठ रसों की संक्षिप्त सी चर्चा की गई है और अगले ६३ पद्यों में ३३ संचारी भावों के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इसके बाद १४ पद्यों में भाव, रसाभास आदि का निरूपण हुआ है और अंत में चार रस वृत्तियाँ और पाँच रसदोषों के निरूपण के उपरांत ग्रंथ की समाप्ति हो जाती है।

दास के अन्य ग्रंथ शृंगारनिर्णय का निर्माण भी उपर्युक्त आश्रयदाता हिंदूपतिसिंह के नाम पर ही किया गया था। ग्रंथ का रचनाकार सवत् १८०७ है

श्री हिंदूपति रीति हित, समृद्धि ग्रंथ प्राचीन।

दास कियो शृंगार को निर्णय सुनो प्रवीन॥

संबत् बिक्रम भूप को अट्टारह सैं सात।

माधव सुदि तेरस गुरौ अरवर थल विख्यात॥

इस ग्रंथ में कुल ३२८ पद्य हैं। पहले पद्य में गणेश, पार्वती और महादेव की वंदना है और दूसरे पद्य में विष्णु का माहात्म्य प्रदर्शित है। अगले दो दोहों में अर्थसमर्पण तथा ग्रंथ निर्माण काल का उल्लेख है। अगले एक दोहों में (गुरुसदृश) सुकवियों की वंदना की गई है। छठे दोहों से वास्तविक ग्रंथ का आरम्भ होता है। छठे और सातवें दोहों में आचार्य ने शृंगारनिर्णय ग्रंथ की विषयसूची सी प्रस्तुत कर प्रकारांतर से रससारांश और शृंगारनिर्णय ग्रंथ के वर्ण्य विषय में विभाजक रेखा सी खींच दी है

जिहि कहियत शृंगार रस ताको जुगुल विभाव।

आलंबन इक दूसरो उद्दीपन कवि राव॥

बरनत नायक नायिका, आलंबन के जाल।

उद्दीपन सखि द्वैतिका, सुख समयो सुख साज॥

स्पष्टतः आचार्य को इस ग्रंथ में रससारांश के समान न रसनिष्पत्ति आदि गंभीर प्रसंगों पर प्रकाश डालना है, न शृंगारेतर अन्य रसों की चर्चा करनी है, न भाव, रसाभास, भावाभास, आदि का उल्लेख करना है और न रसवृत्तियों तथा रसदोषों को स्थान देना है। ग्रंथनिर्माण का उद्देश्य केवल शृंगार रस की ही विस्तृत विषयसामग्री प्रस्तुत करना है।

भिखारीदास की ख्याति का प्रधान कारण इनका 'काव्यनिर्णय' नामक ग्रंथ है। इस ग्रंथ का निर्माण हिंदूपतिसिंह के नाम पर सवत् १८०३ में हुआ। रससारांश के समान इस ग्रंथ का भी 'तेरिज' संस्करण दाम ने प्रस्तुत किया था। मूल संस्करण में लक्षण और उदाहरण दोनों हैं, पर तेरिज संस्करण में केवल लक्षण है।

इस ग्रंथ के मूल संस्करण में २५ उल्लास हैं और कुल १२१० पद्य। पहले उल्लास में मंगलाचरण, आश्रयदाता नृप की स्तुति, ग्रंथ रचना काल, अपने से पूर्ववर्ती संस्कृत तथा हिंदी के काव्यशास्त्रियों का नामोल्लेख तथा उनके प्रति आभारप्रकाशन और काव्यनिर्णय के महत्वप्रदर्शन के उपरांत १०वें पद्य से वास्तविक ग्रंथ का आरम्भ होता है। १०वें पद्य से १३वें पद्य तक काव्यप्रयोजन, काव्यकारण और काव्य के विभिन्न अंगों का उल्लेख है। अगले चार पद्यों में आचार्य ने भाषा पर अपने विचार प्रकट किए हैं और उल्लास के अंतिम १८वें पद्य में काव्यांग ज्ञान का महत्व निर्दिष्ट किया गया है।

दूसरे उल्लास में शब्दशक्ति का निरूपण है। तीसरे उल्लास का नाम 'अलंकार-मूल वर्णन' है। 'अलंकारमूल' से दास का तात्पर्य है वे अलंकार जिनपर अन्य अलंकार आधृत हैं। चौथे उल्लास में रस, भाव आदि का वर्णन है और पाँचवें उल्लास में रसवत् आदि सात अलंकारों का। छठे और सातवें उल्लासों में क्रमशः ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण है। आठवें से इक्कीसवें उल्लास तक अलंकारों का विस्तृत विवेचन है। इसी के अंतर्गत गुण प्रकरण का भी उल्लेख हुआ है। बाईसवें उल्लास का नाम 'तुक वर्णन' है। अंतिम तीन उल्लासों में दोष प्रकरण को स्थान मिला है, और इसके बाद राम नाम का महिमाग्रान् ग्रंथ समाप्ति का सूचक है।

(अ) आधार—काव्यनिर्णय ग्रंथ के निर्माण में दास ने मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित और जयदेव के ग्रंथों से सहायता ली है और उधर रससारांश तथा शृंगार-निर्णय के निर्माण में भानु मिश्र एवं रुद्र भट्ट के ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ स्थलों पर चिंतामणि और केशव के ग्रंथों से भी सहायता ली गई प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ हाव, हेला आदि सत्वज अलंकारों (बाह्य चेष्टाओं) को अनुभाव के अंतर्गत स्वीकृत करने का सर्वप्रथम संकेत चिंतामणि ने किया था। दास को भी यही मान्य है। कैशिकी आदि चार रस-वृत्तियों के प्रसंग में वे केशव से प्रभावित जान पड़ते हैं।

इनका नायकनायिका भेद प्रकरण मूलतः भानु मिश्र की रसमंजरी पर आधारित है पर इन्होंने कुछ अन्य भेदों की भी गणना की है जिनकी सूची इस प्रकार है (१) लक्षितापरकीया के दो भेद—सुरतिलक्षिता और हेतुलक्षिता। (२) परकीया के तीन भेद—कामवती, अनुरागिनी और प्रेमासक्ता तथा अन्य दो भेद—उद्बुद्धा और उद्बोधिता। उद्बोधिता के तीन भेद—असाध्या, दुःसाध्या और साध्या। असाध्या के पाँच भेद—गुरुजनभीता, द्वीतीर्वजिता, धर्मसंभीता, अधिकातरा और खलवेष्टिता। (ग) प्रोषितभर्तृका के चार भेद—प्रवत्स्यतृपतिका, प्रोषितपतिका, आगच्छतृपतिका और आगतपतिका। (घ) खडिता के चार भेद—मानवती, धीरा, अधीरा और धीरा-धीरा। (ङ) नायिका के पद्मिनी आदि चार कामशास्त्रीय भेद। (च) द्वीती के कुछ अन्य भेद—स्वयुद्धी और बानुद्धी तथा इसकी नाइन, नटी, सोनारिन, चितेरिन आदि जातियाँ। ये सभी भेदोपभेद तोष, रसलीन, कुमारमणि और देव के ग्रंथों में भी निरूपित हुए हैं। पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन हिंदी के आचार्यों ने किन किन भेदों के लिये किसी एक अथवा अनेक संस्कृत ग्रंथों से सहायता ली है, अथवा इनमें से कौन किसका ऋणी है। संभावना यही है कि इनमें अधिकतर भेद किसी न किसी रूप में संस्कृत ग्रंथों में उल्लिखित रहे होंगे। उदाहरणार्थ—उद्बुद्धा और उद्बोधिता भेदों तथा पद्मिनी आदि भेदों का उल्लेख सत अकबर शाह प्रणीत शृंगारमंजरी में उपलब्ध है और आगतपतिका का उल्लेख श्रीधरदास संकलित संस्कृत पद्यकोश सदुक्तिकर्णामृत में उपलब्ध है।

(आ) ग्रंथपरीक्षण—काव्यनिर्णय ग्रंथ का अधिकतर भाग अलंकार प्रकरण को समर्पित हुआ है। इसमें अलंकारों का निरूपण दो बार हुआ है—प्रथम बार 'अलंकार मूल' नाम से चंद्रालोक की शैली में संक्षिप्त रूप से और द्वितीय बार 'अलंकार' नाम से विस्तृत रूप में। 'विस्तृत निरूपण' में इन्होंने ६१ अर्थालंकारों को १२ 'मूल' अलंकारों के आधार पर १२ उल्लासों में वर्गीकृत किया है, पर उनका यह वर्गीकरण पूर्णतः वैज्ञानिक एवं शास्त्रसमस्त न होने के कारण सर्वांशतः मान्य नहीं है। उदाहरणार्थ, दास ने उपमावर्ग का आधार उपमान और उपमेय की समुचित विकृति अर्थात् विभिन्नरूपता को माना है :

उपमान और उपमेय को, है विकार समूहो सु चित्त ।

पर यह आधार इस वर्ग में परिगणित पूर्णोपमा, लुप्तोपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप और मालोपमा अलंकारों पर जिनका सुघटित होता है, उतना दृष्टात, अर्थात् रन्यास, विकस्वर, निदर्शन, तुल्ययोगिता और प्रतिबन्धोपमा पर नहीं होता। 'व्यतिरेक वर्ग' में व्यतिरेक, रूपक और परिणाम तो उपमान उपमेय से सबद्ध है, पर इस वर्ग में उल्लेख अलंकार की गणना खटकती है। इस प्रकार 'अन्योक्ति वर्ग' में आक्षेप और पर्यायोक्ति अलंकारों को, 'सूक्ष्म वर्ग' में परिकर और परिकराकुर को, 'यथासख्या वर्ग' में दीपक को किसी आधार पर समिलित नहीं किया जा सकता।

दास के काव्यनिर्याय की निजी विशिष्टता यह है कि इसमें कुछ मौलिक उद्भावनाओं को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, यद्यपि वे पूर्णतः मान्य नहीं हैं। उदाहरणार्थ सर्वप्रथम दास की वर्गीकरणप्रियता उल्लेख्य है। इन्होंने वामनसमत दस गुणों को चार वर्गों में विभक्त किया है—अक्षरगुण, वाक्यगुण, अर्थगुण और दोषाभावगुण। नायिका के स्वाधीनपतिका आदि आठ भेदों को दो वर्गों में विभक्त किया है। ये वर्गीकरण दास की मौलिकता के उत्कृष्ट निदर्शन हैं। इनमें से वर्गों का वर्गीकरण तो सर्वांशतः मान्य है और शेष दो आंशिक रूप में मान्य है। इन्होंने शृंगार रस के सम तथा मिश्रित, सामान्य तथा मयोग और नायकजन्य शृंगार तथा नायिकाजन्य शृंगार, ये नूतन भेद भी प्रस्तुत किए हैं। सामान्यतः ये सभी मान्य हैं।

दास के विवेचन की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह है कि अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण करने समय इनके समुख हिंदी भाषा का आदर्श है। उनके काव्यप्रयोजन प्रसंग की रचना हिंदी भाषा को लक्ष्य में रखकर की गई है।

एक लहै तप पुंजन के फल ज्यो तुलसी अरु मूर गोसाईं ।

एक लहै बहु संपति केशव भूषन ज्यो बरदौर बढाई ॥

एकन्ह को जस इी सो प्रयोजन है रसखानि रहीम की नाई ।

दास कविस्तन्ह की चरचा बुधिवतन को सुख दै सब ठाई ॥

इनके दोष प्रकरण में भी अधिकतर उदाहरण हिंदी भाषा एवं साहित्य का 'मदोप' रूप प्रस्तुत करते हैं। 'तुक' नामक काव्यांग भी हिंदी कविता की निजी विशिष्टता है। दास हिंदी भाषा के लिये कितने जागरूक हैं, इसका प्रमाण यह है कि इन्होंने सर्वप्रथम ब्रजभाषा के व्यापक स्वरूप की ओर संकेत किया है।

ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानो ।

ऐसे ऐसे कविन्ह की बानी हू के जानिये ॥

इससे स्पष्ट है कि उन दिनों ब्रजभाषा ब्रजमंडल से बाहर के क्षेत्रों की भी साहित्यिक भाषा बन चुकी थी।

निस्संदेह उक्त सभी निरूपण, विवेचन एवं धारणाएँ तथा मान्यताएँ पाठक के हृदय में आचार्य दास के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करती हैं, पर इनके ग्रंथों में उपलब्ध सदोष एवं अपूर्ण प्रसंग तथा कतिपय अमान्य स्थापनाएँ उस श्रद्धा की क्षति भी करती हैं। उदाहरणार्थ, इनके विविधांगनिरूपक ग्रंथ में काव्यनक्षत्र जैसे महत्वपूर्ण विषय की चर्चा नहीं की गई। शब्दशक्ति प्रकरण में सकेतग्रह, उपादान लक्षणा तथा अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के प्रसंग शिथिल हैं। गूढ और अगूढ व्यंग्यों को भी यथोचित स्थान नहीं मिला। इनके ध्वनि प्रकरण में परंपरा का उल्लंघन है, विषयसामग्री अपूर्ण है तथा कतिपय स्थलों पर भाषाशैथिल्य के कारण शास्त्रीय सिद्धांतों का अपरिपक्व विवेचन भी मिलता है।

इस प्रकरण में इन्होंने 'स्वयलक्षित व्यंग्य' नामक एक नवीन ध्वनिभेद का भी उल्लेख किया है, पर न इसका स्वरूप स्पष्ट हो पाया है और न इसके उपभेदों का। इसी प्रकार गुणीभूतव्यंग्य प्रकरण भी अधिकांशतः अव्यवस्थित है। रस प्रकरण में करुणा और करुणा विप्रलम्भ का अंतर स्पष्ट नहीं हो सका। नायकनायिका भेद प्रकरण में रक्षिताश्रो की स्वकीया वर्ग में गणना तथा इसके 'अनुदा' नामक भेद की स्वीकृति भी विवादास्पद हो सकती है। गुण प्रकरण में इनका 'पुनरुक्ति प्रकाश' नामक गुण भी हमारे विचार में गुणत्व का अधिकारी नहीं है।

इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य विवेचन भी शिथिल हैं। काव्यनिर्णय में 'अपराग' नामक एक उल्लास के अंतर्गत रसवत् आदि सात अलंकारों का स्वतंत्र रूप से निरूपण किया गया है। वस्तुतः अपराग कोई स्वतंत्र काव्यांग न होकर गुणीभूत व्यंग्य का ही एक भेद है। दास ने गुण नामक काव्यांग का पृथक् निरूपण न करके उसे अलंकार का ही एक प्रकार मान लिया है, पर गुण जैसे महत्वपूर्ण एवं स्वतंत्र काव्यांग को इस प्रकार गौण बना देना समुचित नहीं है।

इस प्रकार एक ओर मौलिक उद्भावनाओं तथा दूसरी ओर सदोष एवं अपूर्ण प्रसंगों से पूर्ण इनके तीनों ग्रंथ एक विचित्र प्रकार का भाव पाठक के हृदय में अंकित कर देते हैं। इतना सब होते हुए भी विविधागनिरूपक ग्रंथों में केशव की कविप्रिया के बाद दास का काव्यनिर्णय ही ध्यातिलब्ध पाठ्य ग्रंथ रहा है। इसका प्रधान कारण दास की मौलिक उद्भावनाएँ ही हो सकती हैं।

दास का छद्माह्व छंद सबंधी विस्तृत ग्रंथ है। इसमें १५ तरंग हैं। पहली तरंग में भगलाचरण के अतिरिक्त छंदशास्त्र सबंधी सामान्य परिचय है। दूसरी तरंग में गुरुलघु विचार तथा मात्रिक एवं वर्णिक गणों का निरूपण है। तीसरी और चौथी तरंगों में क्रमशः मात्रिक और वर्णिक प्रस्तारों का विवेचन है। पाँचवी तरंग में २ से लेकर ३२ मात्राओंवाले सम छंद प्रस्तुत किए गए हैं। छठी तरंग में मात्रिक मुक्तक छंदों का निरूपण है। मुक्तक छंद से दास का तात्पर्य है वे छंद जिनमें एक दो मात्राएँ घट अथवा बढ जायँ। सातवी तरंग में मात्रिक अर्धसम छंदों को स्थान मिला है। आठवी तरंग में प्राकृत भाषा में प्रयुक्त छंदों का निरूपण है। नवी तरंग में मात्रिक दंडक अर्थात् ३२ से अधिक मात्राओंवाले छंदों का वर्णन है। दसवी तरंग में १ से १६ वर्णवाले वर्णिक छंदों का वर्णन है। ग्यारहवी तरंग में २१ से २६ वर्णवाले वर्णिक छंदों का। इन छंदों को दास ने 'वर्णसवैया' नाम दिया है। बारहवी तरंग में संस्कृत के प्रसिद्ध छंदों का निरूपण है, तेरहवी तरंग में अर्धसम तथा विषम छंदों और चौदहवी तरंग में वर्णिक मुक्त छंदों को स्थान मिला है। अंतिम तरंग में वर्णिक दंडको अर्थात् २६ से अधिक वर्णवाले छंदों का निरूपण है।

दास का यह ग्रंथ हिंदी के छंदशास्त्रीय ग्रंथों में अपना विशिष्ट महत्व रखता है। इस ग्रंथ से पूर्व हिंदी में छंद सबंधी इतना विशद एवं विस्तृत निरूपण प्रस्तुत नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त दास की वर्गीकरणप्रियता इस ग्रंथ में भी उल्लेखनीय है। उदाहरणार्थ सुगीतिका, रूपमाला, गीता, शुभगीता, लीलावती आदि जिन मात्रिक छंदों का क्रम विशेष गणों पर आधारित है, उन्हें एक अलग अध्याय (छठी तरंग) में रखा गया है। इसी प्रकार प्राकृत तथा संस्कृत के छंदों को अलग अलग तरंगों में स्थान मिला है तथा वर्णिक और मात्रिक दंडको को अलग अलग तरंगों में। हाँ, एक स्थल पर यह वर्गीकरण पद्धति अर्धज्ञानिक भी हो गई है—दोहा, उल्लास, ध्रुवानंद, घत्ता आदि दो दलोंवाले छंदों, पद्यावती, दुमिल, त्रिभंगी, जलहरण, मनहरा आदि चार दलोंवाले छंदों तथा छप्पय, कुडलिया, अमृतध्वनि, हुल्लास आदि मिश्र वर्ण के छंदों को एक ही तरंग (सातवी तरंग) में स्थान देना अवश्य खटकता है।

इस प्रकरण में कतिपय नवीनताएँ उपलब्ध होती हैं। वर्णिक छंदों में सर्वैया के १४ प्रकार इनसे पूर्ववर्ती किसी छंदशास्त्र में उल्लिखित नहीं हैं। पकावली, दृढपट, बला, कद, मोटन आदि कतिपय छंद नवीन से हैं, इनकी चर्चा संस्कृत के प्राचीन छंद-ग्रंथों में भी नहीं मिलती। सम्भवन ऐसे छंदों का मूलधार तत्कालीन जनगीत हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत के कुछ एक अप्रचलित वृत्तों को भी अपने ग्रंथ में स्थान दिया है, जैसे—तिर्ना, धरा, शङ्खनारो, जोहा, खमवती, वातोर्मी आदि। इन छंदों के लिये दास ने छंदशास्त्र के प्राचीन ग्रंथों का आधार लिया होगा। इधर इस ग्रंथ का उदाहरण भाग भी नितांत मनमोहक एवं कवित्वपूर्ण है।

(३) कवित्व—आचार्यकर्म के समान ही कविकर्म की दृष्टि से भी रीतिकाल के अतर्गत भिखारीदास का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। इनका मुख्य विषय शृंगार ही है, यद्यपि नीति आदि सबधी फुटकर रचनाएँ भी इनके ग्रंथों में देखने को उपलब्ध हो जाती हैं। काव्यप्रकाश के आधार पर इन्होंने रसध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की है। इसी कारण इनके काव्य में एक ओर रस और दूसरी ओर ध्वनि का समुचित निर्वाह दृष्टिगत होता है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ध्वनि के होने पर भी इनके काव्य में किसी प्रकार की क्लिष्टता नहीं आ पाई जबकि रसपरिपाक होने से सर्वत्र अनुभूति की सफाई स्पष्ट होती जाती है। कल्पनावैभव और अनुभूति की गहराई का धरातल यद्यपि इनके काव्य में देव का सा नहीं है, किंतु फिर भी इसकी अनुरजकता में किसी प्रकार का सदेह नहीं किया जा सकता। इधर कल्पना की ऊँची उड़ान न कर पाने पर भी उनके चित्र अपने आपमें अत्यंत आकर्षक हैं। यही कारण है कि इनकी कविता का कुल प्रभाव मार्मिक होता है।

दास की भाषा व्याकरण और अभिव्यजना, दोनों दृष्टियों से परिमार्जित है। व्याकरण रूपों की उसमें वह गड़बड़ी न मिलेगी जो देव आदि पूर्ववर्ती कवियों में विद्यमान है—सर्वत्र एकरूपता है। शब्दावली भी उन्होंने साधारणतः संस्कृत से ही ग्रहण की है, पर अभिव्यजना को स्पष्ट और मार्मिक बनाने के लिये अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग करने में भी सकोच नहीं किया गया है। कहना न होगा कि शब्दचयन प्रायः ऐसा हुआ है जो सही भाव की अभिव्यक्ति करता है—एक ओर उसमें व्यंग्य प्रधान रहता है और दूसरी ओर भाव को रसकोटि तक पहुँचाता है। ऐसी दशा में यह कहना असंगत प्रतीत नहीं होता कि भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से यह व्यक्ति ब्रजभाषा के कवियों में अत्यंत सफल है। नमूने के लिये कुछ छंद देखिए

- (१) कंज के संपुट है ये खरे हिय में गड़ि जात ज्यो कुंत की कोर है ।
मेरु हैं पै हरि हाथ में आवत चक्रवती पै बड़ेई कठोर है ।
भावती तेरे उरोजनि में गुन 'दास' लख्यौ सब औरई और है ।
संभु है पै उपजावै मनोज सुवृत्त है पै परचित्त के चोर है ॥

- (२) भावी भूत वर्तमान मानवी न होइ ऐसी,
देवी दानवीन हूँ सो न्यारो एक डौरई ।
या बिधि की बनिता जो बिधना बनायो चाहै,
'दास' तौ समुझिए प्रकासै निज बौरई ।
कैसे लिखे चित्र को चितेरो चकि जात लखि,
दिन टैंक बीते दुति औरै और दौरई ।
आज भोर औरई पहर होत औरई है,
दुपहर औरई रजनि होत औरई ॥

- (३) बार अँध्यारनि में भटक्यो सु निकारयो मैं नीठि सुबुद्धिनि सो चिरि ।
बूझत आनन पानिप नीर पटोर की आड़ सो तीर लख्यौ तिरि ।

- मो मन बावरो यो ही हुत्यो अघरा मधु पान के मूढ छक्यौ फिरि ।
 'दास' भनै अब कैसे कहै निज चाह सो ठोढी की गाढ़ पड़्यौ गिरि ।
 (४) जेहि मोहिबे काज सिगार सज्यो तेहि देखत मोह मे आइ गई ।
 न चितौनि चलाइ सकी उनही की चितौनि के भाय अघाय गई ।
 वृषभान लली की दसा यह 'दास' जू देत ठगोरी ठगाय गई ।
 बरसाने गई दधि बेचन को तहँ आपुहि आपु बिकाय गई ॥
 (५) फूलन के सँग फूलिहै रोम परागन के सँग लाज उड़ाइहै ।
 पल्लव पुंज के सग अली हियरो अनुराग के रग रेंगाइहै ।
 आयो बसत न कंत हितू अब बीर बढोगी जो धीर धराइहै ।
 साथ तरुन के पातन के तरुनी को कोप निपात ह्वै जाइहै ॥

११ जनराज

जनराज साधारणतः अल्पपरिचित कवि ही है, उनका केवल एक ग्रंथ उपलब्ध है—कविता रस विनोद^१ । ग्रंथ के अंतिम अर्थात् २४वें विनोद के अंत में कवि के स्व-वर्णित परिचय से ज्ञात होता है कि इनका वास्तविक नाम डेडराज था, पिता का नाम था दयाराम और पितामह का हीरानंद । ये सिंहलगोत्रीय अग्रवाल वैश्य थे । पूर्वज गठवारे नामक ग्राम के निवासी थे परंतु पिता जयपुर में आ बसे थे । इनके गुरु का नाम श्री आचार्य (श्रिय आचारिज) था जिनसे इन्होंने काव्यशिक्षा भी प्राप्त की थी । इधर अजमेर निवासी कृष्ण कवि ने भी कविकर्म में इनकी सहायता की थी । श्री आचार्य ने इनका नाम डेडराज से जनराज रखा था । तत्कालीन जयपुर नरेश पृथ्वीसिंह ने इस ग्रंथ की रचना पर इन्हें पुरस्कृत किया था । ग्रंथ का रचनाकाल सवत् १८३३ है^२ । इस ग्रंथ में २४ विनोद और २०२५ पद्य हैं । इतने विशाल ग्रंथ में भी कोई नवीन धारणा नहीं प्रस्तुत की गई ।

- १ का० ना० प्र० सभा (याज्ञिक संग्रहालय) से प्राप्य हस्तलिखित ग्रंथ । क्रमसंख्या ६७।२५, पत्रसंख्या ३०५ अर्थात् ६१० पृष्ठ । लिपिकाल कृष्णा १२, सवत् १९०६ ।
 २ अब मैं अपनी कुल कहौ उपज्यौ तिनमैं आनि ।
 अग्रवाल बँस है सिंगल गोत बखानि ॥ २४।२५
 गठवारे इक ग्राम के वासी आदि सुजॉन ।
 हीरानंद तिनके भए कृपाराम सुषदॉन ॥ २४।२६
 दयाराम तिनके सुवन आए जैपुर ग्राम ।
 तिनकैं हो मतिमद भो डेडराज मो नॉम ॥ २४।२७
 गलतो धॉम प्रसिद्ध जग सब तीरथ सिरताज ।
 गवाक रिषि तिनमैं भए सकल रिषिन के राज ॥ २४।२८
 प्रगटे तिनके बस मैं श्रिय आचारिज नॉम ।
 तिन मोकहँ दिष्या दई ईष्ट धर्म के काँम ॥ २४।३०
 पुनि मोसो कीनी कृपा काव्यहि लगे बनि ।
 तिनके पाइ प्रसाद तैं रचन लग्यो कवितानि ॥ २४।३१
 विनाँ भोग के कवित्त मैं केत्ते दिए बनाय ।
 श्री आचारिज देषिकैं रीझि रहै मन लाय ॥ २४।३२
 तब उन मो सो यो कही भोग कवित्त मैं देह ।
 नाम धन्यौ जनराज तव श्रीमुख तैं करि नेह ॥ २४।४०

प्रथम चार विनोदों में पिगलशास्त्र का निरूपण है। पाँचवें विनोद का नाम 'व्यंग भेद-वर्णन' है। इसमें काव्यस्वरूप, काव्यभेद और शब्दशक्ति के भेदोपभेदों का निरूपण अधिकतर काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के आधार पर अत्यंत माधुर्यपूर्ण रूप में प्रस्तुत किया गया है। छठे, सातवें और आठवें विनोदों का नाम क्रमशः उत्तम काव्य, मध्यम काव्य और अधम काव्य वर्णन है। इनमें क्रमशः ध्वनि, गुरुभूत व्यंग्य और अलंकारों के भेदोपभेद वर्णित हैं। ध्वनि और गुरुभूत व्यंग्य के निरूपण का आधार साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाश में से कोई भी हो सकता है, अलंकारनिरूपण कुवलयानंद पर आधारित है। नवें विनोद में गुरु और दोष प्रकरणों का निरूपण है। इनका आधार भी साहित्यदर्पण है। दसवें विनोद से लेकर बीसवें विनोद तक भाव, शृंगार रस, नायक नायिका भेद, सखी, दूत, दूतों, नायकमखा, नखशिख आदि का सांगोपांग वर्णन है। निरूपण का आधार भानु मिश्र कृत रममजरी और रसतरंगिणी के अनिरुद्ध पूर्ववर्ती हिंदी रीतिग्रंथ भी हैं। यह प्रकरण वस्तुतः सामग्रीसचयन की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है। नूतनता और मौलिकता की दृष्टि से नहीं। इकतीसवें विनोद में शृंगार रस का सांगोपांग वर्णन है। बाईसवें विनोद में प्रहेलिका और यमक अलंकारों का निरूपण है, तथा तेईसवें विनोद में चित्र अलंकार का। अंतिम विनोद में कवि ने जयपुर नगर, जयपुरनरेश तथा स्ववश का परिचय प्रस्तुत करने के उपरान्त ग्रंथ की समाप्ति की है।

(१) कवित्व—कवित्व की दृष्टि से भी जनराज का अपना विशेष महत्व है। रीतिकाल के अंतर्गत मतिराम का अनुकरण करनेवाले कवि अत्यंत विरल हैं किंतु जनराज को इनमें अग्रगण्य कहना अनुचित न होगा। इस व्यक्ति ने अपनी कविता में सामान्यतः भावचित्र ही अधिक प्रस्तुत किए हैं, स्थूल चित्र अत्यंत विरल हैं। इसी लिये मतिराम के काव्य की सो मानसिक आनंद को सृष्टि करनेवाली हलकी तरंगें इसके काव्य की अपनी विशेषता हैं। यद्यपि इस व्यक्ति ने काव्य में रसध्वनि की स्थापना की है, तथापि उसका काव्य रस की दृष्टि से ही अधिक खरा दृष्टिगत होता है, ध्वनि का अभाव तो नहीं है, पर इसका दर्शन अत्यल्प होता है। कल्पनावैभव और व्युत्पन्नता भी अपेक्षाकृत इसमें कम ही है।

भाषाशैली की दृष्टि से यह व्यक्ति आदर्श नहीं कहा जा सकता। रीतिकाल के परवर्ती कवियों में ब्रजभाषा का अत्यंत निखरा हुआ रूप मिलता है, पर ज्ञात नहीं, यह व्यक्ति किस कारण से पिछड़ा हुआ है। व्याकरण रूपों में ही इसने गड़बड़ी नहीं की है, शब्दों की तोड़मरोड़ भी इतनी है कि भूषण और देव का स्मरण हो आता है। इधर अभिव्यजना भी अपने आपमें दुर्बल सी प्रतीत होती है। शब्दों का प्रयोग यद्यपि इसने ठीक किया है, तथापि उनमें वह भावात्मकता नहीं जो भावप्रधान काव्य के लिये अपेक्षित होती है। फिर भी, चूंकि इसने अपनी निश्छल अभिव्यक्ति की है, इस कारण अलंकारों की भरमार से इसका काव्य शिथिल नहीं बन गया। अलंबता शब्दालंकारों का प्रयोग उसने प्रचुर मात्रा में किया है, जिससे उसकी छंदयोजना में इतना निखार आ गया है कि संगीत और लय की दृष्टि से सहज ही वह मतिराम की कोटि का स्पर्श कर लेता है। उदाहरण के लिये कुछ छंद देते हैं, देखिए

पृथ्वीसिंह तब रीभिकै दीनी कृपा इनाँम ।

तब मैं नृप कै नश्र मैं बस्यो महा सुखधाम ॥ २४।२४

अठारहि से तीतस भये सुभ सवत जेष्ट सुमास बषानी ।

सेत सुपक्षि तिथ दसमी अरु बार महावर भौम सुजानौ ॥ २४।४४

- (१) कुंजन ते इक छौस चली घर आत भली वृषभान दुलारी ।
काँटो लग्यो इक पाय मै आय परी विविहाल सखीन की लारी ॥
आय गए 'जनराज' तहाँ जब काढ़त वे ब्रजचंद बिहारी ।
पीर गई तन भूलि तिया पिय के मिलिबे तै बढयो सुख भारी ॥
- (२) भोर हि आत लखे नव नागरि दौरिकै लाल लहे समुहाई ॥
अंग मै देखि नखच्छित आन के लोचन कोल गही अरुनाई ॥
ज्यो मनुहारि करी मनमोहन त्यो 'जनराज' कछु मुसकाई ॥
जा बिधि केलि रची नँदनदन ता विधि केलि करी मनभाई ॥
- (३) आवत अचौन भटू नागर उजागर सो,
कुज ते निकसि कै अमद छबि छै गयो ।
लटकीली चाल 'जनराज' लै मराल की सी,
नूपुर की भनक रसपुज बरसै गयो ॥
मंद मुसकाय कै बजाय बैन सैनन मे,
रूप की तरंग मै अनेक रंग रै गयो ।
लाज तर तोर कै मरोरि बंक मोहन को,
नैन कोर मोरिकै चुराय चित्त लै गयो ॥
- (४) नागरी नवेली अलबेली तू रसाल बाल,
एहो ब्रजरानी आज काहे तै रिसानी है ।
तब तै बिसारे 'जनराज' कुंज भौनन मै,
तब तै बिकल कुंज भौन नाँ सुहानी है ॥
सोच में सुनिस्त मति कल ना परत कहूँ,
कछु ना सुहात उर बिथा सरसानी है ।
यातै रिस छाँड़ि चलि प्रीतम पै बेगि प्यारी,
खोलि उर अतर की गाँस जे गड़ानी है ॥

१२. जगत सिंह

जगतसिंह की दो कृतियाँ उपलब्ध है—साहित्यसुधानिधि और चित्रमीमासा^१ । साहित्यसुधानिधि के अंत में इन्होंने नायकनायिका भेद से सबद्ध स्वरचित रसमृगाक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है ।

नायकादि संचारी सात्विक हाव ।

रसमृगांक तें जानो सब कबिराव ॥

चित्रमीमासा में भी इन्होंने रसमृगाक का उल्लेख किया है । इसके अतिरिक्त साहित्यसुधानिधि में इन्होंने अपने किसी पिंगलग्रंथ की ओर भी संकेत किया है ।

१ का० ना० प्र० सभा (आर्यभाषा पुस्तकालय) में इन दोनों ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ सुरक्षित हैं । साहित्यसुधानिधि की क्रमसंख्या ६५ है और पृ० संख्या ६३-१६२ है । ग्रंथ के अंत में जो सन् और सवत् दिए हुए हैं, वे इसके लिपिकाल के निर्देशक प्रतीत होते हैं, पर इनमें सन् अशुद्ध प्रतीत होते हैं—

समाप्त मिति असाठ सुदि ७ सन् १२५७ साल समत १९०७ मुकाम बलिराम पुर बसि । उक्त पुस्तकालय में चित्रमीमासा की दो प्रतियाँ सुरक्षित हैं, जिनकी क्रमसंख्या २८५ और २८७ है । प्रथम प्रति अत्यंत खडित अवस्था में है और दूसरी अपूर्ण है । दोनों की पृष्ठसंख्या क्रमशः १६ और ५ है ।

दग्धाक्षर दूषन छंद क रीति ।
मेरे छंद ग्रंथ तें मीत ॥

यह आचार्य गोडा नामक ग्राम के निवासी थे, जो सरयू नदी की उत्तर दिशा पर स्थित था ।

श्री सरयू के उत्तर गोडा नाम । त्यहिपुर बसत कविन गन आठौ जाम ।
तिन मँहू येक अल्प कवि अति मतिमद । जगतसिंह सो बरनत बरवै छंद ॥

ग्रंथ की प्रत्येक तरंग के अंत में कवि ने अपने पिता का नाम महाराजकुमार दिग्विजय सिंह लिखा है, जो विस्येन (?) वंश से संबद्ध थे^१ ।

साहित्यसुधानिधि की रचना सवत् १८६२ में हुई थी ।

दृग रस वसु ससि संवत अनु गुरवार ।
शुक्ल पंचमी भादौ रच्यो उदार ॥

इस ग्रंथ का प्रमुख आधार चंद्रालोक है, पर लेखक के कथनानुसार कतिपय अन्य प्रख्यात ग्रंथों से भी सहायता ली गई है ।

चंद्रालोक आदि है भाषा कीन ।
कहि साहित्य सुधानिधि बरवै बीन ॥
× × ×
भरत भोज अरु मम्मट श्री जैदेव ।
विश्वनाथ गोविंद भट्ट दीक्षित मेव ।
भानुदत्त आदिक मत करि अनुमान ।
दियो प्रकट करि भाषा कवित विधान ॥

इसमें १० तरंगे हैं और ६३६ बरवै छंद

कहे छ सैं छत्तिस पुनि बरवै बीन ।
दस तरंग करि जानो ग्रंथ नवीन ॥

पहली तरंग में काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु और काव्यभेद पर मम्मट के आधार पर सामान्य प्रकाश डाला गया है । दूसरी तरंग का नाम शब्द स्वरूप निरूपण है, जो पूर्णतः चंद्रालोक का रूपांतर मात्र है । उदाहरणार्थ एक प्रसंग लीजिए

साहित्यसुधानिधि—

होति विभक्ति जाहि सो ग्रंथनि माह ।
शब्द ताहि को जानो पंडित नाह ।
तामै तीनि भेद कहि सबै अमूढ ।
रूढ एक अरु यौगिक यौगिक रूढ ॥

चंद्रालोक—

विभक्त्युत्पत्तये योग्यः शास्त्रीयः शब्द इष्यते ।
रूढयौगिकतन्मिश्रैः प्रभेदैः स पुनस्त्रिधा ॥

चंद्रालोककार ने वृत्ति के तीन प्रकार बताए हैं—गभीरा, कुटिला और सरला । उनका इनसे अभिप्राय क्रमशः व्यंजना, लक्षणा और अभिधा नामक शब्दशक्तियों से है ।

१ इति श्रीमन्महाराजकुमारविस्येनवसावतसदिग्विजैसिंहात्मज जगतसिंहकविकृतौ श्री साहित्यसुधानिधौ काव्यस्वरूप निरूपण नाम प्रथमस्तरंग ।

गभीरा (व्यजना) के निरूपण के अनंतर इन्होंने गुणीभूतव्यग्य का भी निरूपण किया है। इधर जगतसिंह ने भी इन्ही चारों काव्यांगों का निरूपण तीसरी, चौथी और पाँचवी तरंगों में प्रायः चंद्रालोक के आधार पर प्रस्तुत किया है। तुलनार्थ एक स्थल लीजिए—

साहित्यसुधानिधि—

वक्त्रसिद्युक्त प्रथम है द्वजो और ।
कहि स्वाकुरित नाम जे कवि सिरमौर ॥

चंद्रालोक—

वक्तृस्यूतं बोधयितुं व्यंग्य वक्तुरभीप्सितम् ।
स्वांकुरितमतद्रूप स्वयमुल्लसित गिरः ॥

छठी तरंग में शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का निरूपण है। यह प्रकरण भी चंद्रालोक तथा कुवलयानंद के आधार पर रचा गया है। इसमें 'संग्रामोद्दाम हुंकरा' नामक एक नूतन अलंकार का भी समावेश हुआ है

मल्ल प्रति मल्लत्व कहि जहँ अस होइ ।
संग्रामोद्दाम हुंकरति जानो सोइ ॥

यथा—

भानु प्रभा जस अहै निश्चै जानु ।
गई निसा तब जानो सब मतिमानु ।

पर यह उदाहरण उत्प्रेक्षा अलंकार का ही है, जगतसिंह द्वारा प्रस्तुत संग्रामोद्दाम हुंकार का नहीं है। वस्तुतः यह कोई अलंकार न होकर वीर अथवा रौद्र रस का उद्दीपन विभाव ही है।

सातवी तरंग के माधुर्य, ओज और प्रमाद नामक तीन गुणों का संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया गया है जो मम्मटकृत काव्यप्रकाश पर आधारित है। मम्मट के ही समान इन्होंने वामनसमत दस गुणों का उक्त तीनों गुणों में समावेश करने का भी संकेत किया है

तातैं तीनि सुख्य है कल्पित और ।
याही मै सब जानो कवि सिरमौर ॥

इतना सब होते हुए भी न जाने क्यों जगतसिंह ने अपने इस प्रकरण को भोजकृत कथाभरण (सरस्वतीकथाभरण) पर आधृत माना है

कहि प्रसाद मधुर अनु जानौ बोज ।
लिषे सु कथाभन मे श्री नृप भोज ॥

यदि 'कथाभन' से इनका तात्पर्य भोजप्रणीत सरस्वतीकथाभरण से है, तो उनका यह कथन अशुद्ध है, क्योंकि उसमें २४ गुणों की गणना एवं स्वीकृति की गई है, न कि केवल उक्त तीन गुणों की।

आठवी तरंग का नाम 'नौ रस निरूपन' है। इस तरंग के प्रारंभ में भावों की संख्या पाँच मानी गई है—स्थायी, संचारी, विभाव, अनुभाव और सात्विक। इसके उपरांत नौ स्थायिभावों तथा नौ रसों का साधारण परिचय मात्र प्रस्तुत किया गया है। शृंगार रस के अंतर्गत नायक नायिका भेद की चर्चा नहीं की गई।

नवी तरंग में पाचाली, लाटी, गौडी और वैदर्भी रीतियों का प्रसंग अत्यंत संक्षेप में—केवल ७ पद्यों में—प्रस्तुत किया गया है।

दसवी तरंग मे दोषनिरूपण है। जगतसिंह के शब्दों मे दोष का लक्षण है

सब्द अर्थ सुंदरता जो हरि लेत ।

ताहि दोष करि जानौ सुकवि सचेत ॥

दोष का यह स्वरूप प्रशुद्ध न होते हुए भी वस्तुपरक है, भावपरक नहीं है। वस्तुतः दोष का स्वरूप रसापकर्षकत्व पर निर्भर है। उदाहरणार्थ, श्रुतिकटु दोष शब्द-सौंदर्य विघातक होता हुआ भी रौद्र तथा वीर रस का विघातक नहीं है, पर यही दोष शृंगार, करुण आदि रसों का विघातक है। जगतसिंह का उक्त कथन जयदेव के निम्न-लिखित कथन का सक्षिप्त रूपांतर है

स्याच्चेतो विशता येन सक्षता रमणीयता ।

शब्देभ्यं च कृतोन्मेषं दोषमुद्धोषयन्ति तम् ॥

इस प्रकरण मे इन्होंने सौ दोषों का निरूपण किया है और इन्हीं के अतर्गत अन्य दोषों की भी स्वीकृति की है

ये सत्-दोष मुख्य हैं इन्हीं के अतरभूत मे और दोष जानिबो ।

जगतसिंह का यह प्रकरण अधिकांशतः चंद्रालोक पर आधारित है, दोषों की वही क्रमव्यवस्था है और वही निरूपण शैली। चंद्रालोक मे कतिपय नूतन दोषों का भी निरूपण है जो काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि प्रख्यात ग्रंथों मे उपलब्ध नहीं है। उनके नाम हैं—शिथिल, अन्यसंगति, विकृत और विरुद्धान्योन्यसंगति। इनमे से विकृत को छोड़कर शेष सभी जगतसिंह के ग्रंथ मे वर्णित हैं। विकृत का सबंध संस्कृत व्याकरण के सूत्रों के साथ है, अतः हिंदी के आचार्य जगतसिंह ने सभवतः जान बूझकर इस दोष का उल्लेख नहीं किया। जैसा कह आया है, इन दोषों मे से शिथिल दोष मम्मटस्वीकृत नहीं है। जयदेव ने इसका उदाहरण तो दिया है, पर इसका लक्षण प्रस्तुत नहीं किया, किंतु इधर जगतसिंह ने न जाने क्यों इसे मम्मट के नाम से उद्धृत कर दिया है

उठत विलंब करि पद जहँ सिथिलो होइ ।

मम्मट मतो लिख्यौ इमि कवि कहि सोइ ॥ १०-२१

इस कथन से इन्हे वस्तुतः क्या अभिप्रेत है, यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है, क्योंकि एक तो इन्होंने इसका उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया, दूसरे यह जयदेवप्रस्तुत उदाहरण पर घटित नहीं होता।

जगतसिंह ने कुछ अन्य दोषों का भी निरूपण किया है जो चंद्रालोक मे उपलब्ध नहीं है। इनमे से कतिपय काव्यप्रकाश से लिए गए हैं। अध, बधिर, नगन (नग्न), प्रयत्यनीक, निरस, विरस, दुसहृधान, पात्रदुष्ट, विरथ (व्यर्थ), देशविरोध और न्याय-आगम विरोध केशव की कविप्रिया और रसिकप्रिया से गृहीत हैं। तुकभंग और विस्मा (वीप्सा) तत्कालीन हिंदी काव्यशास्त्रों मे उपलब्ध हैं। वायसपतिमराल, कास्थूलक्तस और अब्जअक्षो नामक दोष इनके ग्रंथ मे सभवतः प्रथम बार निरूपित हुए हैं। अरबी, फारसी आदि यवन भाषाओं के मिश्रण को इन्होंने 'वायस पॉति मराल' कहा है

मिलत जामिनि भाषा भाषा मध्य ।

वायस पॉति मरालिक दूषन सध्य ॥

कास्थूलक्तस दोष का लक्षण इस प्रकार है

प्रथम वोज गुन बरनत पुनि परसाद ।

कास्थूलक्तस दूषन रहि तस वाद ॥

इस दोष का शुद्ध नाम क्या है, यह कहना भी कठिन है। जगतसिंह के शब्दों में अञ्जअक्षो (सम्भवतः अञ्जाक्ष) का लक्षण है

का मलि नैन आपने ससि कहि पीत ।

अञ्जअक्ष दूषन सो जानो सीत ॥

जयदेव ने दोषप्रसंग के अंत में दोषाकुशो की भी चर्चा की है, पर जगतसिंह ने इस काव्यतत्त्व का खंडन प्रस्तुत करते हुए कहा है

‘औ काहु ने दोषाकुस कियो है। दोष कहिकै फिरि दोष मिटाइ डारचो है। सो अजोग कियो है। जो कहिकै मिटावना हो तो दोष काहे को लिप्यौ। ताते दोषाकुस मिथ्या है। दोष सत्य है। दोष विचारि कवित्त करिए याहि प्राचीन मत जानियो।’

जगतसिंह की यह धारणा काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भ्रात है। किसी भी दोष का काव्यविधातक तत्त्व उसके रसापकर्ष पर निर्भर है। यही कारण है कि आचार्यों ने दोष को सर्वत्र हेय स्वीकार न करते हुए इसकी अन्य तीन गतियाँ भी मानी हैं। जयदेव के शब्दों में

दोषेगुणत्वं तनुते दोषत्वं वा निरस्यति ।

भवन्तमथवा दोषं नयत्यत्याजतामसौ ॥ च० आ० २।४१

दोष प्रकरण के उपरांत प्रस्तुत ग्रंथ की महिमा, स्वप्रणीत अन्य ग्रंथों का नाम-निर्देश तथा इस ग्रंथ के निर्माण काल निर्देश आदि के साथ इस ग्रंथ की समाप्ति हो जाती है।

समग्र रूप में यह ग्रंथ साधारण कोटि का है। इसकी केवल एक ही विशेषता है कि जसवतसिंह प्रणीत भाषाभूषण आदि ग्रंथों के समान इसमें चंद्रालोक के आधार पर प्रमुख अलंकारनिरूपण ही न करके अन्य काव्यांगों का भी विवेचन किया गया है। दोष प्रकरण में कुछ एक नवीनताओं का उल्लेख हम यथास्थान कर आए हैं, पर वे या तो सामान्य कोटि की हैं या भ्रमपूर्ण।

(१) कवित्व—कवित्व के स्तर की दृष्टि से जगतसिंह का स्थान अपेक्षाकृत हीन है। आचार्यकर्म में सक्षिप्तता की ओर प्रवृत्ति रखने के कारण उन्होंने कवित्व और सवैया जैसे छंदों की रचना नहीं की जहाँ कवित्वप्रदर्शन के लिये कवि को पर्याप्त अवसर मिल जाता है। यों तो छोटे छंदों में भी कवि अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर सकता है और बरवै छंद तो इनसे पूर्व तुलसी और रहीम जैसे कवियों का कठहार भी रहा है, पर जगतसिंह इस छंद का ब्रजभाषा में सही प्रयोग करने पर भी अपनी उक्तियों में सौंदर्यसृष्टि इसलिये नहीं कर पाए कि संस्कृत कवियों की अधिकांश उक्तियों का इन्हे अनुवाद करना पड़ा। सख्या की दृष्टि से भी ये छंद लक्षणपरक छंदों से कहीं कम हैं इनमें भी किसी एक विषय को नहीं उठाया गया—कही नीतिपरक वाक्य है तो दूसरे स्थान पर अन्य विषयों से संबध रखनेवाली उक्तियाँ। ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार करने पर भी, तत्संबधी कतिपय छंदों को छोड़ किसी में भी व्यंग्य परिलक्षित नहीं होता। वैसे, इतना अवश्य है कि इनकी भाषा व्याकरण और छंद के सर्वथा अनुकूल चलती है। उदाहरण के लिये इनके कुछ बरवै देते हैं

(१) सासु एक सो आँधरि पिय परदेस ।

बिन कपाट घर लागत रैन अँदेस ॥

(२) नीच प्रबनता लक्ष्मी उचितै जानु ।

जलजा होहि न देखौ कहि मति मानु ॥

- (३) राम देखि रावन रन भो आनद ।
दाहिन भुजा फरवकत मुख दुति चद ॥
(४) ते पूरुष थोरे जे हरि रस लीन ।
ते बहु निरत रहै जे रति मतिहीन ॥

१३. रसिक गोविंद

रसिक गोविंद हिंदी के उन अभागे कवियों में से है जिन्होंने अपने कृतित्व द्वारा रीतिकालीन साहित्य को कवित्व और आचार्यत्व दोनों की दृष्टि से समृद्ध तो किया पर कालांतर में जिनके ग्रंथ लुप्तप्राय हो गए—सम्यक् प्रकाश में न आ सके। यही कारण है कि आज इनके जीवनवृत्त के सबंध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है। केवल इतना ही ज्ञात होता है कि ये जयपुर के मूल निवासी थे और निर्वाक संप्रदाय के महात्मा हरिव्यास की गद्दी की शिष्यपरंपरा में थे। इनके पिता का नाम शालिग्राम, मा का गुमानी, चाचा का मोतीराम और बड़े भाई का बालमुकुद था। ये नटाणी जाति के थे। शुक्लजी ने इनका रचनाकाल स० १८५० से १८६० तक माना है। अबतक इनके ९ ग्रंथ विद्वानों के देखने में आए हैं^१

१—रामायणसूचनिका (रचनाकाल स० १८५८), २—रसिकगोविंद आनद-घन (रचनाकाल स० १८५८), ३—लछिमनचंद्रिका (रचनाकाल स० १८८६), ४—अष्टदेशभाषा, ५—पिगल, ६—समयप्रबध, ७—कलियुगरासो, ८—रसिक गोविंद (रचनाकाल १८६०) और ९—युगलरसमाधुरी।

इनमें रामायणसूचनिका केवल ३३ दोहों तक सीमित है और इसमें रामायण की कथा का वर्णन है। अष्टदेशभाषा में ब्रज, खड़ी बोली, पंजाबी, पुरबी आदि आठ बोलियों में जहाँ राधाकृष्ण की लीला कही गई है, वहाँ समयप्रबध के ८५ पद्यों में उनकी ऋतुचर्या और कलियुगरासो के १६ कवित्तों में कलिकाल की बुराईयों का वर्णन है। युगलरसमाधुरी के अतर्गत रोला छंद में राधाकृष्ण विहार और वृंदावन का सरस वर्णन किया गया है। शेष ग्रंथों में से रसिकगोविंद आनदघन के अतर्गत काव्य के दशांग का विस्तृत वर्णन और विवेचन प्रस्तुत किया गया है जबकि लछिमनचंद्रिका में इसके लक्षणों का चयन मात्र किया गया है। रसिकगोविंद में चंद्रालोक अथवा भाषाभूषण की शैली के आधार पर अलंकार के लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि सभी ग्रंथों की तुलना में रसिक गोविंद का रसिकगोविंद आनदघन ही ऐसा ग्रंथ है जो आचार्यत्व और कवित्व की दृष्टि से उनके महत्व की स्थापना के लिये पर्याप्त है। इस ग्रंथ की एक प्रति अब से कुछ पहले नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के आर्यभाषा पुस्तकालय में विद्यमान थी, पर अब उसका क्या हुआ, कुछ ज्ञात नहीं। वैसे, ऐसा सुना जाता है कि जयपुर के पुस्तकालय में इसकी एक और प्रति अब भी है, पर हमारे देखने में नहीं आई। ऐसी दशा में आचार्य शुक्ल^२ और डा० भगीरथ मिश्र^३ ने अपने ग्रंथों के अतर्गत इसके सबंध में जो विवरण दिया है, उसी पर सतोष करना पड़ेगा। इन विद्वानों के अनुसार इस ग्रंथ के अतर्गत अलंकार, गुण, दोष, रस तथा नायक नायिकाओं का अत्यंत मनोयोग-पूर्वक वर्णन किया गया है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रचयिता ने यथास्थान

१ रसिक गोविंद का जीवनवृत्त और ग्रंथ सबंधी यह विवरण 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (आ० शुक्ल) के आधार पर दिया जा रहा है।

२ हिंदी साहित्य का इतिहास (आठवाँ संस्करण), पृष्ठ ३२०।

३ हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास (प्रथमावृत्ति), पृ० १७२।

संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्यों—भरत, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि—के मतों का उल्लेख करते हुए अपना मत व्यक्त किया है। अतः कहा जा सकता है कि यह व्यक्ति आलोचक की प्रतिभा ही नहीं रखता था, प्रस्तुत इसमें संस्कृत के काव्यशास्त्रकारों के समक्ष अपना निर्णय देने का साहस भी था। दूसरे, इस ग्रंथ में सभी उदाहरण रचयिता के अपने नहीं हैं। जहाँ अपने छंद नहीं बन पड़े वहाँ उसने अपने पूर्ववर्ती कवियों की सरस रचनाओं को प्रस्तुत कर दिया है—कही कही संस्कृत के श्लोकों का भी अनुवाद दे दिया है। अतएव कह सकते हैं कि रसिक गोविंद का यह ग्रंथ मूलतः आचार्यत्व को दृष्टि में रखकर ही लिखा गया है और इसलिये इसका इस युग के साहित्य में विशेष महत्व है। नमूने के लिये यहाँ इनका निरूपणपरक गद्य तथा कतिपय सरस छंद प्रस्तुत है^१

“अन्य ज्ञान रहित जो आनंद सो रस । प्रश्न—अन्य ज्ञान रहित आनंद तो निद्राहू है । उत्तर—निद्रा जड़ है, यह चेतन । भरत आचार्य सूत्रकर्ता को मत—विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के योग में रस की सिद्धि । अथ काव्यप्रकाश को मत—कारण कारण सहायक है जो लोक में इन्हीं को नाट्य में, काव्य में, विभाव सज्ज है । अथ टीकाकर्ता को मत तथा साहित्यदर्पण को मत—सत्व, विशुद्ध, अखंड, स्वप्रकाश, आनंद, चित् अन्य ज्ञान नहीं संग, ब्रह्मास्वाद सहोदर रस ।

(१) आलस सो मंद मद धरा पै धरति पाय
भीतर तैं बाहिर न आवे चित चाय के ।
रोकति दृगनि छिन छिन प्रति लाज साज
बहुत हँसी की दीनी बानि बिसराय के ॥
बोलति बचन मृदु मधुर बनाय उर
अंतर के भाव की गँभीरता उताय कै ।
बात सखी सुंदर गोविंद कौ कहात तिन्है
सुंदरि बिलोकै बंक भृकुटी नचाय कै ।

(२) मुकलित पल्लव फूल सुगंध परागहि फगारत ।
गुग मुख निरखि विपिन जनु राई लोन उतारत ॥
फूल फलन के भार डार झुकि यो छबि छाजै ।
मनु पसारि दई भुजा देन फल पथिकन काजै ॥
मधु मकरंद पराग लुब्ध अलि मुदित मंत मन ।
बिरद पढ़ै ऋतुराज नृपन के मनु बंदीजन ॥

१४. प्रतापसाहि

(१) जीवनवृत्त—प्रतापसाहि बुदेलखंड निवासी रतनेस बंदीजन के पुत्र थे। इनके आश्रयदाता चरखारी (बुदेलखंड) के महाराज विक्रमसाहि थे। शिवसिंह सरोज के अनुसार ये कवि महाराज छत्रसाल परनापुरदर के यहाँ भी रहे। इनका रचनाकाल स० १५८० से १६०० तक माना जाता है।

(२) रचनाएँ—इनके द्वारा रचित ये ग्रंथ कहे जाते हैं—जयसिंहप्रकाश, शृंगारमंजरी, व्यंग्यार्थकौमुदी, शृंगारशिरोमणि, अलंकारचिंतामणि, काव्यविनोद और जुगलनखशिख। अपने काव्यविलास ग्रंथ में इन्होंने रसचंद्रिका ग्रंथ का भी उल्लेख किया है। इनमें से जयसिंहप्रकाश को छोड़कर शेष सभी काव्यशास्त्रीय ग्रंथ प्रतीत होते हैं।

परंतु उपलब्ध केवल दो ही ग्रंथ हैं—काव्यविलास और व्यंग्यार्थकौमुदी । इनके अतिरिक्त इन्होंने भाषामूपा (जतवतसिहकृत), रसरज (मतिरामकृत), नखशिख (बलभद्रकृत) और सतसई (सम्भवत बिहारीकृत), इन ग्रंथों की टीकाएँ भी लिखी थी ।

व्यंग्यार्थकौमुदी की रचना सवत् १८८२ में हुई^१ । इस ग्रंथ के दो भाग हैं—मूल भाग और वृत्ति भाग । मूल भाग में १३० पद्य हैं । पहले १४ पद्यों में गणेशवदना के उपरांत शक्ति, अभिधा, लक्षणा, व्यजना और अलंकार के स्वरूप का संक्षिप्त निर्देश है और व्यंग्यार्थ का महत्व बताया गया है । अंतिम पाँच पद्यों में ग्रंथनिर्माण के प्रयोजन तथा काल का उल्लेख है । वास्तविक ग्रंथ का प्रारंभ १५वें पद्य से होता है ।

शेष १११ पद्या में इन्होंने अधिकार भानु मिश्र के नायकनायिका भेदों को लक्ष्य में रखकर उन्हीं के क्रमानुसार उदाहरण प्रस्तुत किए हैं । वृत्ति भाग में प्रत्येक उदाहरण से सबद्ध नायकभेद अथवा नायिकाभेद, शब्दशक्ति और अलंकार के भेदों का गद्य में निर्देश कर इनके सामान्य परिचयात्मक पद्यबद्ध लक्षण भी प्रस्तुत कर दिए हैं । इस प्रकार वृत्ति भाग से समन्वित यह एक लक्षणग्रंथ है और इसके बिना मूलतः लक्ष्यग्रंथ । निस्संदेह यह अपने प्रकार का विचित्र प्रयोग है । संभव है, ऐसे ग्रंथ उस युग में और भी लिखे गए हों । लगभग इसी आदर्श पर लिखित राव गुलाबसिंह प्रणीत 'बृहद्व्यंग्यार्थ कौमुदी' नामक एक प्रकाशित ग्रंथ और देखने में आया है । दोनों में अंतर यह है कि प्रतापसाहि ने टीका भाग में गद्य और पद्य दोनों का आश्रय लिया है और राव गुलाबसिंह ने केवल पद्य का । प्रतापसाहि का अपने ढंग का यह निराला ग्रंथ एक साथ तीन उद्देश्यों की पूर्ति करता है—इसका सबद्ध एक साथ नायकनायिका भेद, अलंकार और ध्वनि तीनों से है । फिर भी मूलतः इसका प्रतिपाद्य नायकनायिका भेद ही है, न कि ध्वनि तथा व्यंग्यार्थ, जैसा कि हिंदी साहित्य के लगभग सभी इतिहासकारों ने लिखा है ।

इस ग्रंथ में भानु मिश्र समस्त नायिकाभेदों के अतिरिक्त कतिपय अन्य भेद भी वर्णित हैं (क) अवस्था के अनुसार नायिका के दो भेद—प्रवसत्पतिका तथा आगतपतिका । (ख) गणिका के तीन उपभेद—स्वतन्त्रा, जनन्याघोना और नियमिता । (ग) वासकसज्जा के दो उपभेद—ऋतुकालस्नानोपरांत वासकसज्जा तथा प्रवासी पति की प्रतीक्षा में वासकसज्जा । इन भेदों में से प्रवसत्पतिका का उल्लेख रसमजरी की 'सुरभि' टीका में उपलब्ध है । अतः प्रतापसाहि ने यह भेद संभवतः किसी टीका से लिया होगा । आगतपतिका का सर्वप्रथम उल्लेख हिंदी आचार्य रसलीन ने अपने ग्रंथ रसप्रबोध में किया है । संभवतः प्रतापसाहि इस भेद के लिये साक्षात् अथवा परंपरा सबद्ध से इनके ऋणी है । गणिका के उक्त तीनों भेद हिंदी आचार्य कुमारमणि ने अपने ग्रंथ रसिकरसाल में प्रस्तुत किए हैं । उधर ये भेद सत गुरुवर शाह की शृंगारमजरी में भी निर्दिष्ट हैं । प्रतापसाहि ने किसका आधार ग्रहण किया है, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है । वासकसज्जा का प्रथम भेद संभवतः हिंदी आचार्यों का अपना है । दूसरे भेद को प्रतापसाहि ने आगतपतिका नाम भी दिया है । इस भेद का उल्लेख श्रीधरदास सकलित सदुक्ति-कर्णामृत नामक संस्कृत ग्रंथ में उपलब्ध है ।

प्रतापसाहि का दूसरा उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथ काव्यविलास है । इसकी रचना सवत् १८८६ में हुई थी^२ । यह विविध काव्याग्निरूपक ग्रंथ है । इसमें छह प्रकाश

१. सवत ससि बसु वसु रु द्वै गनि अषाढ को मास ।
किय व्यंग्यार्थकौमुदी सुकवि प्रताप प्रकास ॥ —व्य० कौ०, १२५ ।
२. सवत शशि वसु वसु बहुरि ऊपर षट पहिचानि ।
सावन मास त्रयोदशी सोमवार उर आनि ॥

है और ४११ पद्य । विषय के स्पष्टीकरण के लिये तिलक (वृत्ति) रूप में गद्य का भी प्रयोग किया गया है । ग्रंथ के पहले प्रकाश का आरंभ गणेशवन्दना से होता है । इसके उपरांत काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यकारण और काव्यभेदों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है । दूसरे प्रकाश में शब्दशक्ति का निरूपण है और तीसरे चौथे प्रकाशों में क्रमशः ध्वनि और गुणोद्भूतव्यंग्य का । रसादि का निरूपण ध्वनि के ही एक भेद के रूप में ध्वनिप्रकरण में किया गया है । अंतिम दो प्रकाशों में क्रमशः गुण और दोष का निरूपण है । इस ग्रंथ में न तो नायकनायिका भेद को स्थान मिला है और न अलंकारों को ।

शास्त्रीय दृष्टि से यह ग्रंथ सामान्य कोटि का है । आरंभ में ही काव्यलक्षण प्रसंग के अंतर्गत भीषण आतियों को देखकर ग्रंथकार के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है । उदाहरणार्थ

अथ साहित्यदर्पणमत काव्यलक्षण—

रसयुक्त व्यंग्य प्रधान जह, शब्द अर्थ शुचि होइ ।
उक्ति युक्ति भूषण सहित काव्य कहावै सोइ ॥

अथ रसगगाधर मत काव्यलक्षण—

अलंकार अरु गुण सहित दोषरहित पुनि वृत्त्य ।
उक्ति रीति मुद के सहित रस युत वचन प्रवृत्त्य ॥

संस्कृत काव्यशास्त्र का एक साधारण पाठक भी जानता है कि विश्वनाथ और जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत काव्यलक्षण ये नहीं हैं जिनका रूपांतर प्रतापसाहि ने उक्त रूप में उपस्थित किया है । वस्तुतः इन दोनों काव्यलक्षणों में मम्मटोत्तरवर्ती वाग्भट आदि आचार्यों के काव्यलक्षण की छाया है, जिन्होंने शब्द, अर्थ, गुण, अलंकार, रीति और रस नामक काव्यांगों को काव्यलक्षण में स्थान देकर समन्वयवाद की शरण ली है ।

काव्यविलास के आगामी प्रकरणों में भी कतिपय स्थल चित्य हैं, पर वे इतने भ्रामक नहीं हैं । उदाहरणार्थ, शब्दशक्ति प्रकरण में सकेतग्रह प्रसंग भ्रमपूर्ण है । लक्षणामूला व्यञ्जना के भेद अशास्त्रीय है । लक्षणों के भेदोपभेदों की गणना शिथिल है । दोषप्रकरण में च्युतसंस्कृति, सदिग्ध, विरुद्धमतिकृत, अपुष्ट आदि दोषों के लक्षण अथवा उदाहरण अशुद्ध हैं । इसी प्रकार इनका गुण प्रकरण भी नितांत शिथिल एवं अव्यवस्थित है । इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ में मौलिकता नाम मात्र के लिये भी नहीं है । यो तो इस ग्रंथ के अधिकतर निरूपण शास्त्रसमत ही हैं, पर पद्य एवं गद्य भाषा की असमर्थता विषय के स्पष्टीकरण में नितांत बाधक सिद्ध हुई है । ग्रंथ के अधिकांश भाग में किसी संस्कृत के आचार्य का आधार न ग्रहण कर कुलपति का आधार ले लेना लेखक में आत्म-विश्वास के अभाव का सूचक है । पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्रीय विषय से ये अवगत थे, क्योंकि इनके अधिकांश उदाहरण शास्त्रसमत एवं विशुद्ध हैं ।

(३) कवित्व—रीतिकालीन कवियों में प्रतापसाहि का अपना विशिष्ट स्थान है । इसका मुख्य कारण यह है कि इन्होंने जिस व्यंग्य को काव्य का जीव कहा है उसे अत्यंत ईमानदारी के साथ अपनी कविता में निरूपित भी कर दिखाया है । यो तो इस युग में अनेक आचार्यों ने व्यंग्य को काव्य का जीव माना है, पर इनके समान वे इसको व्यावहारिक नहीं बना पाए । इन्होंने इसे व्यंग्य की दृष्टि से ही उत्कृष्ट नहीं बनाया, रसपरिपाक भी इसमें इतनी स्वच्छता से हुआ है कि रस की दृष्टि से भी इसके उत्कर्ष को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । इसमें सदेह नहीं कि व्यञ्जना की क्लिष्टता के कारण रसास्वाद में व्याघात उत्पन्न होता है, पर एक बार व्यंग्यार्थ स्पष्ट हो जाने पर वह द्विगुणित हो जाता है,

यह निश्चित है। इधर अनुभूति की तीव्रता भी यद्यपि इनके काव्य में नहीं, तथापि इसमें कल्पना का उत्कृष्ट रूप और अभिव्यजना की निश्छलता किसी भी प्रकार छिपी नहीं रहती। भाषा भी व्याकरण, भावसामग्री तथा व्यंग्यार्थ के अनुरूप ही चलती है, उनमें किसी प्रकार भी की शिथिलता दृष्टिगत नहीं होती। कुल मिलाकर इनके काव्य की विशेषताओं के आधार पर यदि यह कहा जाय कि रीतिकालीन काव्य का चरमोत्कर्ष इनके बाद समाप्त हो जाता है तो असंगत न होगा। उदाहरण के लिये चार छंद देते हैं, देखिए

(१) सीख सिखाई न मानति है बर ही सब संग सखीन के आवैं ।
खेलत खेल नए जल मैं बिन काम बूथा कत जाम बितावैं ।
छोड़ के साथ सहेलिन को रहिकै कहि कौन सवादहि पावैं ।
कौन परी यह बानि अरी नित नीर भरी गगरी ढरकावैं ॥

(२) ननद जिठानी अनखानी रहै आठौं जाम,
बरबस बातन बनाय आय अरती ।
रचि रचि बचन अलीक बहु भौतिन के,
करि करि अनख पिया के कान भरती ।
कहै 'परताप' कैसे बसिए निकसिए क्यों,
मौन रहि रहिए तऊ न नेक ठरती ।
निज निज मंदिर में सौंभ ते सबेरे दीप,
मेरे केलिमदिर मे दीपकौ न धरती ।

(३) अंग अंग भूषन बिभूषन बिरचि,
जाति जोबन जवाहिर की जाहिर जगाई तै ।
चहचहे चोवा चाख चंदन अरगजा औ,
अगराग हेत कल केसर मँगाई तै ।
कहै 'परताप' दुति देह की दुरग होत,
सुरँग कुसुभी ऐसी चूनरि रँगाई तै ।
रोम्बिवारी एरी मुनि सुदरि सुजान बारी,
भाल क्यों न बेदी मृगमद की लगाई तै ॥

(४) आई रितु पावस 'प्रताप' घनघोर भारी,
सघन हरी री बन मडन बढ़ाए री ।
कोकिल कपोत सुक चातक चकोर मोर,
ठौर ठौर कुंजन में पंछी सब छाए री ।
जमुना के कूल औ कदबन की डारन पै,
चारो ओर घोर सोर मोरन मचाए री ।
एरी मेरी बीर ! अब कैसे कै मैं धरौं धीर,
आए घन स्याम, घनस्याम नहि आए री ।

१५ ग्वाल

(१) जीवनवृत्त—रीतिकाल के अंतिम चरण के कवियों में ग्वाल का अपना विशेष स्थान है। परंतु इस युग के अन्य कवियों के समान ही इनके जीवनवृत्त के सबंध में भी प्रामाणिक और प्रचुर सामग्री उपलब्ध नहीं है। श्रीप्रभुदयाल मीतल ने ग्वाल के समकालीन कवि श्रीनवनीत चतुर्वेदी और रामपुर दरबार के अमीर अहमद मीनाई की पुस्तक 'इतखाबे यादगार' के साक्ष्य पर 'ब्रजभारती' (वर्ष ६, संख्या ४) में इनके जीवन-

वृत्त पर जो तथ्य प्रस्तुत किए हैं, उन्हीं पर सतोष करना पड़ता है।^१ मीतलजी का कथन है कि हिंदी में ग्वाल नामधारी दो कवि हुए हैं—एक विक्रम की १८वीं शताब्दी में, जिनके छंद कालिदास के हजारा में देखने को मिलते हैं और दूसरे विक्रम की १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जो प्रसिद्ध और हमारे आलोच्य हैं। मीतल जी इनका जन्मसंवत् १८४८ मानते हैं। उनके अनुसार ये जाति के ब्रह्मभट्ट (वदीजन) थे तथा इनका आरम्भिक जीवन वृंदावन में और बाद का मथुरा में व्यतीत हुआ। इनके पिता का नाम सेवाराम माना जाता है, यद्यपि रसिकानंद में मुरलीधर राव भी देखने को मिलता है। इनके सबंध में यह प्रसिद्ध है कि गुरु ने रुष्ट होकर इन्हें पाठशाला से निकाल दिया था, पर बाद में किसी तपस्वी के आशीर्वाद से ये काशी आदि स्थानों में विद्याध्ययन करके अच्छे कवि बने। इनका अधिकांश जीवन राजाओं में व्यतीत हुआ। महाराज नाभा और महाराज रणजीत-सिंह के ये विशेष रूप से कृपापात्र रहे। रामपुर दरबार से भी इनका अच्छा सबंध रहा और यहीं पर संवत् १९२५ के आसपास इनका स्वर्गवास हुआ।

(२) ग्रंथपरिचय—अपने जीवनकाल में इन्होंने कितने ग्रंथ लिखे, यह कहना कठिन है, पर विद्वान् अबतक इन ९ ग्रंथों का इनके साथ सबंध जोड़ते रहे हैं—रसिकानंद (अलंकारग्रंथ), रसरंग (रचनाकाल स० १९०४), कृष्ण जू को नखशिख (रचनाकाल स० १८८४), दूषणदर्पण (रचनाकाल स० १८९१), हम्मिरहठ (रचनाकाल १८८१), गोपीपञ्चमीसी, राधाभाध्व मिलन, राधाग्रंथक और अलंकारभ्रम भजन। दुर्भाग्य से आज इनमें से कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। अलंकारभ्रम भजन का प्रकाशन सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'ब्रजभारती' में कराना आरम्भ किया था, पर केवल ७१ छंद ही छप सके। रसरंग पर मीतलजी का केवल एक परिचयात्मक लेख ही उपलब्ध है। ऐसी दशा में इतनी सामग्री और कतिपय प्रकीर्ण छंदों के आधार पर ही इनका मूल्यांकन किया जा सकता है।

अस्तु, आचार्यत्व की दृष्टि से रसरंग और अलंकारभ्रम भजन का ही विशेष महत्व है। इनमें रसरंग^२ रसविवेचन सबंधी विशालकाय ग्रंथ है। इसमें आठ अध्याय हैं जिन्हें 'उमंग' कहा गया है। प्रथम उमंग में स्थायी भावों, अनुभावों, सात्विक भावों और संचारी भावों का विस्तृत विवेचन है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ उमंगों में नायिकाभेद तथा पंचम में सखी और दूती का वर्णन है। षष्ठ में शृंगार से इतर रसों का सक्षिप्त वर्णन है। कहना न होगा कि मौलिक उद्भावना की दृष्टि से यह ग्रंथ अपने आपमें नगण्य ही है—अपने पूर्ववर्ती रीतिविवेचकों के समान इनका आधार भी मूलतः भानुदत्त की रस-मजरी और रसतरंगिणी ही कही जा सकती है। इस ग्रंथ की विशेषता केवल यह है कि रचयिता ने विषय को स्वच्छता के साथ प्रस्तुत किया है—प्रत्येक सदेहास्पद स्थल को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिये, किसी भावविशेष को कैसे जाना जाय कि यह स्थायी है अथवा संचारी, इसे स्पष्ट करते हुए वे अत्यंत विश्वास के साथ कहते हैं।

जिंह रस कौ जो थिति कह्यौ तिंह रस मै थिति जान ।

वही भाव पर रस विषै संचारी पहिचान ॥

१. ग्वाल के जीवनवृत्त की समस्त सामग्री मीतलजी के उक्त लेख के आधार पर ही दी गई है।
२. इन ग्रंथों में अलंकारभ्रमभजन को छोड़कर सबका उल्लेख आचार्य शुक्ल के इतिहास के आधार पर किया गया है।
३. रसरंग सबंधी यह विवरण 'ब्रजभारती' में प्रकाशित श्रीप्रभुदयाल मीतल के लेख के आधार पर दिया गया है।

जहाँतक अलंकारभ्रम भजन का प्रश्न है, इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह अलंकारविवेचन सबधो ग्रथ है। इसका कलेवर किना है तथा इसके अतर्गत किन किन अलंकारों का निरूपण है, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता, कारण, इसके प्रकाशित अंग में केवल चार शब्दालंकारों—अनुप्रास, यमक, चित्र और पुनरुक्तवदाभास तथा पाँच अर्थालंकारों—उपमा, प्रतीप, रूपक, परिणाम और उल्लेख का वर्णन ही देखने को मिलता है। किंतु फिर भी यह जिस उठान से आरम्भ किया गया है उस आधार पर सहज ही कहा जा सकता है कि यह रसरंग समान ही पूर्णकाय रहा होगा। इसके अतर्गत ग्वाल ने सबसे पहले भगवान् कृष्ण की वदना के व्याज से अलंकार की वदना की है। इसके पश्चात् वे अलंकार की महिमा का बखान करते हैं जो किसी संस्कृत के आचार्य से गृहीत तो नहीं कही जा सकती, पर है अत्यंत प्रसिद्ध ही, देखिए—

कविता भूषण कहत है अलंकार बहु जान ।

अलम् भाषित पूर्ण को पूरि रह्यौ अषरान ॥ २ ॥

हेमादिक भूषणन को ग्रहन उतारन होत ।

ये भूषण तन मन दियत होत न जुदौ उदोत ॥ ३ ॥

अलंकार की महिमा के अनंतर उन्होंने अलंकार का लक्षण दिया है। यह अप्रप्य दीक्षित के कुवलयानंद की वैद्यनाथ सूरि कृत 'अलंकारचंद्रिका' नामक टीका से प्रभावित तो कही जा सकती है, किंतु पूर्ण उद्धृत नहीं, कारण, वैद्यनाथ जहाँ अलंकार को रस से रहित (भिन्न), व्यंग्य से पृथक् मानते हैं, वहाँ ग्वाल ने इसे व्यंग्य से भिन्न कहा है। देखिए

रस आदिक तैं व्यंग्य ते होय भिन्नता जाहि ।

सब्दारथ तैं भिन्न है सब्दारथ के साहि ॥ ४ ॥

होइ विषय सबध करि चमत्कार कौ कर्न ।

ताही सो सब कहत है अलंकार इम बर्न ॥ ५ ॥

—अलंकारभ्रम भजन

'अलंकारत्व च रसादिभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वे सति शब्दार्थान्तरनिष्ठाया विषयिता-संबधावच्छिन्ना चमत्कृतिजनकतावच्छेदकना तदवच्छेदकत्वम्' ।

—वैद्यनाथसूरिकृत अलंकारचंद्रिका

ग्वाल के लक्षण में इस पार्थक्य का कारण मौनिकता दर्शाने का उनका प्रयत्न कहा जा सकता है। इसके साथ यह भी संभव है कि वे वैद्यनाथ सूरि की उक्त व्याख्या को ही न समझ गए हो।

जो हो, अलंकार का लक्षण देने के पश्चात् ग्वाल ने सर्वप्रथम उपमान, उपमेय आदि उन सभी शब्दों को समझाया है जिनका अलंकारशास्त्र में प्रयोग होता है और फिर अलंकारों का निरूपण किया है। शब्दालंकारों को उन्होंने पहले उठाया है। इनमें उन्होंने वक्रोक्ति को तो ग्रहण ही नहीं किया और अनुप्रास के केवल तीन भेद—छेक, वृत्ति और लाट—ही दिए हैं। संभवतः यह संकेत उन्होंने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' से ग्रहण किया है, क्योंकि वहाँ मोटे रूप से यही तीन भेद कहे गए हैं, यद्यपि उपभेदों को मिलाकर यह पाँच प्रकार का बताया गया है। वक्रोक्ति का वर्णन चंद्रालोककार ने अर्थालंकारों में किया है। हो सकता है, इन्होंने भी इसका वर्णन इसी वर्ग के अतर्गत किया हो। अर्थालंकारों में उपमा के जिन भेदों का वर्णन उन्होंने किया है वे काव्यप्रकाश, साहित्य-दर्पण, चंद्रालोक और कुवलयानंद के आधार पर ही हैं। रूपक के भेदोपभेद उन्होंने कुवला-

नद से ग्रहण किए हैं, पर सक्षिप्त रूप से ही। परिणाम अलंकार का लक्षण देने के पूर्व उन्होंने चंद्रालोक के तत्संबंधी लक्षण का खंडन किया है और फिर कुवलयानंद के लक्षण का अनुवाद स्थापना सहित प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार ग्वाल के अलंकारविवेचन के सबंध में यह कहना असंगत नहीं कि यह अपने आपमें रीतिकाल के अधिकांश कवियों के समान सस्कृताचार्यों का अधानुकरण न होकर विषय का सही निरूपण है। उनकी विवेचनशैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यथास्थान सस्कृताचार्यों का मत देकर उसे तर्क की कसौटी पर कसते हैं और अपने मत की स्थापना करते हैं। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि उनमें सस्कृत के आचार्यों की आलोचना करने का साहस और प्रतिभा दोनों थी। इनकी विवेचनशैली की दूसरी विशेषता यह है कि इन्होंने लक्षण और उदाहरण यद्यपि कुवलयानंद और चंद्रालोक की शैली पर ही दिए हैं, तथापि यदि विषय इन्हें स्पष्ट होता हुआ दिखाई नहीं दिया तो ब्रज-भाषा गद्य में उसकी व्याख्या भी कर दी है। यह डम बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस व्यक्ति ने आचार्यकर्म को अत्यंत मनोयोग के साथ ग्रहण किया है। इसी कारण यह कहने में सकोच नहीं होता कि आचार्यत्वनिरूपण की दृष्टि से ये चितामणि, कुलपति आदि की परंपरा के कवि हैं, यद्यपि इन्होंने न तो उनके समान काव्य के दशांग का निरूपण ही किया है और न उनकी सी शैली को ग्रहण किया है। यहाँ उनकी अलंकारनिरूपण शैली को स्पष्ट करने के लिये अलंकार भ्रम भजन का एक अंश देते हैं, देखिए।

अथ परिणाम, चंद्रालोक

द्वै को करै अभेद जहँ सो परिणाम कहिय ।
पिय रहस्य पूछ्यौ सुतिय मौनहि उत्तर दीय ॥ ६५ ॥
रूपक में अति व्यापती या लच्छन की जात ।
कह्यौ कुवलयानंद में कह्यो जु सो बिख्यात ॥ ६६ ॥
कुवलयानंद
परिणाम सुहित किया के बिसयी बिसय जुहोय ।
नैन सरोज प्रसन्न ते लखत तिया तन जोय ॥ ६७ ॥

वार्ता

विसयी को अर्थ आरोप्यमान अर्थात् उपमान—

तर्क

तौ लच्छन ते लच्छ यह निरुध रह्यौ सिरमौर ।
उपमेय सु उपमान द्वै किया करी इहि ठौर ॥ ६८ ॥
उपमेय सु उपमान द्वै किया करै इमि चाहि ।
कमल तिया के नैन द्वै तक्त प्रसन्न बिछाहि ॥ ६९ ॥
लिख्यौ उहाँ जु प्रगोज सो समाज बस धार ।
हारद ह्वौ कमलाच्छ है लच्छन के अनुसार ॥ ७० ॥

वार्ता

कुवलयानंद की टीका अलंकारचंद्रिका में समासाख्य लिखी है।

(३) कवित्व—जहाँतक कवित्व का प्रश्न है, ग्वाल का महत्व अपेक्षाकृत कम है। यह सत्य है कि इनकी भाषा में ओज और चमत्कार है—सस्कृत, अरबी, फारसी, पंजाबी आदि की शब्दावली का प्रयोग करने में इन्होंने तनिक भी सकोच नहीं किया, किंतु फिर भी कल्पनाविभव और चित्रयोजना का वैसा उत्कृष्ट रूप इनकी रचनाओं में उपलब्ध नहीं होता जैसा देव, पद्माकर आदि रससिद्ध कवियों के अथो में मिलता है। परवर्ती

होने के नाते इनके काव्य में इन कवियों की अपेक्षा उत्कर्ष होना चाहिए था। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि इनका समस्त काव्य हीन कोटि का है। रस का परिपाक इनमें सम्यक् रूप से हुआ है, इनकी अभिव्यजना भी कम प्रभावशाली नहीं। षट्कृतु वर्णन तो इन्होंने इतने मनोयोग के साथ किया है कि उस सीमा तक सेनापति के सिवाय ब्रजभाषा साहित्य का कोई भी कवि नहीं पहुँच सका। संक्षेप में, यद्यपि ग्वाल का काव्य भाव और अभिव्यक्ति की दृष्टि से उपादेय है, तथापि रीतिकाल के पूर्ववर्ती उत्कृष्ट कवियों का सा प्रतिभाजन्य वैशिष्ट्य कम और एक प्रकार का सस्तापन होने के कारण इनको प्रथम श्रेणी के कवियों में स्थान नहीं दिया जा सकता। उदाहरण के लिये इनके कतिपय सरस छंद उद्धृत करते हैं, देखिए

- (१) श्रीधर की गजब धुली हैं धूप धाय धाम,
गरसी झुकी है जाम नाम अति तापनी ।
भीजें खस बीजन भूलें हैं सुखात स्वेद,
गात न सुहात बात दावा सी डरापिनी ॥
'ग्वाल' कवि कहै कोरे कुसन तैं कूपन तैं,
लैं लैं जलधार बार बन मुख थापनी ।
जब पियो तब पियो अब पियो फेर अब,
पीवत हू पीवत बुझै न प्यास पापनी ॥
- (२) झूम झूम चलत चहँधा धन धूम धूम,
लूम लूम छवै छवै धूम धाम से दिखात है ।
तूल के से पहल पहल पर उठे आब्रै,
महल महल पर सहल सुहात है ॥
'ग्वाल' कवि भनत परम तम सम केत,
छम छम छम डारे बूँदे दिन रात है ।
गरज गए हैं एक गरजन लागे देखौ,
गरजत आवैं एक गरजत जात है ॥
- (३) व्याकुल बियोगिन बितावैं बुरे बासरन,
बिरह बली की आति दुखिया करी भई ।
ऐत मै अली ने कहे बचन नवीने भीने,
लागि चली सीने श्याम आवन घरी भई ॥
'ग्वाल' कवित्योही उठि अक लगी प्रीतम के,
बदन मयक जोति जाहिर खरी भई ।
मानो जरी जेठ की जलाकन ते बेलि भेलि,
अरसा बिना ही बरसा हरी भई ॥
- (४) गरकि गरकि प्रेम पारी परजक पर,
घरकि घरकि हिय हौल सो भभरि जात ।
ढरकि ढरकि जुग जघन जुटन देइ,
तरकि तरकि बंद कचुकी के करि जात ॥
'ग्वाल' कवि अरकि अरकि पिय थामै तऊ,
थरकि थरकि अंग पारे लौ बिखरि जात ।
सरकि सरकि जाय सेज पै सरोजनैनी
फरकि फरकि केलिफंद ते उछरि जात ॥

चतुर्थ अध्याय

रसनिरूपक आचार्य

(१) उपक्रम

मध्यकाल के रीति या शृंगारयुगीन साहित्य के अतर्गत रस और नायिकाभेद से संबंधित विषयो पर ग्रंथो की रचना प्रचुर मात्रा में हुई। रसो का निरूपण करनेवाले ग्रंथो में प्रधान वर्णन रसराराज शृंगार का किया गया और शृंगारवर्णन करनेवाले ग्रंथो का भी मुख्य विषय रहा नायकनायिकाभेद वर्णन। इस प्रकार समस्त रसो अथवा शृंगार रस का अकेले वर्णन करनेवाले ग्रंथो में भी अधिकतर नायिकाभेद का प्रसंग समाविष्ट हो जाता था। परंतु, इनके अतिरिक्त, नायिकाभेद का निरूपण करनेवाले स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे गए। रस संबंधी ग्रंथो में भी अधिक बल शृंगार और नायिकाभेदनिरूपण पर ही दिया गया। रस का काव्यसिद्धांत के रूप में विवेचन बहुत ही अल्पांश में प्राप्त होता है। शृंगार और नायिकाभेदवर्णन की परंपरा का ग्रहण सीधे संस्कृत साहित्य से किया गया। प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य इस दिशा में अधिक प्रेरक नहीं रहा। परंतु, एक बात ध्यान देने की यह है कि जहाँ संस्कृत के अधिकांश ग्रंथो में विषयविवेचन प्रमुख है, वहाँ हिंदी के इन ग्रंथो में लक्षणो के अनुरूप उदाहरणकाव्यरचना की भावना प्रधान है।

रस और नायिकाभेद के प्रसंग में संस्कृत ग्रंथो का आधार लेकर ही रचना की गई। इस दिशा में प्रमुखतया जिन ग्रंथो का आधार ग्रहण किया गया है वे ये हैं भरतमुनि का नाट्यशास्त्र, वात्स्यायन का कामसूत्र, रुद्रभट्ट का शृंगारतिलक, भोज के सरस्वतीकठाभरण और शृंगारप्रकाश, धनजय का दशरूपक, मम्मट का काव्यप्रकाश, भानुदत्त की रसतरंगिणी और रसमजरी, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण आदि। अधिकांशतया इनमें से एक या अनेक ग्रंथो के आधार पर लक्षण देकर स्वरचित ब्रजभाषा में उदाहरण लिखने की विशेषता से ये ग्रंथ संपन्न हैं। रस के विवेचन में तो कोई विशेष मौलिकता या नवीनता नहीं दिखलाई पड़ती, परंतु नायिकाभेद के भीतर भेदप्रभेदो में अनेक लेखको ने नए नाम रखने का प्रयत्न किया है जो भेदो का अधिक सूक्ष्म निरूपण कहा जा सकता है।

रसो के अतर्गत अधिकांश शृंगार का विस्तार से और अन्य रसो का संक्षेप में वर्णन किया गया है। शृंगार में सयोग और वियोग दोनों ही पक्षो का वर्णन मिलता है। सयोग में विभाव, अनुभाव, सचारी भावो के साथ हावो का भी वर्णन किया गया है और वियोग या विप्रलभ के प्रसंग में मान और विरह की दस दशाओ का वर्णन प्रधान है। नायिकाभेद का वर्णन विविध आधारो पर कवियो ने किया है और अधिकांशतया भानुदत्त की रसमजरी की परिपाटी ही उन्होंने अपनाई है। यह कहा जा सकता है कि इन रस और नायिकाभेद संबंधी ग्रंथो से विषय के शास्त्रीय विवेचन का विकास तो नहीं हुआ, परंतु, इसमें कोई संदेह नहीं कि इसी बहाने शुद्ध काव्यपद्धति पर सुंदर, ललित और मनमोहक तथा स्मरणीय कविता की पंक्तियो का प्रणयन हुआ और ब्रजभाषा का कलात्मक सौंदर्य पूर्णतया निखर आया।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, रस के भीतर शृंगार और उसके भीतर नायिकाभेद का वर्णन इन ग्रंथो में आ ही जाता है, अतः इन ग्रंथो के एक दूसरे से नितांत भिन्न

वर्ग स्थापित नहीं किए जा सकते । परंतु अध्ययन की सुविधा और एक दृष्टि में देख लेने के उद्देश्य से इन ग्रंथों के तीन वर्ग किए जा सकते हैं

- (क) प्रथम वर्ग—समस्त रसों का निरूपण करनेवाले ग्रंथ,
 (ख) द्वितीय वर्ग—केवल शृंगार रस का निरूपण करनेवाले ग्रंथ और
 (ग) तृतीय वर्ग—केवल नायिकाभेद पर लिखे गए ग्रंथ ।

इनमें से प्रत्येक वर्ग की सूची यहाँ दी जाती है

(क) सर्वरसनिरूपक ग्रंथ

| लेखक | ग्रंथ | रचनाकाल |
|------------------------|------------------------|---------------------|
| १—बलभद्र मिश्र | रसविलास | स० १६४० वि० के लगभग |
| २—केशवदास | रसिकप्रिया | „ १६४८ „ |
| ३—ब्रजपति भट्ट | रगभावमाधुरी | „ १६८० „ |
| ४—तोष | सुधानिधि | „ १६६१ „ |
| ५—तुलसीदास | रसकल्लोल | „ १७११ „ |
| ६—गोपालराम | रससागर | „ १७२६ „ |
| ७—सुखदेव मिश्र | रसरत्नाकर व रसार्णव | „ १७३० „ के लगभग |
| ८—देव | भावविलास | „ १७४६ „ |
| ९—श्रीनिवास | रससागर | „ १७५० „ |
| १०—लोकनाथ चोबे | रसनरग | „ १७६० „ |
| ११—बेनीप्रसाद | रसशृंगार समुद्र | „ १७६५ „ |
| १२—श्रीपति | रससागर | „ १७७० „ |
| १३—याकूब खाँ | रसभूषण | „ १७७५ „ |
| १४—भिखारीदास | रससारांश | „ १७६१ „ |
| १५—रसलीन | रसप्रबोध | „ १७६८ „ |
| १६—गुरुदत्तमिह (भूपति) | रसरत्नाकर, रसदीप | „ १८वीं शती का अंत |
| १७—रघुनाथ | काव्यकलाधर | „ १८०२ वि० |
| १८—उदयनाथ कवींद्र | रसचंद्रोदय | „ १८०४ „ |
| १९—शङ्खनाथ | रसकल्लोल, रसतरंगिणी | „ १८०६ „ |
| २०—समनेस | रसिकविलास | „ १८२७ „ |
| २१—शिवनाथ | रसवृष्टि | „ १८२८ „ |
| २२—दौलतराम उजियारे | रसचंद्रिका, जुगलप्रकाश | „ १८३७ „ |
| २३—रामसिंह | रसनिवास | „ १८३६ „ |
| २४—सेवादास | रसदर्पण | „ १८४० „ |
| २५—बेनी बदीजन | रसविलास | „ १८४६ „ |
| २६—पद्माकर | जगतविनोद | „ १८६७ „ |
| २७—बेनी प्रवीन | नवरसतरंग | „ १८७४ „ |
| २८—करन कवि | रसकल्लोल | „ १८६० „ |
| २९—नवीन | रगतरंग | „ १८६६ „ |
| ३०—चंद्रशेखर | रसिकविनोद | „ १९०३ „ |
| ३१—ग्वाल कवि | रसरंग | „ १९०४ „ |

(ख) शृंगारनिरूपक ग्रंथ

| | | |
|--------------------|-----------------|------------------|
| १-मोहनलाल | शृंगारसागर | सं० १६१६ वि० |
| २-सुंदर कवि | सुंदरशृंगार | " १६८८ " |
| ३-मतिराम | रसरंज | " १७२० " के लगभग |
| ४-मंडन | रसरत्नावली | " १७२० " |
| ५-सुखदेव मिश्र | शृंगारलता | " १७३३ " |
| ६-देव | भवानीविलास | " १७५० " |
| ७-कृष्णभट्ट देवऋषि | शृंगाररस गाधुरी | " १७६६ " |
| ८-आजम | शृंगाररस दर्पण | " १७८६ " |
| ९-सोमनाथ | शृंगारविलास | " १७९५ " |
| १०-उदयनाथ | रसचंद्रोदय | " १८०८ " |
| ११-भिखारीदास | शृंगारनिर्णय | " १८०७ " |
| १२-चंददास | शृंगारसागर | " १८११ " |
| १३-शोभा कवि | नवलरस चंद्रोदय | " १८१८ " |
| १४-देवकीनंदन | शृंगारचरित | " १८४१ " |
| १५-लाल कवि | विष्णुविलास | " १८५० " |
| १६-भोगीलाल दुबे | बखतविलास | " १८५६ " |
| १७-यशवतसिंह | शृंगारशिरोमणि | " १८५६ वि० |
| १८-वशमणि | रसचंद्रिका | " अज्ञात |
| १९-कृष्ण कवि | गोविंदविलास | " १८६३ वि० |

(ग) नायिकाभेद ग्रंथ

| | | |
|-------------------|---------------------|--------------------|
| १-कृपाराम | हिततरंगिणी | सं० १४९८ वि० |
| २-सूरदास | साहित्यलहरी | " १६०७ " |
| ३-रहीम | बरवै नायिकाभेद | " १६५० " |
| ४-नंददास | रसमजरी | " १६५० " |
| ५-शम्भुनाथ सोलंकी | नायिकाभेद | " १७०७ " |
| ६-चिंतामणि | शृंगारमजरी | " १७१० " के लगभग |
| ७-देव | जातिविलास, रसविलास | " १७६० " " |
| ८-कालिदास | बधूविनोद | " १७४९ " |
| ९-कुंदन | नायिकाभेद | " १७६२ " |
| १०-केशवराम | नायिकाभेद | " १७५४ " |
| ११-बलवीर | दपतिविलास | " १७५६ " |
| १२-खड्गाराम | नायिकाभेद | " १७६५ " |
| १३-रंग खॉ | नायिकाभेद | " १८४० " |
| १४-ग्रशोदानंदन | बरवै नायिकाभेद | " १८७२ " |
| १५-जगदीशलाल | ब्रजविनोद नायिकाभेद | " १९वीं शती का अंत |
| १६-गिरिधरदास | रसरत्नाकर | सं० " |
| १७-अज्ञात | नायिकाभेद | अज्ञात |

(२) विषयप्रवेश

रस और नायिकाभेद पर ग्रंथ लिखने की परंपरा प्रमुखतया रीतियुग में विकसित हुई। इस युग (सं० १७०० से १९०० वि० तक) में इन विषयों को लेकर हिंदी में बहु-

संख्यक ग्रंथ लिखे गए। इन सब ग्रंथों का विवरण आज भी हमें पूर्णतया प्राप्त नहीं हो पाया है। फिर भी अनुमान इस बात का होता है कि भक्ति, वीर और शृंगार इन तीनों रसों पर लिखनेवाले अधिकांशतया इस युग के कवियों ने रस और नायिकाभेद पर कुछ न कुछ अवश्य लिखा। कुछ फुटकल ग्रंथ रीतियुग के पूर्व भी लिखे गए जिन्हें हम प्रायः इस नवीन परंपरा का प्रारंभिक रूप कह सकते हैं। कृपाराम कृत हिततरंगिणी का नाम इस प्रसंग में सबसे प्रथम आता है। इसकी रचना स० १५६८ में हुई और इसका विषय था नायिकाभेद। वल्लभसंप्रदायी कृष्णभक्त और अष्टछाप के दो प्रसिद्ध कवियों—सूरदास और नंददास—ने भी नायिकाभेद पर थोड़ा बहुत लिखा ही। सूर की साहित्य-लहरी में ग्रन्थप्रत्यक्ष रूप से तथा नंददास की रसमंजरी में प्रत्यक्ष रूप से नायिकाभेद का वर्णन हुआ है। रहीम ने अपने बरवै नायिकाभेद में बरवै छंदों में नायिका का वर्णन किया है।

रस और नायिकाभेद पर ही नहीं, वरन् काव्यशास्त्र और रीतिपरंपरा पर दृढ़ता से पदन्यास करनेवाले दो परिवार हैं। प्रथम आचार्य केशवदास का और द्वितीय आचार्य चिंतामणि त्रिपाठी का। आचार्य केशवदास ने स्वयं तो कविप्रिया समस्त काव्यांगों पर और रसिकप्रिया रस और नायिकाभेद को लेकर लिखी है, परन्तु इसके साथ ही साथ केशवदास के बड़े भाई बलभद्र मिश्र ने इस रीतिपरंपरा से संबंधित दो ग्रंथ लिखे—एक शिखनख और द्वितीय रसविलास। रसविलास में रसों का वर्णन अपनी विशेषता लिए हुए है। रसविलास को बलभद्र ने महाकाव्य कहा है। इसमें वर्णन सचारी, ललित और स्थायी भावों का ही हुआ है। रस का स्वतंत्र वर्णन नहीं है, परन्तु इन वर्णनों के अनेक उदाहरण रसपूर्ण हैं। इनकी रचना में शब्दों पर विलक्षण अधिकार तथा पांडित्य दिखलाई पड़ता है। अपने ग्रंथ के संबंध में इन्होंने लिखा है

पूषन भूषन दिवस को, निसि भूषन ससि जानि ।

भूषन रसिक सभानि को, रसविलास कवि मानि ॥ ६ ॥

इस ग्रंथ में आठ सात्विक भाव, बत्तीस सवारी भाव और बीस ललित भावों का वर्णन हुआ है। इन ललित भावों में कुछ नो हाव हैं और कुछ अनुभाव। विभाव का वर्णन भी इसमें अपने निजी ढंग पर है। इसके भीतर प्रतिभाव, सुभाव, काकु, व्यंग्य, अन्योक्ति, सभाव, विभाव, कलहानरित, जुगुति, अभाव, सुषसंचित आदि का वर्णन है। वर्णन की यह परंपरा आगे गृहीत नहीं हुई। यही बात केशवदास की कविप्रिया और रसिकप्रिया के लिये भी कुछ अंशों तक कही जा सकती है। दूसरे परिवार में चिंतामणि, भूषण और मतिराम आते हैं जो त्रिपाठीवधु के नाम से प्रसिद्ध हैं। काव्यांगों का सबसे पुष्ट विवेचन चिंतामणि का है। भूषण ने केवल अलंकारों का रीतिबद्ध वर्णन किया है और मतिराम ने अलंकार और शृंगार तथा नायिकाभेद का। चिंतामणि ने नायिकाभेद पर अलग शृंगार-मंजरी लिखी। अन्य ग्रंथ काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, चंद्रालोक आदि की पद्धति पर हैं और यही पद्धति आगे के रीतिकवियों द्वारा ग्रहण की गई।

रीतियुग का प्रारंभ चिंतामणि से ही माना जाता है। केशवदास का समय भक्तियुग में है। इन दोनों के बीच ग्राहजहाँ के दरबारी 'महाकवि' उपाधिभूषित सुंदर कवि का सुंदरशृंगार स० १७८८ वि० में लिखा गया, जाया तो इस युग के पूर्व पड़ जाता है, पर प्रवृत्ति की दृष्टि से है वह रीतियुग की ही एक कड़ी। इसमें शृंगार, नायिकाभेद और नखशिख दोनों का ही वर्णन हुआ है। नायिकाभेद भानुदत्तकृत रसमंजरी के आधार पर है। लक्षण इसमें दोहा या दोहरा छंद में तथा उदाहरण कवित्त और सर्वेयों में दिए गए हैं। इसके लक्षण स्पष्ट हैं तथा उदाहरण सरस एवं कवि की रसिकता के परिचायक हैं।

सुंदरशृंगार के बाद रस और नायिकाभेद पर कोई महत्वपूर्ण ग्रंथ चिंतामणि के पहले नहीं प्राप्त होता। चिंतामणि के साथ ही रीतियुग की रसनायिकाभेद ग्रंथों की

परंपरा प्रारंभ होती है। इन ग्रंथों का प्रेरणास्रोत प्रधानतया केशवदासकृत रसिकप्रिया ग्रंथ है परंतु उसका आधार पूर्णतया ग्रहण नहीं किया गया। संस्कृत साहित्य के इस रस और नायिकाभेद पर लिखे गए ग्रंथ ही इन ग्रंथों के आधार थे, जैसा पहले कहा जा चुका है।

आगे के पृष्ठों में हम (क) सर्वरसनिरूपक ग्रंथ, (ख) शृंगाररस ग्रंथ तथा (ग) नायिकाभेद ग्रंथ—इस क्रम से इस युग के रस एवं नायिकाभेद साहित्य का परिचय दे रहे हैं।

(३) सर्व रस निरूपक आचार्य और उनके ग्रंथ

१, केशवदासकृत रसिकप्रिया

केशवदास का जीवनवृत्त और उनकी रसिकप्रिया का विवेचन, सर्वांगनिरूपक प्रसंग में यथास्थान दिया गया है।

२ तोष का सुधानिधि

केशवदास के बाद समस्त रसों का वर्णन करनेवाला तोष का सुधानिधि ग्रंथ है। यह ग्रंथ स० १६९१ वि० की रचना है। ५६० छंदों में यह ग्रंथ पूर्ण हुआ है। तोष कवि सिंगरौर के रहनेवाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। इसमें रसवर्णन के बहाने राधाकृष्ण की विलासलीलाओं का वर्णन है। अतः यह स्पष्ट ही है कि इसमें प्रयत्न काव्यात्मक है, शास्त्रीय विवेचन का नहीं। इसमें नवरसों, भावों के वर्णन के साथ ही भावोदय, भावशांति भावशबलता, भावसंधि, रसाभास, रसदोष, वृत्ति एवं नायिकाभेद का वर्णन किया गया है। सखासखीभेद भी विस्तार से वर्णित है और हावों का वर्णन कवित्वपूर्ण है। रसवर्णन के समस्त प्रसंग इस ग्रंथ में सम्मिलित हैं। इसमें लक्षण दोहों में तथा उदाहरण दोहा, कवित्त, सवैया, छप्पय आदि छंदों में दिए गए हैं। इनका काव्य बड़ा ही ललित है। तोष की रचना में भाषा का प्रवाह और आलंकारिक सौंदर्य है। इनकी रचना में उक्तिचमत्कार और सरसता बहुत कुछ रसखान की कविता के समान है। वर्णमैत्रो, यमक, अनुप्रास आदि के साथ सहज रूप से रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार भी उसमें समाविष्ट हैं। एक ही उदाहरण इसे स्पष्ट कर देगा

तो तन में रवि को प्रतिबिम्ब परे किरनैं सो घनी सरसाती ।

भीतर ही रहि जाति नहीं, अँखियाँ चकचोधि हैं जाति हैं राती ॥

बैठि रहौ बलि कोठरी में कहि तोष करौ बिनती बहु भंती ॥

सारसी नैन लै आरसी सो अँग काम कहा कढ़ि धाम में जाती ॥

इसके उपरांत १८वीं शती के प्रारंभ में लिखे गए तुलसीदासकृत रसकल्लोल (स० १७११) और गोपालराम कृत रससागर (स० १७२६) प्राप्त नहीं हो सके।

केशवदास के बाद रीतियुग के प्रारंभ में रस का सर्वांग निरूपण करनेवाले अनेक ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें समस्त काव्यशास्त्र के निरूपण के बीच रसवर्णन का भी प्रसंग है। चिंतामणि, सूरति, कुलपति, श्रीपति आदि के ग्रंथ इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं जिनका विवरण यथास्थान दिया गया है। परंतु केशव की रसिकप्रिया के समान सभी रसों का विवेचन करनेवाला इन लोगों का स्वतंत्र ग्रंथ प्राप्त नहीं है। पिंगलाचार्य सुखदेव मिश्र ने छंद और काव्यशास्त्र पर अनेक ग्रंथ लिखे हैं। उनका एक ग्रंथ रसरत्नाकर रसों का निरूपण करनेवाला स्वतंत्र ग्रंथ है।

३ सुखदेवकृत रसरत्नाकर और रसाण्व

सुखदेव मिश्र कपिला के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। मिश्रबंधुओं ने इनका

समय स० १६६० से स० १७६० तक माना है। इनके वंशधर अब भी दौलतपुर में विद्यमान हैं। इन्होंने अनेक स्रोतों से विद्याध्ययन किया था। काशी में इन्होंने साहित्य और तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया था। ये कई राजाओं के आश्रय में रहे। असोथर (जिला फतेहपुर) के राजा भगवतराय खीची, डौडियाखेरे के राव मर्दनसिंह, औरंगजेब के मंत्री फाजिलअली, अमेठी के राजा हिम्मतसिंह आदि से इन्हें समान प्राप्त हुआ। इनको कविराज की उपाधि अलहयार खाँ ने प्रदान की थी। इनके अधिकांश ग्रंथ छंदों पर हैं। रचित ग्रंथों की सूची इस प्रकार है—वृत्तविचार (१७२८), छंदविचार, फाजिलअली प्रकाश, अध्यात्मप्रकाश, रसार्णव, शृंगारलता आदि। इनके अतिरिक्त काशी नागरीप्रचारिणी सभा में इनका समस्त रसों का विवेचन करनेवाला ग्रंथ रसरत्नाकर भी है। इसकी प्रति खंडित है और प्रारंभ के ११ छंद नहीं हैं।

रसरत्नाकर में सर्वप्रथम नायिकाभेद का वर्णन है जिसका आधार भानुकृत रसमजरी है। केवल भेदप्रभेदों में कुछ नवीनता इसमें कहीं कहीं मिलती है। जैसे इन्होंने लक्षिता के पहला, दूसरा, तीसरा कहकर तीन भेद कर दिए हैं, नायकवर्णन भी उसी प्रकार का है। दर्शन, सखी, वृत्ति आदि का वर्णन करने के बाद भावों, हावों और रसों का वर्णन है। रसों का वर्णन शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत के क्रम से है। इसके बाद संचारी भावों का वर्णन है और अंत में सात्विक भावों का नामोल्लेख मात्र है। सभी वर्णन दोहा छंदों में हैं। ग्रंथ की प्रतिलिपि स० १८६२ में की हुई है। इसका रचनाकाल १७३० के आसपास मानना चाहिए।

रसार्णव—सुखदेव का दूसरा ग्रंथ है रसार्णव। यह डौडियाखेरे के राव मर्दनसिंह की आज्ञा से रचा गया था। इसमें भी नवरसों और नायिकाभेद का वर्णन है। काव्य की दृष्टि से यह उत्तम और रसराज के समान है। शृंगार रस और नायिकाभेद का वर्णन तो इसमें विस्तार के साथ है, परंतु अन्य रसों का वर्णन अत्यल्प है। रसार्णव की मुद्रित प्रति टीकमगढ़ के राज पुस्तकालय में है।

इनके अन्य ग्रंथ छंद या काव्यांगों पर विचार करनेवाले हैं। शृंगारलता प्राप्त नहीं हो सकी। अनुमानतः यह शृंगार रस का वर्णन करनेवाली पुस्तक होगी।

सुखदेव मिश्र का काव्य ओज, सरसता और कल्पना से पूर्ण है। ये पिगलाचार्य के रूप में प्रसिद्ध हुए, क्योंकि इन्होंने छंदशास्त्र पर कई पुस्तकें लिखी थीं। इनकी शैली सहज भावमयी है जिसमें आलंकारिकता का पुट अधिक नहीं है। दृश्ययोजना इनके छंदों में प्रायः देखी जाती है। इनकी उपमाएँ कहीं कहीं बड़ी स्वाभाविक और प्रकृत रूप में आई हैं। एक उदाहरण है

जोहैं जहाँ मगु नंदकुमार तहाँ चली चंद्रमुखी सुकुमार है।
मोतिन ही को कियो गहनो सब फूल रही जनु कुंद की डार है।
भीतर ही जू लखी सु लखी अब बाहिर जाहिर होति न दार है।
जोन्है सी जोन्है गई मिलि यो मिलि जात ज्यौ दूध में दूध की धार है ॥

४ करन कवि कृत रसकलोल

करन कवि पन्नानरेश हिंदूपति के यहाँ थे। ये षट्कुल, भास की गोत्रीय पांडेय थे। इनके पिता का नाम श्रीधर था। इनके लिखे दो ग्रंथों—रसकलोल और रसकलली साहित्य-रस का उल्लेख मिलता है। रसकलली की प्रति काशी नागरीप्रचारिणी सभा में है। इसके एक छंद में करुण रस के उदाहरण के रूप में छत्रसाल की मृत्यु का उल्लेख है तथा

अन्य छंदों में भी छत्तसाल, छत्ता आदि शब्दों द्वारा छत्तसाल की प्रशंसा की गई है, जैसे वीभत्स के इस प्रसंग में

तेग तरल छत्तसाल की, कतरति संगर जौन ।

जुरि जोगिनि करि कुंभ ते, पियहि गले लगि सोन ॥ ७३ ॥

इन्होंने स्वयं लिखा है कि हमने भरत मत के अनुसार रस का वर्णन किया है । रसों का वर्णन बड़ा ही सागोपाग है । उनके रंगों, देवताओं, विभाव, अनुभाव, सचारी आदि का उल्लेख है ।

रसकल्लोल में रसवर्णन के साथ ही शब्दशक्ति और वृत्ति का भी वर्णन संक्षेप में किया गया है । रीति के संबंध में इनका मत है

रीति चारिहूँ देस की, सो समास ते होइ ।

भाषा मैं याते न मैं, बरनी सुनि कवि लोइ ॥ २४४ ॥

रसकल्लोल की प्रति का लिपिकाल स० १८९० लिखा है । इसका रचनाकाल १७५७ के आसपास मानना चाहिए ।

कवि के रूप में करन सफल कलाकार हैं । इनकी रचनाओं में आलंकारिक प्रवृत्ति विशेष परिलक्षित होती है । यमक, अनुप्रास आदि के साथ काव्यगुणों का समावेश है । रचना प्रवाहमयी एवं स्मरणीय है । भावानुकूल शब्दावली का चयन बड़ा प्रभावकारी है । रीतिकालीन प्रवृत्ति के पूर्ण दिग्दर्शन इनके काव्य में होते हैं । उदाहरणार्थ :

षल षंडन मंडन धरनि, उद्धत उद्धित उदंड ।

दल डंडन दाउन समर. हिंदुराज भुजडंड ।

सरद चंद सारद कमल, भारद होत बिसेषि ।

छबि छलकत झलकत बदन, ललकत मुनिमन देषि ॥

५. कृष्णभट्ट देवऋषि कृत शृंगाररस माधुरी

कृष्णभट्ट देवऋषि के संबंध में अधिक विवरण प्राप्त नहीं हो सका । इनका 'शृंगाररस माधुरी' ग्रंथ समस्त रसों का वर्णन करता है । यह बिंदवती के राजा बुद्धिसिंह जी देव की आज्ञा से स० १७६९ में रचा गया । लेखक प्रतिभासपन्न कवि और आचार्य हैं । मगलाचरण के बाद बिंदवती नगरी का वर्णन करता हुआ कवि कहता है

सब भूपति बंस सिरै अवतस सदा सिव अंस नरिंदवती ।

महिमान महिम्मति हिम्मति की हृद किम्मति की हृद हिंदवती ।

सुष सौं सरसी सरसी सरसी सरसीरूह सौरभ बृंदवती ।

गुन सौं अगरी सगरी नगरी अधिराज विराजत बिंदवती ॥ ७ ॥

ग्रंथपरिचय और वर्णनक्रम देते हुए कवि ने लिखा है :

करौ पहिलै रस कौं निरधार धरौ पुनि भाव विभाव बखानौं ।

फेरि करौं अनुभाव निरूपन भाव सबै व्यभिचारी वितानौं ।

काबिने पंथन कोरिक ग्रंथ महोदधि मंथ असी उर आनौ ।

अस्व पसिगार महारस माधुरी भूषन जानौं न दूषन जानौं ॥ १० ॥

इस प्रकार शृंगार के महारसत्व की प्रतिष्ठा कवि ने की है । कवि ने 'लाल' का प्रयोग उपनाम के रूप में किया है । सबसे पहले शृंगार रस का वर्णन सयोग, विप्रलभ, दो भेदों में किया है । इनके भेद प्रच्छन्न और प्रकाश इन दो रूपों में है । काव्य के उदा-

हरण इनके अत्यंत सुंदर है। शब्द पर विलक्षण अधिकार और समृद्ध कल्पना का वैभव इनके उदाहरणों से प्रमाणित होता है। विप्रलम्भ शृंगार का एक उदाहरण है

परचौ ब्रज बालन मे बिरह अचानक ही बाढे नेह गिरिधर लाल गुनरसी कौ ।
देखि देखि कुजन के आले पाल सूखि परे कूँकि परे जौर कोइलानि रगमसी कौ ॥
भौर भटकाने चपा चित अटकाने वै गुलाब चटकाने जब लेख्यौ जगजसी कौ ।
पीरी परि प्रात लो जुन्हैया मुरझाइ गई कारौ परि हियरा सिराइ गयो ससी कौ ॥२०॥

कवि की उपाधि 'कविकोविदब्रजामणि सकलकलानिधि' थी। प्रथम स्वाद में शृंगार के दोनो भेदों का वर्णन है। द्वितीय स्वाद में नायकभेद वर्णन है। नायक के चार भेदों के प्रच्छन्न और प्रकाश, ये दो भेद किए गए हैं। तृतीय स्वाद में नायिकाभेद है। पहले पद्मिनी, चित्रांगी, हस्तिनी, शखिनी आदि का वर्णन है। फिर स्वकीया आदि भेद है। स्वकीया के नवलवधू, नवयौवना, नवलग्रनगा, लज्जाप्रायरता भेद हैं। प्रोढा के भेद समस्तरसकोविदा, विचित्रविभ्रमा, आक्रामित नायिका, लब्धामति प्रोढा है। ये भेद इनके नए हैं और परंपरा से अलग हैं, परकीया के ऊढा, अनूढा भेद परंपरागत हैं।

चतुर्थ स्वाद में साक्षात् दर्शन (प्रच्छन्न और प्रकाश), चित्तदर्शन (प्रकाश, प्रच्छन्न), स्वप्नदर्शन (प्रच्छन्न, प्रकाश) का नायक और नायिका दोनों के प्रसंगों में वर्णन है।

पंचम स्वाद में दूती का वर्णन है। सखी के प्रति नायक नायिका (कृष्ण, राधा) की प्रच्छन्न प्रकाश चेष्टाओं का वर्णन है। स्वयंदूतत्व राधा और कृष्ण का भी प्रच्छन्न और प्रकाश रूप में वर्णित है। मिलन के भेद भी इसमें वर्णित हैं, जैसे प्रथम मिलन, सहेली के घर मिलन, धाय के घर मिलन, सूने घर का मिलन, निसिचार का मिलन, अतिभय का मिलन, उत्सव का मिलन, व्याधि के मिस मिलन, न्योते के मिस मिलन, जलविहार, वनविहार आदि में मिलन, आदि।

छठे स्वाद में भाव, स्थायी भाव, सात्विक भाव, सचारी भाव है। इनके लक्षणों को अलंकारकलानिधि में देखने का निर्देश है जो इनका रचना हुआ दूसरा ग्रंथ जान पड़ता है। हाव आदि का वर्णन इसके बाद है।

सातवें स्वाद में स्वाधीनपतिका आदि नायिका के आठ भेदों का प्रच्छन्न प्रकाश रूप में वर्णन है। अभिसारिका के प्रेमाभिसारिका, गर्वाभिसारिका और सकामा तीन भेद और है। उत्तम, मध्यम, अधम नायिकाओं का भी इसी में वर्णन किया गया है।

आठवें स्वाद में विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन है। इसमें पूर्वानुराग (प्रच्छन्न और प्रकाश) नायक और नायिका दोनों ही का वर्णित हुआ है। पूर्वानुराग को दश दशाओं में रखकर वर्णन करना इनकी विशेषता है। इसके बाद नवें स्वाद में मान का वर्णन है। यह भी प्रच्छन्न प्रकाश तथा प्रिया और प्रेमी के भेदों में विभक्त है।

दसवें स्वाद में मानमोचन का वर्णन है। सामोपाय, दामोपाय, भेदोपाय, प्रणति, उपेक्षा, प्रसंग विध्वंस, दडोपाय, मानमोचन उपायों का नायक और नायिका दोनों भेद में वर्णन है।

ग्यारहवें स्वाद में कर्ण विप्रलम्भ का वर्णन है। इसी में प्रवास का भी वर्णन आया है। ये सब प्रच्छन्न और प्रकाश भेदों में कहे गए हैं। इसमें पाती (पत्नी) का भी वर्णन है।

बारहवें स्वाद में सखियों का वर्णन हुआ है। इनमें धाय, जनी, नाइन, नटिनी, परोसिन, मालिन, बरइन, शिल्पिन, चुरिहेरिन, सुनारिन, रामजनी, सन्यासिन, पटविन का वर्णन किया गया है। इन सबके उदाहरण बड़े सुंदर हैं।

तेरहवें स्वाद में द्वतीकर्म का वर्णन है।

चौदहवें स्वाद में हास और उसके भेद—मदहास, कलहास, अतिहास, परिहास—का वर्णन है। करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, सम (शांत) रसों का शृंगार के रूप में वर्णन किया गया है।

पंद्रहवें स्वाद में वृत्तियों का वर्णन है। वृत्तियों में जो रस आते हैं उनका विस्तार से इसमें वर्णन है।

सोलहवें स्वाद में अनरस का वर्णन है। ये रसदोष हैं जो प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दुस्सधान, पात्तादुष्ट हैं। यह वर्णन केशव के रसदोष वर्णन से साम्य रखता है। ग्रंथ केशवदास की रसिकप्रिया के आधार पर है। इस प्रकार सोलह स्वादों में शृंगाररस-माधुरी ग्रंथ समाप्त हुआ है। रसविवेचन और कवित्व, दोनों दृष्टियों से इसका महत्व है। यह देवऋषि का उत्कृष्ट आचार्यत्व और कवित्वशक्ति प्रमाणित करता है।

इसके बाद देव की कृति भावविलास में यद्यपि रस का सामान्य विवेचन है, पर प्रधान उद्देश्य शृंगार को ही प्रमुख रस मानकर उसी का वर्णन करना है, अतः इसका विवरण शृंगार रस के प्रसंग में ही दिया गया है। इसी समय के आसपास श्रीनिवास का रससागर (सं० १७५०), लोकनाथ चौबे कृत रसतरंग (सं० १७६०), बेनीप्रसाद का रसशृंगार समुद्र (सं० १७६५) तथा श्रीपति का रससागर (सं० १७७०) आदि रचनाएँ रस का वर्णन करनेवाली हैं, परन्तु ये देखने को नहीं मिल सकी।

६. याकूब खाँ का रसभूषण

याकूब खाँ का और विवरण प्राप्त नहीं है, केवल उनके ग्रंथ रसभूषण का नाम ही मिलता है। रसभूषण का रचनाकाल सं० १७७५ वि० है, जैसा मिश्रबधुओं का मत है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें रस, नायिकाभेद और अलंकार का वर्णन साथ साथ चलता है। उपमा के साथ नायिका, लुप्तोपमा के साथ स्वीया आदि का वर्णन है। इस ग्रंथ में लक्षणों और उदाहरणों को टीका में स्पष्ट भी किया गया है। नायिकाभेद के बाद स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव का वर्णन है और उसके पश्चात् नवरसों का विवरण दिया गया है। इनके भेदों का भी उल्लेख है। याकूब खाँ ने हास्य के मृदुहास, मदहास, और अट्टहास अतिहास ये चार प्रकार दिए हैं। रौद्र के साथ भावोदय और अद्भुत के साथ यमकालंकार का वर्णन दिया गया है। इस ग्रंथ का महत्व प्रणाली की नवीनता में ही माना जा सकता है। जहाँ तक विवेचन का प्रश्न है, कोई गंभीरता इसमें नहीं है। लक्षण उदाहरण दोहा और सोरठा छंदों में हैं। काव्य की दृष्टि से ग्रंथ साधारण महत्व का है।

७. भिखारीदास कृत रससाराश और शृंगारनिर्णय

दास सर्वांगनिरूपक कवि है, अतः इनका जीवनवृत्त तथा इनके रसनिरूपक ग्रंथों का विवेचन उसी प्रसंग में यथास्थान दिया गया है।

८. सैयद गुलाम नबी 'रसलीन'

(१) कविपरिचय—सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' प्रसिद्ध नगर बिलग्राम (जिला हरदोई) के निवासी थे। बिलग्राम कवियों के लिये उर्वर भूमि है। इस नगर में हिंदी में लिखनेवाले अनेक मुसलमान कवि हुए हैं। इन कवियों में सर्वप्रसिद्ध 'रसलीन' है। बिलग्राम के रहनेवाले अन्य पूर्ववर्ती कवि शेख शाहमहम्मद फर्मली, सैयद निजामुद्दीन 'मदनायक', दीवान सैयद रहमतुल्लाह तथा मीर अब्दुलजलील 'बिलग्रामी' थे। मीर जलील की रचना तो रहीम के दोहों से टक्कर लेती है। ये बड़े उदात्तचरित्र तथा असाधारण योग्यतावाले

व्यक्ति थे। फारसी के कुछ सुंदर शृंगार रस पूर्ण छंदों का इन्होंने हिंदी में अनुवाद भी किया था। इन्हीं मीर जलील के भाजे रसलीन थे। रसलीन के पिता का नाम सैयद मुहम्मद बाकर था। ये हुसैनी परंपरा के थे। इनके गुरु का नाम मोर तुफेलग्रहमद था और मीर जलील से इन्होंने हिंदी काव्यरचना की प्रेरणा प्राप्त की थी। रसलीन केवल कवि ही नहीं थे, वरन् एक सुयोग्य सैनिक, तीरदाज और घुड़सवारी में निपुण व्यक्ति थे। ये संगीतज्ञ भी थे। इन्होंने फारसी में भी रचना की थी। सैयद गुलाम नबी का जन्म स० १७४७ के लगभग माना जाना चाहिए। ये नवाब सफदरजंग की सेवा में काम करते थे। आगरा के समीप नवाब सफदरजंग की सेना और पठानों में जो युद्ध हुआ था उसी में ये मारे गए थे। इनका मृत्युसमय सन् ११६३ हि० (१८०७ वि०) है। गुलाम नबी रसलीन की रची हुई दो पुस्तकें रीतिपरंपरा की मिलती हैं—अगदर्पण और रसप्रबोध।

अगदर्पण—यह नखशिख वर्णन करनेवाली रचना है। नखशिख सौंदर्य वर्णन नायिकाभेद का अंग माना जाता है। अगदर्पण की रचना सवत् १७६४ वि० में हुई थी। नखशिख नाम से कुछ लोग इनकी अलग रचना का उल्लेख करते हैं, परंतु वह यही अगदर्पण ग्रंथ ही है। अगदर्पण में कुल १८० दोहे हैं जिनमें अंतिम तीन उपसंहार के और प्रथम दो मंगलाचरण के दोहे हैं। यह अगदर्पण लिखने का प्रयत्न रसलीन ने ब्रजभाषा सीखने के लिये किया था, जैसा निम्नांकित दोहे से प्रकट है

ब्रजबानी सीखन रची, यह रसलीन रसाल।

गुन सुबरन नग अरथ लहि, हिय धरियो ज्यौ माल ॥ १७८ ॥

अगदर्पण में क्रमशः बाल, बेनी, जूरा, माँग, टीका, बिंदी, आड खौर, श्रवण, श्रवणाभूषण, भौह, पलक, बरुनी, नेत्र, पुतरी, कोयन, काजर, चितवन, कटाक्ष, कपोल, शीतलादाग, स्वेदकण, अलक, नासा, नथ, लटकन, अधर, तमोल, दसन, मुसुकान, हास, रसना, बानी, मुखनास, चिबुक, मुखमंडल, ग्रीवा, कठाभूषण, बाँह (कराभूषण), अँगुरी, गात, अगवास, कुच, कचुको, रोमावली, त्रिबली, नाभि, नीबी, किकिनी, पीठ, कटि, नितब, जघ, पद, पदलाली, एड़ी, अँगुरी, पदनख, जावक, नूपुर, पायल, अनवट, बिछिया तथा संपूर्ण नायिका का वर्णन किया गया है जो बड़ा रोचक है। संपूर्ण वर्णन करते हुए 'रसलीन' ने लिखा है

नवला अमला कमल सी, जपला सी चल चार।

चंद्रकला सी सीतकर, कमला सी सुकुमार ॥ १७४ ॥

मुख छबि निरखि चकोर अरु, तन पानिप लखि मीन।

पद पकज देखत भँवर, होत नयन रसलीन ॥ १७५ ॥

रसलीन का प्रसिद्ध दोहा

अमी हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।

जियत मरत भुकि भुकि परत, जेहि चितवत एकबार ॥ ३५ ॥

अगदर्पण का ही है। इस प्रकार दोहाकारों में 'रसलीन' श्रेष्ठ है। इनका दूसरा ग्रंथ 'रसप्रबोध' है।

रसप्रबोध—रसलीनकृत 'रसप्रबोध' सवत् १७६८ की रचना है। यह चैत्र शुक्ल ६, बुधवार को बिलग्राम में आने पर लिखी गई। इससे सिद्ध होता है कि ये पहले कहीं और थे। संभवतः फौज से ही छुट्टी लेकर आए हों। रसप्रबोध का रचनासमाप्ति काल हिजरी सन् ११५४ है। रसप्रबोध में सब मिलाकर १११७ दोहे हैं। रसप्रबोध में रस का वर्णन है। प्रमुख वर्णन शृंगार रस और नायिकाभेद का है और अंत में संक्षेप में अन्य

रसो का वर्णन किया गया है। रसलीन को दोहा छंद ही सिद्ध था। इन्होंने सारे ग्रंथ में इसी छंद का प्रयोग किया है। इस प्रकार लक्षणा और उदाहरण दोनों ही दोहा छंद में हैं।

रसलीन ने रस का सर्वमान्य लक्षण लिया है। विभाव, अनुभाव, सचारी भाव से परिपूर्ण व्याप्यो स्थायी रस है। स्थायी बीज है जो चित्त की भूमि में आलबन, उद्दीपन-विभाव रूपी जल के पड़ने पर अनुभावरूपी वृक्ष और सचारी भावरूपी फूलों के रूप में प्रकट होता है। इन सब के संयोग से मकरंद के समान रस की उत्पत्ति होती है। भाव दो प्रकार के हैं—एक स्थायी, दूसरे सचारी। स्थायी अपने रस में रहते हैं और सचारी अन्यो में भी संचरित होते हैं। व्यभिचारी दो प्रकार के हैं—एक तनव्यभिचारी दूसरे मनव्यभिचारी। सात्विक भावों को रसलीन ने तनसचारी माना है। इस प्रकार नौ स्थायी, आठ सात्विक और तैंतीस सचारी मिलकर पचास भाव हुए। इन भावों में स्थायी रस का मूल है। अतः सबसे पहले रसलीन ने उसी का वर्णन किया है। स्थायी भावों के नाम उनके कारणरूप आलबन, उद्दीपन, विभाव तथा स्थायी को अनायास प्रकट करनेवाले अनुभावों का वर्णन इसके बाद किया गया है। इसके बाद अलग अलग रसों का वर्णन है।

सबसे पहले शृंगाररस का वर्णन करने का हेतु रसलीन यह देते हैं कि शृंगार रस के भीतर अन्य रस या उनके सभी स्थायी सचारी रूप में आ जाते हैं। इसलिये शृंगार रसरज है। रसलीन का कथन है

मोहन लखि यह सबन ते, ह्वै उदास दिन राति ।

उमहति हँसति बकति डरति, बिगचति विलसि रिसाति ॥ ४२ ॥

जब निकस्यो सब रसन में, यह रसरज कहाय ।

तब वरण्यो याको कबिन, सब ते पहिले ल्याय ॥ ४३ ॥

ऊपर के प्रथम दोहे में क्रमशः निर्वेद, उत्साह, हास, आश्चर्य, भय, घृणा, शोक, क्रोध आदि के शृंगार रस में सचारी होने का संकेत है। आगे शृंगार रस के आलबन रूप नायिका के प्रसंग में नायिकाभेद का वर्णन किया गया है।

नायिकाभेद—रसलीन के द्वारा वर्णित नायिकाभेद का प्रसंग रसमजरी, साहित्य-दर्पण आदि की परंपरा का अनुगमन करता हुआ भी मौलिकता से पूर्ण और रोचक है। अनेक प्रसंगों में भेदों के अन्य भेद नवीन आधारों पर किए गए हैं। अधिकांशतः उन भेदों के लक्षण रसलीन ने नहीं दिए हैं जो नाम से ही स्पष्ट हैं। नायिकाभेद का वर्णनक्रम इन प्रसंगों में पूरा हुआ है। स्वकीया के मुग्धा, मध्या, प्रौढा, मुग्धा के पाँच भेद—अकुरित-यौवना, शैशवयौवना, नवयौवना, नवलअनगा, नवलवधू। शैशवयौवना शब्द रसलीन का निजी जान पड़ता है। इसके स्थान पर देव आदि ने सलज्जरति दिया है, जो रुद्रभट्ट के शृंगारतिलक के आधार पर जान पड़ता है, रसमजरी (भानु भट्ट कृत) के आधार पर नहीं। रसलीन ने इन भेदों के भी भेद किए हैं।

नवयौवना के दो भेद हैं—अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना तथा नवलअनगा के विदितकाया और अविदितकाया तथा नवलवधू के वोढा और विश्रब्धनवोढा ऐसे ही भेद हैं। नवलवधू का रसलीन ने एक तीसरा भेद किया है—लज्जाआसक्त रतिकोविदा। मुग्धा के उपर्युक्त भेदों के साथ उसकी चेष्टाओं, जैसे मुड़ बैठना, सैन, सुरति आदि का भी वर्णन है जो कामशास्त्र और रतिरहस्य ग्रंथों का प्रभाव जान पड़ता है। मध्या के भेद हैं—उत्तत-यौवना, उत्ततकाया, प्रगल्लभवचना, सुरतविचित्रा। इनके अतिरिक्त पाँचवाँ भेद लघु लज्जा भी रसलीन ने कुछ लोगों के मतानुसार किया है। मध्या की कामचेष्टाओं का वर्णन भी इसमें है। प्रौढा के भेद हैं—उद्भटयौवना, मदनमदमाती, लुब्धामतिप्रौढा, रतिको-विदा। इनके अतिरिक्त रतिक्रिया और आनदातिसमोहा भेद भी रसलीन ने लिखे हैं।

रसलीन ने इसके बाद पतिदु खिता नामक नवीन भेद की कल्पना की है। इसके भेद हैं—मूढपतिदु खिता, बालपतिदु खिता, वृद्धपतिदु खिता। धीरा, अधीरा, धीराधीरा आदि का भेदवर्णन विवेचन सहित है जो रसमजरी के आधार पर है। ये सभी भेद स्वकीया के भेदों—मध्या और प्रौढा—के हैं। स्वकीया के प्रसंग में ज्येष्ठा और कनिष्ठा, दो भेदों का और वर्णन है।

इसके बाद परपुरुषानुरागा, परकीया का वर्णन है। उसके भेद ऊढा, अनूढा, साध्या, असाध्या, उद्बुद्धा और उद्बोधिता है। इनमें साध्या के भेद वृद्धवधूसुखसाध्या है बालवधूसुखसाध्या, नपुंसकवधूसुखसाध्या, विधवावधूसुखसाध्या, गुरावधूसुखसाध्या है तथा असाध्या के भेद सभीता, द्वितीवर्जिता, गुरुजनभीता, अतिक्राता, खलपृष्ठअसाध्या है।

अवस्था के भेद से परकीया के सुरतिगोपना, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता, अनुशयना ये छह भेद हैं तथा इनके भी भेदोपभेदों के वर्णन रसलीन ने किए हैं। इसके बाद परकीया की सुरतचेष्टाओं का वर्णन है।

स्वकीया, मरकीया दोनों के तीन भेद कामवती, अनुरागिनी और प्रेमासक्ता भी हैं। इस प्रकार परकीया का अतिविस्तार से रसलीन ने वर्णन किया है।

सामान्या के भेद स्वतन्त्रा, जननीअधीना, नियमिता, प्रेमदु खिता है। इससे अधिक भेद सामान्या के सामान्यतया नहीं मिलते हैं। सामान्या की भी कामचेष्टाओं का इसमें वर्णन है।

रसलीन ने खडिता आदि प्राचीन आचार्यों के भेदों को नवीन मतानुसार अन्य-सुरतिदु खिता (खडिता), गविता (स्वाधीनपतिका), मानिनी भेदों में वर्णित किया है तथा अवस्थाभेद से स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, उत्कठिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, कलहातरिता, प्रोषितपतिका, खडिता—ये आठ भेद हैं। इनके भी प्रभेद वर्णित किए गए हैं। इस प्रकार ११५२ नायिकाभेदों का वर्णन रसलीन ने किया है। इन भेदों के अतिरिक्त पद्मिनी, चित्रिणी, शखिनी, हस्तिनी भेद भी हैं। उत्तमा, मध्यमा और अधमा नायिकाओं का भी वर्णन हुआ है। नायिकाभेद का यह वर्णन भरत, रुद्रभट्ट और भानुभट्ट तथा अन्य आचार्यों के विवेचन के अनुसार तथा रसलीन की कुछ मौलिक बातों को भी लिए हुए है।

नायकभेद भी सामान्य ग्रंथों की अपेक्षा इसमें अधिक विस्तार के साथ है।

नायकभेद और दर्शन के उपरांत सखी का वर्णन है। सखीवर्णन भी रसलीन ने कुछ नवीन पद्धति पर किया है। सखी चार प्रकार की है—हितकारिणी, विज्ञानविदग्धा, अतरंगिनी और बहिरंगिनी। सखीकर्म का तो सामान्य ढंग पर ही वर्णन किया है। द्विती के उत्तम, मध्यम, अधम भेद भी किए गए हैं। इसके अतिरिक्त द्विती के हितावान, अहितावान, हिताहितावान भेदों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त प्रसंग ये हैं—द्वितीकार्य, नायिका-नायक स्तुति निदा, विरहनिवेदन, प्रबोध आदि। नायक सखा भेद के वर्णन के उपरांत उद्दीपन रूप में ऋतुवर्णन है जो उनकी कवित्वप्रतिभा का परिचायक है। ऋतुवर्णन दोहों में है। कुछ सुंदर उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं

श्रोषधीश सँग पाइ अरु, लहि बसंत अभिराम ।

मनो रोग जग हरन को, भयो धनंतरि काम ॥ ६४६ ॥

फूले कुंजन अलि भ्रमत, सीतल चलत समीर ।

भानजात काको न मन, जात भानुजा तीर ॥ २६५० ॥

पिय छीटत यो तियन कर, लहि जल केलि अनंद ।

मनो कमल चहुँ ओर ते, मुकतनि छोरत चंद ॥ ६५१ ॥

अनुभाव वर्णन—मे इन्होंने चेष्टाओं के बड़े सजीव चित्र प्रस्तुत किए हैं, जैसे

दृगन जोरि मुसुकाय अरु, भौहैं दोउ नचाइ ।

ओठनि आँठि बनाइ यह, प्राण उमेठत जाइ ॥ ६६१ ॥

इसके पश्चात् हावों और संचारी भावों का वर्णन किया गया है। सयोग शृंगार के बाद वियोग शृंगार वर्णन पूर्वानुरागी मान, प्रवास और करुण भेदों के साथ किया गया है। दस दशाओं का वर्णन भी इसी प्रसंग के अंतर्गत है। सयोग में जिस प्रकार षड्भूत वर्णन किया गया है उसी प्रकार वियोग प्रसंग में बारहमासा वर्णन है। बारहमासा के कुछ सुंदर उदाहरण ये हैं :

लाख यतन कहि राखिए, करै जारि तन राख ।

शाख शाख जो ढाख की, फूल रही वंशाख ॥ ६६० ॥

पुहुप रूप इन दुश्मन में, आगि लगी है आइ ।

जामे जरि ये भँवर सब कारे भए बनाइ ॥ ६६१ ॥

माघ मास लहिते तही, यह दुख भयो अनंत ।

क्यों बसंत अब खेलिहैं, बसे अंत है कंत ॥ १००८ ॥

मनमोहन बिन विरह ते, फाग रच्यो इन चाल ।

पीरो रंग अंगन छयो, अँसुवन भरत गुलाल ॥ १०१० ॥

ये छंद रसलीन की सहज मार्मिक शैली के द्योतक हैं। इसके बाद हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत के लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। भावसंधि, भावोदय, भावशांति, भावशबलता, प्रौढोक्ति, भावाभास, रसाभास आदि के वर्णन के साथ ग्रंथ की समाप्ति हुई है।

११५४ हिजरी में १११७ दोहा छंदों में यह ग्रंथ पूरा हुआ। यह रस का विवरण देनेवाला महत्वपूर्ण और काव्य की दृष्टि से सुंदर ग्रंथ है।

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में अमैठी (अवध) के राजा गुरुदत्त सिंह उपनाम 'भूपति' ने रस से संबंधित रसरत्नाकर और रसदीप नामक ग्रंथ लिखे। इनकी बनाई भूपतिसतसई प्रसिद्ध है जो बिहारी के दोहों से टक्कर लेनेवाली और स० १७६१ में रची गई है। इनके अन्य ग्रंथों में कठाभरण और भागवत भाषा भी हैं।

रघुनाथ कवि ने स० १८०२ में रसविषयक काव्यकलाधर नामक ग्रंथ लिखा। ये काशीनरेश के राजकवि थे। इनके बनाए ग्रंथ रसिकमोहन (अलंकार), जगतमोहन और इक्ष्ममहोत्सव भी माने जाते हैं। अंतिम ग्रंथ खड़ी बोली में लिखा गया है। काव्य-कलाधर १५० पृष्ठों का बृहत् ग्रंथ है। इसके अंतर्गत कवि ने भावभेद, रसभेद तथा नायिका-भेद का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इसके उदाहरण भी सुंदर हैं। जगतमोहन में श्रीकृष्णचंद्र की दिनचर्या है। रघुनाथ अच्छे कवि थे।

६. समनेस कृत रसिकविलास

समनेस रीवाँ के रहनेवाले कायस्थ थे। ये रीवाँनरेश महाराज जयसिंह के बखशी थे। इनके द्वारा अलंकार, रस और छंद पर लिखे क्रमशः तीन ग्रंथों—काव्यभूषण, रसिक-विलास और पिंगल—का उल्लेख मिला है।

रसिकविलास रस और नायिकाभेद विषयक ग्रंथ है। इसका रचनाकाल स० १८४७ वि० है जो निम्नलिखित दोहे से स्पष्ट है

संबत् रिषि जुग वसु ससी कुल पूज्यौ नभमास ।

संपूरन समनेस कृत, बनिगो रसिकविलास ॥

इनका रचनाकाल १८७६ तक रहा। रमिकविलास में शृंगार तथा वीर, रौद्र, वीभत्स, करुण, शान्त, हास्य, अद्भुत, भयानक रसों का वर्णन है। नायिकाभेद, दूतीकर्म, त्रिभाव, अनुभाव, सात्विक संचारी भावों का भी विवेचन है। लक्षणा साधारण और स्पष्ट तथा उदाहरण उपयुक्त है। रस पर लिखा हुआ यह सामान्यतया अच्छा ग्रंथ है। इनकी कविता अच्छी सामान्य श्रेणी की है।

१०. शंभुनाथ मिश्र कृत रसतरंगिणी

शंभुनाथ मिश्र असोथर जिला फतेहपुर के राजा भगवतराय के यहाँ रहते थे। ये विद्वान् कवि थे। इन्होंने रसकल्लोल, रसतरंगिणी और अलंकारदीपक नामक ग्रंथ लिखे। रसकल्लोल देखने में नहीं आया। रसतरंगिणी की एक खंडित प्रति काशी नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में है। यदि यह शंभुनाथ मिश्र की है, तो रचनाकाल १८२० के आसपास होना चाहिए।

रसतरंगिणी—(सं० १८२० के आसपास) की उक्त अपूर्ण प्रति पृष्ठ ३ से १८ तक है। प्रथम २१ छंद नहीं है। इसमें रस का निरूपण है। भानुकृत रसतरंगिणी का अनेक स्थलों पर प्रमाण स्वरूप उल्लेख है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के अनेक ग्रंथों का भी प्रमाण है। उदाहरणार्थ

मिलि विभाव अनुभाव अरु, संचारित के वृद्ध ।
परिपूरन थिर भाव जो, सोइ रस रूप कबिद ॥ २३ ॥
ज्यो पय पाइ विकार कछु, दिवि दधि होत अनूप ।
त्यो परिणत थिर भाव को, बरणात कवि रस रूप ॥ २४ ॥
सो रस स्वनिष्ठ, परनिष्ठ अरु स्वनिष्ठ परनिष्ठऊ है ।
रसाना जन्मजगत भाव ॥ २५ ॥
प्रगटत हास्य सिंगार सो, रौद्र ते करुणा होइ ।
उपजत अद्भुत वीर ते, भय वीभत्स ते जोइ ॥ २६ ॥

इसी प्रकार बैरी और विरोधी रसों का कथन है। शृंगार, हास्य, अद्भुत, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, करुण, शांत का वर्णन है। रौद्र और वीर का भेद प्रकट करते हुए लिखा गया है

समता की सुधि है जहाँ, है युद्ध उत्साह ।
जहाँ भूलै सुधि सम अरुम, सो है क्रोध प्रवाह ॥ ४६ ॥

भक्तिमुद्रानिधि के अनुसार लेखक ने हास्य, वात्सल्य, सख्य, रसों का भी वर्णन किया है। इनमें अविहाग लक्षणा संस्कृत में ही है। इस प्रसंग में भक्तिरसामृत सिंधु के भी प्रमाण और उद्धरण इस ग्रंथ में है। विद्वन्मोदतरंगिणी के आधार पर भी इसमें विवेचन हुआ है। साहित्यरत्नाकर ग्रंथ के आधार पर विभिन्न रसों के उद्दीपनों का वर्णन है। इसके बाद अलग अलग रसों के अंगों के लक्षण और उदाहरण हैं। हास्य रस का एक उदाहरण देखिए

बेलती फागु फुली नवला चपत्ता सो सजे मनि भूषन सारी ।
मेलती मजु गुलालन मूठिन रंगतो रंगन लौ पिचकारी ।
लेत रंगीली गलीन छडीली छटी गनिका गच्च सौध सँवारी ।
ज्यो ही झुकी चटकी बहु कीने रकी सु बजी तहनीन की तारी ॥ ३ ॥

‘इहाँ तारी पदाश्रित हासातिशयना व्यजिन है। अऊ ह्यौ प्याल प्रमदानि प्रति है

रति स्थायी अरु अनुभावादिऊ को अभावई है याते हास्यरसई की मुष्यता है' इस प्रकार उदाहरणों के मार्मिक विवेचन द्वारा रस का स्पष्टीकरण किया गया है। इसी प्रकार 'वीर' का उदाहरण द्रष्टव्य है

बीच अनी चतुरंगिनी रावन बेष बिलोकते बानर भाजे ।

बाजे बजे रन के बहके करि गाजे बलाहक बृद से भ्राजे ।

त्यों रघुवीर अभ्रंगई धीर हूँसे सउमगनि षग नेवाजे ।

आनंद कोकनद सर दै कर साजे सरासन सायक राजे ॥ १० ॥

'इहाँ रक्तोत्पल कोकनद ताकी समता ते आनन प्ररुनता अनुभाव । उमग हास पद उत्साह स्थायी वीर रस पूर्णताई व्यजित है । अरु राजे पद ते करन की अरु प्रभा परे सरसरासनऊ समरोत्साह सजुतई से व्यजित है । अरु वेष विलोकतई भाजे तहाँ तेज से दुर्द्वेषता ताते सन्मुख न हूँ सके । अरु बलाहक बृद से भ्राजे तहा रामाश्रम विचिते अमर-तिलको बलेन हीयते इति बलाहक इति व्युत्पत्त्या प्रति बलवत सजलो इत्यर्थ याते करीण के ग्रथस्थल मदजल परिपूर्णई प्रकाशित है ।' आगे इस सबध मे रसतरंगिणी के नवम सर्ग से संस्कृत मे प्रमाण दिया हुआ है—'ईषत्फुल्लकपोलाभ्या' । इसी प्रकार भक्ति रसो मे भी वात्सल्य, सख्य का विवेचन है । प्रति पूरी नहीं है, अतः इस ग्रथ का पूर्ण विवेचन नहीं किया जा सकता । परंतु यह ग्रथ लेखक की विद्वत्ता, सहृदयता, कवित्व और आचार्यत्व की शक्तियों का प्रमाण है ।

११ शिवनाथ कृत रसवृष्टि

शिवनाथ द्विवेदी कुरसी, जिला बाराबंकी के रहनेवाले थे । इनका रसवृष्टि ग्रंथ, राधाकृष्ण के शृंगार सुख वर्णन रूप रस नायिका भेद का ग्रंथ है । इसे कविवर शिवनाथ ने पवावा (पवार्या) जिला हरदोई के निवासी नृप कुशलसिंह के लिये लिखा था । कुशलसिंह स० १८३१ मे स्वर्गवासी हुए । इस प्रकार इसका रचनाकाल मिश्रबधुओं के अनुसार स० १८२८ वि० के लगभग ठहरता है ।

इस ग्रंथ मे सबसे प्रथम गणपतिवदना, फिर बाणी, नारायण, गौरीशंकर की स्तुतियाँ हैं और फिर कविवश-वर्णन है । लवकुश द्वारा स्थापित कुरसी नामक नगर मे कात्यायन गोत्री दुबे ब्राह्मण ब्रह्मादास हुए । उनके पुत्र बद्रीनाथ । बद्रीनाथ के पुत्र भाऊलाल हुए । इन्ही भाऊलाल के पुत्र पंडित कवि शिवनाथ हुए । इनसे पवावा नगर के राजा कुशलसिंह ने नायिकाभेद ग्रंथ लिखने को कहा । इन कुशलसिंह की सभा का वर्णन इद्र की सभा के समान शिवनाथ कवि ने किया है ।

रसवृष्टि ग्रंथ सोलह रहस्यो (अध्यायो) मे विभक्त है । प्रथम मे तो मंगला-चरण, परिचय, कवि और आश्रयदाता के वंश और यश का वर्णन है । दूसरे रहस्य मे नायक के पति, उपपति, वैसिक तथा अनुकूल, दक्ष, शठ और धृष्ट भेदों का वर्णन है । नायक का लक्षण इन्होंने निम्नलिखित रूप मे दिया है,

तरुण रूप अभिमान तजि, परम विवेकी होइ ।

धनी जयी शुचि बुद्धिवर, नायक बरगौ सोइ ॥

इनके अतिरिक्त मानी, चतुर और अनभिज्ञ भेदों का भी इसमे वर्णन है । तृतीय रहस्य मे सबसे पहले चार प्रकार की नायिकाओं—उत्तम, मध्यम, अधम और लघु—का कथन है । उत्तम वह है जो सपत्ति विपत्ति मे पति की आज्ञा के अनुसार एकरस रहे । मध्यम वह है जो बड़ा अपराध करने पर मान करे । अधम वह है जो बार बार रूठे और बिना कारण वचन कटु कहे । लघु निर्लज्ज, नि शक, कुबुद्धि और कलहप्रिय है । यह

चौथा भेद विचारणीय है, क्योंकि इसमें तो नायिका का जो मुख्य आकर्षण है वही नहीं रह जाता। इसके साथ पद्मिनी आदि चार नायिकाओं का वर्णन है।

चतुर्थ रहस्य में स्वकीया नायिकाओं का वर्णन है। इनके उदाहरण सुंदर काव्य की विशेषताओं से पूर्ण है। इस संवध में सुरनिर्विचित्रा का उदाहरण देखिए

भाग भरे भाल नाग मोतिन सोहाग भरी बंक भरी भौहन सनेह भरे नैन है।
नाज भरी नासिका अधर बिब रस भरे हास भरी अलक सकुच भरे बैन है॥
मुद भरे यौवन मनोरथ मनोज भरे अग अग रस भरे रस सुख ऐन है।
लाज भरी गति मति प्रीति भरी शिवनाथ चातुरी चितौनि हाव भाव भरी संन है॥३४॥

यह इनकी कवित्वशक्ति का नमूना है।

इस प्रसंग में भेदप्रभेदों का भी उल्लेख शिवनाथ ने किया है।

पंचम रहस्य में परकीया का वर्णन है, उसके गुप्ता, लक्षिता, मुदिता, विदग्धा, कुलटा, अनुशयाना भेदों तथा इनके प्रभेदों का वर्णन तथा सामान्या का कथन है। छठे रहस्य में मानवर्णन है। मान के लव, मध्यम, गुरु, सामान्य भेदों के साथ बतरस, प्रणति, अनायासभेद आदि प्रकारों का भी विवरण इसमें मिलता है जो नवीन है। सातवें रहस्य में मानमोचन का प्रसंग है। इसमें विभिन्न उद्यमों की स्त्रियाँ मानमोचन की बातें कहती हैं। आठवें रहस्य में सखीभेद वर्णन है। इसमें सोलह शृंगार, बारह आभरण, परिहासशिक्षा आदि का उल्लेख है। नवें रहस्य में चार प्रकार के दर्शन का वर्णन है। दसवें रहस्य में मिलन का वर्णन है। यह मिलन जलविहार, बाटिका, धाई के घर, सखी के घर, सूने घर, भय, व्याधि, तीर्थयात्रा, उत्सव में होता है। ग्यारहवें रहस्य में स्वाधीनपतिका आदि अष्टनायिका भेद का वर्णन है। बारहवें रहस्य में विप्रलभ शृंगार तथा चिता आदि दस दशाओं का वर्णन है। इसी प्रसंग में पाती आना, सदेश लाना आदि प्रसंगों में ऊधो और राधिका का संवाद भी आया है। तेरहवें रहस्य में हावों का वर्णन है। चौदहवें रहस्य में नखशिख, अगसोदर्य का वर्णन किया गया है। पंद्रहवें रहस्य में वस्त्राभूषण की शोभा का वर्णन है। सोलहवें रहस्य में नवरसों का वर्णन किया गया है। यह वर्णन अधिकांश रसिकप्रिया की परिपाटी पर है और पाठक को सर्वत्र रसानुभूति कराने में समर्थ नहीं है। रसलीन के रसप्रबोध ग्रंथ से भी कवि ने प्रेरणा ग्रहण की है, ऐसा जान पड़ता है।

शिवनाथ की कविता उपयुक्त शब्दावली में प्रभावपूर्ण वर्णन की विशेषता से युक्त है।

१२. उजियारे कृत जुगलरसप्रकाश और रसचंद्रिका

वृंदावन के नवलशाह के पुत्र उजियारे कवि ने हाथरस के जुगलकिशोर दीवान के लिये जुगलरसप्रकाश और जयपुर के दौलतराम के लिये रसचंद्रिका नामक ग्रंथों की रचना की। इन दोनों ग्रंथों में लक्षण और उदाहरण एक से हैं। विभिन्न आश्रयदाताओं के कारण नाम बदल दिए गए हैं। जुगलरसप्रकाश की रचना स० १८३७ वि० में हुई थी। इसका आधार अधिकांशतया भरत मुनि का नाट्यशास्त्र है अधिकतर विषय का स्पष्टीकरण रसचंद्रिका में प्रश्नोत्तर के रूप में किया गया है। इसमें शृंगार रस का अन्य रसों की अपेक्षा अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। इस वर्णन में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि का विश्लेषण है। रसविवेचन के बाद 'रसनि कौ रोध' के प्रसंग में रसविरोधी बातों का वर्णन है। इन्हो विषयों का वर्णन रसचंद्रिका में भी है। काव्य की दृष्टि से इनकी रचना साधारण कोटि की है।

१३ महाराजा रामसिंह कृत रसनिवास

नरवर गढ के राजा छत्रसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् थे। इन्होंने कई ग्रंथ लिखे। जुगुलविलास (१८३६), रसशिरोमणि (१८३०), अलंकारदर्पण, रसविनोद एव रसनिवास (१८३६) विशेष प्रसिद्ध हैं। रसविवेचन की दृष्टि से रसनिवास अधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसका आधार भानुदत्तकृत रसनरगिणी है। रसनिवास की रचना स० १८३६ वि० में हुई थी। इंग्रज लक्षणा और उदाहरणा अत्यंत स्पष्ट एवं सुबोध हैं। इसमें विवेचन भी अच्छा है। नायिकाभेद और शृंगार पर विस्तार से लिखने के बाद चौथे निवास में भाव का वर्णन है। छठे अध्याय में अनुभाव, सातवें में सात्विक भाव और आठवें में संचारी भावों का वर्णन है। आठवें विलास के अन्तर्गत ११५ छंदों में संचारी भावों का विस्तार से वर्णन है। नव विलास में रसवर्णन है। इसमें रस के लौकिक और अलौकिक दो भेद किए गए हैं। हास्य रस का अच्छा वर्णन है। सभी रसों के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ इन दो भेदों में वर्णन है।

ग्यारहवें निवास में रसदृष्टि, रसभाव का सबंध तथा अलंकार का रस और भावों से सबंध विवेचित है। रसविरोध का भी वर्णन रामसिंह ने किया है। इन्होंने रस के आधार पर काव्यकोटि का भी निर्धारण किया है। वह है अभिमुख, विमुख और परमुख। अभिमुख में रस प्रमुख है, परमुख में रस गौण है और विमुख में रस का अभाव है। यह नवीन वर्गीकरण है।

इस प्रकार रसनिवास में रस का रसनरगिणी के आधार पर सुंदर विवेचन हुआ है। कुछ इनकी नवीन बातें भी हैं। रामसिंह का काव्य उत्तम कोटि का है। यद्यपि इनके अधिकांश उदाहरण वर्णनप्रधान और अभिधात्मक हैं तथा उक्तिवैचित्र्य एवं अर्थ-गौरव कम है, फिर भी लक्षणा को स्पष्ट करने की दृष्टि से सुंदर और सरस है। आलंकारिकता का अधिक आग्रह इनमें नहीं। समस्त काव्य में एक समान सरसता और उत्कृष्टता नहीं। विच्छन्न हाववर्णन का इनका एक सुंदर उदाहरण यहाँ दिया जाता है

साजि कै सिंगार रूप जोबन गुमान भरी,
बैठी ही अनेक गोपी निकट गुपाल के।
आवत ही तेरे मुख चंद के प्रकास फैले,
कुज के निवास में मयूषनि के जाल के।
भूषन बिना हूँ लसै काजर सँवारे नैन,
अनियारे प्यारे मनमोहन रसाल के।
देखत ही लोचन सरोज भए सौतिन के,
चाह भरे लोचन चकोर भए लाल के ॥

१४. सेवादास कृत रसदपण

सेवादास का अधिक परिचय नहीं मिलता है। ये वैष्णव भक्त एवं रसिक कवि थे। इनकी रचनाओं में राम सीता और कृष्ण राधा दोनों का ही मधुर रूप चित्रित हुआ है। इनके पाँच ग्रंथों—गीतामाहात्म्य, रघुनाथअलंकार, अलबेले लाल जू को नखशिख, अलबेले लाल जू को छप्पय तथा रसदर्पण—की स० १८४५ वि० की प्रतिलिपियाँ मिलती हैं।

सेवादास का रस से सबंधित ग्रंथ रसदर्पण है। इसका रचनाकाल स० १८४० वि० है। मंगलाचरण और वदना के उपरांत नायिकाभेद का वर्णन इस ग्रंथ में है। स्वकीया के उदाहरण सीता के वर्णन के हैं और परकीया के उदाहरण राधा के हैं। नायिकाओं के अधिकांश वर्णन पुराणप्रसिद्ध नायिकाओं के हैं। नायिकाभेद का वर्णन प्रमुखतः

रसमजरी के आधार पर है। नायिकाभेद के बाद सात्विक भावों का वर्णन है और उसके बाद श्रृंगार रस का। संयोग और वियोग दोनों पक्षों के वर्णन के बाद नवरासों का वर्णन इसमें किया गया है। अधिकांश वर्णनों में हीरा, मोती, मारिक्क्य आदि आलंकारिक वस्तुओं का वर्णन प्रधान है। परंतु लक्षणा और उदाहरण दोनों ही दृष्टियों में सेवादास का रसवर्णन दोषपूर्ण है। यह ग्रंथ ३४६ छंदों में पूर्ण हुआ है।

सेवादास की कविता सामान्य कोटि की, वर्णन प्रधान एवं अभिधात्मक है। विवरण मकेतपूर्ण एवं व्यंग्यात्मक नहीं है। अनेक स्थलों पर तो साधारण नामगणन और शब्दाडंबर सा जान पड़ता है। सेवादास की वित्तवृत्ति प्रमृद्धि और ऐश्वर्यवर्णन में अधिक रमती है। उदाहरणार्थ

सुंदरता सु रची त्रिधि ने सो धरी सुभ साजि धरी सुधरी ।
मनि भानिक जाल महा सजिकै पन्ना सुचि छोरनि बेलिहरी ।
सेवादास सदा सुख पावत है गुन गावत सारद बीन धरी ।
अवली वर हीरन की झककै तैय के पग जेहरि रूप भरी ॥

प्रकृतिवर्णन के प्रसंग में भी सेवादास ने नाम गिना देनेवाली परिपाटी का ही अनुसरण किया है। राधाकृष्ण विहार के प्रसंग में यह बात स्पष्ट है।

१५. बेनी बंदीजन कृत रसविलास

ये बेनी रायवरेली के रहनेवाले प्रसिद्ध भंडौआकार थे। ये अवध के प्रसिद्ध वजीर टिकैतराय (लखनऊ) के आश्रय में रहते थे। इन्होंने ही लखनऊ के दूसरे बेनी को बेनी प्रवीन की उपाधि दी थी। इन्होंने टिकैतरायप्रकाश (टिकैतराय के नाम पर अलंकार-ग्रंथ) लिखा और लछमनदास के लिये रसविलास नामक ग्रंथ रस और भावों पर लिखा। रसविलास ग्रंथ सं० १८४७ वि० में बना। यह काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

बेनी कवि की रचनाएँ प्रायः समाज की कुरीतियों और दुर्गुणों एवं वैयक्तिक अवगुणों की खिल्ली उड़ानेवाली हैं। इस दृष्टि से इनकी हास्यव्यंग्य से पूर्ण रचनाएँ बड़ा कठोर प्रहार करनेवाली हैं। लखनऊ की कीच पर इनका एक प्रसिद्ध छंद है

गड़ि जात बाजी और गयद गन उडि जात,
सुतुर अकड़ि जात मुसकिल गऊ की ।
दावन उठाय पाँय धोखे जो धरत,
होत आप गडकाब रहि जात पाग मऊ की ।
बेनी कवि कहै देखि थर थर काँपै गात,
रथन के पथ न बिपति बरदऊ की ।
बार बार कहत पुकारि करतार तोसो,
भीच तौ कबूल पै न कीच लखनऊ की ॥

इतनी कटु आलोचना आज का कोई पत्रसंपादक भी न कर पाएगा। इसके अतिरिक्त अन्य रसों के भी इनके छंद बड़े ललित हैं। नवीन बात कहने का मोहक और आकर्षक ढंग बेनी की कविता को स्मरणीय बना देता है, जैसे

करि की चुराई चाल, सिंह को चुरायो लक,
ससि को चुरायो मुख, नासा चोरी कीर की ।
पिक को चुरायो बैन, मृग को चुरायो नैन,
दसन अनार, हाँसी बीजूरी गंभीर की ।

कहै कवि बेनी बेनी ब्याल की चुराइ लीनी,
रती रती सोभा सब रति के सरीर की ।
अब तो कन्हैया जू को चित्तहू चुराय लीनी,
छोरटी है गोरटी या चोरटी अहीर की ॥

१६. पद्माकर का जगतविनोद

रोतिकाल के प्रसिद्ध कवि पद्माकर ने जयपुर के सवाई प्रतापसिंह के पुत्र जगतसिंह के लिये रस और नायिकाभेद पर जगतविनोद नामक ग्रंथ लिखा । यह कवित्व के गुणों से श्रोतप्रोत प्रौर पद्माकर की ख्याति का प्रमुख आधार है । इसमें यद्यपि नवरसों का वर्णन है, तथापि प्रमुखतया विवरण शृंगार का ही है, जैसा पद्माकर ने स्वयं लिखा है

नव रस मे शृंगार रस, सिरै कहत सब कोइ ।
सुरस नायिका नायकहि, आलंबित ह्वै होइ ॥ ६ ॥

इस प्रकार सबसे पहले नायिकाभेद का वर्णन है । नायिककामेद का वर्णन रसमंजरी की पद्धति पर है जिसमें उदाहरणों का सौंदर्य अतीव आकर्षक है । अष्टविधि नायिकाओं के लक्षण न देकर केवल उदाहरण दिए गए हैं ।

इसके बाद नायकभेद का वर्णन है और उसके बाद दर्शन, उद्दीपन, नायकसखा, सखीकर्म आदि का वर्णन किया गया है । पद्माकर ने षड्वृत्त का बड़ा ही विशद वर्णन किया है । अनुभाव, हाव, सचारी भाव, स्थायी भाव के वर्णन के बाद रसरूपण किया गया है ।

रस के सबंध में पद्माकर का विचार है कि विभाव, अनुभाव, सचारी भावों से मिलकर जब वारणी के रूप में स्थायी भाव परिपूर्ण होता है, तब वह रस का रूप धारण करता है । यह स्थायीभाव की रस में परिणति दूध की दही में परिणति के समान है । यह रस नौ भाँति का है जिसका वर्णन अलग अलग पद्माकर ने किया है । प्रत्येक रस के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सचारी भाव, रसदेवता तथा भेद देकर उसका वर्णन किया गया है । रसों के उदाहरण तो पद्माकर के अत्यंत सुंदर हैं, इसमें किसी को भी संदेह नहीं हो सकता । वियोग शृंगार के प्रसंग में दस दशाओं का भी चित्रण है । ऐसे कम ग्रंथ हैं जिनमें शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों के भी प्रभावशाली उदाहरण दिए गए हों । इस दृष्टि से जगद्विनोद बड़ा ही सफल है । यह रसों का वर्णन करनेवाला अत्यंत सरस ग्रंथ है ।

पद्माकर उत्कृष्ट प्रतिभासंपन्न कवि थे । पद्माकर के काव्य की दो विशेषताएँ सर्वोपरि हैं—एक दृश्ययोजना और दूसरी शब्दयोजना । इनकी शब्दावली दृश्य को सजीव रूप में प्रस्तुत करती है और इनकी दृश्यावली भाव की सृष्टि करनेवाली है । कल्पना की प्रसन्नता पद्माकर की रचनाओं में खूब मिलती है । यों तो पद्माकर ने सभी रसों और विविध भावों से युक्त छंद लिखे हैं, परंतु इनके अतिशय रमणीय चित्र आनंदोल्लास के हैं । सावन के झूलें और वसंत के उत्सव के दृश्य मन को मुग्ध करनेवाले हैं । एक ही वजन के वर्णों और चेष्टाओं एवं घटनाओं का जगमगाता चित्र प्रस्तुत करनेवाले शब्दों के चयन में पद्माकर बड़े दक्ष हैं । दो छंद प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत हैं ।

चपला चमाकै चहुँ ओरन तें चाह भरी,
चरजि गई ती फेरि चरजन लागी री ।
कहै पद्माकर लबंगनि की लोनी लता,
लरजि गई ती फेरि लरजन लागी री ।

कैसे धरौं धीर वीर त्रिविध समीरै तन,
 तरजि गई ती फेरि तरजन लागी री ।
 धुमडि घमड घटा घन की घनेरी अबै,
 गरजि गई ती फेरि गरजन लागी री ॥ १ ॥

वा अनुराग की फाग लखी जहुँ रागति राग किसोर किसोरी ।
 त्यों पदमाकर घाली घली फिर लाल ही लाल गुलाल की मोरी ।
 वैसी की वैसी रही पिचकी कर काहुँ न केसरि रंग में बोरी ।
 गोरिन के रँग भीजिगो साँवरो साँवरे के रँग भीजिगै गोरी ॥ २ ॥

१७ बेनी 'प्रवीन' कृत नवरसतरंग

बेनी प्रवीन का असली नाम बेनीदीन था । 'प्रवीण' उपाधि इनके समकालीन प्रसिद्ध भंडौआकार दूसरे बेनी ने इन्हें दी थी । ये लखनऊ के वाजपेयी थे । इनके पिता का नाम शीतल था । अवध के शाही दरबार में इनका और इनके परिवार का काफी समान था । बेनी प्रवीन वल्लभ सप्रदायी वशीलाल के शिष्य थे । इन्होंने गाजीउद्दीन हैदर के दीवान दयाकृष्ण के पुत्र नवलकृष्ण के लिये स० १८७४ वि० में नवरसतरंग की रचना की थी, जैसा उनके निम्नांकित दोहे से स्पष्ट है ।

समय देखि दिग दीप यूत, सिद्धि चंद्र बल पाइ ।
 माघ मास श्रीपंचमी, श्रीगोपाल सहाइ ॥ २७ ॥

नवरस में ब्रजराज नित, कहत सुकवि प्राचीन ।
 सो नवरस सुनि रीझिहै, नवलकृष्ण परवीन ॥ २८ ॥

बेनी 'प्रवीन' ने तीन ग्रंथों की रचना की—शृंगारभूषण, नवरसतरंग और नाना-रावप्रकाश । नवरसतरंग ही इनमें उपलब्ध है । इसमें नवरसों का वर्णन है । शृंगार का विशेष रूप से वर्णन हुआ है और नायिकाभेद का भी । नवरसतरंग का बहुत कुछ आदर्श पद्माकर का जगद्विनीद रहा । नायिकाभेद का वर्णन इसमें भानुदत्त की रसमजरी के आधार पर है । अनेक स्थानों पर बेनी लक्षणा न देकर शृंगारभूषण देखने की बात कहते हैं । इससे यह स्पष्ट है कि इनका शृंगारभूषण नवरसतरंग से पहले बना था । इससे यह स्पष्ट है कि इनका शृंगारभूषण नवरसतरंग से पहले बना था । इसमें शास्त्रीय विवेचन महत्वपूर्ण नहीं है, हाँ, कविता, जो उदाहरणस्वरूप आई है, अत्यंत ललित है और देव तथा मतिराम की कविता से टक्कर लेती है । कवित्व सबधी गुराणों के कारण नवरसतरंग की ख्याति है ।

बेनी की कविता सरस प्रवाह एव गहरी भावुकता में युक्त है । विवात्मकता के साथ मर्मस्पर्शिता इसका विशेष गुण है । प्रेमभाव का एक चित्र देखिए,

मालिन हूँ हरवा गुहि देत चुरी पहिरावै बने चुरिहेरी ।
 नाइन हूँ निरुवारत कैसे हमेस करै बनि जोगिनि फेरी ।
 बेनी प्रवीन बनाइ बिरी, बरईन बने रहै राधिका के री ।
 नंदकिसोर सदा वृषभानु की पौरि पै ठाढे रहै बने बेरी ॥

बेनी के प्रकृतिवर्णन के छंद भी बड़े विगद एव प्रभावकारी है । पावस ऋतु का एक दृश्य यहाँ प्रस्तुत किया जाता है,

घहराती कछक घटा घन की थहराती पुहुपनि बेलि पुही ।
 झहराती समीर झकोर महा महराती समीर सुगंध उही ।

तहँ राती गुनबद सो गोप सुता सिर ओढनियों फहराती सुही ।
ठहराती मरू करि नैननि मे परि अगनि मै छहराती फुही ॥

इस प्रकार बेनी के वर्णन भावपूर्ण, सजीव और मर्मस्पर्शी है। इनकी गणना उत्कृष्ट सरस कवियों की परंपरा में होती है।

१८ नवीन कवि कृत रंगतरंग

रंगतरंग नामक ग्रंथ इडिया लिटरेचर सोसायटी द्वारा मुरादाबाद में १९०० वि० में छपा। इसे वृंदावनवासी नवीन कवि ने स० १८९९ में नाभानरेश मालवेन्द्रदेवसिंह की आज्ञा से लिखा। ये जसवतसिंह के पुत्र थे। नवीनजी का अधिक वृत्त ज्ञात नहीं। रंगतरंग में सबसे पहले राजा की प्रणमा, हाथी, घोड़ा, कमान, तोप, द्विजमडली, वैद्य, कविराज, गायन, पुष्पवाटिका, नगर, प्रभुता का वर्णन है। नवीन ने मालवेन्द्र के ही आश्रय में सरसरस, नेहनिदान नामक ग्रंथों की रचना भी की थी। फिर महाराज की आज्ञा से नवरस का अति रंगीन वर्णन करने के लिये नवीन ने रंगतरंग की रचना की। इसके उपलक्ष्य में प्राप्त दान का वर्णन नवीन ने इस प्रकार किया है

रीझ चतुर महाराज वर, गुन निधि मूरति काम ।
दीने अब तिह मौज में साज बाज धन धाम ॥ २६ ॥
बसन दिए भूषन दिए दिए मतंग उत्तंग ।
ग्राम दिए निज नाम हित, सुनिकरि रंगतरंग ॥ २७ ॥
रसिक कबिन सो मौज यह माँगत दीन नवीन ।
गहे मौन लखि चूक के देहि सँभार प्रवीन ॥ २८ ॥

रचनाकाल सबधी दो दोहे पुस्तक में हैं। एक प्रारंभ में और एक अंत में
प्रभु सिधि निधि पर सिध सरस, शुभ समत सुख सार ।
लीनो रंगतरंग वर, ग्रंथ आई अत्रतार ॥ २९ ॥

तथा

ठारह से निन्यानवे सवतसर निरधार ।
माधव सुकला तीज गुरु भयो ग्रंथ अवतार ॥

नायिकालक्षणा नवीन का इस प्रकार है

रूप गुन जोबन की होइ अधिकाई लेइ,
चित उरझाई चिह्न ऐसे पहिचानिए ।
मूरति शृंगार की सी पूरित विगारन सो,
कोविद कुलीन जो नवीन जिय जानिए ।
साँचे के ढरे से अंग जैसे जहाँ जोग जाके,
सील भरी सुंदर असील उर आनिए ।
नैन नैन साइका हिए की सुखदाइका,
सरम जामे जाइका सो नाइका बखानिए ॥

नवीन का यह लक्षणा शास्त्रीय से अधिक अनुभूत है।

नायिकाभेद विवरण इस प्रकार है—स्वकीया, परकीया, गरिका। स्वकीया के मुग्धा, मध्या, प्रौढा। मुग्धा के ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना। फिर नवोढा, विश्रब्धा। मध्या के रतिप्रीता और आनंदसमोहा। मध्या और प्रौढा के धीरा, अधीरा, धीरा धीरा। ज्येष्ठा, कनिष्ठा। परकीया के ऊढ़ा, अनूढ़ा तथा गुप्ता, विदग्धा, अनुशयना, लक्षिता,

मुदिता और कुलटा । सामान्या के भेद नवीन ने नहीं लिखे हैं । इसके बाद अवस्थाभेद से दस प्रकार इन्होंने लिखे हैं । प्रोषितपतिका, खडिता, कलहातरिता, विप्रलब्धा, उत्कठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्यत्पतिका, आगतपतिका । अधिकाश आचार्यों ने आठ ही अवस्थाभेदों का वर्णन किया है । रसमजरीकार ने दस भेद किए हैं । नवीन का यह नायिकाभेद वर्णन रसमजरी के आधार पर ही है जो हिंदी के उत्तर रीतिकाल में परंपराबद्ध हो चुका था । इसके बाद उत्तमा, मध्यमा और अधमा नायिकाओं का वर्णन नवीन ने किया है । नायकभेद का भी परंपरागत वर्णन है । इसके बाद चार प्रकार के दर्शन—श्रवण, चित्र, स्वप्न और साक्षात्—का वर्णन है । उपर्युक्त सब वर्णन रगतर्ग की 'आलबन विभाव' नामक प्रथम तरंग में किया गया है ।

द्वितीय तरंग उद्दीपन विभाव की है । इसमें सखा, सखी, दूती, उपवन, बाग, विहार, षड्भूत आदि का वर्णन है । नायकसखाओं में पीठमर्द, विट, चेट और विदूषक हैं । सखीकर्म में मडन, शिक्षा, उपालभ, परिहास आदि का वर्णन है । षड्भूतवर्णन इनका बड़ा ही विशद है ।

तृतीय तरंग में अनुभाव का वर्णन है जिसके लिये 'नवीन' का लक्षण यह है :

जिनते अनुभव होत है चित मे रति को भाव ।

ते अनुभाव बखानहीं, रस के सब कविराव ॥

अनुभावों के साथ ही सात्विक भावों और दुखों का भी वर्णन किया गया है : इनके उदाहरण बड़े ही सुंदर हैं । चतुर्थ तरंग में सचारी भावों का वर्णन किया गया है । सचारी भावों का लक्षण नवीन ने इस प्रकार दिया है :

थाई भावन मे रहै, आवत जात हमेश ।

नवरस माहीं संचरे है सचारी तेस ॥ २ ॥

थाई भावन में सदा या विधि प्रगटबि लाहि ।

जैसे लहर समुद्र में उठत उठत बिनसाहि ॥ ३ ॥

पंचम विलास में रसवर्णन किया गया है । रस के स्वरूपविवेचन में नवीन ने लिखा है :

मिलि विभाव अनुभाव अरु, विभचारी के जाल ।

थाई परिपूरण भयो, रस को रूप रसाल ।

तन विकार को पाइ ज्यों, होत छीर दधि रूप ।

त्यो थिर भावहि होत रस बरनत सुकवि अनूप ॥

इस प्रकार भरतादि के मतानुसार रस का परंपरागत स्वरूप स्पष्ट करके अलग अलग रसों का वर्णन रगतर्ग में किया गया है । वियोग शृंगार के प्रसंग में मान तथा दस दशाओं का भी वर्णन है । स्मृति का एक उदाहरण है

ललित कंदवन की गहरी कलित छाया,

मंद मंद दलक समीर अति सीरे की ।

नाचि चहुँ ओर मोर बीच में किसोर ठाढ़े,

छाड़ रही बाँसुरी की घोर सुर धीरे की ॥

भूलत न भौह की मरौर मुसकान मंजु,

कुंज के संकेत हित सैन सुख नीरे की ।

नैननि में लहरे लहरदार फेंटा अजौं,

फहरें हिरँ में फहरान पट पीरे की ॥

शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों में वीर रस का अच्छा वर्णन है। शेष रसों का वर्णन साधारण कोटि का है। रसवर्णन की पंचम तरंग के बाद ग्रंथपूर्णता के कवित्तों के साथ रंगतरंग समाप्त हुआ है।

रंगतरंग के कुछ सुंदर उदाहरण, जो इसकी काव्यगत विशेषता पर प्रकाश डालते हैं, यहाँ दिए जाते हैं :

पावस के घन ऐसे घूमत चलत भूमि,
भूमि पै नगर मनो चलत पहार ये ।
ऐड़दार उन्नत न मानें कान आँकुस की,
दिल की दलेलें खेलैं सेर की सिकार ये ।
महामतिवारे औ अनूप गतिवारे गज,
सोचत सचीपति हूँ मन में निहार ये ।
बखत बलंद जसवंतसिंह जू के नंद,
डारैं तेरे बैरिन की आँखिन में छार ये ॥ १ ॥
रातिब खवावत मरातिब सों पीलवान,
दान भर कुंभन ते बहुत बलावली ।
महुरा करत घूम भूम पै भसुंडन के,
दंतन के दाब थान पायन मलामली ।
भूप मालवेन्द्र के दराज गजराज ऐसे,
देखें होत दुर्जन के दिलन दलादली ।
झीनी झीनी झनक जँजीरन की भूमन में,
झालरी झमक झक झूलन झलाझली ॥ २ ॥

यह वर्णन मालवेन्द्र के हाथियों का है। इससे स्पष्ट है कि इनके वर्णन बड़े रोचक होते हैं। एक सदेहालकार से युक्त नायिका का वर्णन देखिए

लसैं लीक सी जाकी गुराई की नैननि,
अंगनि की अभिरामिनी है ।
चमकैं झमकैं दमकैं दुति देह,
दुरी दरसे गजगामिनी है ।
अरी आई नवीन सी को ब्रज मै,
तकिले निस को तुहि लामिनी है ।
पट स्याम घटा में घिरी तड़फै,
यह कामिनी है किधौं दामिनी है ॥ ३ ॥

विरहवर्णन भी नवीन का बड़ा ही मार्मिक है। एक प्रोषितपतिका का पावस ऋतु में विरहानुभव कितना मर्मस्पर्शी है, देखिए

बहुत दिना ते एक पाती को न पाइबो औ,
दूजे पुरवा को चलि छाती को जरायबो ।
तीजे घटा घन को घुमंड घिर आयबो ल्यो,
मोरन को जोर बोंध सोर को मचायबो ।
विरह बलाय लाय उर में लगाय चौथे,
चपला को चौध के कृपान चमकायबो ।
ताप और बाढ़त विषाद ज्यो ज्यो आवे याद,
चातक की बोली सुने प्यारी को बुलायबो ॥ ४ ॥

नवीन की भाषा भी बड़ी ही प्रवाहपूर्ण है, साथ ही, इनके वर्णन दृश्य को सजीव रूप में प्रस्तुत कर भाव को जागृत करनेवाले हैं।

पावस ऋतु के भूले के प्रसंग का एक छंद इस प्रकार है

फूलत कुसुम दल वल्लिन भरे हैं बंद,
सघन कदंबन में गुज अलि जोरे की ।
मोरन को सोर सीरी पवन झकोर घन-
घोर घोर परत फुहार जल थोरे की ।
गाँवें तिय तीजें भोज चनरी नवीन रंग,
जागि रही जोति की तरंग अंग गोरे की ।
उझकि उझकि भूमि भूमि झीने झोका लेत,
भूलत हिए मे अजौ भूलनि हिडोरे की ॥ ६ ॥

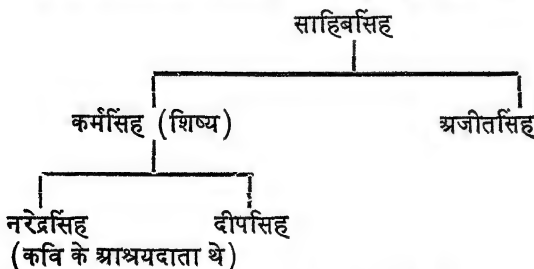
इस प्रकार कवित्त और विवेचन दोनों ही दृष्टियों से यह ग्रंथ सुंदर और महत्वपूर्ण है।

१९. चंद्रशेखर वाजपेयी कृत रसिकविनोद

चंद्रशेखर वाजपेयी असनी (जिला फतेहपुर) के निकट मौजबाबाद के निवासी थे। पिता का नाम मनीराम वाजपेयी था। चंद्रशेखर का जन्म स० १८५५ वि० में हुआ था। ये संस्कृत के विद्वान् और भाषाकवि थे। २२ वर्ष की आयु में ये दरभंगा पहुँचे जहाँ इनका बड़ा समान हुआ। इसके बाद जोधपुर के राजा मानसिंह के यहाँ ६ वर्ष रहे। वहाँसे कश्मीरनरेश महाराज रणजीतसिंह के यहाँ जाने के लिये प्रस्थान किया। मार्ग में पटियालानरेश से बहुत समान प्राप्त कर वही रह गए। इनका स० १९३२ वि० में स्वर्गवास हुआ। इनका वीर रस का प्रसिद्ध काव्य हम्मीरहठ है। इनके अन्य ग्रंथ नखशिख, बृदावनशतक, गुरुपचाशिका, ताजक, माधवीवसत, हरिमानस विलास, रसिकविनोद आदि हैं। चंद्रशेखर का श्रृंगार एवं नायिकाभेद पर लिखा ग्रंथ रसिकविनोद है। इसके मंगलाचरण में कवि ने लिखा है :

नव निकुंज नव राधिका, नव नागर नंद नंद ।
नित शेखर बंदत चरन, उपजत नव आनंद ॥ ५ ॥

इनके आश्रयदाता नरेद्रसिंह का वंशवृक्ष इस प्रकार है :



नरेद्रसिंह की प्रेरणा से इस ग्रंथ की रचना हुई, जैसा निम्नांकित दोहो से प्रकट है :

तब शेखर मन में कह्यो, महाराज के हेत ।
ग्रंथ नायिकाभेद को, रचिए रसनि समेत ॥ २८ ॥
कृपा नरेद्र मृगेस की, उरतभ उयो दिनेस ।
तब ते शेखर चित्त जलज, प्रफुलित रहत हमेश ॥ २९ ॥

बरनत नवरस रीत सौ लक्षणा लक्ष समेत ।

कृपासिंधु सब सुकवि जन, लैहैं सोधि सहेत ॥ ३२ ॥

कर्मसिंह की दानवीरता के सबध मे चंद्रशेखर ने लिखा है -

सलिल सिमित सरिता भई, कर्मसिंह के दान ।

कहौ कौन कवि कहि सके, ताको बाँधि प्रमान ॥ ११ ॥

चंद्रशेखर कर्मसिंह के गुरु थे । यह बात निम्नांकित छंद से प्रमाणित है

शेखर गुरु के चार चरन सरोजन को,

प्रेम मकरद ताको रसिक रसाल भो ।

काल रिपुगन को कराल द्विज दोषिन को,

भालबली बीर कर्मसिंह महिपाल भो ॥ १२ ॥

सबसे पहले इन्होंने लक्षणा का लक्षणा लिखकर उसमे अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव, इन तीन दोषों का वर्णन किया है । गूढ व्यंग्य और अगूढ व्यंग्य का उल्लेख करके मम्मट के मतानुसार उनके लक्षणा अभिधामूल और लक्षणा मूल व्यंग्यभेदों मे स्पष्ट किए गए हैं । इन व्यंग्यों से नायिका नायक का ज्ञान होता है । अतः इनका विवरण, इस प्रकार शेखर ने पहले दिया है । इसके बाद नायिकाभेद का वर्णन है । यह वर्णन इस प्रकार है—नायिका के तीन भेद हैं—स्वकीया, परकीया, सामान्या । स्वकीया के तीन भेद—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा । मुग्धा के दो भेद—ज्ञातयौवना, अज्ञातयौवना । नवोढा, विश्रब्धवोढा । प्रौढा के दो भेद—रतिप्रिया, आनंदसमोहा । मध्या और प्रौढा के तीन भेद—धीरा, अधीरा, धीराधीरा । इसके अतिरिक्त ज्येष्ठा, कनिष्ठा ।

परकीया के ऊढा, अनूढा, तथा गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता, अनुशयना । गुप्ता के तीन भेद—भूतगुप्ता, वर्तमानगुप्ता, भविष्यगुप्ता । विदग्धा के वचनविदग्धा, क्रियाविदग्धा । अनुशयना के सकेत विघटन अनुशयना, भाविध्यान शक्या अनुशयना, अनुमानशक्या अनुशयना ।

सामान्या के अन्यसुरतदु खिता, गर्विता, मानवती । गर्विता के रूपगर्विता, प्रेमगर्विता भेद हैं ।

इसके बाद अष्टविध नायिका का वर्णन है जो ये हैं—खडिता, कलहातरिता विप्रलब्धा, उत्कठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, विरहिणी । ये भेद अधिकतर रसमजरी के आधार पर हैं । केवल विरहिणी को प्रोषितपतिभर्तृका के स्थान पर कर दिया गया है । ये भेद स्वकीया और सामान्या सभी के होते हैं ।

नायकभेद भी रसमजरी के अनुसार ही हैं जो ये हैं—पति, उपपति, वैसिक । पति के अनुकूल दक्षिण, धृष्ट, शठ आदि ।

इसके उपरांत रसवर्णन है । रस के सबध मे शेखर का विचार है :

बरनत है सब सुकवि जन, रस कविता को सार ।

तामें भाव प्रधान है, ताको करो विचार ॥

भाव को इन्होंने मनोविकार माना है । ये तीन प्रकार के हैं—स्थायी, अनुभाव और संचारी । इसके अतिरिक्त भाव का मुख्य लक्षण इन्होंने अलग इस प्रकार दिया है :

इष्ट वस्तु अनुकूल है, जहाँ मगन मन होइ ।

ताकी इच्छा वासना, प्रगट भाव है सोइ ॥ २४१ ॥

यह चार प्रकार का—विभाव, स्थायी भाव, अनुभाव और संचारी—है । अनुभाव और संचारी का भेद देते हुए शेखर ने लिखा है :

जे रस को अनुभव करै, ते अनुभाव बखानि ।

बहु बिधि बिहरै रसनि में, ते सचारी जानि ॥ २४४ ॥

रसवर्णन के प्रसंग को इन्होंने भरतमत के अनुसार वर्णन करने का उल्लेख किया है । अनुभाव का लक्षण शेखर कवि इस प्रकार देते हैं

उरगत थाई भाव को, जाते अनुभव होइ ।

ताहि कहत अनुभाव है, भरतमतो कवि जोइ ॥ ३७२ ॥

बैन नैन अरु अंग सब, मन विकार अनुकूल ।

ईहा प्रगटत आपनी, सो अनुभव को मूल ॥ २७३ ॥

परंतु भरत के नाट्यशास्त्र में इस विषय का उल्लेख भिन्न प्रकार से है । भरत के मतानुसार

वागंगाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोनुभाव्यते ।

वागंगोपांगसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ ५ ॥

—नाट्यशास्त्र, पृ० ८०

इस प्रकार भरत के मत का स्वच्छदतापूर्वक कथन यहाँ पर हुआ है । रस का निरूपण भी इन्होंने भरत का मत ग्रहण करते हुए भी स्वच्छदतापूर्वक किया है । जैसे

लहि विभाव अनुभाव अरु, संचारिन के संग ।

वर्तमान थिर भाव जो, सो रस जान अभग ॥ ३८७ ॥

यह 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति' के आधार पर साफ ढंग से कहा गया है । नवरसो का स्पष्ट निरूपण आगे किया गया है । सयोग शृंगार के प्रसंग में हावों का सुंदर वर्णन है । भाववर्णन रसतरंगिणी का आधार अधिक लिए हुए है ।

इस ग्रंथ की रचना स० १६०३ में हुई थी, जैसा नीचे लिखे दोहे से प्रकट है :

संवत राम अकाश ग्रह, पुनि आतमा विचार ।

माघ शुक्ल सति सप्तमी भयो ग्रंथ अवतार ॥ ७४७ ॥

ग्रंथ में ७४७ छंद हैं और यह चंद्रवशावतश महाराज नरेंद्रसिंह के लिये चंद्रशेखर द्वारा लिखा गया । ग्रंथ के अंतर्गत उदाहरण स्वरूप आए छंद सरस एवं सुंदर हैं और कवि के भाषा पर अधिकार एवं वर्णनपटुता के द्योतक हैं । सभी रसों के उदाहरण सुंदर हैं । प्रमाणस्वरूप एक वीर और वियोग शृंगार का उदाहरण दिया जाता है

बाजिन के ठट्ट और गरट्ट गजराजन के,

गाजत तराजत सुभट्ट सरसेत मैं ।

बज्जत निसान आसमान मैं गरह छाई,

बोलत बिरह हृद बंदी बीर खेत मैं ।

इंद्र ज्यौ उमंडि चढ़ो सेखर नरेन्द्रसिंह,

अंगन उमंग बढ़ी समर सचेत मैं ।

लाली चढी बदन बहाली चढी वाहन पै,

काली सी कराली करवाली हथलेत मैं ॥ १ ॥

चंदन पंक गुलाब को नीर सरोज की ओजन जाति जरी सी ।

हारि थकी उपचारन कौ करिकै उर और ही आगि भरी सी ।

सेखर प्यारो गयौ परदेस परी तब ते द्युति हीन परी सी ।

छीन भई तिय दीन दसा तलफै जलहीन परी सफरी सी ॥ २ ॥

२० ग्वाल

ग्वाल का जीवनवृत्त तथा इनका रस एव नायकनायिका भेद सबधी निरूपण सर्वांगनिरूपक आचार्यों के प्रसंग में यथास्थान देखिए ।

(ख) शृंगाररस निरूपक आचार्य और उनके ग्रंथ

सर्वरसनिरूपक ग्रंथों के प्रसंग में हमने देखा है कि उनमें अधिकतर शृंगार रस और नायिकाभेद का वर्णन तो अधिक विस्तार से हुआ है, तरतु अन्य रसों का विवरण अत्यल्प है । इसी प्रकार शृंगार रस का निरूपण करनेवाले ग्रंथों में भी नायिकाभेद का वर्णन अधिक विस्तार से मिलता है । शृंगार रस के साथ नायिकाभेद अनिवार्य सा हो गया था । जैसा पहले कहा जा चुका है रीतियुग (स० १७०० से १९०० वि०) के दो तीन ग्रंथ ही इस विषय पर मिलते हैं । वे ग्रंथ भी नायिकाभेद के ही हैं ।

शृंगार रस पर लिखा ग्रंथ सुदरशृंगार है । सुदरशृंगार सवत् १६८८ की रचना है । सुदर शाहजहाँ के दरबारी कवि थे और उन्हें बादशाह ने मुहाकवि की उपाधि प्रदान की थी । समस्त रसों में शृंगार श्रेष्ठ है, इस बात को मानते हुए इस ग्रंथ में शृंगार रस का वर्णन है । साथ ही, शृंगार का आलबन नायिका है, अतः इसमें नायिकाभेद का वर्णन किया गया है । नायिकाभेद का आधार रसमजरी जान पड़ता है । अनुराग को सुदर कवि दो रूपों में प्रकट करते हैं—एक दृष्टानुराग और दूसरा श्रुतानुराग । भाव का लक्षण भरत के मतानुसार दिया गया है और फिर आठ सात्विक भावों और १६ प्रकार के हावों का वर्णन किया गया है । वियोग शृंगार का वर्णन केशव की रसिकप्रिया जैसा है । विरह की दस दशाओं में सुदर कवि ने नौ का वर्णन किया है, दसवी अवस्था मरण का वर्णन नहीं ।

सुदरशृंगार में लक्षण सामान्य किंतु स्पष्ट है और उदाहरण भी अच्छे हैं । लक्षणों में दोहरा या हरिपद छंदों का प्रयोग है । शृंगार रस का इस ग्रंथ में पूरा वर्णन है, केवल सचारी भाव नहीं है ।

प्रारम्भ में लिखा है, किंतु प्रसिद्ध ग्रंथ होने के कारण सुदरशृंगार ग्रंथ की काफी ख्याति रही । इसका उल्लेख बाद में आनेवाले लेखकों ने प्रायः किया है ।

सुदरशृंगार को रीतियुग की परंपरा में ही समझना चाहिए । क्योंकि लगभग उसी समय चितामणि, मतिराम आदि का भी काव्यकाल प्रारम्भ होता है । इस युग के ग्रंथों में केशव के समान कवि का अपना व्यक्तित्व विषयविवेचन में दृष्टिगत नहीं होता । रीतियुगीन कवियों का व्यक्तित्व तो अधिकांशतः उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत कविता में देखा जा सकता है ।

१ मंडन कृत रसरत्नावली

मणिमंडन मिश्र जैतपुर (बुंदेलखंड) के निवासी थे । इनका जन्म स० १६९० में हुआ था । कुछ लोगो ने इन्हें भूषण और मतिराम का भाई माना है जो निराधार है । इनके बनाए ग्रंथ रसरत्नावली, रसविलास, जनकपचीसी, जानकी जू को विवाह, नैन-पचासा, पुरंदरमाया (१७१६) हैं ।

रसरत्नावली—(अपूर्णा) में, कविता के सार रूप रस का वर्णन किया गया है । पहले सभी रसों के नाम हैं । भरत मतानुसार आठ स्थायी भावों का वर्णन है । रसाभास के सबंध में इनका कथन है :

रस जे होइ निबूझ बै, ते कहिए आभास ।

जैसे चेरी को लगनि, होंसी मुखजन पास ॥ ११ ॥

विभावानुभाव सचारी से स्थायी का जागना ही रस है। जैसे दूध से दही हो जाता है वैसे ही स्थायी रस में परिणत हो जाता है। इसके बाद आलवन, उदीपन (विभाव), अनुभाव आदि का उल्लेख और ३३ सचारी भावों का वर्णन है। शृंगार को समस्त रसों का राजा मानकर इसका वर्णन पहले किया गया है।

नायक का लक्षण इस प्रकार दिया गया है

नाइक सुघर सुहावनो, सरस सुसील कुलीन ।
परकाजी परस्वारथी, पंडित परम प्रवीन ॥
पंडित परम प्रवीन, दीन दुषमोचन दाता ।
धीर धर्म रुचि धनी, गीत गाथा गुन पाता ॥
चौंसठि कला निधान, ज्वान सोभा सब लायकु ।
मंडन रस सिंगार होइ आलंबनु नायकु ॥ २० ॥

नायक चार प्रकार के हैं। अनुकूल, दक्षिण, शठ, धृष्ट। द्विती तीन प्रकार की हैं—उत्तम, मध्यम और अवर। अवर वह है जो अधिक न जानकर केवल कहा हुआ सदेशा दे देती है।

नायिका नायक के समान गुणवाली होती है। नायिकाभेद का क्रम इस प्रकार है : स्वकीया, परकीया, समान्या (गणिका)। स्वकीया के मुग्धा, मध्या, प्रौढा। मुग्धा के नवमदना, नवयौवना, नवभूषनरुचि, अतिलज्जा, अतिडरपनी, रतवामा (नवोढा), मध्या के भेद लघुलज्जा, चित्ररति, बकविलोकनि, उन्नतयौवना है। प्रौढा—रतिव्यवसनी, रतिमोहिनी, लाजनिदरनी, मटकुनी आदि लक्षणोवाली हैं। इनके धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा भेद कहे गए हैं। साथ ही सरस, नीरस ये दो भेद मंडन ने नए कहे हैं। ये भेद परकीया के हैं। ऊढा, अनूढा, दो परकीया और १३ स्वकीया के भेद के साथ स्वाधीनपतिका आदि आठ दशाभेदों का वर्णन मंडन ने किया है। इसके बाद प्रति खंडित है।

यह ग्रंथ मंडन को विद्वान् और कवि दोनों सिद्ध करता है। मंडन की रचना बड़ी सरस है। इनकी भाषा सरल और शैली सुबोध है। वचनविदग्धा का एक उदाहरण उनकी काव्यगत विशेषताओं को स्पष्ट करेगा

अलीहलि तो गई जमुना जल को, सु कहा कहीं बीच बिपति परी ।
घहराइ के कारी घटा उनई, इतनेई मे गागरि सीस धरी ।
रपट्यो पग घाट चढो न गयो, कवि मंडन हूँके बेहाल गिरी ।
चिर जीवहु नंद को बारो अरी, गहि बाँह गरीब ने ठाढी करी ॥

२ मतिराम कृत रसताज

रससिद्ध कवि मतिराम चिंतामणि और भूषण के भाई थे। ये कानपुर जिले के टिकमापुर ग्राम के रहनेवाले कहे जाते हैं। पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। ये कश्यपगोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। टिकमापुर जमुना के निकट छोटा सा ग्राम है। इसी के पास बीरबल का बनवाया हुआ विहारेश्वर का मंदिर है। मतिराम के वंश के अनेक कवि हुए जिनमें चरखारी के महाराज विक्रमादित्य के आश्रित बिहारीलाल विशेष प्रसिद्ध थे। ये मतिराम के पौत्र थे। मतिराम ग्रथावली के सपादक पंडित कृष्णबिहारी मिश्र ने मतिराम का जन्मकाल सन् १६६० के लगभग और स्वर्गवास सन् १७५० के लगभग माना है। मतिराम अनेक राजाओं के आश्रय में गए थे जिनमें बूंदेल राज्य के अधिपति हाडा छत्रसाल, राव भाऊसिंह, जहाँगीर, राजा उदोतसिंह के पुत्र ज्ञानचंद, श्रीनगर के फतेहसाहि बुंदेला प्रसिद्ध हैं। मतिराम की प्रसिद्ध रचनाएँ ये हैं—ललितललाम, रसराज, फूलमजरी, छंदसार पिंगल, सतसई, साहित्यसार, लक्षणशृंगार और अलंकारपचाशिका।

इन ग्रंथों में अत्यधिक प्रसिद्ध और प्राप्त इनके दो ग्रंथ हैं—(१) ललितललाम और (२) रसराम । समस्त रीतियुग में इन दोनों ग्रंथों की अपने काव्यलालित्य के कारण धूम रही । ललितललाम अलंकार का ग्रंथ है और चंद्रालोक की पद्धति पर है । रसराम शृंगार और नायिकाभेद का ग्रंथ है जो अपने सुकुमार भावों और काव्यसौंदर्य के लिये रसिकों का कठहार बना हुआ है । मतिराम सरस, ललित एवं सुकुमार रचना के धनी है ।

रसराम में शृंगार और नायिकाभेद का निरूपण

रसराम, जैसा उसके नाम से ही प्रकट है, शृंगार का, जो रसों का राजा है, निरूपण करनेवाला ग्रंथ है । परंतु प्रधानतया इसमें नायिकाभेद का विस्तार है । यह शृंगार के आलंबन नायिकानायक वर्णन से प्रारंभ किया गया है । नायिका, मतिराम के विचार से, वह है जिसको देखकर चित्त के भीतर रसभाव की उत्पत्ति होती है । नायिका के अनेक भेदों के मतिराम के उदाहरण अत्यंत मनमोहक हैं । नायिका का वर्णन करनेवाला इनका सर्वथा बड़ा प्रसिद्ध है जो सरस एवं रमणीय काव्य का सुंदर नमूना है

कुंदन को रंग फीको लगै झलकै अति अंगन चारु गुराई ।
आखिन में अलसानि चितौनि में मंजु विलासन की सरसाई ॥
को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसकानि मिठाई ।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकरै ॥

इनका नायिकाभेद का आधार रसमजरी है । इन्होंने स्वकीया, परकीया और गणिका, तीन नायिकाएँ मानी हैं । स्वकीया के तीन भेद हैं—मुग्धा, जो लज्जा के कारण पतिसंग में भिन्न होती है, नवोढा कहलाती है, और जो प्रीति में कुछ कुछ पतियाती है वह विश्रब्धनवोढा होती है । मध्या और प्रौढा के धीरा, अधीरा, धीराअधीरा भेद हैं । परकीया के ऊढा, अनुढा तथा गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता, अनुशयना भेदों का वर्णन मतिराम ने किया है । परकीया का इतना ही प्रकरण है ।

गणिका के बाद अन्यसंयोगदु खिता, प्रेमगविता, रूपगविता, मानवती नायिकाओं का वर्णन मतिराम ने किया है । ये भेद स्वकीया के हैं जिसका संकेत मतिराम ने नहीं किया । इसके बाद दशविध नायिका—प्रोषितपतिका, खडिता, कलहातरिता, विप्रलब्धा, उत्कठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, प्रवस्त्यत्प्रेयसी और आगतपतिका—का वर्णन है । सरल, सीधे लक्षण तथा सुंदर उदाहरण रसराम की विशेषता है । ये भेद तीनों ही प्रकार की नायिकाओं के लिये जा सकते हैं । इसके बाद उत्तमा, मध्यमा और अधमा नायिकाओं का वर्णन है । मतिराम का यह वर्णन भी रसमजरी के आधार पर है और प्रायः स्वीकृत पद्धति पर है । अधिकांशतः लोगो ने इसी प्रकार नायिकाभेद निरूपण किया है ।

नायकभेद में पति, उपपति, बैसिक, ये तीन भेद किए गए हैं । इसके बाद चार प्रकार के नायको—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट—का उल्लेख है । ये नायक के पतिभेद के अंतर्गत हैं । उपपति और बैसिक का अलग वर्णन है । मानी, वचनचतुर और क्रियाचतुर, इन तीन प्रकार के नायको का वर्णन इसके अतिरिक्त है ।

इसके बाद मतिराम ने दर्शन को चार रूपों—श्रवण, स्वप्न, चित्र और साक्षात्—में प्रस्तुत किया है । इसके साथ उद्दीपन, परिहास, द्वंद्व आदि के वर्णन के पश्चात् अनुभाव, सात्त्विक भाव, हाव, संयोग शृंगार का सुंदर वर्णन किया गया है । वियोग शृंगार के पूर्वानु-

राग, मान, प्रवास, इन तीन भेदों का वर्णन है, कसगात्मक का नहीं, जिसका देव आदि परवर्ती कवियों तथा पूर्ववर्ती आचार्यों केशवदास ने वर्णन किया है। वियोग की दस दशाएँ मानी गई हैं, परंतु मतिराम ने नौ का ही वर्णन किया है। मरण दशा का वर्णन नहीं है। इन वियोगदशाओं के वर्णन के साथ ही ग्रंथ समाप्त हुआ है। मतिराम का यह वर्णन भी रसमजरी के आधार पर है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, मतिराम ने नायिकाभेद वर्णन बँधी परिपाटी पर किया है। अतः विवेचना या सिद्धांत सबधी कोई विशेष बात मतिराम में नहीं मिलेगी। परंतु इनके स्पष्ट लक्षणों के उदाहरण काव्य की निधि है। उन्माद दशा का एक उदाहरण यह है।

जा छिन ते 'मतिराम' कहै, मुसुकात कहूँ निरख्यो नँदलालहि ।
ता छिन ते छिन ही छिन छीन, बिथा बहु बाड़ी बियोग की बालहि ।
पोछति है कर सो किसलै गहि बूझति स्याम सरीर गुपालहि ।
भोरी भई है मयंकमुखी, भुज भेटति है भरि अक तमालहि ॥

मतिराम की कविता सुकुमार भावना और कोमल कल्पना के सहज गुणों से संपन्न है। इनकी अलंकारयोजना अनुभूति को स्पर्श करनेवाली है। इनके चित्रण व्यक्ति, वस्तु और भाव को सजीव रूप से प्रस्तुत करने की विशेषता रखते हैं। इनकी शैली सुसंस्कृत किंतु मर्मस्पर्शी है। मधुर, स्निग्ध भावावली के वर्णन में मतिराम अद्वितीय हैं। उदाहरण के लिये दो छंद देखिए।

गौने के झौस सिंगारन को मतिराम सहेलिन को गन आयो ।
कंचन के बिछुआ पहिरावत प्यारी सखी परिहास जनायो ।
पीतम सौन समीप सदा बजै यौ कहिकै पहिलै पहिरायो ।
कामिनी कौल चलावन कौ कर ऊँचो कियो पै चलयौ न चलायो ॥
भौरपखा मतिराम किरौट में कंठ बनी बनमाल सुहाई ।
मोहन की मुसकानि मनोहर कुंडल डोलनि में छबि छाई ।
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई ।
वा मुख की मधुराई कहा कहौ मीठी लगै अँखियान लुनाई ॥ २ ॥

३. देव

देव के जीवनवृत्त तथा उनके शृंगार एवं नायिका-भेद-विवेचन के लिये सर्वांग-निरूपण के प्रसंग में यथास्थान देखिए।

देवकृत भवानीविलास की ही पद्धति पर कृष्ण भट्ट देवऋषि द्वारा लिखा शृंगार-रस माधुरी ग्रंथ है। इसमें वर्णन नवरसों का है, परंतु वे शृंगार के रूप से ही लगते हैं। भवानीविलास में देव ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है, परंतु शृंगाररस माधुरी में यह उल्लेख नहीं है। इस कारण इसका विवेचन सर्वरस निरूपण करनेवाले ग्रंथों के प्रकरण में पहले किया जा चुका है।

दिल्लीपति मुहम्मदशाह की आज्ञा से आजम कवि ने सवत् १७८६ वि० में शृंगार-दर्पण नामक शृंगारग्रंथ रस और नायिकाभेद पर लिखा। कवित्व और विवेचन दोनों ही की दृष्टि से यह साधारण श्रेणी का ग्रंथ है।

४. सोमनाथ

सोमनाथ का जीवनवृत्त तथा इनके शृंगार एवं नायिकाभेद निरूपण ग्रंथों का विवेचन सर्वांगनिरूपक कवियों के प्रसंग में यथास्थान देखिए।

५. उदयनाथ कृत रसचंद्रोदय

उदयनाथ 'कवींद्र' वनपुरा के निवासी और प्रसिद्ध कवि कालिदास त्रिवेदी के पुत्र थे। ये अमेठी के राजा हिम्मतसिंह और गुरुदत्तसिंह 'भूपति' के आश्रय में रहे। हिम्मतसिंह ने रसचंद्रोदय ग्रंथ पर ही इन्हें 'कवींद्र' की उपाधि दी थी। रसचंद्रोदय का दूसरा नाम विनोदचंद्रोदय भी है। इसकी रचना स० १८०४ में हुई थी।

रसचंद्रोदय—शृंगार और नायिकाभेद पर लिखा गया ग्रंथ है। शृंगार के सयोग और वियोग दोनों भेदों का उल्लेख इसमें है, परंतु यह रसचंद्रोदय काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। नायिकाभेद का वर्णन रसमजरी की परिपाटी पर है। रसचंद्रोदय में लक्षणों को स्पष्ट करने के लिये दिए गए उदाहरण कवित्वपूर्ण हैं। इनकी रचना सरल, सरस, एवं सुबोध है। इस प्रसंग में दिवाभिसारिका का उदाहरण देखिए :

भूमि घन घटा आई भूँद छूँव अकाश छाई,
चमकत कौंधा चकचौंधा से बगारे ते ।
चटकारी चुनरी कुसुभी वा किनारीवारी,
तैसिए दमकि रही घूँघट उघारे तें ।
तेल औ फुलेल लागी अलकें बिथुरि रही,
मानों नाग लटकत कुडल किनारे ते ।
खोस में सिधारी गिरिधारी के मिलन हेतु,
जानी जाति दामिनी न कामिनी निहारे ते ।

कवींद्र के वर्णन भी बड़े सजीव हैं और दृश्य को प्रभावकारि रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्रौढा प्रोषितभर्तृका का उदाहरण निम्नांकित है :

कुंज कुंज भौरन में भौर पुंज गुंजरत कोकिला रसालनि निकुंज ठाँव ठाँव ते ।
मंद मंद माखत बहत मलयाचल ते बाही मग आवैं सुरभित होत गावते ।
भनत कवींद्र कोरु चलत बसंत समैं तुमसे चलन कहौ पूजो पिय पाँव ते ।
गोरस की आन देहौ असकुन ठान देहौ जान देत तुम्हैं पै न जान देत भावते ॥

नायक के प्रसंग में इन्होंने नायक के मानी, चतुर और अनभिज्ञ भेदों की भी चर्चा की है। इनका ग्रंथ विवेचन की अपेक्षा कवित्वगुणों से अधिक संपन्न है।

६. भिखारीदास

भिखारीदास के जीवनवृत्त तथा शृंगार और नायिकाभेद के ग्रंथों के विवेचन के लिये सर्वांगनिरूपक कवियों के प्रसंग को यथास्थान देखिए।

७. चंद्रदास कृत शृंगारसागर

चंद्रदास का और परिचय प्राप्त नहीं हो सका। इनका ग्रंथ शृंगारसागर ही मिला है। इनके रचनाकाल का संकेत इस छंद में है

दस अष्ट सतव्रत वर्ष रची पुन नव सु भनीत विवेक बिचारो ।
आवण मास कला ससि की डुतिया सुभ संजम धर्म सुधारो ।
ग्राम सु हेसपुरी बसिकै, एहु प्रश्न सु दिव्य पुरान सवारो ।
चंद तजे रस भाव सबै सब जोग सो छोरहि आन बिसारो ॥

इससे प्रकट है कि इसकी रचना १८११ वि० में हुई थी। इसका आधार रास-पचाध्यायी है, जैसा निम्नांकित दोहे से प्रकट है :

पंचध्यायी ध्यान यह बरनौ सुक मुनि व्यास ।

पठत सुनत पावत सुषद नरनारी कैलास ॥

ग्रंथ मे २२५ कवित्त, ७३ दोहा, २८ सोरठा है । चद्रहास ने 'जयचद्र' के नाम से भी कविता की है । यह रचना राधाकृष्ण के विनोद और विलास का वर्णन करती है, अतः इसे भक्तिशृंगार का ग्रंथ कहना चाहिए । लिखा है

नौरस षोडस भक्तरस द्वादस भूषन मर्म ।

बरनउ क्रीड़ा कृष्ण सुभ गोचर सात्विक धर्म ॥ ३ ॥

इसमे लक्षणो पर आग्रह नहीं, राधाकृष्ण की प्रेमलीला का ही वर्णन है, यद्यपि कुछ प्रसंग नायिकाभेद ग्रंथो के से वर्णित है । जयचद्र ने लिखा है

लच्छन जानत रसिक जन, साधू जानत ध्यान ।

चंद बषानत कृष्ण गुन, राधा रहस विधान ॥

इसमे १६ शृंगारो का वर्णन करने के बाद पद्मिनी आदि चार नायिकाओं का वर्णन किया गया है । इनके केवल उदाहरण ही नहीं, लक्षण भी कहे गए हैं । इसके बाद स्वकीया और परकीया का वर्णन है । आंतरिक तल्लीनता न होने से सामान्या का वर्णन इसमे नहीं किया गया है । यह सब प्रथम अध्याय का विषय है । द्वितीय अध्याय दर्शन-वर्णन से प्रारंभ होता है । इसके बाद सखीकर्म, राधा का आगमन, राधाजी की शोभा, नखशिख-सौंदर्य का वर्णन है । फिर ऋतुविहार वर्णन है । मानवर्णन, विलासवर्णन, वसतऋतु क्रीडा, प्रेमपरीक्षा, रासक्रीडा रासपचाध्यायी (भागवत) का प्रसंग है । इसमे सरस शृंगारिक भक्तिभावना का वर्णन है, जो युग का प्रवाह है । इनका काव्य सामान्य कोटि का है ।

८. रामसिंह कृत रसशिरोमणि

नरवरगढ के राजा रसनिवास के रचयिता महाराज रामसिंह का शृंगार पर लिखा ग्रंथ रसशिरोमणि है । इसका परिचय इस प्रकार है .

कूरम कुल नरवरनृपति छत्रसिंह परवीन ।

रामसिंह तिहि तनय यह, बरन्यो ग्रंथ नवीन ॥ ३३१ ॥

बरन बरन विचारि नीके समझि यो गुन आय ।

सरल ग्रंथ नवीन प्रगट्यो रससिरोमणि नाय ।

माघ सुदि तिथि पूरना, षण पुष्य अऊ गुरुवार ।

गिनि अठारह सै बरस पुनि तीस संवत सार ॥ ३३२ ॥

ग्रंथ ३३२ छंदो मे पूर्ण हुआ है । इसका रचनाकाल स० १८३० वि० है । मगलाचरण के बाद नायिका का लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है -

चित्त विचर रस को भाव अति, उपजत देषे जाहि ।

कवि जन रसिक प्रवीन जे कहत नायका ताहि ॥ २ ॥

यहाँ पर 'रस को भाव' प्रकट होना, यह वाक्य अनुचित है । हो सकता है, 'रस' के स्थान पर 'रति' हो । नायिका का उदाहरण सुंदर है

अंग सलोने भरे रुचि सोने से कोमल गोरे लिए अरुनाई ।

नैन छकै से रसीली चितौनि बसै मुसिक्यानि सुधा सी मिठाई ।

बैन सुनै सरसे सुख औननि है मनमोहन चारु निकाई ।

होत निहारत में न अघानि लसै छबि और ही और सुहाई ॥ ३ ॥

बाद राजवश वर्णन है। इसके उपरांत रसमजरी के आधार पर बनी परिपाटी के अनुसार नायिकाभेद वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् भाव का लक्षण और फिर सयोग-वियोग शृंगार का विस्तार से वर्णन है। अन्य रसों की बड़ी संक्षिप्त चर्चा है। सात्विक भावों, हावों, मान, वियोगदशाओं आदि का वर्णन अति विशद है।

कृष्णकवि की रचना कवित्व की दृष्टि से सुंदर है। इसमें सरसता और सहज प्रवाह है जो मनोमुग्धकारी प्रभाव डालता है। आलंकारिक उक्तियों और शब्दचयन के चमत्कार ने इनकी रचना को मधुर बना दिया है। इनके नायिकावर्णन से एक छंद उदाहरणस्वरूप यहाँ दिया जाता है

बैन सुरंग कुरंग नरंग अनग उमग न अग प्रकासी ।

कृष्ण कहै अति सुभ्र छटा सुघटा गरजै पट लागै अकासी ।

बार के भार लचै कटि मोहन भूषन फूलन ताई चकासी ।

कोमलता सी सुपासी रसी मुनि दोपसिषा सी है जोति बिकासी ॥

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में शृंगार रस पर अलग से लिखे हुए ग्रंथ कम मिलते हैं। अधिकतर सर्वांगनिरूपक या सर्वरसनिरूपक ग्रंथों के अंतर्गत शृंगार का वर्णन आया है। नायिकाभेद पर, जो शृंगार का ही एक अंग है, अवश्य इस बीच अधिक ग्रंथ उपलब्ध होते हैं।

(ख) नायिकाभेद निरूपक आचार्य और उनके ग्रंथ

जैसा पहले कहा जा चुका है, नायिकाभेद विषय पर, रसग्रंथों और शृंगारग्रंथों में भी प्रचुर सामग्री मिलती है जिसका उल्लेख पूर्वगामी प्रसंगों में यथास्थान किया जा चुका है। परंतु अकेले नायिकाभेद विषय पर लिखे जानेवाले ग्रंथों का भी एक वर्ग है जिसके अंतर्गत नायकनायिका भेद ही लिखे गए हैं। यह कहा जा सकता है कि नायिकाभेद पर अधिक प्राचीन समय से हिंदी में ग्रंथ उपलब्ध होते हैं और आधुनिक युग तक इन ग्रंथों के लिखने का चलन रहा है।

रीतियुग के पूर्व समस्त रसों का विवेचन करनेवाला ग्रंथ केवल रसिकप्रिया है और शृंगार रस का विवेचन करनेवाला ग्रंथ सुंदरशृंगार है, परंतु नायिकाभेद पर भक्तियुग में ही ये चार ग्रंथ उपलब्ध होते हैं—कृपारामकृत हिततरंगिणी, सूरदासकृत साहित्यलहरी, नंददासकृत रसमजरी और रहीमकृत बरवै नायिकाभेद। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिंदी साहित्य में नायिकाभेद पर ग्रंथ लिखने की प्रवृत्ति, काव्य-शास्त्रीय या रसग्रंथ लिखने के पूर्व आई।

कृपारामकृत हिततरंगिणी इस दिशा में सर्वप्रथम रचना है। इसका समय संवत् १५६८ वि० है जैसा निम्नलिखित दोहे से स्पष्ट है।

सिद्धि निधि शिवमुख चंद्र लखि, भाष्य शुद्ध ततियासु ।

हिततरंगिणी हौं रची कविहित परम प्रकासु ॥ २०६ ॥

कृपाराम के प्रारंभिक कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि शृंगार रस और नायिकाभेद संबंधी ग्रंथों का वर्णन उनके समय में बड़े छंदों में होता था और उन्होंने संक्षेप और सुविधा के कारण दोहा जैसे छोटे छंदों में इसकी रचना की।

बरनत कवि सिंगार रस, छंद बड़े बिस्तारि ।

मैं बरन्यौ दोहान बिच, याते सुघर बिचारि ॥ ४॥

हिततरंगिणी में पहले विभाव का आलंबन और उद्दीपन रूप में उल्लेख करके फिर नायक नायिका रूप में कृष्ण राधा का संकेत है। नारी के तीन भेद—स्वकीया,

परकीया और वारवधू—का उल्लेख करके उनके उत्तम, मध्यम और अधम भेद प्रकृति-भेद से किए गए हैं। ये भेद भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर हैं। मुग्धा के ज्ञात-यौवना, नवोढा विश्रब्धनवोढा भेद हैं। मध्या के अतिविश्रब्धनवोढा तथा प्रौढा के आनन्दमत्ता एव रतिप्रिया भेद हैं। स्वकीया के तीन भेद और हैं—अतिहित, समहित और न्यूनहित। इनका उल्लेख बाद के आचार्यों ने नहीं किया है।

परकीया के भेद ऊढा, अनूढा। ऊढा के भेद भी इसी प्रकार दो किए गए हैं जो आगे के ग्रंथों में नहीं मिलेंगे, वे हैं—परव्याही, जब परकीया उपपत्ति के पास हो, और प्यारी जब वह पति के पास हो। इसके बाद लक्षिता, चतुरा, कुलटा, मुदिता, स्वय-दूतिका, अनुशयनिका, गुप्ता भेद भी परकीया के कहे गए हैं।

इसके बाद सबके दस भेद किए गए हैं जो ये हैं—स्वाधीनपत्तिका, वासक-सज्जा, उत्कठिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खडिता, कलहातरिता, प्रवत्स्यत्पत्तिका, प्रोषितपत्तिका और स्वागतपत्तिका। स्वकीया, परकीया और वारवधू के भेद से नायक के तीन भेद किए गए हैं—पति, उपपति और बैसिक।

इसके उपरांत सखी और उनके कर्म, दूतीभेद और कर्म आदि का वर्णन है। कृपाराम ने सामान्या तक के मुग्धा, मध्या, प्रौढा आदि भेद किए हैं जो आगे के आचार्यों ने मान्य नहीं समझे। इसमें बीच में विरह की दस अवस्थाओं का भी उल्लेख है। यही कृपाराम की नायिकाभेद की वर्णनपद्धति है। परवर्ती लेखकों ने भरतमत को न मानकर भानुदत्त की रसमजरी का आधार ग्रहण किया है।

सूरदासकृत साहित्यलहरी का समय अधिकांश विद्वानों द्वारा स० १६०७ वि० माना जाता है। यह सूरसागर से भिन्न कूट पद्धति पर लिखा गया साहित्यिक विशेषता से युक्त ग्रंथ है क्योंकि इसमें भक्तिरस के अनुकूल नायिकाभेद का वर्णन है। इसका उद्देश्य लौकिक वासनाओं को भक्तिरस समुद्र में निमज्जित करना था। भक्ति के भावों का सूरसागर जैसा तन्मय वर्णन इसमें नहीं, वरन् बौद्धिक कलाबाजी के रूप में नायिकाभेद प्रस्तुत किया गया है जिससे इस प्रकार की लौकिक वासनाओं के साथ मन समझौता न कर पाए।

नन्ददासकृत रसमजरी स्पष्टतया नायिकाभेद का ही ग्रंथ है, परन्तु इसका उद्देश्य प्रेम का रहस्य समझना है। नन्ददास ने भानुकृत रसमजरी के आधार पर रचना की है, जैसा निम्नलिखित दोहे से स्पष्ट है

रसमंजरी अनुसार के, नंद सुमति अनुसार।

बरनत बनिता भेद जहाँ, प्रेम सार विस्तार ॥ २५ ॥

उद्देश्य को स्पष्ट करता हुआ उनका छंद है

बिन जाने यह भेद सब, प्रेम न परचै होय।

चरण हीन ऊँचे अचल, चढ़त न देख्यो कोय ॥ १६ ॥

इस प्रकार यह नायिकाभेद वर्णन साधन है। नायिकाभेद वर्णन का क्रम इस प्रकार है—स्वकीया, परकीया, सामान्या। इनके मुग्धा, मध्या, प्रौढा भेद हैं। मुग्धा के नवोढा, विश्रब्धनवोढा एव ज्ञातयौवना, अज्ञातयौवना भेद हैं। मध्या और प्रौढा के धीरादि भेद। इसके बाद इनके स्वाधीनपत्तिकादि नौ भेद हैं। तदनंतर नायकभेद भी मान्य पद्धति पर हैं। यह ग्रंथ केवल लक्षण वर्णन करता है और अधिकांशतः हिततरंगिणी के समान है। नन्ददास का यह नायिकाभेद वर्णन माधुर्य भक्ति की उपासना की सीढ़ी के रूप में है।

रहीमकृत बरवै नायिकाभेद बरवै छंदो में लिखा नायिकाभेद का उदाहरण ग्रंथ है। इसमें लक्षण नहीं है, केवल उदाहरणों में विविध नायिकाओं के शीर्षक हैं। अतः शास्त्रीय दृष्टि से नहीं बरन् कवित्व की दृष्टि से ही इसका महत्व है। बरवै बड़े सरस है और इस विशिष्ट छंद से आकर्षित होकर ही रहीम ने यह ग्रंथ लिखा। वर्णन का क्रम रसमजरी के अनुसार है। परन्तु अवस्थानुसार दशविध नायिका का वर्णन कर यह ग्रंथ समाप्त हुआ है। आंतरिक भावों का इसमें बड़ा स्वाभाविक एवं मर्मस्पर्शी वर्णन है। प्रिय के सानिध्य और सहयोग की ललक इस ग्रंथ में इस प्रकार वर्णित है कि इससे तत्कालीन समाज में नारी की दशा भी चित्रित हो जाती है।

इन ग्रंथों के बाद रीतियुग में लिखे नायिकाभेद ग्रंथ आते हैं। इनका उद्देश्य भक्ति सबधी नहीं, बरन् रसात्मक और साहित्यिक है। स० १७०७ के आसपास शम्भुनाथ सुलकी या नृपशम्भु के नायिकाभेद ग्रंथों का उल्लेख मिलता है, पर वे प्राप्त नहीं हैं। इसलिये इस विषय पर प्राप्त चिंतामणि त्रिपाठी कृत शृंगारमजरी ही प्रथम रह जाता है।

१. आचार्य चिंतामणि कृत शृंगारमजरी

चिंतामणिकृत रसनायिकाभेद ग्रंथों का विवेचन तथा उनका जीवनवृत्त सर्वांग-निरूपक प्रकरण में यथास्थान देखिए।

२ कालिदास कृत वधूविनोद

कालिदास त्रिवेदी अतर्वेद के रहनेवाले थे। ये औरगजेब की सेवा में बीजापुर की लड़ाई में भी गए थे। इनके रचे ग्रंथ—हजारा, राधामाधवबुध मिलन विनोद, वधू-विनोद या वारवधूविनोद हैं। वधूविनोद ग्रंथ जालिम जोगाजीत के लिये लिखा गया।

प्रारम्भिक परिचयात्मक विवरण से पता चलता है कि ये जूनरेश थे। छंद यह है

भयभीत दुर्जन होत है कर गहत कौ समसेर है ।
कर षणा जालिम के जगै जिमि जगत जग जस मे रहे ।
जसु जीति जोगाजीत लीनौ मच्चौ सुरपुर भगर है ।
परसिद्ध जब्दीप कौ नौथान जंबू नगर है ॥ ५ ॥
नगर एक बीनो तहाँ, बहुबिध नृपति अनूप ।
तरे बहे तृपदा नदी, त्रिपथगामिनी रूप ॥ ६ ॥
रूप धरै हरिहर जहाँ तृकुटा देवी द्वार ।
पुनि है बाला सुदरी लह्यो न ता गुन पार ॥ ७ ॥
पारबती नायक तहाँ सिध्दायक है ईश ।
सोभे सुरपुर मध्य में बसे चंद जा सीस ॥ ८ ॥
तिलक जानि जा देस कौ दुवन भए भयभीत ।
जाहिर भयो जहान में जालिम जोगाजीत ॥ ११ ॥

जालिम जोगाजीत का वंशपरिचय १३वे, १४वे तथा १५वे छंदों में दिया है। मालदेव के रामसिंह, उनके जैतसिंह, उनके माधोसिंह, उनके रामसिंह (द्वितीय), उनके गोपालसिंह, उनके सुबहरीसिंह, उनके गोकुलदास, उनके लक्ष्मीसिंह तथा उनके पुत्र वृत्तसिंह थे। इन्हीं वृत्तसिंह के पुत्र थे जोगाजीतसिंह।

जोगाजीत मुचीन को, दोनौ अग्रनिष्ठ दान ।

कालिदास जाते कियो, ग्रंथ पंथ जून माव ॥ १५ ॥

इसमें नायिकाभेद एक कथाप्रसंग के रूप में वर्णित है। ललिता सखी राधा

को कृष्ण से मिलाने के लिये दूतीत्व का कार्य करती है और जबतक राधा नहीं आती, तबतक वह विविध नायिकाओं के भेदों का वर्णन करती है। उसका जोर स्वकीया नायिका पर है और व्यंग्य रूप से वह राधा से विवाह की बात ही तात्पर्य रूप में कहना चाहती है।

भेद कहे कुलबधुनि के, प्रथमहि रचि रचि बैन ।

मिले लाल गोकुल बधू, पै कुलबधू मिलै न ॥ २० ॥

कुलबधू स्वकीया नायिका है जिसके मुग्धा, मध्या, प्रौढा भेद परंपरागत है। मुग्धा के अक्रुरितयौवना, नवभूषणरुचि, लज्जावती, अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना, विश्रब्धन-बोढा भेद है। वय संधि की स्थिति में होने से इसका भी वर्णन इसमें है। कालिदास का विचार है, इस अवस्था में—‘ज्यो दूधहि जामन त्यो मनभावन जीवन आवन जोग भयो।’ एक उदाहरण है

क्लिप्तकत पट षोलै संकुचित बोलै भूषण नौलै रुचि उमगे ।

दुलहिन होने की पिव लौने की मन गौने की बात षगे ।

बोढनी सभारी उरजरतारी मुख पै भारी जोति जगे ।

गाहू ने बाढ़त लाजन डाढत घूँघट काढत लाज लगे ॥ ३० ॥

मध्या में लाज और काम बराबर होता है। प्रौढा रतिकोविदा होती है। धीरा, अधीरा आदि भेद परंपरागत है। इन सबके उदाहरण इन नायिकाओं का वास्तविक चित्र खींचनेवाले है। ये वर्णन त्रिभंगी और ललित दुपई, चौपई आदि छंदों में है। दुपई छंद :

कली कमल की प्रौढा धीराधीरा गही भली यो ।

पिय तर्जन ता करि के चितई के दृग कमल कली ज्यो ॥ ५३ ॥

ज्यो कली कमल की अरुनै दल की त्यो दृग कलकी छवि सरसी ।

तिरछौहै जोहै तफित न को है पिय को मोहै कर बर सी ।

कर लग चलावन पिय परिपावन त्यो मन भावन गहि परसी ।

त्यो कोप ककोरें लोचन कोरे पिय मुख बोरे करि दरसी ॥ ५४ ॥

ज्येष्ठा, कनिष्ठा, भेद के साथ स्वकीया प्रसंग समाप्त हुआ है। परकीया के ऊढा, अनूढा, गुप्ता, त्रिविधा, विदग्धा लक्षिता, कुत्रटा, अनुमुग्धा, मुदिता भेदों का वर्णन है। सामान्या का वर्णन न केवल उसके लक्षणा के साथ है, वरन् उसके नृत्य एवं सौंदर्यचेष्टाओं का भी चित्रण है। एक उदाहरण है

बिहसै सिर दारै, सरस उदारै दरद विदारै दृग पलकै ।

बेसरि के पोतिन मनगन जोतिन जरकस जोतिन तन कलकै ।

उरबसी न पूजै कवि कुल कजै वसिकिनि दूजै गहि जलकै ।

जगमग बरवीचिन बदन मरीचिन सदन दरीचिन छवि छलकै ॥ १०१ ॥

वारवधू के नखशिख, आभूषण, चेष्टा आदि का भी वर्णन इसमें है। यह वर्णन इतना विस्तृत है कि इसे ‘वारवधूविनोद’ नाम भी दिया जाता है। चेष्टा सौंदर्य का एक छंद है

लगे कान में बीरि की आन फैली । लगै दूरि के सूर की जोति मैली ।

नचै नैन नीके रचै चैन चोपै । हरै उल्लसै फुल्ल अभोज ओपै ॥ १११ ॥

इस प्रकार सामान्या का विस्तार से वर्णन है। इसके बाद अष्टनायिकाओं का कथन है। अन्यसभोगदु खिता, वक्रोक्तिगविता, रूपगविता, आदि के साथ विप्र-

लब्धा, वासकसज्जा, स्वाधीनभर्तृका, अभिसारिका, प्रोषितपतिका का वर्णन इस प्रसंग में किया गया है। उत्तमादि नायिकाओं का वर्णन इसके बाद हुआ है। इसके बाद कृष्ण राधा के सयोगविलास का वर्णन है। इसी ग्रंथ में यह छंद है

एक ही सेज पै राधिका माधव धाड़ लै सोई सुभाई सलोने ।
पारे महाकवि कान्हू को मद्धि पै राधा कहै यह बात न होने ।
हैंहौ न साँवरी साँवरे ते मिलि बावरी बात सिखाई है कौने ।
सोने को रूप कसौटी लगै पै कसौटी को रंग लगै नहि सोने ॥ २३६ ॥

इसके बाद नायक और नायकसखाओं का वर्णन है। राधा कृष्ण के शृंगार-वर्णन में कवि कालिदास की भक्तिभावना के दर्शन होते हैं, जैसा अत के कवित्त तथा छंद से प्रकट है

भीजै इक जाम तकि राधा घनस्याम केलि,
धाम ते निकरि दोऊ बाहरी धौ आए हैं ।
कालीदास अंगन अंगना मरोरि आनि,
अंगराग अंग के सबै ही झहराए हैं ।
कंचन सो तन तामें ओप परी निषरी है,
प्यारी मुख सुषमा समूह सरसाए हैं ।
झीने पट झलकन लागी छवि छलकनि,
अलकनि पलकनि जलकनि छाए हैं ॥ ३३६ ॥

दुपई—

छाय रहे जु छहों रित जा घर प्रेम जँजीर जकरिकै ।
कालिदास राधा माधव के पूजौ पाइ पकरिकै ॥ ३४० ॥

इस प्रकार वधविनोद ३४० छंदों में समाप्त हुआ है। इसकी रचना स० १७४६ वि० में हुई थी। कालिदास ने महाकवि नाम से भी कविता की है, जैसा ऊपर उद्धृत छंद २३६ से प्रकट है। नायिकाभेद पर यह उत्तम ग्रंथ है। इसके उदाहरण कवित्वपूर्ण हैं। इनकी कविता उक्तिवैचित्र्य, भावव्यजना और वर्णनसौंदर्य से संपन्न है।

नायिकाभेद विषय पर १८वीं शताब्दी के मध्य में अनेक ग्रंथ लिखे गए हैं। खोज रिपोर्टों और कुछ इतिहास ग्रंथों में श्रीधर का लिखा नायिकाभेद, कुदन (बुदेल-खडी) का नायिकाभेद, केशवराय का नायिकाभेद, खगराम का नायिकाभेद, रंग खाँ का नायिकाभेद, प्रभृति ग्रंथों का उल्लेख हुआ है। ये ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध नहीं हुए। साथ ही, ये प्राप्य भी नहीं हैं। यह तथ्य इनके कवित्व और विवेचन दोनों ही के महत्व को साधारण कोटि का सिद्ध करता है। परंतु यहाँ पर यह प्रवृत्ति पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि अल-कार ग्रंथों के साथ नायिकाभेद ग्रंथों की रचना का प्रचुर मात्रा में प्रचलन था। यह प्रवृत्ति १९वीं शताब्दी के अंत तक परिलक्षित होती है।

३ यशोदानंदन कृत नायिकाभेद

यशोदानंदन का उल्लेख शिवसिंहसरोज में मिलता है। ये सम्भवतः उन्नाव जिले के बैसवारा क्षेत्र के निवासी थे। इनका जन्म स० १८२८ में हुआ था। इन्होंने बरवै नायिकाभेद नामक ग्रंथ स० १८७२ वि० में लिखा था। इसमें संस्कृत में भी कुछ बरवै मिलते हैं, शेष अवधी भाषा में लिखे बरवै हैं। यह रहीम के बरवै नायिकाभेद के समान ललित ग्रंथ है। महत्व कवित्व का है, विवेचन का नहीं। कविता बड़ी सरस है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में भी नायिकाभेद पर लिखे गए ग्रंथ मिलते

है। माखन पाठक ने स० १८६० में होली के वर्णन के साथ नायिकाभेद कहनेवाला वसंतमजरो नामक ग्रंथ लिखा, जैसा उनके निम्नांकित कथन से स्पष्ट है।

गनो नायका राधिका, नायक नंदकुमार।

तिनकी लीला फागु की, बरनौ परम उदार ॥ १ ॥

इनके वर्णन अच्छे हैं। महाकवि देव के प्रपोत्र भोगीलाल दुबे ने भी बखत-विलास नामक ग्रंथ की रचना स० १८५६ में की जो नायिकाभेद पर लिखा हुआ ग्रंथ है। यह कूर्मनरेश बख्तावरसिंह के लिये लिखा गया था।

नायिकाभेद पर जगदीशलाल कृत ब्रजविनोद नामक ग्रंथ भी इसी समय की रचना है।

४. प्रतापसाहिकृत व्यंग्यार्थकौमुदी

प्रतापसाहिकृत रस और नायिकाभेद ग्रंथों का विवेचन तथा उनका जीवनवृत्त सर्वांगनिरूपक प्रसंग में यथास्थान देखिए।

५. गिरिधरदास कृत रसरतनाकर, उत्तरार्ध नायिकाभेद

(भारतेदु हरिश्चंद्र द्वारा संपादित तथा खगविलाम प्रेस, बाँकीपुर, पटना से प्रकाशित)।

भारतेदुजी ने मंगलाचरण के बाद इस ग्रंथ में लिखा है :

रसरतनाकर नाम इक, मम पितु बिरच्यो ग्रंथ।

यथा नाम गुन गन भरच्यो, दरसावन रस पथ ॥ ३ ॥

तामें भावादिक कहे, जेहि पढ़ि रहत न खेद।

काल कृपा ते रहि गयो, लिखन नायिकाभेद ॥ ४ ॥

ताको इक बरनन करत, सुमिरि कृष्ण सुख कद।

पितु इच्छा पूरन करन, ता सुत श्री हरिचंद ॥ ५ ॥

इस ग्रंथ में लक्षण भारतेदु हरिश्चंद्रजी के गद्य में लिखे हैं और उदाहरण गोपालचंद्र या गिरिधरदास के हैं। भारतेदु को लक्षण लिखने की आवश्यकता वही पड़ी है जहाँ पर गिरिधरदास के लक्षण नहीं प्राप्त हैं। पद्मिनी आदि के लक्षण गिरिधरदासजी ने स्वयं दिए हैं। चित्रिणी का लक्षण यों दिया गया है :

दूबरी न मोटी नहि लॉबी नहि छोटी देह,

उन्नत उरोज छीन कटि छबि छावती ॥

राग बाग आदि उपभोगन सो रति अति,

रति जल मध्य मधुगंध अधिकावती।

गिरिधरदास बानी बोलती मयूर ऐसी,

कारे केश वेश सेस ललना लजावती।

लोल दोऊ निन्न मिन्न सुखद चरित्र जाके,

ऐसी जो विचित्र तौन चित्रनी कहावती।

भारतेदुजी ने इनके मिश्र भेदों का भी संकेत किया है—जैसे पद्मिनीचित्रिणी, पद्मिनीशखिनी आदि। इसके बाद दिव्या, अदिव्या और दिव्यादिव्या भेदों का कथन है। देवताओं की स्त्रियाँ दिव्या। अवतार लेकर आई हुई दिव्यादिव्या और मानुषी अदिव्या है। भारतेदु ने अपनी व्याख्या में स्वकीया, परकीया और सामान्या तीन भेद न मानकर पाव भेद—कुमारो, स्वकीया, परकीया, कुलटा और वारवधू माने हैं। उनके विचार से कुमारो में जब स्वकीयात्व ही नहीं है तो परकीयात्व कहाँ से होगा, और फिर यह तो

कोई जानता नहीं कि उसका विवाह जिसको वह चाहती है उसी से होगा या दूसरे से, इससे पहले ही से उसको परकीया मानना अयोग्य है। वैसे ही, कुलटा तो प्रकट और अनेक पुरुषों में अनुरक्त होती है, इससे परकीया नहीं कही जा सकती। भारतेदुजी के ये विचार मौलिक जरूर हैं पर सर्वमान्य नहीं हो सकते। कुमारी का प्रिय रूप में अनुराग करना, बिना यह जाने कि वह उसका पति होगा या नहीं, उसे परकीयापन के लक्षण से युक्त कर देता है। इसी प्रकार सामान्या का उद्देश्य धनप्राप्ति होता है, प्रेम नहीं। कुलटा का उद्देश्य यह नहीं है। अतः कुलटा सामान्या नहीं। यदि उसमें प्रेम और आकर्षण नहीं तो नायिका ही न होगी और यदि ये बातें हैं तो वह परकीया के भीतर आ जाती है, जैसी प्राचीन आचार्यों को धारणा है। फिर भी, भारतेदु की सूझ उनके मौलिक चिंतन को स्पष्ट करती है।

स्वकीया के तीन भेद हैं—अनुकूला, समा और विषमा। ये भेद उत्तमा, मध्यमा और अधमा से भिन्न हैं। उत्तमा को पति के अतिरिक्त जैलोक्य में कोई पुरुष नहीं जान पड़ता और अनुकूला पति के अपराधी होने पर भी सदैव अनुकूल रहती है। मध्यमा अन्य पुरुषों को भाई के समान देखती है और समापति के अनुसार सम और विषम व्यवहार करती है। अधमा धर्म के भय से दूसरे पुरुषों पर चित्त नहीं चलाती और विषमा पति के चाहने पर भी नहीं चाहती। इस प्रकार दोनों प्रकारों में अंतर है। यहाँपर यह निर्देश कर देना आवश्यक है कि भारतेदु की उत्तमा आदि पतिव्रता के उत्तमा, मध्यमा, अधमा भेद हैं, जैसा तुलसीदास ने सीता अनुसूया के प्रसंग में लिखा है—उत्तम के अस बस मन माँहो। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहो। आदि। साहित्य में वर्णित उत्तमा आदि अनुकूला, समा, विषमा ही हैं।

परकीया के भेदनिरूपण में भी भारतेदु ने मौलिकता दिखाई है। उनके विचार से परकीया का लक्षण है

मन मोहैं जोहत सकल, जानै रस निरधारि ।
प्रीति एक ही सो करै, सो परकीया नारि ।
प्रकट करे अनुराग वा, राखे ताहि छिपाय ।
नहि चाहे पिय को तऊ, परकीया कहवाय ॥

इसके तीन भेद हैं—उत्तमा, समा और विषमा। उत्तमा के दो भेद हैं, प्रेमपूर्णा और शकिता। भारतेदु के ये भेद मौलिक हैं। परकीया विषयक उनका प्रसिद्ध छंद है :⁵

यह सावन सोक नसावन है मनभावनि यामे न लाज भरो ।
जमुना पै चलो सु सबै मिलिकै अरु गाइ बजाइ के सोच हरो ।
इमि भाषत है हरिचंद पिया, अहो लाड़िली देर न यामे करो ।
चलो झूलो झुलाओ, झुको उझको, इहि पाखें पतिव्रत ताखें धरो ।

उत्तमा, जो प्रियतम के न चाहते हुए भी चाहे। इसका भेद शकिता वह है जो लोगों की शका से प्रीति को प्रकट न करे। तथा प्रेमपूर्णा वह है जिससे किसी की लाज, शका या भय न हो। नायक के समान प्रीति करनेवाली और लज्जा का निर्वाह करनेवाली समा परकीया है और विषमा वह है जो नायक के चाहने पर भी न चाहे। उदाहरण .

दिन पै सौ फेरे करत, तुव गलियन के लाल ।
तौहूँ तू झोंकत न चढ़ि, कबहुँ अटारी बाल ॥

द्रव्य के लोभ से जो प्रिय की अभिलाषा करती है वह सामान्या या गणिका है। भारतेदु ने इसके दो भेद किए हैं। एक गुप्त गणिका और दूसरी शुद्ध गणिका। जिनकी वृत्ति गणिका न हो और गुप्त रीति से गणिकात्व करे वह गुप्त गणिका है। उदाहरण :

लप ऋप करि छिपि लावहीं, कंचन चरत जहान ।

धनि कासी की कुलबधू, काटत गनिका कान ॥

ये भेद रसरत्नाकर में गिरिधरदास के नाम पर भारतेदुजी ने प्रस्तुत किए हैं जिनमें भेद प्रभेद के विचार से अनेक स्थलों पर उनकी मौलिक कल्पनाएँ हैं ।

६ उपसंहार

यह संक्षेप में सवत् १७०० वि० से लेकर १९०० वि० तक सर्वरस, शृंगार, नायिकाभेद विषयों का वर्णन करनेवाले ग्रंथों का परिचय हुआ । रीतियुग में इन विषयों पर साहित्य लिखने को विशेष प्रवृत्ति थी, जैसा पहले कहा जा चुका है ।

१९०० वि० के बाद भी इन विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे गए । समस्त रसों का वर्णन करनेवाले ग्रंथ तो आधुनिक युग में भी लिखे जाते रहे, परंतु शृंगार और नायिकाभेद का निरूपण कम हो गया । ग्वाल, लछिराम, सेवक, बिहारीलाल, प्रतापनारायण सिंह, भानु, ब्रजेश आदि अनेक कवि आधुनिक युग में भी इन विषयों पर लिखने के कारण उल्लेखनीय रहेगे ।

परंतु, आधुनिक युग की परिवर्तित परिस्थितियों के कारण इस साहित्यिक प्रवृत्ति का अधिक विकास १९०० वि० के बाद नहीं हो सका । रीतियुग में तो इन विषयों पर लिखना अत्यंत समान की बात समझी जाती थी, पर आधुनिक काल में यह प्रवृत्ति युग-चेतना के प्रतिकूल सिद्ध हुई । अतः न केवल यही बात थी कि इसे प्रोत्साहन नहीं प्राप्त हुआ, वरन् आगे चलकर इसकी निंदा तक हुई । भारतेदुयुग में थोड़ा बहुत समान इसे मिलता रहा, परंतु द्विवेदीयुग में इसके विरुद्ध विचार प्रकट किए गए । वह राष्ट्रीय आंदोलन का युग था, उस युग में रस, नायिकाभेद वर्णन की अपेक्षा उद्बोधन और आति गौतों की आवश्यकता थी । अतएव यह परंपरा टूट गई । परंतु, उस समय के विचारों से यह हानि अवश्य हुई कि उस सामयिक आवश्यकताजन्य विरोध से लोगों में समस्त रीतिसाहित्य के प्रति निंदा की भावना जाग्रत हुई, जो अवांछनीय थी ।

रीतियुग के रस, शृंगार और नायिकाभेद पर लिखे गए काव्य का कवित्व, जीवन और मनोविज्ञान की दृष्टि से बड़ा महत्व है । विवेचना के क्षेत्र में अधिक विकास नहीं हुआ, यह तथ्य है, परंतु इसके माध्यम से सौंदर्य, रूप और भावनाओं का सूक्ष्म चित्रण करनेवाले अतोव मधुर और ललित काव्य की रचना हुई जिसका साहित्य में सदैव सम्मान रहेगा । यह काव्य उपयोगी चाहे न हो, पर इसके लालित्य में किसी को भी सदेह नहीं हो सकता । खड़ी बोली में इस प्रकार के लालित्य को उतारना अभी शेष है ।

पंचम अध्याय

अलंकारनिरूपक आचार्य

१ विषयप्रवेश

कर्नल टाड के आधार पर शिवसिंह सेगर ने लिखा है—मुझको अवतिपुरी के एक प्राचीन इतिहास में लिखा मिला है कि सवत् सात सौ सत्तर में अवतिपुरी के राजा भोज के पिता राजा मान काव्यशास्त्र में महानिपुण थे। उन्होंने अलंकारविद्या पूषी नामक एक बंदोजन को पढ़ाई। पूषी कवि ने संस्कृत अलंकारों का भाषा दोहरों में विशद वर्णन किया। उसी समय से भाषाकाव्य की नीबें पड़ो^१। इस जनश्रुति पर प० रामचंद्र शुक्ल ने विश्वास नहीं किया। यद्यपि पूषी या पुष्य कवि की रचना या उसका कोई अंश आज उपलब्ध नहीं है, इसलिये उक्त जनश्रुति को ही प्रमाण मानकर उसे इतिहास का आधार नहीं बनाया जा सकता, फिर भी यह असंभव नहीं लगता कि अष्टम शती के अंतिम चरण में अलंकारविषय के दोहे भाषा में लिखे गए हों, क्योंकि संस्कृत अलंकार शास्त्र के अनुकरण पर संस्कृतेतर सरस्वतियों में ग्रंथप्रणयन के प्रयत्न उस समय होने लगे थे—दड़ी के काव्यादर्श से अनुप्रेरित कन्नड भाषा की प्रसिद्ध रचना कवि राजमार्ग का रचना-काल नृपतुंग या अमोघवर्ण (८१४-८७७ ई०) का शासनकाल ही है। कम विश्वास का तथ्य यह है कि अष्टम शती की वह 'भाषा' अपभ्रंश की अपेक्षा हिंदी के अधिक निकट है।

यदि पुष्य कवि के अस्तित्व में सत्याश है तो उनके आश्रयदाता राजा मान और उनका काल सवत् ७७० भी सत्य है। अवतिपुरी या धारानगरी और उसके अधिपति राजा भोज सांस्कृतिक इतिहास में अनेक किंवदंतियों के आलंबन रहे हैं। डा० एस० के० दे ने सरस्वतीकटाभरण और शृंगारप्रकाश के रचयिता धारानरेश भोजदेव का काव्य-काल ईसा की ग्यारहवीं शती का द्वितीय चरण^२ माना है। ये दोनों ग्रंथ उस प्रतापी राजा के विशाल अध्ययन और मौलिक चिंतन का अच्छा परिचय देते हैं। यदि संस्कृत-काव्यशास्त्र की ये मान्यताएँ विश्वसनीय हैं तो धारानरेशों का काव्यशास्त्र व्यसन सभब है। परंतु या तो राजा मान भोजदेव के पिता नहीं हैं या उनका समय विक्रम सवत् ७७० नहीं है। संभवतः इसी असंगति के निवारणार्थ प० रामचंद्र शुक्ल ने^३ 'राजा भोज के पिता राजा मान' पदों में 'पिता' का अर्थ 'पूर्वपुरुष' लेकर पूषी कवि को 'भोज के पूर्वपुरुष राजा मान का सभासद पुष्य नामक बंदोजन' माना है और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कल्पना की है कि 'मान्यखेट' का ही परवर्ती रूप राजा 'मान' हो गया और सभाकवि का बाद में 'भाट' हो जाना भी कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।^४

हम ऊपर निवेदन कर चुके हैं कि पूषी कवि के भाषा दोहरों को हिंदी की संपत्ति नहीं माना जा सकता। संभवतः उनको पश्चिमी अपभ्रंश की निधि माना जा सकता था।

१. शिवसिंहसरोज, पृ० ६
२. हिस्ट्री ऑफ् संस्कृत पोएटिक्स, प्रथम भाग।
३. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३
४. हिंदी साहित्य, पृ० ८

उनके अतर्धान होने का भी यही कारण है कि उत्तर भारत में अपभ्रंश का वही साहित्य बच सका है जिसका मूल उच्छ्वास जैन मत था—काव्यशास्त्र के स्वतंत्र ग्रंथ या तो लिखे नहीं गए या विस्मृति की चादर लपेटकर सदा के लिये सो गए। अष्टम शती के चतुर्थ चरण में 'भाषा' में अलंकार विषय और दोहा छंद दोनों की रचना संभव थी। अलंकार के दिग्गज आचार्य भामह और दंडी, जिनकी स्थायी परंपरा क्रमशः उत्तर भारत^१ और दक्षिण भारत में चिरकाल तक चलती रही, इस काल तक प्रसिद्ध हो गए थे। अष्टम शती में ही उद्भट ने भामहविवरण लिखकर काव्यलंकार के सार का संग्रह सामान्य संस्कृतज्ञ पाठक के लाभार्थ तैयार कर दिया था, और स्वयंभू की कृपा से अष्टम शती में 'भाषा' तथा सरहपा के प्रयत्न से 'दोहा' छंद का भी पर्याप्त प्रचार था। अस्तु, पृषी कवि की कल्पना के लिये अष्टम शती की ऐतिहासिक परिस्थिति प्रतिकूल नहीं है और उनका चिरलोप भी युक्तिसंगत लगता है।

अनुमान किया जाता है, अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि पुष्पदंत ही भाषा के पृषी कवि हैं। इस अनुमान का बीज 'पुष्य' नाम की भूमि में छिपा है और इसका सिंचन इस विश्वास से हुआ है कि वह कवि 'भाषा' अर्थात् अपभ्रंश का कवि था और वह इतना प्रसिद्ध था कि उसका लोप नहीं हो सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'पुष्य' और 'पुष्पदंत' की एकता कष्टकल्पना है। उपर्युक्त अनुमान अनावश्यक है। पुष्पदंत ग्यारहवीं शताब्दी के कवि थे, इनके आश्रयदाता राष्ट्रकूट कृष्णराज तृतीय के महामात्य भरत^२ और उनके पुत्र महामात्य नन्न थे, राष्ट्रकूट राजाओं का धारानगरी पर अधिकार एक बार अवश्य हुआ था परंतु केवल इसी आधार पर उनके अमात्यो को राजा भोज और राजा मान कल्पित नहीं किया जा सकता। पुष्पदंत की भाषा रचनाएँ प्राप्य हैं। उनके नाम तिसट्ठि महापुरिस गुणालकार (त्रिषष्टि महापुरुष गुणालकार) अर्थात् महापुराण, रायकुमारचरित (नागकुमारचरित) और जसहरचरित (यशोधरचरित) हैं। ये तीनों ही प्रकाशित हो चुकी हैं, यद्यपि महापुराण या त्रिषष्टि महापुरुष गुणालकार नाम की पुस्तक गुण और अलंकार के संबंध में भ्रम उत्पन्न कर सकती है, परंतु इस रचना में ६३ महापुरुषों के गुणगान मात्र हैं, इसलिये काव्यशास्त्र की भ्रांति यहाँ संभव नहीं। अस्तु।

पृषी कवि का पुष्पदंत में अध्यवसान युक्तियुक्त नहीं लगता और हमको किंवदंती पर पूर्णतः विश्वास करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से ही इस बात में सहमत होना पड़ता है कि पृषी कवि अपभ्रंश का ही^३ कवि था और हमारा अनुमान है कि अष्टम शती की अस्तबेला में अलंकार विषय तथा दोहा छंद के लिये भाषा में पर्याप्त अनुकूलता थी।

यह असंभव नहीं कि पृषी कवि के बाद भी भाषा में यदाकदा काव्यशास्त्र पर पुस्तकें लिखी जाती रही हों, क्योंकि संस्कृत में काव्यशास्त्र का जो प्रसार हुआ वह समकालीन भाषाकवियों को अवश्य प्रेरित करता रहा होगा। फिर भी, केशवदास से पूर्व कोई भी ऐसा आचार्य नहीं हुआ जो संस्कृत और भाषा का समान रूप से पंडित होने के कारण संस्कृत में लिखने की क्षमता रहने पर भी शिष्यजन के प्रति अनुराग से प्रेरित होकर भाषा में काव्यशास्त्र का निश्चित और व्यवस्थित सूत्रपात कर सकता। केशव से पूर्व, पं० रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, सवत् १५६८ में कृपाराम ने नायिकाभेद की पुस्तक हिततरंगिणी लिखी, परंतु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी उसे पीछे की रचना मानते हैं^४। यदि यह पुस्तक गोस्वामी हितहरिवंश की प्रेरणा से लौकिक शब्दावली में अलौकिक रस

१. श्रीराम शर्मा दक्खिनी का गद्य और पद्य, पृ० ४७४

२. हिंदी साहित्य, पृ० ८

३. वही, पृ० २६५

का वर्णन करती है तो भी इसका प्रणयन सवत् १५६० में संभव नहीं। स्वयं हितजी का काव्यकाल^१ सवत् १५६१ से प्रारंभ होता है। रसनिरूपण में सूरदासकृत साहित्यलहरी (सं० १६०७), नददासकृत रसमजरी (लगभग सं० १६१०) और मोहनलाल मिश्र कृत शृंगारसागर (सं० १६१६)^२ केशव से पूर्व की रचनाएँ हैं, परंतु उनका प्रणयन हेतु भक्तिउच्छ्वास है, विवेचन की इच्छा नहीं, उनमें रसनिरूपण के बीज खोजे जा सकते हैं, सूत्रपात नहीं। अलंकार विषय पर गोपा ने अलंकारचंद्रिका और करनेस कवि ने कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण केशव से पूर्व लिखी थी, परंतु डा० भगीरथ मिश्र ने गोपा का गोप कवि से अभेद मानकर यह सिद्ध किया है कि गोप कवि का समय सं० १६१५ नहीं, प्रत्युत सं० १७७३ है,^३ और करनेस कवि की रचनाएँ अप्राप्य हैं। इस परिस्थिति में अद्यावधि उपलब्ध प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यही सिद्ध होता है कि केशवदास ने हिंदी ब्रजभाषा में सर्वप्रथम अलंकार विषय का विवेचन करके काव्यशास्त्र के प्रौढ विवेचन का सूत्रपात किया।

केशवदास के काव्यशास्त्र सबधी ग्रंथ तीन हैं—रसिकप्रिया, (सं० १६४८), रामचंद्रिका (सं० १६५७), तथा कविप्रिया (सं० १६५८)। रसिकप्रिया उनकी प्रथम रचना है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें रसवर्णन काव्यशास्त्र की दृष्टि से किया गया है, भक्तिभाव से नहीं। रामचंद्रिका में रामकथा के ब्याज से नाना छंदों का प्रयोग केशव ने दिखाया है। कविप्रिया का 'अवतार' तो सं० १६५८ में हुआ परंतु उसकी तैयारी बहुत दिनों से चल रही थी—शनै शनै हमारा यह विश्वास हो चला है कि कविप्रिया का बीजवपन रसिकप्रिया से पूर्व का है और इसने रसिकप्रिया के नामकरण को भी प्रभावित किया है। कविप्रिया का विषय कविशिक्षा है, काव्यशास्त्र या अलंकार मात्र नहीं, परंतु रीतिकाल के कवि अलंकार या काव्यशास्त्र का ही वर्णन करते थे। इसलिये, और इसलिये भी कि केशवदास प्रौढ आचार्य हैं परंतु रीतिकाल के अधिकांश साहित्यिक कवि मात्र थे, विद्वानों का यह मत है कि केशव को रीतिकाल की परंपरा से संपृक्त करके न देखा जाय। ये दोनों तर्क मान्य हैं और यह भी सत्य है कि केशव में संस्कृत के प्राच्य आचार्यों की छाया है, नव्य मम्मट, जयदेव आदि की नहीं। फिर भी, यह निर्विवाद है कि हिंदी (ब्रजभाषा) में केशव ही काव्यशास्त्र के प्रथम प्रौढ विवेचक और अलंकार विषय के शिरोमणि आचार्य हैं।

अस्तु, केशवदास हिंदी के सर्वप्रथम अलंकारनिरूपक आचार्य हैं। भक्तिभाव से उद्वेलित होकर रीतिकाल के भावोल्लास में सहस्रशः तरगायित होनेवाली रीतिकल्लोलिनी बीच में केशव के उत्तुंग व्यक्तित्व से टकराती गई है। केशव की परंपरा के कुछ चिह्न आगे पदुमनदास की काव्यमजरी (सं० १७४१), गुरुदीन पांडेय के बागमनोहर (सं० १८६०) और बेनी प्रवीन के नानारावप्रकाश (सं० १८७० के आसपास) में दिखलाई पड़ते हैं। केशव और जसवतसिंह के बीच अर्धशती के व्यवधान को भरनेवाला साहित्य आज प्राप्य नहीं है, परंतु उसके सकेत अवश्य मिलते हैं। भाषाभूषण में जसवतसिंह ने लिखा है।

ताही नर के हेतु यह, कीन्हों ग्रंथ नवीन।

जो पंडित भाषा निपुन, कविता विषै प्रवीन ॥ २१० ॥

१. राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धांत और साहित्य, पृ० ११६

२. हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ५१

३. वही, पृ० ५१

इसमें अपनी रचना को 'नवीन' ग्रंथ कहकर कवि ने यह सकेत किया है कि इससे पूर्व भी इस विषय पर पुस्तकें लिखी गई थी। फिर भी, इस पुस्तक की रचना क्यों हुई, इसका कारण यह है कि इसके पाठक कुछ भिन्न हैं—वे लोग जो (क) भाषा के निपुण पंडित हों, और (ख) कविता विषय में प्रवीण हों, अर्थात् इसके पाठक भाषारसिक हों। इनसे भिन्न प्रकार के पाठक या तो प्रौढ़ आचार्य हो सकते हैं, या शिक्षार्थी युवक। प्रौढ़ आचार्य उस समय सस्कृत ग्रंथों का अध्ययन मनन करते थे, भाषा कृतियों का नहीं। तब शिक्षार्थी युवक ही बच गए, जिनके लिये केशव ने कविप्रिया लिखी

समुम्भे बाला बालकहु, वर्णन पंथ अगाध ।

कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध ॥

केशव का उद्देश्य शिष्यों की शिक्षा थी। कुवलयानन्दकार अप्पय्य दीक्षित ने भी अलंकार विषय पर अपनी ललित कृति का बालको के अवगाहनार्थ ही निर्माण किया था।

अलंकारेषु बालानाम्, अवगाहनं सिद्धये ।

ललितः क्रियते तेषां, लक्ष्यलक्षणसंग्रहः ॥

अस्तु, केशव सस्कृत के कतिपय आचार्यों के समान शिष्यों के हेतु ही अलंकारादि विषय का विवेचन करते हैं, परंतु उनके कुछ समय बाद रीतिग्रंथ भी रसिकों के लिये ही लिखे जाने लगे, फलतः आचार्य की प्रतिभा, व्याख्याकार की अध्ययनशीलता, या गुरुजनोचित ललित अभिव्यक्ति के स्थान पर कवि की सहृदयता ही शेष रह गई।

हिंदी रीतिकाव्य के सर्वप्रिय अंग अलंकार का वर्णन करनेवाले साहित्यिक दो प्रकार के हैं। एक वे जो अलंकार विषय के ज्ञाता और लेखक थे और जो इसी दृष्टि से काव्यरचना में लगे। इनको दूलह के शब्दों में अलंकृती^१ सजा दी जा सकती है। इनपर प्रधानतः चंद्रालोक तथा कुवलयानन्द का प्रभाव है। दूसरे वे जो वर्णन के निमित्त अलंकार के व्याज से साहित्यक्षेत्र में आए। इनको दूलह के ही शब्दों में 'कर्ता' कहा जा सकता है। इनकी रुचि लक्षण में कम परंतु उदाहरणों में विशेष थी। मतिराम और भूषण उस युग के दो प्रसिद्ध 'कर्ता' हैं। अलंकृती का उद्देश्य छोटे से छोटे छंद में भाषारसिक के समुख अलंकार विषय का स्थूल वर्णन कर देना है। उसकी सफलता स्वच्छता में है। इसके विपरीत, 'कर्ता' स्वयं काव्यरसिक थे, उन्होंने उदाहरणों के लिये बड़े छंद लिखे हैं। उनमें रस की मात्रा अधिक है, परंतु अलंकार का वर्णन प्रायः उलझा हुआ है।

केशव से लेकर ग्वाल कवि तक अलंकारनिरूपक कवियों की संख्या अपार है। इनमें से कुछ कवियों की कृतियाँ हमारे देखने में नहीं आईं और उनका वर्णन हमने दूसरे विद्वानों के आधार पर किया है। गोपा, करनेस, छमराज, गोपालराय, बलबीर, चतुर्भुज आदि कतिपय कवियों की कृतियाँ सुलभ नहीं हैं। उनकी चर्चा हमने प्रस्तुत प्रसंग में नहीं की। शेष कवियों और उनके अलंकार विषयक ग्रंथों का परिचय कालक्रम से आगे दिया जाता है।

१ केशवदास

आचार्य केशवदास हिंदी के प्रथम प्रौढ़ आचार्य हैं। इन्होंने रस, अलंकार छंद और कविशिक्षा का साधिकार विवेचन किया है। ये केवल सस्कृत के पुराने आचार्य

दडी आदि से प्रभावित है, अतः इनको मूलतः अलंकारवादी आचार्य कहना चाहिए। कविप्रिया में 'भूषणं विनु न विराजई कविता, वनिता मित्त' लिखकर केशव ने काव्य में अलंकार का सर्वाधिक महत्त्व प्रतिपादित किया है। इन्होंने अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में करके उसके दो भेद—सामान्य और विशेष—कर दिए हैं। सामान्यालंकार के अतर्गत वर्ण्य विषय और विशेषालंकार के अतर्गत तथाकथित अलंकार आते हैं। आचार्य केशव का विशद विवेचन सर्वांगनिरूपक आचार्यों के प्रकरण में किया गया है।

२ जसवंतसिंह (सं० १६८३-१७३५)

मारवाडनरेश महाराज गजसिंह की मृत्यु के उपरांत उनके द्वितीय पुत्र जसवंतसिंह १२ वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठे। ये महान् तेजस्वी तथा साहित्य एवं दर्शन के पंडित थे। इतिहास में इनका नाम अपने प्रताप तथा विद्याप्रेम दोनों के लिये प्रसिद्ध है। शाहजहाँ तथा औरंगजेब दोनों के शासनकाल में इनका महत्त्व रहा है। शाहजहाँ के समय में ये कई युद्धों में समिलित हुए। औरंगजेब इनके तेज से आश्चर्यचकित था। उसने इनको गुजरात का सूबेदार बनाया, फिर शाइस्ता खाँ के साथ शिवाजी से युद्ध करने भेजा। कहा जाता है कि छत्रपति शिवाजी ने शाइस्ता खाँ की जो दुर्गति की थी उसमें जसवंतसिंह की अनुमति थी।

जसवंतसिंह विद्वानों के आश्रयदाता तथा स्वयं विद्याव्यसनी थे। इन्होंने अपरोक्षसिद्धांत, अनुभवप्रकाश, आनंदविलास, सिद्धांतबोध, सिद्धांतसार, प्रबोधचन्द्रोदय नाटक आदि पुस्तकें पद्य में लिखी हैं। इन रचनाओं का विषय तत्त्वज्ञान है। साहित्य की दृष्टि से इनकी पुस्तक भाषाभूषण सदा अमर रहेगी।

भाषाभूषण से कुवलयानंद का अनुकरण करते हुए चंद्रालोक शैली पर प्रौढ़ ग्रंथरचना प्रारंभ होती है और भाषाभूषण ही इस शैली का सर्वोत्तम ग्रंथ है। उत्तरकालीन साहित्यिकों ने भाषाभूषण की देखादेखी अलंकार ग्रंथ लिखकर और भाषाभूषण पर टीकाएँ लिखकर इस कृति का महत्त्व स्वीकार किया है। अनुकरण करनेवाले ग्रंथों की तो एक दीर्घ परंपरा है। प्राचीन टीकाएँ भी कम से कम सात अवश्य थीं जिनमें से वशीधर, रणधीरसिंह, प्रतापसाहि, गुलाब कवि तथा हरिचरणदास की टीकाएँ प्राप्य हैं। दलपतिराय, वशीधर का तिलक अलंकाररत्नाकर (सं० १७६२) तो मूल के समान ही प्रतिष्ठा का भागी बन गया है।

आचार्य जसवंतसिंह ने केवल भाषाभूषण की रचना की है। यह पुस्तक दोहा छंद में अलंकार विषय का लक्षण उदाहरण पूर्वक वर्णन करती है। भाषाभूषण में सब मिलाकर २१२ दोहे हैं। यदि भूमिका तथा उपसंहार के १० दोहों को अलग कर दें तो २०२ दोहों में से १६६ अलंकार विषय के हैं, शेष ३६ दोहों में काव्य के अन्य अंग नायिकाभेद आदि की सरल चर्चा है—इन इतर अंगों के उदाहरण नहीं दिए गए हैं।

भाषाभूषण अलंकार संप्रदाय का ग्रंथ है। इसमें चंद्रालोक के समान सभी काव्यांगों की चर्चा नहीं, प्रत्युत कुवलयानंद के अनुकरण पर अलंकार विषय को सर्वसुलभ बनाने का सफल प्रयत्न है। लेखक का उद्देश्य है भाषा में भूषण का प्रकटीकरण, जो इस रचना के नाम तथा उपसंहार से भी स्पष्ट हो जाता है। वर्ण्य अलंकारों की संख्या, कुवलयानंद के ही अनुसार, १०८ है। रसवत् आदि पंचदश अलंकार स्वीकार नहीं किए गए। आदि में अर्थालंकार और फिर ६ शब्दालंकार हैं—शब्दालंकारों को 'अनुप्रास षट् विध' कहकर यमक का वर्णन भी अनुप्रास के ही अतर्गत कर दिया गया है। जयदेव ने शब्दालंकार का वर्णन पुस्तक के प्रारंभ में किया और अप्पय्य दीक्षित ने इस विषय पर कुछ लिखा ही नहीं।

भाषाभूषण के चतुर्थ प्रकाश में १०१ (यदि पूर्णोपमा और लुप्तोपमा को अलग अलग गिने तो १०२) अर्थालंकार हैं। यदि चित्र अलंकार को अलग कर ले तो इन १०० अलंकारों का क्रम कुवलयानंद के शत अलंकारों के ही अनुसार है। गुम्फ (कारणमाला) तथा गूढोत्तर (उत्तर) के अतिरिक्त शेष नाम भी कुवलयानंद से आए हैं।

भाषाभूषण को प्रायः चंद्रालोक की छाया समझा जाता है, परंतु वह कुवलयानंद के अधिक समीप है। केवल अलंकार विषय का वर्णन, अलंकारों के नाम, क्रम, तथा संख्या, शब्दालंकार की उपेक्षा आदि इसके प्रमाण हैं। किसी अलंकार के जहाँ कई भेद हों, वहाँ सामान्यतः कुवलयानंद की ही कृपा समझनी चाहिए (दे० उल्लेख, विभावना, असंगति आदि)।

जसवतसिंह के सभी लक्षण संस्कृत से अनूदित हैं, लेखक ने मूल शब्दावली तक को अक्षत रखने का प्रयत्न किया है (दे० एकावली, प्रत्यनीक, अर्थापत्ति, उदात्त आदि)। फिर भी लक्षण सरल तथा स्पष्ट हैं (दे० अनन्वय, परिणाम आदि)। उदाहरणों के अनुवाद बहुत कम हैं, मौलिक उदाहरण अधिक सरस, मधुर एवं आकर्षक हैं। लक्षणालक्ष्य सम्बन्ध दो प्रकार से हैं। एक ही दोहों में लक्षण और उदाहरण का समावेश, चंद्रालोक और कुवलयानंद के अनुकरण पर, भाषाभूषण में प्राप्त किया गया है। परंतु जहाँ अलंकारों के अनेक भेद हैं (विशेषतः उन अलंकारों के प्रसंग में जहाँ चंद्रालोक में तो एक ही भेद है, परंतु कुवलयानंद में अधिक भेद हो गए हैं) वहाँ लेखक पहले भेदों को अलग अलग समझा देता है, फिर सब भेदों के क्रमशः उदाहरण देता है (दे० निदर्शना, पर्यायोक्त, आक्षेप, असंगति आदि)। यह प्रणाली उतनी स्वाभाविक नहीं है।

भाषाभूषण अपनी शैली का सबसे स्वच्छ तथा प्रौढ़ ग्रंथ है। जसवतसिंह को विषय का निश्चांत बोध था और आचार्य पद से उसके प्रकटीकरण में भी वे कुशल थे। इस ग्रंथ की अद्यावधि प्रतिष्ठा इसका मूल्यांकन कर सकती है। संस्कृत में जो स्थान कुवलयानंद का है, हिंदी में वही भाषाभूषण का। कवि ने लक्षणों में (और कही कही उदाहरणों में भी) कुवलयानंद से बड़े स्वच्छ अनुवाद किए हैं।

- (क) प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्व प्रकल्पनम् ।
 त्वल्लोचनसमं पद्मं त्वद्वक्त्रसदृशो विधुः ।
 सो प्रतीप उपमेय को, कीजै जब उपमानु ।
 लोचन से अंबुज बने, मुख सो चंद बखानु ॥
- (ख) समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुते प्रस्तुतस्य चेत् ।
 समासोक्ति अग्रस्तुत जु, फुरै सुन प्रस्तुत माँझ ॥
- (ग) मीलितं बहुसादृश्याद् भेदवच्चेन्न लक्ष्यते ।
 मीलित बहुसादृश्य ते भेद न परै लखाय ॥

३ मतिराम

कविवर मतिराम उस वर्ग के कवि हैं जिसको हम 'कर्ता' कह चुके हैं। इनका विवरण रस प्रकरण में दिया गया है। अलंकार विषय पर आपने ललितललाम और अलंकारपचाशिका^१ ये दो पुस्तकें लिखी हैं। ललितललाम की रचना बूंदीनरेश भावसिंह के आश्रय में स० १७१६ से स० १७४५ के बीच हुई। ४०१ छंदों के इस ग्रंथ में कम से कम आधे दोहे हैं, शेष कवित्त सबैए। अलंकार विषय ३६० छंदों में है। 'ललाम' शब्द का

१. इसकी एक हस्तलिखित प्रति हमारे सहयोगी श्री महेन्द्रकुमार, एम० ए० के पास है।

अर्थ है सुंदर, सौंदर्य अथवा अलंकार, और 'ललित' शब्द का अभिप्राय सुकुमारोपयोगी है। इस प्रकार 'ललितललाम' का अर्थ है, 'ऐसा अलंकारग्रंथ जो सुकुमारबुद्धि पाठको के लिये उपयोगी हो।' मतिराम को नामवैविध्य का शौक था, कई अलंकारों के सबंध में भी उन्होंने ऐसा किया है।

ललितललाम में केवल अर्थालंकारों का वर्णन है। 'काव्यलिङ्ग' का अभाव है, परंतु भाषाभूषण के समान 'चित्र' का समावेश है। अलंकारों की संख्या तथा क्रम सामान्यतः कुलव्यानंद के ही अनुसार है। संस्कृत में 'स्मृति' और 'स्मरण' 'भ्राति' और 'भ्रम' तथा 'स्वभावोक्ति' और 'जाति' के विकल्प तो रहे हैं, परंतु अर्थालंकारों के नाम-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझी गई। हिंदी में मतिराम ने ऐसा किया है, 'कैत-वापह्नुति' का 'छलापह्नुति', 'प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा' का 'गुप्तोत्प्रेक्षा', 'अन्योन्य' का 'पर-स्पर' तथा 'कारणमाला' का 'हेतुमाला' तो हो ही गया है, 'विशेषक' का 'विशेष' कर देने से 'विशेष' नाम के दो अर्थालंकार ललितललाम में हो गए हैं।

सभी अलंकारों के लक्षण दोहों में हैं। एक अलंकार अथवा एक भेद के लिये एक दोहा प्रयुक्त हुआ है। प्रथम दो चरणों में लक्षण तथा अतिर्म दो में अलंकार एवं कवि के नाम हैं। इस प्रकार भाषाभूषण तथा ललितललाम की लक्षणशैली (आधा दोहा), आकार का भेद होते हुए भी, समान है। मतिराम के लक्षणों में चंद्रालोक, कुवलयानंद, काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण, चारों की शब्दावली का उपयोग है। ललितललामकार को यद्यपि पूरे दोहे के उपयोग की सुविधा थी, फिर भी उसने अपने लक्षणों को स्पष्ट एवं स्वच्छ नहीं बनाया। उनमें माधुर्य के साथ शिथिलता भी पर्याप्त है। अप्रस्तुत प्रशंसा जैसे अलंकार को कवि ने समझा ही नहीं, 'प्रशंसा' का अर्थ 'महिमागान' लेकर लक्षण कर दिया—'अप्रस्तुत प्रससिए, प्रस्तुत लीने नाम', और उदाहरण भी वास्तविक बड़ाई का दे दिया

ते धनि जे ब्रजराज लखैं, गृह काज करै अरु लाज सँभारैं ॥

मतिराम की विशेषता उनके उदाहरण हैं—सरस, मधुर तथा मनोहर। प्रायः कवित्त सवैयो का प्रयोग अधिक है, दोहों का कम। कुछ अलंकारों के उदाहरण एक से अधिक भी हैं, परंतु उनसे अलंकार के महत्व की कोई सूचना नहीं मिलती। बड़े छंदों के उदाहरणों में एक दोष है, आदि के तीन चरण बिल्कुल व्यर्थ हैं, प्रायः भ्रम में डालने-वाले (दे० समासोक्ति, विभावना, परिवृत्ति, अवज्ञा आदि)। वर्णन की सुविधा से सहोक्ति, पर्यायोक्ति, द्वितीय विषम तथा अर्थातिरन्यास आदि के उदाहरण स्पष्ट भी हैं तथा मार्मिक भी।

ललितललाम विशेष अध्ययन का फल नहीं जान पड़ता। संस्कृत ग्रंथों की जितनी भी छाया मिलती है वह कवि के पक्ष में नहीं जाती, केवल वातावरण का ही परिचय देती है। हिंदी के पूर्ववर्ती कवियों का अवलोकन मतिराम ने अवश्य किया होगा क्योंकि 'चित्र' में केशव की शब्दावली और लक्षणों में सामान्यतः जसवतसिंह का प्रवाह उपलब्ध होता है। कवि ने केवल अर्थालंकारों का वर्णन किया है और वह भी केवल वर्णन के लिये। उसकी कविता मधुर, सरस तथा प्रसादगुण पूर्ण है, परंतु केवल अलंकार के लिये लिखे गए पद्यों में इस गुण का भी अभाव है।

ललितललाम की कविता के उदाहरण देखिए .

काज हेतु कौं छोड़ि जहँ, औरनि के सहभाव ।

बरनत तहाँ सहोक्ति है, कविजन बुद्धि प्रभाव ॥ १५७ ॥

महावीर राव भार्वात को प्रताप साथ,
जस के पहुँच्यौ छोर दसहूँ दिसानि के ।
दल के चढ़त फनमडल फनीपति को,
फूटि फाट जात साथ सैल की सिलानि के ।
दुज्जन के गन कलपद्रुम के बागनि मै,
करति बिहार साथ सुर प्रमदानि के ।
सपति के साथ कवि सौधनि बसत, बन,
दारिद बसत साथ बैरी बनितान के ॥ १५८ ॥

अलंकार विषय पर मतिराम की दूसरी रचना अलंकारपचाशिका मानी जाती है । इसकी रचना सवत् १७४७ में कुमार्य के राजा उद्योतचंद के पुत्र ज्ञानचंद के लिये हुई थी । अलंकारपचाशिका में ग्रंथ का परिचय इस प्रकार दिया हुआ है

महाराज उद्योतचंद जू, भयो धरम को धाम ।
तपत धरन परपक्व सम, चहुँ चक्क परनाम ॥ ३ ॥
तिनके राजकुमार घर ग्यानचंद कुलचंद ।
कुवल कोविद कविन को बरष सुधा अनंद ॥ ५ ॥
ग्यानचंद के गुन घने गनै भदै गुनवत ।
बारिद के मुक्तान को कौने पायौ अत ॥ ८ ॥
तदपि यथामति सौ कह्यौ शब्द अर्थ अभिराम ।
अलंकारपंचासिका रची रुचिर मतिराम ॥ ९ ॥
संस्कृत को अर्थ लै भाषा सुद्ध बिचार ।
उदाहरन क्रम ए किए लीजौ सुकवि सुधार ॥ १० ॥
संबत सत्रह सै जहाँ सैतालिस नभ मास ।
अलंकारपंचासिका पूरन भयो प्रकास ॥ ११६ ॥

अलंकारपचाशिका में, भेदों को अलग गिनकर, पचास अर्थालंकार हैं । प्रति-वस्तूपमा, दृष्टांत, निदर्शना, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, कारणमाला, प्रत्यनीक, परि-सख्या आदि ऐसे प्रमुख अलंकार हैं जिनकी चर्चा ललितललाम में तो है परंतु अलंकारपचा-शिका में नहीं है । केवल प्रतीप, प्रहर्षण, उल्लेख, अधिक तथा सामान्य अलंकारों के ही दो दो भेद हैं और प्रत्येक भेद की अलग अलंकार रूप में गणना की गई है । उपमा, रूपक, और उत्प्रेक्षा के भेदों की अवहेलना ध्यान देने योग्य है । अलंकारों का क्रम स्वच्छंद है । उपमा तो आदि में है, परंतु रूपक बीच में तथा उत्प्रेक्षा लगभग अंत में आया है । 'गुण-वत' नाम का नया अलंकार क्रम में चतुर्थ है और उसके दो उदाहरण दिए गए हैं । लक्षण भी कम मनोरंजक नहीं

कछु संपत ही पाइके, लघु दीरघ त्वं जात ।
सो गुनवत कहंत है, मद मतन समुझात ॥ २२ ॥

ललितललाम में कुछ अलंकारों के नाम बदल दिए गए थे, परंतु पचाशिका में उस परिवर्तन का निर्वाह नहीं पाया जाता । दोनों ग्रंथों में अलंकारों के लक्षणों की शब्दावली अलग अलग है ।

उपर्युक्त समस्त प्रमाणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ललितललाम अधिक पूर्ण, सरस तथा प्रौढ़ रचना है, अलंकारपचाशिका उसकी तुलना में बाल प्रयत्न सा लगता

है। प० कृष्णबिहारी मिश्र ने ललितललाम का रचनाकाल^१ स० १७१६ माना है, प० रामचंद्र शुक्ल ने स० १७१६ से १७४५ के बीच^२ तथा डा० भगीरथ मिश्र का भी यही मत है। अलंकारपचाशिका में इसका रचनाकाल स० १७४७ लिखा है^३। प० कृष्णबिहारी मिश्र भी इसको मतिराम की अंतिम रचना मानते हैं। यदि ललितललाम और अलंकारपचाशिका के रचनाकाल का क्रम यही है तो पचाशिका उस कवि की रचना नहीं, किसी अन्य सामान्य मतिराम की कृति होगी।

अलंकारपचाशिका की प्रस्तुत कृति इतनी अशुद्ध है कि इसपर अधिक विश्वास भी नहीं किया जा सकता। संभव है, लिपिकार ने प्रमादवश अलंकारों के क्रम में परिवर्तन कर दिया हो। परंतु केवल ५० अलंकारों का वर्णन, मुख्य अलंकारों और भेदों की अवहेलना, अत्यंत शिथिल लक्षण, मतिराम की शब्दावली की अस्वीकृति आदि दोष पुस्तक को बाल या इतर प्रयत्न सिद्ध करते हैं। कहा जायगा कि देव कवि के भावविलास के समान पचाशिका प्रसिद्ध मतिराम की बालरचना है। यह स्वीकार्य नहीं क्योंकि अतः प्रमाण का एकदम अविश्वास कैसे कर ले और पुस्तक को ५० वर्ष पूर्व की कृति क्यों मान ले। साथ ही, पचाशिका में शृंगार के उदाहरणों का अभाव भी इस बात का विरोधी है कि रसराज तथा ललितललाम लिखनेवाले की वह युवावस्था की रचना हो सकती है। अतः हमारा अनुमान है कि अलंकारपचाशिका की रचना सवत् १७४७ में कुमार के राजकुमार ज्ञानचंद के आश्रय में कवि मतिराम ने की, परंतु वे मतिराम रसराज और ललितललाम के रचयिता से भिन्न सामान्य प्रतिभा के कोई अन्य कवि थे।

४ भूषण (सं० १६७०-१७७२)

चिंतामणि तथा मतिराम के भाई भूषण का वास्तविक नाम क्या था, यह नहीं कहा जा सकता। ये कई आश्रयदाताओं के यहाँ रहे, परंतु महाराज छत्रसाल तथा छत्रपति शिवाजी ही इनके अधिक प्रिय बने। भूषण की उपाधि इनको चित्रकूट के सोलकी राजा रुद्र से प्राप्त हुई थी। घोर शृंगार के युग में वीररस की अपूर्व कविता लिखकर अपना प्रमुख स्थान बना लेने में ही भूषण कवि का कृतित्व है। भूषण के काव्य का उद्देश्य वारणी को कलियुगीन स्त्रीएँ वातावरण से निकालकर वीरत्व की दीप्त सरिता में पवित्र^४ करना था। इसके लिये उनको शिवाजी उपयुक्त पात्र मिल गए। अस्तु, कवि की वारणी उस पात्र को पाकर आनंदगान कर उठी। प्रतिकूल परिस्थितियों में खिलकर भी भूषण ने जो सुरभि प्रदान की वह प्रत्येक हृदय को स्वाभिमान से भरनेवाली है।

भूषण कवि की ६ रचनाएँ^५ मानी जाती हैं जिनमें से शिवराजभूषण, शिवाबावनी, तथा छत्रसालदशक प्राप्य हैं। द्वितीय तथा तृतीय रचनाओं में वीर रस के छंद हैं और शिवराजभूषण में अलंकारनिरूपण है। आश्रयदाता 'शिवराज' तथा प्रशसक 'भूषण', दोनों के नाम के उचित संयोग से इस पुस्तक का नामकरण हुआ। इसके ३२२ छंदों में से ३५० में अलंकार के लक्षण तथा उदाहरण हैं।

१. मतिरामग्रंथावली, भूमिका, पृ० २४२।

२. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २५३।

३. हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४१।

४. भूषण यो कलि के कविराजन राजन के गुन पाय नसानी॥

पुन्य चरित्र सिवा सरजा सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी॥

५. शिवराजभूषण, शिवाबावनी, छत्रसालदशक, भूषणउल्लास, भूषणउल्लास, तथा भूषणहजारा—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २५६।

शिवराजभूषण का उद्देश्य अलंकारवर्णन नहीं, प्रत्युत् परंपरा के अनुसार शिवराज के चरित्र का सजीवितन है (दोहा सख्या २६ तथा ३०)। अतः उत्तम ग्रंथों का अनुकरण तथा कही कही स्वमत का कथन करके १०५ अलंकारों का यह वर्णन शास्त्र की दृष्टि से किसी महत्व का नहीं। 'ग्रथालंकार नामावली' तो पुस्तक को व्यर्थ ही बोझिल बनाती है। छंद के लिये भरती के शब्दों का योग तथा नामों की तोड़ मरोड़ पाठक को खटकती है। 'विशेष' नाम का अलंकार तो ३ बार आया है।

ललितललाम से तुलना करने पर शिवराजभूषण का एक रहस्य और खुल जाता है कि अधिकतर अलंकारों के लक्षण तो भूषण ने चुपचाप अपने भाई से ही लिए हैं, कम से कम एक चौथाई लक्षणों की शब्दावली ज्यों की त्यों अपना ली है, यदि कोई परिवर्तन है तो दोनों कवियों के नाम 'मति' तथा 'भूषण' शब्दों के ही कारण, और वह भी मात्राओं के लिये, विचारों के आधार पर नहीं। चंद्रालोक का प्रभाव भी कतिपय स्थलों पर देखने योग्य है। फिर भी, भूषण के लक्षणों में सफाई नहीं है। उल्लेख के लक्षणों में 'उल्लेख' शब्द तीन बार आता है, व्यर्थ ही। भूषण पर कुवलयानंदकार का प्रभाव कम है। कदाचित् उन्होंने कुवलयानंद देखा नहीं, अन्यथा अनेक भेदोपभेदों की उपेक्षा न होती।

शिवराजभूषण में आए हुए उदाहरण अच्छे हैं परंतु उतने उपयुक्त नहीं। 'भूषण' को भूषण बनानेवाला मालोपमा के उदाहरण का कवित्त भी सदोष है। 'तेज तम अस पर' कहने से प्रस्तुत का उत्कर्ष प्रकट नहीं होता। उपमा के एक उदाहरण (सं० ३४) में औरंगजेब की हीनता दिखाते हुए भी उसकी समता ब्रजराज से कर दी गई है, श्रम में सादृश्य का भूषण को ध्यान ही न रहा और प्रत्यनीक में वे वास्तविक सेना का युद्ध दिखा बैठे हैं। उदाहरणों की इस शिथिलता का एक मुख्य कारण यह भी है कि भूषण कवि केवल वीर रस या उसके सहयोगियों को ही काव्यरस समझते हैं। मतिराम के उदाहरण भी अधिक उपयुक्त नहीं, परंतु उनमें काव्यगुण पर्याप्त मात्रा में हैं। युग की कोमलता एवं मज्जुलता प्रत्येक चरण में झुकती होती है। भूषण में इसका भी अभाव है। वीरगाथा-काल की स्रोतस्वनी को पुनः रसवती करने में तो भूषण कवि को सफलता मिली है, परंतु विलासवती क्रीडा से उसमें जो सौंदर्य की तरलता आई थी उसमें अकस्मात् परिवर्तन संभव नहीं था। भूषण ने इसी का प्रयत्न किया और प्रकृत सुंदर रूप को भी अनाकर्षक बना बैठे।

भूषण कवि का काव्य वीर तथा उसके सहायक रसों से ओतप्रोत है। कुछ स्थल तो अलंकार का स्पष्टीकरण भी बड़ी सुंदरता से करते हैं। उदाहरण देखिए

(क) परिसख्या—

कंप कदली मैं, चारि बूंद बदली मैं,
शिवराज अदली के राज मैं यो राजनीति है।

(ख) रूपकातिशयोक्ति—

कनकलतानि इंडु, इंडु माँहि अरविंद,
झरं अरविंदन ते बूंद मकरंद के।

(ग) चचलातिशयोक्ति—

आयो आयो सुनत ही, शिव सरजा तुम नाँव।
बैर नारि दृग जलन सौ, बूड़ि जाति अरि गाँव ॥

१ लखि चारु ग्रंथन निज मतो युत सुकवि मानहुँ साँच। ३७९।

२. हिंदी अलंकार साहित्य, पृ० १०१।

(घ) अपह्नुति—

चमकती चपला न, फेरत फिरंगे भट,
इंद्र को न चाय, रूप बैरख समाज को ।
धाए धुरवा न, छाए धूरि कै पटल, मेघ,
गाजिबो न, बाजिबो है दुंदुभि दराज को ।
भौसिला के डरन डरानी रिपुरानी कहै,
पिय भजौ, देखि उदौ पावस के साज को ।
घन की घटा न, गज घटनि सनाह साज,
भूषन भनत आयो सेन सिवराज को ॥

भूषण के काव्य में वीर रस का अपूर्व प्रवाह है। उनकी उक्तियों में दर्प और आतक के ओजपूर्ण चित्र हैं। इनकी तुलना खुशामदी कवियों से नहीं की जा सकती। यह सत्य है कि भूषण ने अपने आश्रयदाता की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की है, परंतु यह भी सत्य है कि वह आश्रयदाता उस युग का नेता था और वह केवल अपने स्वार्थ के लिये ही युद्ध न करके जनता की स्वतंत्रता के लिये जीवन अर्पण कर बैठा था। यह प्रशंसा जीवन को पवित्र, महान् एवं उदार बनानेवाली है। अस्तु, घोर शृंगारी घटाओं में बिजली के समान चमकनेवाली भूषण की ओजस्विनी प्रतिभा आश्रयभोगी कवियों की प्रशंसामयी रुचि से तुलनीय नहीं है। निश्चय ही, भूषण आदिकाल और रीतिकाल के कवियों से अधिक गौरव के भागी है।

भूषण आचार्य के रूप में सफल नहीं है, उनको तो वीरकवि के रूप में ही देखना चाहिए। उस युग के काव्य का सामान्य रूप या विषय है शृंगार, और शैली है लक्ष्य-लक्षणा निरूपण करनेवाली। भूषण ने पिछली प्रवृत्ति को अपनाया, पहली को नहीं। वे लक्ष्यलक्षणा निरूपण में वीर रस को अग्रणी बनाने में सफल हुए हैं।

५. सूरति मिश्र

सूरति मिश्र का जीवनवृत्त तथा इनका अलंकारनिरूपण सबंधी सामान्य परिचय सर्वांगनिरूपक आचार्यों के प्रसंग में यथास्थान देखिए।

६. श्रीधर ओझा

श्रीधर ओझा या मुरलीधर^१ कवि का जन्म पंडित रामचंद्र शुक्ल ने सवत् १७३७ माना है। ये प्रयाग के रहनेवाले ब्राह्मण थे। इनकी रचनाओं में जगनामा प्रकाशित है, जिसमें फर्रुखसियर और जहाँदार के युद्ध का वर्णन है। शुक्लजी के अनुसार, बाबू राधा-कृष्णदास ने इनके बनाए कई रीतिग्रंथों का उल्लेख किया है, जैसे नायिकाभेद, चित्रकाव्य^२ आदि। हमको श्रीधर कवि की भाषाभूषण नामक एक हस्तलिखित कृति काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय से प्राप्त हुई है। भाषाभूषण की रचना कवि ने नवाब मुसल्लेह खान के आश्रय में स० १७६७ में की^३। उपलब्ध^४ प्रति का लिपिकाल^५ स० १८०८ है।

- १ श्रीधर ओझा विप्रवर, मुरलीधर जस नाम ।
तीरथराज प्रयाग में, सुबस बस्यौ रविधाम ॥
- २ हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २६६।
- ३ सत्रह सँ सत्तसठि लिख्यो, सवत् जेठ प्रमानि ।
- ४ हिंदी अलंकार साहित्य, पृ० १३६।
- ५ नवाब मुसल्लेह खान बहादुर प्रकाशित कविवर प्रयागस्थल ओझा श्रीधर मुरली कृत भाषाभूषण संपूर्णम्। सवत् १८०८।

भाषाभूषण के इस लेखक ने जसवतसिंह का भाषाभूषण भी देखा होगा। दोनों की व्यवस्था में अधिक अंतर नहीं है। यह पुस्तक १५० दोहों में अर्थालंकार का लक्षण-उदाहरण पूर्वक वर्णन करती है। दोहों के पूर्वार्ध में लक्षण और उत्तरार्ध में उदाहरण^१ है। आधार चंद्रालोक तथा कुवलयानंद ही हैं। अंत के ४२ दोहों नायिकाभेद तथा रसादि का संक्षिप्त वर्णन करते हैं, परंतु उस भाग का अलग नाम ही 'काव्यप्रकाश' दे दिया गया है। अनुमान से जान पड़ता है कि उस युग का साहित्यिक 'भाषा'^२ में 'भूषण' का (चंद्रालोक, कुवलयानंद के आधार पर) वर्णन करनेवाली पुस्तक का नाम ही भाषाभूषण समझता था और काव्यप्रकाश का महत्व अलंकारों से अन्य काव्यांगों, विशेषतः रस और नायिकाभेद के लिये था।

श्रीधर कवि की कविता सामान्य है, अलंकारवर्णन में भी वे सामान्य सफलता के अधिकारी हैं। कुछ उदाहरण उनके भाषाभूषण से देखिए

सो बिभावना, हेतु बिन कारज कौ उद्योत ।
 बिन जावक चरनन जिते, अरुन कमलदल-गोत ॥
 दोसहु में गुन देखिए, वहै अवज्ञा चार ।
 बिपति भली सुमिरौ जहाँ, हरि के चरन उदार ॥

७. श्रीपति

श्रीपति का जीवनवृत्त तथा इनका अलंकारविवेचन सबंधी सामान्य परिचय सर्वांगनिरूपक आचार्यों के प्रसंग में यथास्थान देखिए।

८ गोप कवि

मिश्रबधुओं ने ओरछानरेश महाराज पृथ्वीसिंह के आश्रय में रहनेवाले एक गोप कवि की चर्चा की है। इन्होंने स० १७७३ के आसपास रामालंकार नामक अलंकारग्रंथ लिखा था। डा० भगीरथ मिश्र को टीकमगढ़ के सवाई महेंद्र पुस्तकालय (ओरछा) में गोप कवि के दो ग्रंथ रामचंद्रभूषण और रामचंद्राभरण मिले हैं। कवि के केवल अलंकार विषय पर लिखे हुए तीन सामान्य ग्रंथ हैं—रामालंकार, रामचंद्रभूषण और रामचंद्राभरण। रामचंद्राभरण के प्रारंभ में कवि ने अपनी वंशावली और अपने आश्रयदाता ओरछानरेश पृथ्वीसिंह का वर्णन किया है। कवि का इतना ही विवरण उपलब्ध है।

गोप कवि के तीनों ग्रंथ एक ही योजना के तीन रूप हैं। उनके नाम और प्रतिपाद्य विषय तो एक हैं ही, वर्णनशैली तथा वर्णनविस्तार भी समान हैं। सामान्यतः इन ग्रंथों पर चंद्रालोक और भाषाभूषण का प्रभाव है।

डा० भगीरथ मिश्र ने रामचंद्रभूषण का परिचय देते हुए लिखा है कि यह अलंकारों का ग्रंथ है। दोहों में ही उनके लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। प्रथमार्ध में अलंकार के लक्षण और द्वितीयार्ध में उदाहरण है। ये उदाहरण राम के चरित्र से संबद्ध रखते हैं। पहले अर्थालंकारों का और बाद में शब्दालंकारों का वर्णन है। उदाहरण स्पष्ट और लक्षण संक्षेप में दिए गए हैं^३।

१. लच्छन आधे दोहरा, उदाहरन पुनि आधु।
२. भासहि मैं मनि भूसन सो सुरमास ज्यौ भूषन भाँति भली है,
३. हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ११५।

गोप कवि का आचार्यत्व सामान्य स्तर का है। तीन तीन पुस्तकों की रचना इन्होंने किसी सिद्धांत से प्रेरित होकर नहीं की। अलंकार के स्वरूप का वर्णन करते हुए

शब्द अर्थ रचना रुचिर, अलंकार सो जान ।

भाव भेद गुण रूप तें, प्रगट होत है, आन ॥

लिखकर कवि अलंकार को शब्द और अर्थ की वह कलापूर्ण, रुचिर रचना नहीं मान रहा है जिसकी अभिव्यक्ति भावादि की स्थिति से होती है^१ उक्त दोहे का कोई विशेष अर्थ नहीं है। उसका अन्वय इस प्रकार होगा—शब्द अर्थ रचना (स्वरूप काव्य को, जो) रुचिर (करतु है) सो (ताको) अलंकार जान, (जु) अलंकार) भाव भेद तथा गुण रूप ते आन (भिन्न) (रूप में) प्रकट होत है। इसका अर्थ यही होगा कि शब्दार्थ रचना काव्य के शोभाकारक धर्म का नाम अलंकार है, यह भावादि तथा गुण से भिन्न प्रकार का होता है।

गोप कवि की भाषा सरल तथा उदाहरण सहज है। उनका उद्देश्य, अनेक रीति-कालीन कवियों के समान, कविता था, आचार्यत्व नहीं।

६ याकूब खाँ

याकूब खाँ सामान्य कोटि के कवि थे। उनका लिखा हुआ ग्रंथ रसभूषण दतिया राजपुस्तकालय में उपलब्ध है। मिश्रबधुओं ने इसका रचनाकाल स० १७७५ माना है। इस ग्रंथ की एक विशेषता यह है कि इसमें रस अर्थात् नायिकाभेद और अलंकार का वर्णन साथ साथ चलता है। कवि ने इस चमत्कार के लिये बड़ी मनोरंजक युक्ति दी है। वह कहता है कि अलंकार के बिना नायिका शोभित नहीं होती अतः मैं इस पुस्तक में अलंकार-युक्त नायिका का वर्णन कर रहा हूँ :

अलंकार बिनु नायिका, शोभित होइ न आन ।

अलंकारजुत नायिका, यातें कहौ बखानि ॥

इस पुस्तक में नायिका का एक भेद और अलंकार साथ साथ वर्णित है। यत् तत्र ब्रजभाषा गद्य में व्याख्यात्मक टीका है। समस्त पुस्तक दोहा और सोरठा छंदों में लिखी गई है। प्रसंगत इस रचना में इस विषय पर भी प्रकाश पड़ता है कि कौन सा अलंकार किस रस में अधिक उपयुक्त है। रसभूषण की कविता सामान्य स्तर की है

पूरन उपमा जानि, चारि पदारथ होइ जिहि ।

ताहि नायिका मानि, रूपवंत सुंदर सुछवि ॥

हैं कर कोमल कंज से, ससि सी दुति मुख ऐन ।

कुंदन रँग, पिक वचन से, मधुरे जाके बैन ॥

१०. रसिक सुमति

आगरा निवासी उपाध्याय ईश्वरदास के पुत्र रसिक सुमति ने सवत् १७८५-८६ में अलंकारचंद्रोदय की रचना की। जिस टोले^२ में कुलपति मिश्र का घर था, उसी में ६० वर्ष बाद रसिक सुमति रहते थे—इस संयोग का संकेत^३ उन्होंने बड़े गौरव से किया है।

अलंकारचंद्रोदय की रचना सामान्यतः कुवलयानंद के आधार पर^४ दोहों में हुई

१. हिंदी रीतिसाहित्य, पृ० ३७।

२. टोले मथुरियानि के तपन-तनया निकट अवदात।

३. हिंदी अलंकार साहित्य, पृ० १४०।

४. रसिक कुवलयानंद लखि, असि मन हरष बढ़ाय।

अलंकार चंद्रोदयहि बरनत हिय हुलसाय ॥

है। १८७ मे से १८० दोहो मे अर्थालंकार तथा शेष मे शब्दालंकार है। काव्य मे वैचित्र्य का नाम अलंकार है। यह शब्द और अर्थ के भेद से दो प्रकार का हो सकता है। प्राधान्य की दृष्टि से अर्थालंकार का वर्णन पहले है। रसिकजी ने भाषाभूषण से उदाहरणो मे सहायता ली है। चंद्रोदय की भाषाभूषण से बढकर एक विशेषता यह है कि प्रत्येक भेद के लक्षण उदाहरण के लिये एक स्वतन्त्र दोहा लिख दिया है, फलतः प्रत्येक भेद सुगम तथा सरल बन गया है।

चंद्रालोक के लक्षणो को कुवलयानंद से ग्रहण करके रसिक सुमति ने उनका प्रायः छायानुवाद और कही कही शब्दानुवाद कर दिया है

- (१) वदति वर्ण्यविर्ण्यानां, धर्मैक्यं दीपकं बुधाः ।
मदेन भाति कलभः प्रतापेन महीपतिः ।
दीपकं वर्ण्यं अवर्ण्यं की, एकं कृया जो सोय ।
गज मद सौ नृप तेज सौ, जग मे भूषित होय ॥
- (२) सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरजनः ।
दिग्निगमगतस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह ।
सो सहोक्ति तजि हेतु फल औरनि कौ सहभाउ ।
सुजस संग परताप तुव, नाँखि गयौ दरियाउ ॥

११ भूपति

अमेठी के राजा गुरुदत्तसिंह 'भूपति' नाम से कविता करते थे। शुक्लजी ने इनके विषय मे लिखा है कि ये जैसे सहृदय और काव्यमर्मज्ञ थे वैसे ही कवियो का आदर समान करनेवाले भी। एक बार अवध के नवाब सआदत खाँ से ये बिगड खडे हुए। सआदत खाँ ने जब इनकी गढी घेरी तो ये सआदत खाँ के सामने ही अनेक को मार काटकर गिराते हुए जंगल की ओर निकल गए।

भूपति की ३ पुस्तके प्रसिद्ध है—सतसई, रसरत्नाकर और कठाभूषण। सतसई की रचना स० १७६१ मे हुई थी। इसमे शृंगार के सरस दोहे हैं। रसरत्नाकर मे रस और कठाभूषण मे अलंकार का वर्णन है^१। ये रीतिग्रन्थ अभी प्रकाश मे नहीं आए। सतसई के दोहे मधुर तथा सरस हैं।

१२ दलपतिराय

अहमदाबाद के निवासी दलपतिराय महाजन और वशीधर ब्राह्मण ने उदयपुर के महाराजा जगतसिंह के आश्रय मे अलंकाररत्नाकर नामक ग्रंथ स० १७६२ मे बनाया। यह ग्रंथ जसवर्तसिंह के भाषाभूषण की व्याख्या है। प० रामचंद्र शुक्ल के अनुसार इसका भाषाभूषण के साथ प्रायः वही संबध है जो कुवलयानंद का चंद्रालोक के साथ। इस ग्रंथ मे विशेषता यह है कि इसमे अलंकारो का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया गया है तथा इस कार्य के लिये गद्य व्यवहृत हुआ है।

कवियो ने आचार्यत्व की भावना से अलंकारो के लक्षण और फिर उदाहरण देकर उदाहरणो को घटाया है। उदाहरण दूसरे कवियो के भी दिए गए हैं। पुस्तक बहुत ही पांडित्यपूर्ण और उपयोगी है। कविता की दृष्टि से भी दलपतिराय तथा वशीधर का अच्छा स्थान है।

१ सबद अर्थ की चित्रता, बिबिध भाँति की होइ।

अलंकार तासौ कहत, रसिक बिबुध कवि लोइ ॥

२. हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० १२६।

१३ रघुनाथ

काशीनरेश महाराज बरिबडसिंह की सभा में रघुनाथ बदीजन थे। काशी-राज ने इनको चौरा नामक ग्राम दिया था जिसकी स्थिति वाराणसी^१ से एक योजन और पचक्रोशी से एक कोस दूर थी। महाभारत का प्रसिद्ध अनुवाद करनेवाले गोकुलनाथ इनके पुत्र और गोपीनाथ इनके पौत्र थे।

रघुनाथ ने ४ ग्रंथ लिखे—रसिकमोहन, काव्यकलाधर, जगत्मोहन, तथा इश्क-महोत्सव। कहा जाता है कि इन्होंने बिहारी की सतसई पर एक टीका भी लिखी थी। रसिकमोहन अलंकार ग्रंथ है। इसकी रचना स० १७९६ में हुई थी^२। काव्यकलाधर (स० १८०२) में रस तथा नायिकाभेद का वर्णन है। जगत्मोहन (स० १८०७) अष्टयाम की परंपरा में है जिसमें कृष्ण को आदर्श नृपति के रूप में चित्रित करके उनके १२ घट्टे की दिनचर्या का वर्णन है। इस ग्रंथ में कवि का ससार के समस्त विषयों का ज्ञान भलीभाँति प्रतिबिंबित होता है। इश्कमहोत्सव उस युग की प्रगतिशील रचना है। खड़ी बोली और फारसी शब्दों के अधिकांश मिश्रण द्वारा इश्क अर्थात् प्रेम के उल्लास से परिपूर्ण। इस पुस्तक की दृष्टि से रघुनाथ बोधा कवि (जन्म स० १८०४) से अग्रणी ठहरते हैं—इश्कमहोत्सव की रचना इश्कनामा से पूर्व ही हुई थी।

अलंकार की दृष्टि से रसिकमोहन का अपना महत्व है। इसकी सबसे पहली विशेषता यह है कि उदाहरण के लिये आए हुए पद्यों के चारों चरण उस अलंकार के उदाहरण हैं। सामान्यतः दूसरे कवियों ने अपने कवित्त या सवैया के प्रथम तीन चरण व्यर्थ ही रचे हैं, अंतिम चतुर्थ चरण में ही उस अलंकार का उदाहरण मिलता है। रसिकमोहन की दूसरी विशेषता उदाहरणों के लिये केवल शृंगार रस के ही पद्य न बनाकर वीर आदि रसों का आश्रय है। इस पुस्तक का उद्देश्य अलंकारवर्णन के अतिरिक्त आश्रयदाता राजा की विशद गुणगाथा^३ भी है।

रसिकमोहन ४८२ छंदों का ग्रंथ है। लक्षण के लिये दोहा और उदाहरण के लिये कवित्त या सवैया छंद का प्रयोग है। पुस्तक का विभाजन 'मत्तों' में है और प्रत्येक 'मत्त' का नामकरण भी है। केशव के समान रघुनाथ ने पुस्तक प्रारंभ करते ही विवेच्य अलंकारों की सूची दे दी है। रघुनाथ के लक्षणों में कुवलयानंद का प्रभाव है, कहीं कहीं (दे० स्तवकोपमा) चंद्रालोक की भी छाया है। अलंकारों के नामों, लक्षणों या भेदों में कोई विशेषता नहीं। प्रमादवश व्याजोक्ति नाम दो बार आ गया है और देखादेखी अत्युक्ति का भेद प्रेमात्युक्ति वर्णित है।

रघुनाथ कवि के उदाहरण पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं, स्पष्टता के कारण भी तथा कवित्व के कारण भी। इनकी कविता सरस एवं मनोहर है, भाषा साफ सुथरी एवं छंद मतिपूर्ण हैं। काव्यगुण में इनको मतिरामवर्ग में रखा जा सकता है। काव्य-कलाधर से रघुनाथ की कविता के उदाहरण देखिए

चंद सो आनन, चाँदनी सो पट,
तारे सी मोती की माल बिभाति सी।

”आँखें कुमोदिनि सी हुलसी,
मनिदीपनि दीपकदानि के जाति सी।

- १ योजन भरि वाराणसी, पचकोस एक कोस।
- २ सवत सत्रह सै अधिक, बरस छानबे षष्ठ्य।
- ३ बिच बिच काशी नृपति के कहे बिसद गुन गाथ।

हे रघुनाथ कहा कहिए,
 प्रिय की तिय पूरन पुन्य बिसाति सी ।
 आई जोन्हाई के देखिबे को,
 बनि पून्यो की राति में पून्यो की राति सी ॥ १ ॥
 देखि री देखि ये ग्वालि गँवारिन,
 नैक नहीं थिरता गहती है ।
 आनँद सों रघुनाथ पगी,
 पग रगन सो फिरती रहती है ।
 छोर सों छोर तरौना को छुबै करि,
 ऐसी बड़ी छबि कौ लहती है ।
 जोबन आइबे की महिमा,
 अँखिया मनो कानन सों कहती है ॥ २ ॥

सबधातिशयोक्ति तथा श्लेष के निम्नलिखित उदाहरण कवि की प्रतिभा की कुछ झलक दे सकते हैं :

देखि गति त्रासन ते सासन न मानै सखी,
 कहिबे को चहत कहत गरौ परि जाय ।
 कौन भाँति उनको सँदेसँ आवै रघुनाथ,
 आइबे को सोपै न उपाव कछू करि जाय ।
 बिरह बिथा की बात लिख्यो जब चाहै तब,
 ऐसी दसा होति आँच आखर में भरि जाय ।
 हरि जाय चेत चित, सूखि स्याही भरि जाय,
 बरि जाय कागद, कलम पंक जरि जाय ॥ १ ॥
 भरे तनसुख सिरी साफ सोहै रघुनाथ,
 अतलस रही गज गति मै बखान है ।
 झिलमिली बंदी की बिराजै पॉति न्यारी नीकी,
 काकनी निहारी औ रूमाल सुभ ठान है ।
 गाड़े कुच की हैं मेही कमर अलकपरी,
 औरऊ चिकन पट के तो सुखदान है ।
 तुम तो सुजान बलि गई चलि देखौ साज,
 आजु बनी बनिता बजाज की दुकान है ॥ २ ॥

१४ गोविंद कवि

गोविंद कवि ने स० १७६७ में करणाभरण नामक अलंकार विषय की पुस्तक लिखी जो स० १८६४ में भारतजीवन प्रेस, काशी से मुद्रित भी हुई । गोविंद कवि से सार्ध शताब्दी पूर्व करनेस कवि ने भी इसी विषय और नाम की एक पुस्तक लिखी थी जो प्राप्य नहीं है । फिर भी, उसका ऐतिहासिक महत्व है । संभव है, गोविंद कवि उस रचना से परिचित न रहे हों ।

करणाभरण ४६ पृष्ठों की पुस्तक है । भाषाभूषण के समान इसमें भी केवल दोहा छंद के प्रयोग से अलंकार के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं । लेखक ने अपनी कृति का समय इन शब्दों में लिखा है :

नग निधि रिषि विधु वरष मै, सावन सित तिथि संभु ।
 कौन्हो सुकवि गुविंद जू, करणाभरण अरंभु ॥

का उदाहरण तथा शेष आधे में दूसरे का लक्षण और उदाहरण प्रारंभ हो गया है। कवित्त के कुछ चरण भरती के शब्दों से भरे हुए हैं। कुछ अलंकारों के उदाहरण नहीं हैं प्रत्युत उन परिस्थितियों का वर्णन है, जिनमें वह अलंकार बन सकता है (दे० छेकापद्धति तथा हेतुप्रेक्षा)।

दूल्ह का अलंकार साहित्य में एक विशिष्ट महत्व है। उनकी एक मात्र रचना उनको अलंकारियों के उच्च स्थान का भागी बना देती है। आचार्यत्व भी उनमें अन्य अनेक कवियों से अधिक था। उनकी कृति से कुवलयानंद का विशेष अध्ययन भूलकता है। अलंकारों के पारस्परिक विभेद को उन्होंने जिस अधिकार से स्पष्ट किया है वही उनके अधिकतर उदाहरणों में भी मिलता है। कुछ उदाहरण देखिए।

- (क) सबसे मधुर ऊख, ऊख तें पियूख औ,
पियूख हू ते मधुर अधर प्राणप्यारी कौ। (सार),
- (ख) कड़ि गयो भान, अब मॉगती हो सायवान,
मैन मद पोखी तेरी नोखी रीति जानिए। (ललित)
- (ग) नैनन सो नेह होत, नेह सो मिलाप होत,
रावरो मिलाप सब सुखन समाजे री। (कारणमाला)

कवि दूल्ह की कविता सरस एवं मधुर है। यद्यपि इनका कोई संग्रह नहीं मिलता, तथापि जो कवित्त मिले है वे इनकी कविप्रतिभा के अच्छे परिचायक हैं। उदाहरण देखिए।

धरी जब बाही, तब करी तुम नाहीं,
पाँड़ि दियो पलिकाही, नाहीं नाहीं कँ सुहाई हौ।
बोलत मैं नाहीं, पट खोलत मैं नाहीं,
कवि दूल्ह उछाही, लाख भाँतिन लहाई हौ।
चुबन में नाहीं, परिरंभन में नाहीं,
सब आसन बिलासन में नाहीं ठीक ठाई हौ।
मेलि गलबाही, केलि कीन्ही चितचाही,
यह हाँ ते भली नाहीं, सो कहाँ ते सीख आई हौ ॥

१७ शंभुनाथ मिश्र

शुक्लजी ने इस नाम के ३ कवियों का उल्लेख किया है। एक शंभुनाथ मिश्र स० १८०६ के आसपास असोथर (जि० फतेहपुर) के राजा भगवतराय खीची के यहाँ रहते थे। इन्होंने तीन रीतिग्रंथ लिखे हैं—रसकल्लोल, रसतरंगिणी, और अलंकारदीपक। इन पुस्तकों के विषय इनके नाम से ही स्पष्ट है। अलंकारदीपक की रचना १९वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुई थी। यह दोहे, कवित्त और सबैयों में अलंकार विषय का वर्णन करती है। उदाहरणों में शृंगार रस के साथ साथ आश्रयदाता के यश और प्रताप का भी विशद वर्णन है। पुस्तक कवित्व की दृष्टि से सामान्य कोटि की है।

१८. रसरूप

तुलसीभक्त रसरूप ने सवत् १८११ में १११ अलंकारों की एक पुस्तक तुलसी-

- १ दस वसु सत सवत् हुता, अधिक और दस एक।
क्रियो कवि रसरूप ग्रह, पूरन सहित विवेक ॥
२. एकादश अरु एक शत, मुख्य अलंकृत रूप।

भूषण लिखी। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में साँवलदास^१ श्रीवैष्णव कृत स० १९०० की इसकी एक प्रति प्राप्य है। रसरूप का कोई परिचय नहीं मिलता। शुक्लजी के इतिहास में इनका नाम नहीं है। डा० भगीरथ मिश्र ने भी इनके विषय में नहीं लिखा। अनुमान से जान पड़ता है कि ये कोई गोस्वामी थे। साहित्यिक अभिरुचि के कारण इस शृंगारी युग में इन्होंने रामायणी परंपरा का स्वस्थ हिंदी ग्रंथ साहित्य को दिया, परंतु शिष्यों के हाथ में पड़ने के कारण उनकी कृति साहित्यिकों के निकट न आ सकी। तुलसीभूषण में लेखक ने कृति का परिचय इस प्रकार दिया है :

श्री तुलसी निज भनित मे, भूषण धरे दुराय ।
ताहि प्रकासन को भई, मेरे चित मे जाय ।
रामायन में जो धरे, अलंकार के भेद ।
ताहि यथामति बूझिकै, रचित प्रबंध अखेद ।
औरन के लच्छन लिए, रामायन के लच्छ ।
तुलसीभूषण ग्रंथ कौ, या विधि कियो प्रतच्छ ॥

यद्यपि पुस्तक के आरम्भ में 'तुलसी कृत भूषण लिखित सावलदास' लिखा रहने से ऐसा भ्रम हो सकता है कि यह पुस्तक तुलसी नामक किसी कवि की रचना है, अथवा इसके लेखक साँवलदास है, तथापि इस भ्रम का निवारण रचना के अंत प्रमाणों से हो जाता है। सुकवि रसरूप का नाम कर्ता के रूप में अनेक बार आया है और साँवलदास को आगे चलकर लिपिकार कहा गया है, अतः 'तुलसीकृत' का अर्थ 'तुलसी की रचना से कृत' तथा 'लिखित साँवलदास' का अर्थ 'लिपिकृत साँवलदास' लेना चाहिए।

तुलसीभूषण ५६ पृष्ठों की पुस्तक है। इसका उद्देश्य 'औरन के लच्छन लिए, रामायण के लच्छ' कहा गया है। 'औरन' से हिंदी के आचार्यों का बोध नहीं होता, प्रत्युत कुवलयानंदकार, चंद्रालोककार तथा काव्यप्रकाशकार^२ आदि ही समझने चाहिए। 'रामायन के लच्छ' से यह अभिप्राय नहीं कि उदाहरण रामचरितमानस से ही लिए गए हैं, क्योंकि गीतावली के उदाहरणों की भी कमी नहीं, बरबस रामायण आदि के उदाहरण भी हैं ही, अतः 'रामायन' से 'तुलसीकृत रामकथा' का संकेत है। लक्षण दोहे में है और उदाहरण के लिये तो सभी छंद आ गए हैं। लेखक की भक्तिरसपूर्ण उदाहरणों में बड़ी रुचि थी, अतः 'पुनर्यथा' लिखकर प्रायः एक से अधिक उदाहरण उसने दिए हैं।

आदि में ६ शब्दालंकार—अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, श्लेष, चित्त, पुनरुक्तवदाभास—लिखकर फिर अर्थालंकार का वर्णन है। अर्थालंकार के विषय में रसरूप लिखते हैं

अक्षर कौ संबंध करि, क्रमही सो रसरूप ।

आद्य वरन के नेम सौ, भूषण रचे अनूप ॥

अर्थात् अर्थालंकारों का वर्णन अकारादि क्रम से किया गया है, जो उस युग में एक विचित्र बात थी। शब्दालंकार पर मम्मट का तथा अर्थालंकार पर जयदेव का प्रभाव अधिक है।

रसरूप कवि के रूप में हमारे समुख नहीं आते क्योंकि इन्होंने उदाहरणों की रचना नहीं की। ये या तो आचार्य हैं या भक्त, आचार्य कम, भक्त अधिक। इन्होंने केवल लक्षण

१. सवत् १९००। सावलदास श्रीवैष्णव लिपिकार।

२. समत काव्यप्रकाश को, और कुवलयानंद।

चंद्रालोक, कल्पलता, चंद्रोदय शुभकद ॥

बनाए है, परंतु वे भी सामान्य कोटि के हैं। क्रम भी प्रासंगिक है, किसी गहराई का द्योतक नहीं। फिर भी रसरूप का प्रयत्न प्रशंसनीय है। इन्होंने उदाहरणों के मोह से छटकर एक ऐसा अलंकारग्रंथ लिखा जिसकी सामग्री का आधार हिंदी का मूर्धन्य कवि है और जिसमें काव्यशास्त्र की शृंगार की सकीर्ण गली से निकालकर जीवन के व्यापक क्षेत्र में लाया गया है।

१९ बैरीसाल

असनी में बैरीसाल के वंशज और उनकी हवेली अबतक विद्यमान है। ये जाति के ब्रह्मभट्ट थे। बैरीसाल ने स० १८२५ में अलंकार विषय पर भाषाभरण नामक एक सुंदर तथा प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा।

भाषाभरण ४७५ छंदों की पुस्तक है जिसमें अधिकतर दोहा छंद का व्यवहार हुआ है। इसके लक्षण स्पष्ट और उदाहरण सुंदर हैं। विवेचन में स्पष्टता तथा कवित्व में माधुर्य बैरीसाल के मुख्य गुण हैं। इस पुस्तक का मुख्य आधार कुवलयानंद है—रीति कुवलयानंद की कीन्ही भाषाभरण। सामान्यतः इसे भाषाभूषण की ही कोटि का समझना चाहिए। आगे चलकर प्रसिद्ध कवि पद्माकर ने अपने पद्माभरण में बैरीसाल के भाषाभरण का अनुकरण किया। कवित्व की दृष्टि से भाषाभरण के दो दोहे देखिए :

नहिं कुरंग, नहिं ससक यह, नहिं कलंक, नहिं पंक ।

बीस बिसे बिरहा दही, गड़ी दीठि ससि अंक ॥

करत कोकनद मदहि रद, तुव पद हर सुकुमार ।

भए अरुन अति दबि मनो पायजेब के मार ॥

२०. हरिनाथ

नाथ या हरिनाथ काशी के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होंने स० १८२६ में अलंकारदर्पण की रचना की। इस छोटे से ग्रंथ में एक एक पद के भीतर कई उदाहरण हैं। पहले दोहों में अलंकारों के एक साथ लक्षण और फिर क्रम से उन अलंकारों के कवित्वों में उदाहरण देने से विवेचन सहज नहीं रहा। इस विचित्रता की भूलक दूल्हा कवि में भी दिखाई देती है। कविता साधारणतः अच्छी है।

२१ दत्त

दत्त ने स० १८३० के आसपास लालित्यलता नाम की एक पुस्तक लिखी जिसका विषय अलंकारवर्णन है। इसमें कवित्व ही मुख्य है। दत्त कानपुर जिले के ब्राह्मण थे। इन्होंने चरखारी के राजा खुमानसिंह के आश्रय में कविता की है। इनकी कविता में माधुर्य और मनोज्ञता है जो इनको सामान्य से ऊँचा स्थान दिलाती है।

२२ ऋषिनाथ

गोरखपुर जिले के देवकीनंदन मिश्र अच्छी कविता करते थे। एक बार मँझौली के राजा के यहाँ विवाहोत्सव पर उन्होंने कुछ कवित्व पढ़े और पुरस्कार भी प्राप्त किया। इसपर उनकी जाति के सरयूपारी ब्राह्मणों ने उनको भाट कहकर जालिच्युत कर दिया। उनका विवाह असनी के प्रसिद्ध भाट नरहर कवि की पुत्री के साथ हुआ और भाट बनकर ये असनी में रहने लगे। इन्हीं के वंश में ऋषिनाथ का जन्म हुआ। ऋषिनाथ के पुत्र ठाकुर

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २६६।

२. हिंदी अलंकार साहित्य, पृ० १७८।

कवि थे। ठाकुर कवि के पौत्र सेवक कवि हुए। सेवक के भतीजे श्रीकृष्ण^१ ने अपने पूर्वजों की इस कहानी को लिखा है।

ऋषिनाथ ने काशिराज के दीवान सदानंद^२ के आश्रय में स० १८३१ में अलंकार-मणिमजरी की रचना की। इस कवि का सबंध रघुवर^३ कायस्थ से भी माना जाता है। अलंकारमणिमजरी दोहों में लिखी हुई छोटी सी पुस्तक है। बीच-बीच में कवित्त, गाथा और छप्पय भी आ गए हैं। उपलब्ध प्रति का सशोधन सेवकराम ने ही किया है और वह स० १९३९ में आर्यतन्त्र, वाराणसी से छपी है।

मजरी में अर्थालंकार तथा शब्दालंकार का सामान्य वर्णन है। पुस्तक कवित्व-पूर्ण है। एक अलंकार के एक से अधिक उदाहरण भी हैं। भाषा सरल तथा सुबोध है। दृष्टांत अलंकार का उदाहरण देखिए

राधा ही में जगमगति, रुचिराई की जोति ।
राका ही में सरद की, बिसब चाँदनी होति ॥

२३ रामसिंह

नरवलगढ के नरेश^४ महाराज छत्रसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ थे। इनका विशेष परिचय रसप्रकरण में दिया गया है। अलंकार विषय पर इन्होंने स० १८३५ में अलंकारदर्पण की रचना की। यह इनकी प्रथम अतः सामान्य रचना है।

भाषाभूषण के समान अलंकार विषय की सामान्य पुस्तक का नाम अलंकार-दर्पण भी चलने लगा, जिसमें अलंकारों का प्रतिबिम्ब हो वही अलंकारदर्पण। हिंदी में कम से कम ४ अलंकारदर्पण प्राप्य हैं—गुमान मिश्र (स० १८०० के लगभग), हरिनाथ (स० १८२६), रतन कवि (स० १८२७) तथा रामसिंह (स० १८३०)^५ के।

कविता और वनिता को अलंकार छवि^६ प्रदान करता है, इसलिये रामसिंह ने लगभग ४०० छंदों की अलंकार विषयक पुस्तक ५८ पृष्ठों में लिखी। इस पुस्तक की एक विशेषता कई छोटे छोटे छंदों का व्यवहार है। इसमें उदाहरण प्रायः दोहे में हैं परंतु लक्षण के लिये सोरठा, चौपाई, गाथा दोहा सभी छंद लिए गए हैं।

अलंकारदर्पण^७ में सामान्यतः कुवलयानंद का अनुकरण है। लक्षणों में भाषा-भूषण की छाया मिलती है। उपमा से प्रारंभ करके ३८३ छंदों में अर्थालंकारों का वर्णन है। विविध छंदों के ग्रहण का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं दिखाई पड़ता। कुछ अलंकारों के लक्षण देखिए :

उत्प्रेक्षा—मुख्य वस्तु पे आन की संभावना बिचारि ।

काव्यलिङ्ग—समर्थनीय अर्थ को जहाँ समर्थ कीजिए ।

बखान काव्यलिङ्ग को तहाँ बिचार लीजिए ॥

- १ हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३७९।
- २ ऋषिनाथ सदानंद सुजस विलद तमवृद्ध के हरैया चदचद्रिका सुधार हैं।
- ३ हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २९३।
- ४ नरवलगढ नृप वीरवर, छत्रसिंह मतिधाम ।
रामसिंह तिहि सुत कियौ, नयो ग्रथ अभिराम ॥
- ५ बरस अठारह सैं गनौ, पुनि पैतीस बखानि ।
- ६ कविता अरु वनितान को, अलंकार छवि देत ।
- ७ रामसिंहकृत अलंकारदर्पण स० १९५६ में भारतजीवन प्रेस, काशी से छप चुका है।

चित्र—प्रश्न पदन में उत्तर कहै ।

सोई चित्र अलंकृत लहै ।

अन्योन्य—जहँ अन्योन्य होइ उपकार ।

सो अन्योन्य कह्यौ निरधार^१ ॥

२४ सेवादास

रामभक्ति परंपरा में श्री अलबेलाल के शिष्य सेवादास थे । इनका परिचय रस-प्रकरण में दिया गया है । इनकी रचना इनको सामान्य भक्त सिद्ध करती है । रघुनाथ-अलंकार इनकी अलंकार विषय की रचना है । इसकी रचना स० १८४० में हुई थी^२ । कवि ने पुस्तक का परिचय इन शब्दों में दिया है

छप्पय, कवित्त, दोहा रचे है परम रूप,
जाही कौ बिचार कियै पावन हरस है ।
मंगल मनोहर है सीय कौ रुचिर गाथ,
श्रवनन सुनत मनौ अमृत बरस है ।
सेवादास रसिकन कौ प्यारौ लगत सोई,
मूढ़ हीन पारत न खानि कै तरस है ।
कुवलयानंद चंद्रालोक के मते सौ कह्यौ,
अलंकार राम रघुबीर कौ सरस है ।

पुस्तक में सभी उदाहरण भक्ति से आए हैं, लक्षणों से सतोष नहीं होता है कुव-लयानंद आदि से तो अलंकारों के नाम^३ भर लिए गए हैं, लक्षणों का भी अनुवाद नहीं किया गया है । इस पुस्तक में विविध छंदों का अकरण प्रयोग है । शब्दालंकार का प्रसंग नहीं है, परंतु रामभक्ति के साथ हनुमान की भक्ति भी है । दो अलंकारों के लक्षण देखिए

उपमा तैं उपमेय मै, झलकै अधिक प्रकास ।
परिसंख्या सो जानियै, ताकौ कहत उजास ।
प्रथम कहै पुनि बात कौ, दूजै पलटै सोइ ।
छेक अपह्नुति जानियै, ताकौ कहत जु सोइ ।

रघुनाथअलंकार की लिपि रामदास नामक व्यक्ति के हाथ की है । इसकी कविता सामान्य कोटि की है ।

कंचन सौ गात मनौ उदित प्रभात भानु,
अति ही चपल चारु बुधि के सुधीर है ।
पिंगारन नैन और लाल ही मुखारविंद,
झलकै लंगूर वर उज्ज्वल सो हीर है ।
अति ही प्रचंड वेग मनहुँ सौ कोटि गुन,
अंजनी सुमातु सुचि पिता सो समीर है ।

- १ तुलना कीजिए—अन्योन्य नाम यत्न स्यादुपकार. परस्परम् । —चंद्रालोक । अन्योन्यालंकार है, अन्योन्यहि उपकार । —भाषाभूषण ।
२. अठारह सौ चालिस सो, सवतसरस बखान ।
३. कुवलयानंद चंद्रालोक मैं, अलंकार के नाम ।
तिनकी गति अवलोक कै, अलंकार कहि राम ॥

सेवादास राम को चरित जहाँ राजत है,
रछा ही करत हनुमान बली वीर है ।

२५ रतन कवि

शिवसिंह सेगर ने रतन कवि का जन्मकाल स० १७६८ लिखा है, जिसके आधार पर शुक्लजी ने इनका कविताकाल स० १८३० के आसपास माना है। रतन कवि के विषय में केवल इतना ज्ञात है कि ये श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा फतहसाहि के आश्रय में थे जहाँ इन्होंने फतेहभूषण नामक एक ग्रंथ लिखकर काव्यागो का विवेचन किया। इस पुस्तक की विशेषता है कि उदाहरणों में राजा की स्तुति के छंद ही मुख्य हैं, शृंगार की कविता नहीं।

रतन कवि का एक दूसरा ग्रंथ अलंकारदर्पण दत्तिया के राज पुस्तकालय में है जिसका रचनाकाल शुक्लजी ने स० १८२७ परंतु डा० भगीरथ मिश्र ने स० १८४३ माना है। अलंकारदर्पण में अलंकार विषय का विवेचन है, लक्षण और उदाहरण एक ही छंद में देने की इच्छा से दोहों के स्थान पर बड़े छंदों का प्रयोग किया गया है। विवेचन सामान्य कोटि का है, परंतु कविता मनोहर तथा सरस है।

२६ देवकीनंदन

ये मकरद पुर के रहनेवाले कनौजिया ब्राह्मण थे। इनका रचनाकाल स० १८४० से १८६० तक माना जा सकता है। शिवसिंह ने इनके बनाए हुए एक नखशिख की चर्चा की है। इन्होंने स० १८४१ में शृंगारचरित लिखा। फिर अपने आश्रयदाता कुँवर सरफराज गिरि नामक महन के नाम पर स० १८४३ में सरफराजचंद्रिका नामक अलंकार-ग्रंथ लिखा। तदुपरांत ये हरदोई जिला के रईस अवधूतसिंह के आश्रय में चले गए और स० १८५७ में अवधूतभूषण की रचना की। अवधूतभूषण शृंगारचरित का ही परिवर्धित रूप है, परंतु सरफराजचंद्रिका में अलंकार विषय का वर्णन है। इनकी कविता में वैचित्र्य के साथ साथ लालित्य और माधुर्य भी है।

२७ चदन

चदन कवि जिला शाहजहाँपुर के निवासी बदीजन थे। गौड़ राजा केसरीसिंह के आश्रय में इन्होंने हिंदी और फारसी में सुंदर कविता लिखी है, फारसी में इनका नाम सदल था। शुक्लजी ने इनका कविताकाल स० १८२० से १८५० तक माना है।

चदन कवि की १३ रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—शृंगारसागर, काव्याभरण, कल्लोल-तरंगिणी, केसरीप्रकाश, चदनसतसई, नखशिख, नाममाला, प्राज्ञविलास, कृष्णकाव्य, सीतवसंत, पथिकबोध, पत्रिकाबोध, तथा तत्त्वसंग्रह। इन नामों से ही स्पष्ट है कि चदन की प्रतिभा बहुमुखी थी—सीतवसंत की लोककहानी से लेकर तत्त्वसंग्रह जैसे दार्शनिक और नाममाला जैसी कोशरचना से लेकर कृष्णकाव्य जैसे प्रबंधकाव्य तक। इन रचनाओं में उस समय की काव्यशैलियों का सहज प्रतिनिधित्व मिलता है।

काव्याभरण की रचना स० १८४५ में हुई थी। नाम से लगता है कि इसमें समस्त काव्यागो की चर्चा होनी चाहिए, परंतु डा० भगीरथ मिश्र ने इसको अलंकार-ग्रंथ बताया है। हो सकता है, भाषाभरण से लेकर पद्याभरण तक की परंपरा के बीच काव्याभरण भी हो।

२८ बेनी बदीजन

बेनी नाम के दो कवि बहुत प्रसिद्ध हैं—बेनी प्रवीन और बेनी बदीजन। बेनी बदीजन रायबरेली जिला में बेती ग्राम के रहनेवाले थे। इनको अवध के वजीर महाराज टिकैतराय का आश्रय मिला। इनका विशेष परिचय रसप्रकरण में दिया गया है।

बेनी ने टिकैतरायप्रकाश सवत् १८४६ में लिखा। यह अलंकार का ग्रंथ है। इसमें विवेचन की गंभीरता नहीं, परंतु काव्य का माधुर्य है। बेनी बदीजन कवि थे। इनकी कविता सरस एवं मधुर है। कोमलकांत पदावली, प्रसादगुण, सहजगति एवं विदग्धता के कारण इनका कवित्व बड़ा लोकप्रिय रहा है। इनको मतिरामवर्ग में रखा जा सकता है। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए

अलि इसे अधर सुगंध पाय आनन को,
कानन में ऐसे चारु चरन चलाए है।
फटि गई कंचुकी लगै तैं कंट कुंजन के,
बेनी बरहीन खोली बार छबि छाए है।
बेग तैं गवन कीनो, धकधक होत सीनो,
ऊरध उसासै तन सेव सरसाए है।
भली प्रीति पाली वनमाली के बुलाइबे की,
मेरे हेत आली बहुतेरे दुख पाए है।

२९ भान कवि

भान कवि का केवल इतना ही विवरण मिलता है कि वे राजा जोरावरसिंह के पुत्र थे और राजा रनजोरसिंह बुदेले के यहाँ रहते थे। इन्होंने स० १८४५ में नरेंद्र-भूषण नाम की पुस्तक लिखी।

नरेंद्रभूषण, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, अलंकारों की पुस्तक है। इसकी एक विशेषता यह है कि अलंकारों के उदाहरणों में शृंगार के साथ-साथ वीर, भयानक, आदि कठोर रसों को भी समान स्थान मिला है। भान कवि की कविता में ओज और प्रसाद गुण ही मुख्य हैं। शृंगार रस के उदाहरण कोमल तथा मधुर हैं। शुक्लजी के इतिहास से भान कवि की कविता का एक उदाहरण दिया जाता है

रन मतवारे ये जोरावर दुलारे तव,
बाजत नगारे भए गालिब बिलीस पर।
दल के चलत भर भर होत चारों ओर,
चालति धरनि भारी भार सों फनीस पर।
देखिकै समर सनमुख भयो ताहि समै,
बरनत भान पैज कै कै बिसे बीस पर।
तेरी समसेर की सिफत सिंह रनजोर,
लखी एकै साथ हाथ अरिन के सीस पर ॥

३०. ब्रह्मदत्त

कवि ब्रह्म या ब्रह्मदत्त जाति के ब्राह्मण थे और कपशीनरेश महाराज उदित-नारायण सिंह के अनुज दीपनारायण सिंह के आश्रय में रहते थे। इन्होंने दो पुस्तकें

लिखी—विद्वद्विलास (सं० १८६०) तथा दीपप्रकाश^१ (सं० १८६७)। दीपप्रकाश भारतजीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित भी हो चुका है। इसके संपादक स्व० रत्नाकर जी ने सं० १८६७ को लिपिकाल माना है, रचनाकाल नहीं। प० रामचंद्र शुक्ल ने^२ रचनाकाल सं० १८६५ लिखा है। अतः प्रमाण^३ के आधार पर हम दीपप्रकाश का रचना-काल सं० १८६७ ही ठीक समझते हैं।

दीपप्रकाश की रचना आश्रयदाता^४ दीपनारायण सिंह की आज्ञा^५ से उन्हीं के नाम पर हुई है। ४६ पृष्ठों की यह पुस्तक ७ प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम प्रकाश के १५ दोहों में परिचय, दूसरे प्रकाश के ४७ दोहों में नायकनायिका भेद, तृतीय प्रकाश में भावादि तथा शब्दालंकार, चतुर्थ प्रकाश में अर्थालंकार तथा शेष में अन्य काव्यागो की चर्चा है। श्रव्य काव्य के सभी अंगों का यत्किंचित् समावेश इस पुस्तक की विशेषता है और शायद इसी के कारण रत्नाकरजी इसको भाषाभूषण से उत्तम पुस्तक मानते हैं।

दीप प्रकाश में अलंकार विषय का ही बाहुल्य है। समस्त पुस्तक दोहों में रची गई है। विषयविवेचन सामान्य परंतु स्पष्ट है। एक ही दोहे में लक्षणा तथा उदाहरण दोनों को रखने का प्रयास किया गया है। उदाहरण शृंगार के हैं, परंतु निर्मल तथा सरल। कविता के कुछ उदाहरण देखिए -

कहत धर्म उपमा लुपत, गोपित करि बुधि ऐन ।
हरि नीके लागत लखत, हरिनी के से नैन ।
विषई अंतर विषय के, करत काम परिणाम ।
कर कंजनि तोरति सुमन, चित चोरति बह बाम ।
प्रथम प्रहर्षण जतन बिन, बांछित फल जब होय ।
चित चाहत हरि राधिका, औचक आई सोय ।

३१ पद्माकर

कवि पद्माकर का विशेष विवरण रसप्रकरण में दिया गया है। इन्होंने पद्मा-भरण नाम का एक छोटा वैसा अलंकार ग्रंथ सवत् १८६७ के आसपास लिखा। इसके ३४४ छंदों में प्रधानतः दोहा और कहीं कहीं चौपाइयाँ हैं। पद्माभरण में दो प्रकरण हैं—अर्थालंकार प्रकरण तथा षट्दश अलंकार प्रकरण। अर्थालंकार प्रकरण में स्वीकृत अलंकारों के लक्षण उदाहरण हैं और दूसरे प्रकरण में मतभेदवाले १५ अलंकारों का वर्णन है। इस पुस्तक की मुख्य प्रेरणा बैरीसाल का भाषाभरण है।

पद्माकर अस्तोन्मुख रीतिकाल के आचार्य हैं। उनमें न तो किसी विशेष सिद्धांत का प्रतिपादन है और न आचार्यत्व की पांडित्यपूर्ण प्रतिभा। वे मुख्यतः कवि हैं, युग की परंपरा का अनुसरण करते हुए उनको अलंकार विषय पर भी पुस्तक लिखनी पड़ी।

पद्माभरण में अलंकार के ३ भेद हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार। परंतु विवेचन केवल अर्थालंकारों का ही है, कुवलयानंद के आधार पर। पद्माकर ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि किसी स्थल पर एक से अधिक अलंकार दिखाई पड़ते हों तो वहाँ

१ संपादक जगन्नाथदास रत्नाकर, प्रकाशक भारतजीवन प्रेस, काशी, सवत् १९४६।

२. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३०७।

३. मुनि, रस, वसु, ससि बरस नभ, मास चतुर्थी स्वेत।

४. दीपनारायण, अवनीप को अनुज प्यारो, दीन दुख देखत हरत हरवर है।

५. दीपनारायण सिंह की, लहि आयसु कवि ब्रह्म।

कवि कुल कठाभरण लगी, कीन्हौ ग्रंथ अरभ ॥

मुख्य किसको माना जायगा । और उत्तर दिया है कि ऐसे स्थल पर कवि ही प्रमाण है अर्थात् कवि जिस अलंकार को जितनी मुख्यता देना चाहता है उतनी पाठक को देनी चाहिए । राजप्रासाद में कितने ही एक जैसे भवन होते हैं, परंतु मुख्य वही समझा जाता है जो राजा के मन को अच्छा लगता है । यह साक्षात् बैरीसाल का अनुकरण है । बैरीसाल ने उक्त प्रश्न का उत्तर अधिक सरसता से दिया था :

ज्यो ब्रज में ब्रज बधुन की, निकसति सजी समाज ।

मन की रुचि जापर भई, ताहि लखत ब्रजराज ॥

परंतु यह उत्तर सतोषजनक नहीं है ।

पद्माकर ने अलंकारों के नाम, लक्षण और भेद कुवलयानंद के ही अनुसार बनाए हैं, परंतु जसवतसिंह और बैरीसाल की भी स्थान स्थान पर छाप है । कुछ अलंकारों के दोनों लक्षण हैं । पद्माकर का लक्षण उदाहरण समन्वय अत्यंत स्वच्छ होने के कारण ग्रंथ की उपयोगिता में वृद्धि कर देता है । पंचदश अलंकार प्रकरण में तो 'लच्छन लच्छ' के समन्वय के लिये गद्य में वार्तिक भी लिखा है । कवि ने ससृष्टि और सकर का भी वर्णन किया है ।

लक्षणों की अपेक्षा पद्माभरण के उदाहरण अधिक सरस हैं, यद्यपि उनको निर्दोष नहीं कहा जा सकता^१ । पद्माकर पर जसवतसिंह, दूलह, बिहारी, मतिराम आदि कतिपय कवियों का सरस प्रभाव है । उनकी कविता का कुछ नमूना नीचे दिया जाता है :

सो विभावना जानि, कारन बिन कारज जहाँ ।

बिनु हु सु अंजन दान, कजरारे दृग देखियु ।

× × ×

कैद होत सुक सारिका, मधुरी बानि उचारि ।

कागा परत न बंध मे, श्रुति कटु सबद पुकारि ।

× × ×

करत भए जाके तरे, राधाकृष्ण बिहार ।

सो न होइ क्यों तरुन को, बंसीवट सिंगार ।

× × ×

पंच ज्ञान इंद्रियन तैं, जहाँ वस्तु को ज्ञान ।

तहँ प्रत्यक्ष प्रमान सो, अलंकार उन आन ॥

३२. शिवप्रसाद

दतियानिवासी शिवप्रसाद ने सवत् १८६६ में रसभूषण की रचना की । इस ग्रंथ की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें रसवर्णन के साथ साथ अलंकारवर्णन भी आ गया है । इसी शैली पर इसी नाम की एक पुस्तक एक शताब्दी पूर्व याकूब खॉं ने भी लिखी थी । शिवप्रसाद में उसी का अनुकरण है । अलंकार विषय में जसवतसिंह को आधार माना गया है । लक्षण साधारण हैं, परंतु उदाहरण सुंदर एवं आकर्षक हैं ।

३३. रणधीरसिंह

ये सिंह रामऊ (जौनपुर) के जमींदार थे । इनके लिखे ५ ग्रंथ माने जाते हैं—काव्यरत्नाकर, भूषणकौमुदी, पिंगल, नामार्णव और रसरत्नाकर । नामो से अनुमान लगाया जा सकता है कि भूषणकौमुदी में अलंकार, पिंगल में छंदशास्त्र, नामार्णव में कोश

और रसरत्नाकर में नायिकाभेद विषय रहा होगा। रणधीरसिंह का विशेष विवरण रसप्रकरण में दिया गया है। अलंकार विषय पर इन्होंने भूषणकौमुदी नामक पुस्तक की रचना की, जिसमें सामान्यतः स्वच्छंद विवेचन है।

३४. काशिराज

काशीनरेश महाराज चेतसिंह के पुत्र बलवानसिंह के नाम से चित्रचद्रिका नाम का एक ग्रंथ उपलब्ध है। इसकी रचना स० १८८६^१ से प्रारंभ होकर स० १९३१ में पूर्ण हुई। ऊपर रचयिता का नाम, आर्यभाषा पुस्तकालय की प्रति (स० १८७५) में, 'कवि काशिराज महाराज' लिखा है। महाराज चेतसिंह के आश्रय में कवि गोकुलनाथ ने सवत् १८४० से सवत् १८७० के बीच^२ जिस चेतचद्रिका की रचना की, वह इस ग्रंथ से भिन्न है। उसका रचनाकाल, विषय तथा लेखक चित्रचद्रिका के रचनाकाल, विषय तथा लेखक से भिन्न है। चित्रचद्रिका में लेखक ने स्वयं अपना परिचय दिया है

तासु तनय जग बिदित है, चेतसिंह महाराज ॥

हों सुत तिनकौ जानिए, बिदित नाम बलवान ।

चित्रचद्रिका का नामकरण इसके प्रतिपाद्य विषय चित्रकाव्य, के आधार पर हुआ है। यह अत्यंत पांडित्यपूर्ण तथा उपयोगी पुस्तक है। संस्कृत, प्राकृत, हिंदी तथा फारसी के गभीर अध्ययन तथा मनन की इसपर छाप है। चित्र के विषय को समझाने के लिये भाषाटीका तथा चित्रों से सहायता ली गई है। 'छप्पय, दोहा, सोरठा, कवित्त, तोमर, कुडलिया, चौपाई आदि अनेक छंदों का इसमें व्यवहार है।

चित्रकाव्य काव्य का एक भेद होते हुए भी अलंकार का सजातीय है। कवि ने चित्र के ३ भेद किए हैं—शब्दचित्र, अर्थचित्र तथा सकरचित्र। शब्दचित्र के ७ भेदों का वर्णन ग्रंथ के प्रथम सात प्रकाशों में है। अर्थचित्र के ६ भेद हैं—प्रहेलिका, सूक्ष्मालंकार, गूढोत्तर, अपह्लाति, श्लेष तथा यमक। इस अलंकारवर्ग का वर्णन अष्टम प्रकाश में है। अंतिम प्रकाश में पदार्थ (शब्दार्थ), सकरचित्र या उभयालंकार का वर्णन है।

चित्रचद्रिका अपने ढंग की अपूर्व रचना है। लेखक के पांडित्य, विशद अध्ययन, तथा सफल आचार्यत्व का प्रमाण पद पद पर मिल जाता है। गद्यमयी व्याख्याने विषय को सुबोध बनाने में विशेष सहायता दी है। यद्यपि चित्रकाव्य तथा चित्रालंकार आधुनिकों को आकृष्ट नहीं करते, फिर भी इस पुस्तक की उपादेयता में मतभेद नहीं हो सकता।

३५. रसिक गोविंद

रसिक गोविंद का जीवनवृत्त तथा उनका अलंकारनिरूपण सबधी सामान्य परिचय सर्वांगनिरूपक आचार्यों के प्रसंग में यथास्थान देखिए।

३६. गिरिधरदास

भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के पिता बाबू गोपालचंद्र गिरिधरदास, गिरिधर, या गिरिधारन नाम से कविता करते थे। इनके लिखे हुए ४० ग्रंथ माने जाते हैं। भारती-

- १ निधि, सिद्धि, नाग, चंद्र विक्रम सु अब्द।
- २ इंदु, राम, ग्रह, ससि, बरस, मार्ग शुक्ल रविवार।
- चित्रचद्रिका पूर्ण भो पंचमि तिथि सविचार।
- ३ हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३६६।

भूषण^१ इनका अलंकार ग्रंथ है। इसकी रचना रीतिकाल के अस्ताचल स० १८६० में हुई थी। कवि ने पुस्तक का परिचय इन शब्दों में दिया है

मोह न मन मानी सदा, बानी को करि ध्यान ।
अलंकार बरनन करत, गिरिधरदास सुजान ॥
सुंदर बरनन गन रचित, भारति भूषण एहु ।
पढ़हु, गुनहु, सीखहु, सुनहु, सतकवि सहित सनेहु ॥

और अंत में 'इति श्री नदनदन पदारविद मिलिंद धनाधीश श्री बाबू गिरिधरदास कवीश्वर विरचित भारतिभूषणमलकार समाप्तम्' लिखकर पुस्तक की समाप्ति की है।

भारतीभूषण ३६ पृष्ठों की पुस्तक है जिसमें ३७८ दोहों में कुवलयानंद आदि के आधार पर अलंकारवर्णन किया गया है। अलंकारवर्णन तो ३७६वें दोहे पर ही समाप्त हो जाता है^२। फिर कवि ने एक कदम नायिकाभेद की ओर उठाया है, बड़ा मनोरंजक^३ दोहा लिखकर।

गिरिधरदास ने अर्थालंकार का वर्णन करके दो शब्दालंकार, अनुप्रास तथा यमक का विवेचन किया है। अर्थालंकारों का क्रम कुवलयानंद ही के अनुसार है। लक्षणों में कसावट अधिक नहीं, परंतु स्पष्टता है। उदाहरण सरस तथा पूर्ववर्ती कवियों से प्रभावित है। भारतीभूषण की कविता मधुर तथा सरस है। कुछ उदाहरण देखिए

जो निज घेरे में परत, चूर करत दलि ताहि ।
पथ्य संग पै गहत नहि, खल खल वृंद सदाहि ॥ (व्यतिरेक)
× × ×
सजनी रजनी पाइ ससि बिहरत रस भरपूर ।
आर्लिगत प्राची मुदित कर पसारि कै सूर ॥ (समासोक्ति)
× × ×
मृगनैनी, गजगामिनी, पिकबैनी, सुकुमारि ।
केहरि कटिवारी, खरी, नारी लखौं मुरारि ॥ (लुप्तोपमा)

३७. ग्वाल कवि

ग्वाल कवि का जीवनवृत्त तथा उनका अलंकारनिरूपण सबंधी सामान्य परिचय सर्वांगनिरूपक आचार्यों के प्रसंग में यथास्थान देखिए।

-
१. प्रकाशक चौखम्भा पुस्तकालय, बनारस।
 २. शब्द अर्थ आभरण दोउ, इह बिधि भए समाप्त।
 ३. बैगन कर लै कामिनी, कहति चितै घनश्याम।
भर्ता करिहौ तुमहि हौ जो चलिहौ मम धाम ॥

षष्ठ अध्याय

पिंगलनिरूपक आचार्य

१ केशव

पिंगल पर केशव का ग्रंथ है—छंदमाला — यद्यपि यह ग्रंथ साधारण कोटि का है, फिर भी हिंदी साहित्य का प्रथम छंदग्रंथ होने के नाते इसका अपना ऐतिहासिक महत्व है। इस ग्रंथ का विशेष परिचय पीछे यथास्थान दिया जा चुका है।

२ चिंतामणि

केशव के छंदमाला ग्रंथ के उपरांत दूसरा उपलब्ध छंदग्रंथ चिंतामणिप्रणीत पिंगल है। यह ग्रंथ अधिकांशतः स्वच्छ और शास्त्रसमत है। इसका विशेष परिचय भी पीछे यथास्थान दिया गया है।

३. मतिराम

(१) वृत्तकौमुदी—मतिराम का पिंगल विषयक ग्रंथ वृत्तकौमुदी है। इसके दो और नाम कहे जाते हैं—छंदसारपिंगल और छंदसारसंग्रह। शिवसिंहसरोज और मिश्रबधुविनोद में छंदसारपिंगल नाम का उल्लेख है पर इस नाम का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। छंदसारसंग्रह का प्रमाण यह है कि ग्रंथ में इस नाम का कथन इस प्रकार मिलता है :

छंदसार संग्रह रच्यौ, सकल ग्रंथ मति देषि ।

बालक कविता सौंघ को, भाषा सरल विशेषि ॥

इस कथन से ग्रंथ का नाम छंदसार संग्रह प्रतीत होता है किंतु इस दोहे से पूर्व के दोहे इस प्रकार हैं :

श्री सुक आए भवन में सबनि लहै मन काम ।

त्योही नृप को सुजस सुनि आयो कवि मतिराम ॥

ताहि वचन सनमानि कै, कीन्हों काम सुजान ।

ग्रंथ संस्कृत रीति सौं भाषा करो प्रमान ॥

यह सुनि रचना छंद बिधि, करी सुकवि समुदाइ ।

वृत्त रीति सब जानिकै, जो ये पढ़ै चितलाइ ॥

पिंगल करता आदि के, आचारज सिरताज ।

नमस्कार कर जोरिकै, विमल बुद्धि के काज ॥

इनसे स्पष्ट है कि मतिरामजी ने अपने आश्रयदाता की प्रेरणा के अनुसार संस्कृत और प्राकृत के अनेक छंदग्रंथों से सामग्री लेकर साररूप में इस पुस्तक की रचना की। इस प्रकार छंदसारसंग्रह इस ग्रंथ का नाम न होकर विषय का सूचक मात्र है। ग्रंथ का नाम वृत्तकौमुदी ही है क्योंकि ग्रंथ के अध्यायों का नाम प्रकाश है और प्रत्येक प्रकाश के अंत में वृत्तकौमुदी नाम ही लिखा है, छंदसारसंग्रह नहीं। ग्रंथ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं। एक प्रति काशी नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में है जिसका लिपिकाल स०

१८६२ है और लिपिकार है श्रीभवानीदीन । दूसरी प्रति खालसा कालेज, दिल्ली के प्राध्यापक श्रीमहेन्द्रकुमार जी के पास है जिसे उन्होंने फतेहपुर जिले के किसी ग्राम से प्राप्त की थी । दोनों प्रतियों से ग्रंथ की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है । दोनों ही मूल प्रति की भिन्न भिन्न प्रतिलिपियाँ हैं ।

(अ) रचनाकाल—ग्रंथ का रचनाकाल स० १७१८ इस प्रकार दिया हुआ है -

सवत सत्रह सौ बरस अट्ठारह सुभ साल ।

कातिक शुक्ल त्रयोदसी, करि बिचार तिहि काल ॥

(आ) आश्रयदाता—ग्रंथ की रचना स्वरूपसिंह बुदेला के आश्रय में हुई थी । कुछ इतिहासकार शम्भुनाथ सोलकी के आश्रय में इसकी रचना मानते हैं, पर इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है । स्वरूपसिंह बुदेला का उल्लेख वृत्तकौमुदी के पंचम प्रकाश में इस प्रकार हुआ है

दाता एक जैसो सिवराज भयो तैसो अब,

फतेहसाहि श्रीनगर साहिबी समाजु है ।

जैसो चितवर धनी राना नरनाह भयो,

तैसोई कुमाऊँ पति पुरो रजलाज है ।

जैसे जयासह जसवंत महाराज भए,

जिनकी मही मैं अजौ बाढौ बल साजु है ।

मित्र साहि नंदन दुलचंद भाग भयौ उदै,

बुदेलवंस मैं सरूप महाराज है ॥

छंदो के लक्षणों में भी सरूपसिंह बुदेला का नाम मिलता है, जैसे

मगन जुगल जा चरन में, विद्युल्लेखा सोइ ।

नृपमनि सिंघ सरूप इमि, कहें सुमति कवि लोय ॥

(इ) वर्ण्य विषय—ग्रंथ में पाँच प्रकाश हैं । प्रथम प्रकाश में सर्वप्रथम गरणेश और सरस्वती की वंदना है । फिर आश्रयदाता के दान की प्रशंसा और ग्रंथारम्भ का प्रसंग है । तत्पश्चात् गरणो के स्वरूप, उनके क्रम, देवता, फल, ग्रहगुण, रसरग, देश, वाहन, तेज, जाति, प्रकृति तथा वर्णों का शुभाशुभ फल है । अत में मातृक गरणो, लघु गुरु एवं वर्णिक गरणो का विवेचन है । द्वितीय प्रकाश में एक से लेकर २६ वर्णों तक के १४७ सम वर्णिक छंदो का वर्णन है । अर्धसम और विषम वर्णिक छंदो का विवेचन छूट गया है । तृतीय प्रकाश में मालिक छंदो का विवेचन है । १ से लेकर ३२ मात्रा तक के छंद तथा अर्धसम और विषम छंदो के लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं । इसमें ३५ समछंद और २० अर्धसम और विषम छंद हैं । चतुर्थ प्रकाश में प्रत्यय प्रकरण है । इसमें वर्ण और मात्रा दोनों के अनुसार प्रत्यय, प्रस्तार, पताका आदि का विवेचन है । पंचम प्रकाश में वर्णिक दंडक है । दंडको में अभगशेखर, घनाक्षरी और रूपघनाक्षरी, तीन ही दंडक रखे गए हैं ।

(ई) आधार—इस ग्रंथ के आधारग्रंथ हैं भट्ट केदार कृत वृत्तरत्नाकर, हमचन्द्र-रक्ति छदानुशासन और प्राकृतपैगलम् । प्राकृतपैगलम् के तो अनेक स्थल अनुवाद ही प्रतीत होते हैं । कुछ मातृक छंद अवश्य ऐसे हैं जो उक्त ग्रंथों में नहीं थे, किंतु ये छंद उस काल में प्रचलित हो चुके थे । तात्पर्य यह कि ग्रंथ में मौलिक विवेचन प्रायः नहीं के बराबर है, कवि ने स्वयं अन्य ग्रंथों का आधार स्वीकार किया है ।

मतिराम की वृत्तकौमुदी हिंदी के पिगलग्रंथों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है । इसके लक्षण सरल और सुबोध हैं । उदाहरण नियमानुसार और कवित्वपूर्ण हैं ।

कवि का सरस ब्रजभाषा पर अधिकार होने के कारण वृत्तकौमुदी के उदाहरण अन्य छद-ग्रंथों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है।

४ सुखदेव मिश्र

(१) वृत्तविचार—हिंदी के पिंगलग्रंथों में सुखदेव मिश्र का वृत्तविचार महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में छदविवेचन इतना विशद है कि अकेले इसी ग्रंथ के कारण सुखदेव मिश्र की गणना प्रसिद्ध आचार्यों में की जाती है। वृत्तविचार ग्रंथ की चार हस्तलिखित प्रतियाँ नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के पुस्तकालय में उपलब्ध है। एक प्रति पूर्ण है, शेष तीन प्रतियाँ अपूर्ण हैं। सभी प्रतियों में पाठ एक ही मिलता है। ग्रंथ में उसका रचना-काल इस प्रकार दिया हुआ है

संवत सत्रह सैं बरस अठ्ठाइस अति चार।

जेठ सुकुल तिथि पचमी, उपज्यो वृत्तविचार ॥

छदविचार नाम की कोई हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं होती। सभा के पुस्तकालय में सुखदेव मिश्र कृत छदोनिवास नामक एक खंडित प्रति अवश्य मिलती है किंतु उसमें कोई प्रामाणिक तथ्य प्राप्त नहीं होता। अतः निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि छदविचार नामक इनका कोई अलग ग्रंथ भी था। यह भी संभव है कि वृत्त-विचार का ही यह दूसरा नाम हो।

(अ) वर्ण्य विषय—वृत्तविचार ग्रंथ में चार परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद कवित्त और छप्पय में है। इसमें मगलाचरण तथा कवि और आश्रयदाता राजसिंह का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में छद के सामान्य नियम, दग्धाक्षर, लघु गुरु, गण, प्रस्तार, मर्कटी, मेरु, उद्दिष्ट, नष्ट और पताका आदि के विशद विवेचन है। तृतीय परिच्छेद में वर्णिक वृत्तों का विवेचन है। वृत्तों में छदों की उक्ता, अयुक्ता, गायत्री, अनुष्टुप् आदि जातियों का भी उल्लेख है। कवि ने छदशास्त्र के सभी छदों की परिभाषा न देकर केवल उनकी सूची प्रस्तुत कर दी है और इस सबंध में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है।

बरन बरन के वृत्त बताए। जेते कछू बुद्धि में आए।

वृत्त महोदधि अति बिस्तार। पायो जात कौन पै पारा।

१ से लेकर ३२ वर्णों तक के छदों के लक्षण और उदाहरण हैं। इनमें सम छदों का ही वर्णन है। आरभ में सम, अर्द्धसम और विषम, तीनों प्रकारों का उल्लेख है किंतु वर्णन केवल समवृत्तों का ही मिलता है। चतुर्थ परिच्छेद में मात्रिक छदों का विवरण है। मात्रिक गण और मात्रिक प्रत्ययों पर भी सम्यक् विचार है। दोहों का वर्णन सबसे विशद है। अन्य छदों के लक्षण दोहा या गोपाल छद में मिलते हैं।

(आ) आधार—इस ग्रंथ का भी मूल आधार प्राकृतपैंगलम् ही है। केदार भट्ट के वृत्तरत्नाकर का भी प्रभाव वर्णिक वृत्तों के विवेचन में प्राप्त होता है।

(इ) शैली—वृत्तविचार का विवेचन रोचक है। कवि का भाषा पर अधिकार था, इसी लिये वह छदशास्त्र का सागोपाग विवेचन सुखी और सुकरता से संपन्न कर सका। शैली में एकरूपता न होकर विविधता है। जहाँ अन्य ग्रंथों में लक्षण केवल दोहों में मिलते हैं वहाँ इस ग्रंथ में वे गोपाल छद और कहीं कहीं संस्कृत की सूत्र पद्धति में भी हैं। सभी छदों को स्पर्श करने का प्रयत्न है, इसी लिये वैदिक छदों की जातियों का भी कथन है किंतु उनके लक्षण आदि नहीं दिए गए हैं। कवि ने प्रयत्नपूर्वक विषय को सरस, मनोरंजक और बोध-गम्य बनाया है।

सारांश यह कि श्रीसुखदेव मिश्रजी का नाम हिंदी के पिंगलनिरूपक आचार्यों

मे समाननीय है। उन्होंने विषय का विस्तृत और वैज्ञानिक विवेचन हिंदी में सर्वप्रथम उपस्थित किया और हिंदी छंदोविधान के लिये मार्ग भी प्रशस्त किया।

५. माखन कवि

(१) श्रीनागपिगल छंदविलास— माखन कृत श्रीनागपिगल छंदविलास का उल्लेख इतिहास ग्रंथों में नहीं प्राप्त होता। इस ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में विद्यमान है। माखन कवि मध्यप्रदेश के निवासी थे, इसी लिये इनका तथा इनके ग्रंथ का परिचय अधिक दिनों तक प्राप्त नहीं हुआ। ये रतनपुरा (विलासपुर) के रहनेवाले थे। राजा राजसिंह, जिनका राज्यकाल १७५६ से १७७६ है, रतनपुर के राजा थे। उनके दरबार में माखन कवि के पिता गोपाल कवि राजकवि थे। पिता पुत्र दोनों ही कवि थे और दोनों ने मिलकर ग्रंथों की रचना की थी। इनके सात ग्रंथों का उल्लेख मिलता है, जिनमें से चार ग्रंथ प्रकाशित हुए थे और तीन ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुए।

प्रकाशित ग्रंथ—भक्तचितामणि, रामप्रताप, जैमिनी अश्वमेध, खूब तमाशा।

अप्रकाशित ग्रंथ—सुदामाचरित, छंदविलास, विनोदशतक।

छंदविलास की रचना माखन कवि ने अपने पिताजी के आदेश पर की थी। ग्रंथ में कथन इस प्रकार है

पितु सुकवि गोपाल को, यह भयो सासन है जब ।

विमल पद वंदन कियो सुमति बाढ़ी है तब ॥

छंदविलास की रचना रायपुर में हुई थी

राजसिंह नृप राजमणि हेहो बंस प्रकास ।

सुवस रायपुर में रच्यो, सुंदर छंदविलास ॥

ग्रंथ का रचनाकाल सवत् १७५६ विक्रमी है।

(अ) वर्ण्य विषय—इस पुस्तक में परिच्छेद नहीं है किंतु बीच बीच में शीर्षक या प्रकरण मिलते हैं। इसका प्रथम प्रकरण है सज्ञावृत्ति प्रकरण जिसमें लघु, गुरु, गण आदि का सक्षिप्त कथन है। इसमें पताका, मेरु और मर्कटी आदि का वर्णन नहीं है। माखन ने स्वयं लिखा है कि पुस्तक का उद्देश्य केवल आरम्भिक छात्रों के लिये है अतः पताका, मर्कटी आदि के गूढ प्रकरण उन्होंने छोड़ दिए हैं :

ध्वजा पताका मर्कटी, अर्जादिक तजि दीन ।

कवि माखन सिसु हेतु रचि, सरल सरल कछु कीन ।

द्वितीय प्रकरण का नाम उन्होंने मात्रावृत्ति छप्पय प्रकरण लिखा है। इसमें ७१ प्रकार के छप्पयों का वर्णन है। ये विभिन्न प्रकार के छप्पय प्रायः सभी प्राचीन ग्रंथों में मिलते हैं। प्राकृतपैगलम् में भी इनका वर्णन है। माखन ने कुछ छप्पय नवीन लिखे हैं। वास्तव में इनमें विशेष अंतर नहीं है, किसी में कुछ लघु और गुरु अधिक कर दिए गए हैं और किसी में कुछ कम।

तृतीय गहादिक प्रकरण है। इसमें गाहा, विगाहा, घत्ता, घत्तानंद, दोहा, रोला, सोरठा, कड़खा, अमृतधुनि, अष्टपदी, षट्पदी आदि छंद हैं।

(आ) 'शैली—छंदविलास की भाषा बड़ी सरस है। उदाहरणों में कृष्णलीला के सरस प्रसंग मिलते हैं। भाषा आलंकारिक और परिभाषित है। पुस्तक में विषय का सागोपाग निरूपण नहीं है क्योंकि कवि ने बालकों के निमित्त ही ग्रंथ की रचना की थी।

इस ग्रंथ की एक विशेषता यह भी है कि इसमें कुछ ऐसे छंद मिलते हैं जो अबतक अन्य ग्रंथों में प्राप्य नहीं थे। कुछ नवीन छंद इस प्रकार हैं

कभक (१४ मात्रा), हरिमालिका (२० मात्रा), मदनमोहन (२३ मात्रा),
सुरस (२६ मात्रा), तरलगति (२८ मात्रा), सदागति (२८ मात्रा),
सुबल (२८ मात्रा), प्रवाल (विषम छंद १६, ३२, १७, ३५),
गंधार (अर्धसम छंद १-३-२२ मात्रा, २-४-२४ मात्रा)

६ जयकृष्ण भुजंग

इनका जीवनवृत्त अज्ञात है। इनकी एक लघु पुस्तक पिंगलरूपदीप भाषा, जिसका रचनाकाल स० १७७६ है, नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में है। इस पुस्तक में रचनाकाल का उल्लेख इस प्रकार है

संवत् सत्रा सैं बरस, और छिहत्तर पाइ।

भादो स्फटि द्वितीया गुरु, भयो ग्रंथ कहाइ ॥

इसमें कवि के गुरु कृपारामजी का भी उल्लेख है :

प्राकृत की बानी कबिन भाषा अगम प्रतिच्छ।

कृपाराम की कृपा सो कंठ करें सब सिच्छ ॥

ग्रंथ में केवल ५२ मुख्य छंदों के लक्षण हैं। उदाहरण भी इसमें नहीं दिए गए हैं। सूत्रपद्धति का उपयोग भी बहुत मिलना है। वैसे अधिकांश लक्षण दोहे में हैं। पुस्तक में अध्याय नहीं है। सारांश यह कि इस पुस्तक में शास्त्रीय विवेचन नहीं है, छात्रों के प्रसंग है। पुस्तकरचना का उद्देश्य चुने हुए छंदों का लक्षण देना है। शास्त्रीय दृष्टि से ग्रंथ का विशेष महत्व नहीं है। फिर भी, पुस्तक का योगदान विस्मरणीय नहीं है। उसके उदाहरण अपना अलग स्थान रखते हैं।

७. भिखारीदास

रीतिकालीन पिंगलग्रंथों में भिखारीदासप्रणीत छंदोर्णव सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। छंदों का वर्गीकरण इस ग्रंथ की निजी विशेषता है। इस ग्रंथ का विशिष्ट परिचय पीछे यथास्थान दिया गया है।

८ सोमनाथ

सोमनाथ ने अपने विविधागनिरूपक ग्रंथ रसपीयूषनिधि के प्रारंभिक भाग में छंद का निरूपण किया है। यह निरूपण स्वच्छ रूप में प्रतिपादित है, किंतु वर्ण्य सामग्री की दृष्टि से अत्यंत साधारण कोटि का है। इस निरूपण का परिचय पीछे यथास्थान दिया जा चुका है।

९. नारायणदास

इनकी केवल एक छोटी पुस्तक छंदसार उपलब्ध है। इसका रचनाकाल सवत् १८२९ विक्रमी है। पुस्तक की एक हस्तलिखित प्रति नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के पुस्तकालय में है। इसमें कवि का कोई जीवनवृत्त प्राप्त नहीं होता। अन्य इतिहास ग्रंथों में भी नारायणदास का उल्लेख नहीं है। पुस्तक में कुल ५२ छंद हैं। कवि ने कहा है-

पिंगल छंद अनेक हैं कहे भुजंगमईस।

तिनते लिए निकारि मैं द्वादस अरु चालीस ॥

समस्त छंद प्राकृतपैंगलम् से ही लिए गए हैं। केवल घनाश्री छंद नया है। लक्षणा दोहे में है और उदाहरणों में कृष्णप्रणय सबंधी सरस प्रसंग है।

१०. दशरथ

इनका जीवनवृत्त अज्ञात है किंतु इनकी पिंगल की महत्वपूर्ण पुस्तक वृत्तविचार की एक हस्तलिखित प्रति नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के पुस्तकालय में उपलब्ध है। पुस्तक का निर्माणकाल १८५६ विक्रमी है। जो प्रति उपलब्ध है उसका लिपिकाल भी १८५६ ही है। वृत्तविचार चार अध्यायों की एक छोटी सी पुस्तक है किंतु नवीन छंद इस पुस्तक में इतने अधिक है कि कलेवर छोटा होने पर भी पुस्तक महत्वपूर्ण हो गई है।

(१) वर्ण्य विषय—ग्रथकार ने अध्यायों को 'विचार' नाम से अभिहित किया है। प्रथम विचार में लघु गुरु, मात्रिक और वर्णिक गण तथा छंदों के वर्गीकरण के विवेचन हैं। वर्गीकरण में सम, अर्द्धसम और विषम की चर्चा नहीं है। उसमें वर्ग है मात्रावृत्त, वर्णवृत्त और उभयवृत्त।

द्वितीय विचार में वर्णिक छंद और तृतीय विचार में मात्रिक छंदों के लक्षण उदाहरण हैं। चतुर्थ विचार का शीर्षक है वर्णवृत्तानि, इसमें केवल दो छंदों का विवेचन है। ये दो छंद हैं श्लोक (अनुष्टुप) और घनाक्षरी।

(२) आधार—प्राकृतपैंगलम् ही इस ग्रंथ का भी मुख्य आधार प्रतीत होता है। लक्षणा प्राकृत पिंगल से मिलते हैं। कुछ छंद नवीन हैं जो न तो पूर्ववर्ती पिंगलग्रंथों में मिलते हैं और न परवर्ती। उदाहरण

पचाक्षरी—महीप, विमला, दामिनी, सुगण, नग, लगन

षडक्षरी—गगन, छगन, अगन, मणिहारवद, सवत, कुशल

सप्ताक्षरी—सुधा, अमिनव, हरिहर

द्वादशाक्षरी—मातंग

मात्रिक छंद—मद (७ मात्रा), सैनिक (९ मात्रा), मुक्तावली (१० मात्रा), सुमन (१२ मात्रा), अह्न (२१ मात्रा)

प्रतीत होता है, कवि ने प्राचीन छंदों के आधार पर ही कुछ नवीन छंदों की रचना कर डाली है। यह भी संभव है कि कवि को प्राकृत या संस्कृत में कही ये छंद मिले हों क्योंकि उन्होंने प्राकृत और संस्कृत दोनों को अपना आधार माना है।

भाषा प्राकृत संस्कृत, आदि वचन संसार।

(३) शैली—अन्य पिंगल ग्रंथों की भांति इस पुस्तक में भी दोहा ही विवेचन का माध्यम है। विवेचन न तो गंभीर है और न विशेष शास्त्रीय। प्राकृत पैंगलम् की शैली का अनुकरण मात्र ही आद्योपात मिलता है। उदाहरणों में काव्यसौष्ठव साधारण है। फिर भी, हिंदी पिंगलग्रंथकारों में दशरथ का नाम स्मरणीय है क्योंकि उन्होंने नए छंदों का निर्माण किया। दशरथ से पूर्व प्रायः आचार्यगण परंपरागत छंदों से आगे नहीं बढ़ते थे। दशरथ के पश्चात् पिंगल ग्रंथकारों ने नवीन छंदों में रुचि ली। परिणाम यह हुआ कि हिंदी छंदों की संख्या बढ़ने लगी तथा संस्कृत और प्राकृत के छंदों की प्रधानता जाती रही।

११ नंदकिशोर

इनकी रचना पिंगलप्रकाश थी जिसका रचनाकाल स० १८५८ वि० है। पुस्तक का केवल प्रथम अध्याय उपलब्ध है। पुस्तक के प्राप्त पृष्ठों के अवलोकन से पता चलता है कि ग्रंथ का विवेचन बड़ा सुंदर था। आरंभ में गणेशस्तुति है और आठ पृष्ठों में पिंगल प्रत्ययों का सम्यक् निरूपण है।

आधार और क्रम प्राकृतपिंगलम् के अनुसार ही है। प्रत्यय के पश्चात् गाथा-विचार है। कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसने प्राकृत पिंगल को आधार बनाकर ग्रंथ का निर्माण किया है। प्रतीत होता है, कवि ने प्राकृत पिंगल का हिंदी अनुवाद ही प्रस्तुत किया था। ग्रंथ में छंदों के लक्षण, वर्गीकरण, क्रम आदि में कोई नवीनता नहीं मिलती। इस प्रकार नदकिशोरजी को पिंगल आचार्यों में अनुवादक का ही स्थान दिया जा सकता है। ग्रंथ में उन्होंने अपना विशेष परिचय भी नहीं दिया है।

१२ चेतन

ये एक जैन कवि थे। इन्होंने भी अपना जीवनपरिचय नहीं दिया है। ग्रंथ के आरम्भ में चैत्यवदन नाम का एक प्रकरण रखा है जिसमें २४ जैन तीर्थंकरों की स्तुति है। इनका ग्रंथ है लघुपिंगल जिसका रचनाकाल है मिति चैत्र बदी ९, मंगलवार, स० १८७७। पुस्तक में कुल ४६ पृष्ठ हैं। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी में इसकी एक प्रति वर्तमान है।

(१) वर्ण्य विषय—इस पुस्तक में ४२ मुख्य छंदों और ३५ राग रागिनियों के लक्षण और उदाहरण हैं। यही पहली छंद की पुस्तक है जिसमें छंदों के साथ राग रागिनियों के भी लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। इस ग्रंथ के उदाहरणों में उपदेश और वैराग्य की प्रवृत्ति है, अन्य ग्रंथों की भाँति शृंगार के उदाहरण नहीं हैं।

(२) आधार—ग्रंथ का आधार रूपदीपचिंतामणि है। लेखक ने रूपदीपचिंतामणि का आधार इस प्रकार प्रकट किया है

छाया बिन नहिं कर सकै, पिंगल छंद अपार ।

रूप दीप चिंतामणि, ए पिंगल मन धार ॥

ग्रंथ छात्रोपयोगी है, शास्त्रीय विवेचन का सर्वथा अभाव है। लक्षण दोहे में हैं। उदाहरण के छंदों में काव्यसौष्ठव बड़ी हीन कोटि का है। ग्राम्यत्व के आधिक्य के कारण रचना शिथिल हो गई है।

१३ रामसहायदास

इनकी रचना वृत्ततरंगिणी है जिसकी केवल एक अपूर्ण प्रति नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में उपलब्ध है। इस ग्रंथ में लेखक और उसके पिता का नाम प्रत्येक तरंग की समाप्ति पर इस प्रकार लिखा है

‘इति श्री भवानीदासात्मजरामसहायदास कायस्थ कृत वृत्ततरंगिणीया मात्मा-वृत्त कथने द्वितीय तरंग ।’

लेखक ने अपने गुरु का नाम चिंतामणि लिखा है किंतु ये चिंतामणि कविवर चिंतामणि त्रिपाठी नहीं थे क्योंकि उनके साथ उनके पिता का नाम भी इन्होंने लिखा है

दायक नित्यानंद के श्री चिंतामनि चित्त ।

सो मोपै अनुकूल अति यातैं रचो कवित्त ।

श्री गुरु ब्रह्म सरूप, चिंतामनि चिताहरन ।

तिनके चरन अनूप, नयो जोरि निज कर जुगल ॥

(१) रचनाकाल—ग्रंथ का रचनाकाल स० १८७३ है। लेखक ने ग्रंथ में ‘रचनाकाल इस प्रकार दिया है :

संध्या सुधि सिधि बिधु बरस, (१८७३) गौरी तिथि सुधि दूज ।

सुराचार्य बासर सुखद, अरु घट में गत सूज ॥

गनपति गौरि सिव ध्याय, अरु गुरु के पद पद्य परि ।
ता दिन रामसहाय, वृत्तरगिनि को रची ॥

(२) वर्ण्य विषय—ग्रंथ की प्रथम तरंग में लघु, गुरु, गण, गणो के देवता, गणो का योग, उनके प्रभाव तथा प्रत्यय आदि का विस्तृत विवेचन है। द्वितीय तरंग में मात्रिक छंदों का वर्णन है। प्रत्येक जाति के छंदों की सूची दी गई है। एक मात्रा से लेकर ३२ मात्रा तक के छंद रचे गए हैं। इन छंदों की संख्या के संबंध में कवि ने लिखा है कि ये बानबे लाख सत्ताईस हजार चार सौ तिरसठ हैं।

इक कल सै बत्तीस लौं, भेद बानबे लाख ।
सहस सताइस चारि सत, तिरसठ फनपति भाख ॥

कवि ने मात्राओं के आधार पर छंदों के चार वर्ग किए हैं—सम, अर्द्धसम, विषम और मात्रा दंडक। तृतीय तरंग में वर्णिक छंदों का विवेचन है। संस्कृत उक्ता, गायत्री, अनुष्टुप आदि प्रत्येक जाति के छंदों के लक्षण और उदाहरण नियमानुसार क्रम से दिए गए हैं। अर्द्धसम वृत्तों और दंडकों को भी उचित स्थान मिला है। चतुर्थ तरंग में तुक का विवेचन है। तुक के अनेक भेद बताए गए हैं। विवेचन बड़ा ही वैज्ञानिक और अभूत-पूर्व है।

पुस्तक अपूर्ण है। निश्चय ही इसमें और तरंगे रही होगी और उनमें छंद विषयक अन्य ज्ञातव्य विवरण रहे होंगे। उनके अभाव में पुस्तक का सागोपाग परिचय नहीं दिया जा सकता।

(३) विवेचन शैली—विवेचन की दृष्टि से वृत्तरगिणी हिंदी का सर्वश्रेष्ठ पिंगल ग्रंथ है। विषय का ऐसा विधिगत वर्गीकरण और विस्तृत प्रतिपादन कहीं उपलब्ध नहीं होता। पुस्तक की प्राप्त केवल चार तरंगे इस तथ्य को प्रमाणित करने में समर्थ हैं कि रामसहायजी में आचार्यत्व के गूढ़ विद्यमान थे। अन्य पिंगलकारों की भांति दोहे में लक्षण और छंद में उदाहरण मात्र देकर ही उन्होंने सतोष नहीं किया वरन् अपने कथन की व्याख्या गद्य में भी की है। उदाहरण के लिये गुरु के विवेचन में लक्षण के उपरांत कवि ने चार दोहे लिखे हैं जिनके आरंभ में गुरु वर्ण है, जैसे—

सारी जरतारी खरी, गौरी भोरी बेस ।
लपटी तन घनस्याम के, तड़ित कला सी देस ॥

हा हा मानिक बावरी देत भांवरी कान ।
मान करै मति मानिनी, मान कहौ मतिमान ॥

उदाहरणों के उपरांत गद्य में जो विवेचन है उसे कवि ने वार्ता कहा है। उपर्युक्त गुरुविवेचन की वार्ता का नमूना इस प्रकार है :

वार्ता—ये चारिहू दोहानि के आवि सकार, ककार, हकार,
मकार, अकार संयुक्त हैं याते दीरघ भयेति ॥

ऐसी वार्ताएँ संपूर्ण ग्रंथ में प्रत्येक उदाहरण के पश्चात् मिलती जाती हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्थल का पूर्ण विवेचन ग्रंथ में ही मिल जाता है।

विवेचन की दूसरी विशेषता यह है कि कवि ने उदाहरण केवल स्वरचित छंदों के ही नहीं रखे हैं, अन्य कवियों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। सूरसागर के उदाहरण सबसे अधिक हैं। लघु प्रकरण का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

मुख छवि देखि रे नंदघरनि !

इहाँ नंद पद को नंद कहे । ऐसे ही औरहू जानियो ॥

इसी प्रकार संस्कृत वृत्तो के लक्षण देने के उपरांत संस्कृत के श्रेष्ठ ग्रंथों के पद भी ज्यों के त्यों उद्धृत कर दिए गए हैं, जैसे शिखरिणी के उदाहरण में कुबलयानंद का उद्धरण इस प्रकार है :

जटानेयं वेणीकृतकचकलापो न गरलं ।
गले कस्तूरीय शिरसि शशिलेखा न कुसुमं ।
इयं भूतिनाङ्गे प्रिय विरह जन्याधवलमा ।
पुरारातिभ्रान्त्या कुसुमशर किं मां प्रहरसि ॥

शैली की तीसरी विशेषता यह है कि परिभाषा में केवल दोहे का ही प्रयोग नहीं है । दोहे में लक्षण देने की परंपरा हिंदी में बन चुकी थी । रामसहायजी ने भी दोहे का उपयोग लक्षण के लिये सबसे अधिक किया है, किंतु साथ ही अनेक स्थलों पर उन्होंने सूत्रपद्धति में लक्षण और छंदों के भेद दिए हैं । इस प्रकार शैली में एकरूपता नहीं है । मात्राओं की संख्या के लिये कवि ने कटशैली का प्रयोग किया है और उदाहरणों में गुरु, लघु के चिह्न भी लगाते गए हैं । कटौ के स्पष्टीकरण के लिये शब्दों के ऊपर अक्षर भी लिख दिए हैं । उदाहरण के लिये दोहे का लक्षण इस प्रकार है

विस्व^{१३} कला विश्राम पुनि, कीजिय रुद्र^{१४} विराम ।
अगुर अंत में दोय दल, तासो दोहा नाम ॥

शैली की चतुर्थ विशेषता यह है कि उदाहरण बड़े ही सरस हैं । कविकृत समस्त उदाहरण कृष्णलीला के सरस प्रसंगों के हैं । प्रतीत होता है, जिस प्रकार रीतिकाल के रस और अलंकार ग्रंथों में कृष्ण और गोपियों के सरस प्रसंग रखे गए थे उसी प्रकार छंदशास्त्र के भी अधिकांश ग्रंथों में उदाहरण उसी ढंग के हैं । वृत्तरिगिणी के लघु प्रकरण का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा ।

एकनि के भूमि भूमि मिलते मुख चूमि चूमि,
एकनि की ठोड़ी बीच अंगुलि धरते ।
एकनि के गर गर अपनो मिलाय,
अरु एकनि के कर गहि मोद हिय भरते ॥
राम कहि एकनि के ललित उरोजनि पै,
परसि सरोजपानि काम पीर हरते ।
एरी मेरी बीर चलि जाहि जमुना के तीर,
सरद जुन्हैया मै कन्हैया रास करते ॥

तात्पर्य यह कि वृत्तरिगिणी की शैली सुस्पष्ट, विस्तृत, सरस और शास्त्रीय है । ऐसा विस्तृत सांगोपांग विवेचन किसी भी ग्रंथ में नहीं मिलता । किंतु खेद का विषय है कि ग्रंथ की पूर्ण प्रति अप्राप्य है । ग्रंथ की खंडित प्रति भी इतनी अमूल्य है कि प्रकाशन की अपेक्षा रखती है । निश्चय ही हिंदी छंद निरूपण में रामसहायजी का योगदान बड़ा महत्वपूर्ण है । नए छंदों की संख्या भी रामसहायजी की वृत्तरिगिणी में सबसे अधिक है ।

१. रामसहाय द्वारा प्रस्तुत किए हुए कुछ नए छंद .

मान्त्रिक छंद—

माधुर्य (१२ मात्रा), कलकठ (१२ मात्रा), इंदिरा (१३ मात्रा),
नागर (१५ मात्रा)

वर्णिक छंद—

कलंदजा, पचवर्ण, मृगाक्षी (छह वर्ण), ललितलज्जाम (७ वर्ण),

१४ हरिदेव

इनका ग्रंथ छदपयोनिधि है जिसकी रचना स० १८६२ में हुई थी। ग्रंथ का रचनाकाल कूट पद्धति में कवि ने इस प्रकार लिखा है

धरी नैन निधि सिद्धि सवि, संमत सुखद उदार ।

माघ शुक्ल तिथि पंचमी रविनंदन सुभ वार ॥

अपने सबध में कवि ने केवल अपने पिता श्रीरतिराम का ही नाम लिखा है, अन्य वृत्त अज्ञात है। नागरीप्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट (सन् १९१७-१९, खण्ड ७२ ए) में केवल ग्रंथ सबधी ज्ञातव्य सूचनाएँ हैं। पुस्तक में कुल ४८ पृष्ठ हैं और आठ तरंगों में उसकी समाप्ति हुई है। लक्षणा दोहे में हैं। उदाहरणों की भाषा सरस और आलंकारिक है। ग्रंथारम्भ में प्रस्तावना रूप में लिखा हुआ प्रथम छंद ही कवि की काव्य-रसिकता का परिचायक है

आदि अंत दोऊ तर राजत पुनीत जाके

छंद क्रम चार छीर छाया सरसाइ कै ।

नाना विधि वर्ण अर्थ सोई है रतनावली

गनागन जल जंतु रहे सुचि पाइ कै ।

दंपति विहार फूले पंकज पुनीत तामें

कीने जे प्रबध ते तरंग छवि पाइ कै ।

ऐसो हरिदेव कृत छंद पयोनिधि है

मज्जो कवि वृद्ध जामे आनंद बढ़ाइ कै ॥

ग्रंथ की आठ तरंगों का विषयविभाजन इस प्रकार है

१—वृत्तविचार

२—मात्रा गण कथन

३—गुरु लघु विचार

४—मात्रा अष्टाग वर्णन

५—वर्ण अष्टाग वर्णन

६—गणागण वर्णन

७—मात्राछंद

८—पद्याधिक

सारांश यह कि छदपयोनिधि पिंगल सबधी साधारण पुस्तक है। विवेचन है तो शास्त्रीय पर अत्यंत सक्षिप्त। छंद भी अधिक नहीं है केवल चुने हुए छंदों का प्रयोग किया गया है। उदाहरणों में कवि का कवित्व अवश्य देखने को मिलता है। विवेचन का माध्यम दोहा है जिसकी भाषा शिथिल है।

१५. अथोद्याप्रसाद वाजपेयी

ये लखनऊ के निवासी थे। इनके पिता श्री नंदकिशोर वाजपेयी थे। इनका ग्रंथ है छंदानंदपिंगल जिसका रचनाकाल स० १९०० है। पुस्तक अप्रकाशित है और नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

नवल, जमाल, मैत, धृति, सुखकद—६ वर्ण

नागरी, मधु, वानिति, कपटी—१० वर्ण

दीप्ति, मेनका, रति—१३ वर्ण

रभाभाला, केदार, दामिनी, खीनुकाता, चोलपी, तौर—१४ वर्ण ।

(१) **वर्ण्य विषय**—ग्रंथ में अध्याय नहीं है, किंतु प्रकरणों का उल्लेख है। छदशास्त्र सबधी सभी विषय विस्तार से प्रस्तुत किए गए हैं। प्राकृत पिंगल का ही आधार इस ग्रंथ में भी है।

(२) **शैली**—पुस्तक की भाषाशैली विवेचनात्मक है। कही कही सूत्र पद्धति में लक्षण समझा दिए गए हैं और कही दोहा तथा कही छप्पयो में लक्षण दिए गए हैं। अनेक बार एक ही छप्पय में अनेक छंदों के नाम गिनाए गए हैं, तथा बाद में प्रत्येक छंद के लक्षण दिए गए हैं। भाषा में बोलचाल की ब्रजभाषा अधिक है।

ग्रंथ छात्रोपयोगी है। गभीर एवं विशद विवेचन के अभाव में ग्रंथ साधारण कोटि का ही माना जा सकता है।

सर्वेक्षण

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में आचार्य साधारणतया दो प्रकार के माने जाते हैं—(१) मौलिक उद्भावक आचार्य, (२) व्याख्याता। हिंदी के रीतिकालीन पिंगलनिरूपक आचार्यों में उद्भावक आचार्यों की कोटि में किसी व्यक्ति को नहीं रखा जा सकता। प्रायः प्रत्येक पिंगलग्रंथकार ने संस्कृत और प्राकृत पिंगलग्रंथों का आधार स्वीकार किया है। वर्यावृत्ती में संस्कृत के वृत्त ज्यों के त्यों लिए गए हैं। मात्रिक छंद संस्कृत में कम थे। अपभ्रंश कवियों ने मात्रिक छंदों का प्रयोग किया होगा जिनका सकलन प्राकृतपिंगलम् में संपादक ने किया है। हिंदी के सभी पिंगलग्रंथकारों ने वर्यारत्नाकर, छंदमजरी और प्राकृतपिंगलम् के छंद लेकर ग्रंथों की रचना की। फिर भी रीतिकालीन ग्रंथों में अनेक वर्णिक और मात्रिक छंद ऐसे मिलते हैं जो आधारग्रंथों में नहीं प्राप्त होते। इससे स्पष्ट है कि रीतिकालीन पिंगलग्रंथकारों ने नवीन छंदों की उद्भावना की होगी। संस्कृत छंदशास्त्रकारों ने प्रत्यय प्रकरण में प्रस्तार का जो क्षेत्र बनाया है उसमें नवीन छंदों के निर्माण का कोई अवसर शेष नहीं रहता। फिर भी, इतना तो निश्चय है कि रीतिकाल के कवियों ने प्राचीन आधार पर नए छंदों की रचना अवश्य की है। इस दृष्टि से केशवदास, मतिराम, माखन, दशरथ और रामसहाय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

व्याख्याता के रूप में भी इन आचार्यों का स्थान विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। रीतिकालीन कवियों ने जिन छंदों का प्रयोग विशेष निपुणता से किया है वे हैं दोहा, सबैया और कवित्त या घनाक्षरी। दोहों का विशद निरूपण प्राकृतपिंगलम् में था अतः हिंदी छंदग्रंथों में भी मिलता है। सबैया छंद रीतिकालीन कलाकार कवियों के हाथ में पड़कर खूब विकसित हुआ। उसके अनेक प्रकार हो गए किंतु पिंगलग्रंथकार अपने ग्रंथों में उसका वैसा सुंदर शास्त्रीय विवेचन नहीं कर सके। कवित्त चंद बरदायी आदि चारणों के ग्रंथों में छप्पय को कहते थे। तुलसीदासजी ने हरिगीतिका को कवित्त कहा, सूरदासजी ने भी पदों में कवित्त का उपयोग किया किंतु उसका अंतिम स्वरूपनिर्माण रीतिकालीन कवियों के हाथ घनाक्षरी के विविध रूपों में हुआ। कवित्त का भी शास्त्रीय विवेचन रीतिकालीन पिंगल ग्रंथकार यथेष्ट रूप में नहीं कर सके। इसका कारण यही है कि इन ग्रंथकारों में कुशल व्याख्याता का गुण नहीं था। ये परंपरागत परिपाटी में बँधे थे। संस्कृत या प्राकृत ग्रंथों के लक्षणों का अनुवाद या भावानुवाद ही इन्होंने प्रस्तुत किया है। थोड़ा बहुत जो परिवर्तन किया भी वह अधिक महत्वपूर्ण नहीं हो सका। गद्य का उपभोग इन ग्रंथों में प्रायः नहीं हो सका। केवल रामसहाय ने व्याख्या के लिये गद्य का भी उपयोग किया है। उस काल में गद्य का विकास नहीं हुआ था, अतः तत्कालीन परिस्थिति में इससे अधिक उनसे आशा भी नहीं की जा सकती थी। हिंदी पिंगलग्रंथकारों का उद्देश्य अध्वेता के समुख विषय को सरलता से रखना तथा कठ करने का सुंदर ढंग प्रस्तुत करना रहा है। इस प्रकार हिंदी के पिंगलनिरूपक आचार्य, वास्तव में, कविक्षिपक रूप में ही आए हैं और इस रूप में उनका योगदान नगण्य नहीं है।

सप्तम अध्याय

भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में रीतिआचार्यों का योगदान

व्यक्तिगत विशेषणाओं का सम्यक् विवेचन करने के उपरांत अब यह आवश्यक हो जाता है कि हिंदी के रीतिआचार्यों के सामूहिक योगदान का मूल्यांकन करते हुए भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में इनके अपने विशिष्ट स्थान का निर्धारण कर लिया जाय। रीतिआचार्यों के दोष पहले सामने आते हैं, गुण बाद में। इनका पहला दोष है सिद्धांत-प्रतिपादन में मौलिकता का अभाव। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मौलिकता की दो कोटियाँ हैं एक के अंतर्गत नवीन सिद्धांतों की उद्भावना और दूसरी के अंतर्गत प्राचीन सिद्धांतों का पुनराख्यान आता है। हिंदी के रीतिआचार्य निश्चय ही किसी नवीन सिद्धांत का आविष्कार नहीं कर सके किसी ऐसे व्यापक आधारभूत सिद्धांत का प्रतिपादन जो काव्यचिंतन को नवीन दिशा प्रदान करता, संपूर्ण रीतिकाल में संभव नहीं हुआ। इन कवियों ने काव्य के सूक्ष्म अवयवों के वर्णन में कहीं कहीं नवीनता का प्रदर्शन किया है, परंतु उन तथाकथित उद्भावनाओं का आधारस्त्रोत भी किसी न किसी संस्कृत ग्रंथ में मिल जाता है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ भी यह कल्पना करना असंगत प्रतीत नहीं होता कि कदाचित् किसी लुप्तप्राय संस्कृत ग्रंथ में इस प्रकार का वर्णन रहा होगा। इनके अतिरिक्त भी जो कुछ नवीन तथ्य शेष रह जाते हैं उनके पीछे विवेक का पुष्ट आधार नहीं मिलता, अर्थात् वहाँ नवीनताप्रदर्शन केवल नवीनताप्रदर्शन या विस्तारमोह के कारण किया गया है, काव्य के मर्म से उसका कोई संबंध नहीं है। कहीं कहीं रीतिकवियों की उद्भावनाएँ अकाव्योचित भी हो गई हैं, जैसे खर, काक आदि के अंशों से युक्त नायिकाभेदों का विस्तार अथवा प्रमाण आदि के भेदों के आधार पर कल्पित अलंकारों का प्रस्तार। वास्तव में हिंदी के रीतिकवियों ने आरंभ से ही गलत रास्ता अपनाया। उन्होंने मौलिकता का विकास विस्तार के द्वारा ही करने का प्रयास किया। परंतु संस्कृत के काव्यशास्त्र की प्रवृत्ति दो भेदविस्तार की ओर पहले से ही इतनी अधिक थी कि अब उस क्षेत्र में कोई विशेष अवकाश नहीं रह गया था। जिन क्षेत्रों में अवकाश था उनकी ओर रीतिकवियों ने उचित ध्यान नहीं दिया। उदाहरण के लिये संस्कृत काव्यशास्त्र में कविकर्म के बाह्य रूप का जितना पूर्ण विवेचन है उतना उसके आंतरिक रूप का नहीं है, अर्थात् कविमानस की सृजनप्रक्रिया का विवेचन यहाँ व्यवस्थित रूप से नहीं मिलता। हिंदी का रीतिआचार्य इस उपेक्षित अंग को ग्रहण कर सकता था, यहाँ मौलिक विवेचन के लिये बड़ा अवकाश था। परंतु परंपरा का अतिक्रमण करने का साहस वह नहीं कर सका, सामान्यतः उस युग में इतना साहस कोई कर भी नहीं सकता था। दूसरा क्षेत्र था व्यवस्था का। रीतिकाल तक संस्कृत काव्यशास्त्र का भेदविस्तार इतना अधिक हो चुका था कि कई क्षेत्रों में एक प्रकार की अव्यवस्था सी उत्पन्न हो गई थी। उदाहरण के लिये ध्वनि का भेदविस्तार हजारों तक और नायिकाभेद की संख्या भी सैकड़ों तक पहुँच चुकी थी। अलंकार, वर्णनशैली को छीड़ वर्ण्य विषय के क्षेत्र में प्रवेश करने लग गए थे। लक्षणा और दोषादि के सूक्ष्म भेद एक दूसरे की सीमा का उल्लंघन कर रहे थे। परिणामतः भारतीय काव्यशास्त्र की वह विच्छेद व्यवस्था जो मम्मट के समय में स्थिर हो चुकी थी, अस्तव्यस्त सी हो गई। पंडित-राज जगन्नाथ जैसे मेधावी आचार्य ने उसे फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया, किंतु

उस युग की प्रवृत्ति विवेचन की अपेक्षा वर्णन की ओर ही अधिक थी, अतः शास्त्रार्थ की अपेक्षा कविशिक्षा उसे अधिक अनुकूल पड़ती थी। हिंदी का आचार्य भी उसी प्रवाह में बह गया। अपने समसामयिक पंडितराज का मार्ग ग्रहण न कर वह भानुदत्त और केशव मिश्र की परिपाटी का अनुसरण करने लगा। हमारे कविआचार्य पर एक और बड़ा दायित्व था और वह था हिंदी की विशाल काव्यराशि का अनुगमविधि से विश्लेषण कर उसके आधार पर एक स्वतंत्र विधान की प्रकल्पना करना। किंतु उसने हिंदी के साहित्य की तो लगभग उपेक्षा ही कर दी। लक्षणों के लिये उसने संस्कृत काव्यशास्त्र का अवलंबन लिया और उदाहरणों का स्वयं ही नूतन निर्माण किया। इस प्रकार हिंदी के समृद्ध काव्य का उसके लिये जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं रहा। वास्तव में इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती एवं समसामयिक काव्य की उपेक्षा कर लक्षणों का अनुवाद और नूतन उदाहरणों की सृष्टि करते रहना आलोचक के मौलिक कर्तव्य कर्म का निषेध करना था। आलोचना शास्त्र मूलतः एक सापेक्ष शास्त्र है, उसका आलोच्य साहित्य के साथ अत्यंत अंतरंग संबंध है। अतः न तो केवल हजारों वर्ष पुराने लक्षणों और उदाहरणों का अनुवाद अभीष्ट था और न नए उदाहरणों की सृष्टि से ही उद्देश्य की सिद्धि संभव थी। जहाँ संस्कृत के आचार्यों ने प्रायः आचार्यत्व और कविकर्म को पृथक् रखा था वहाँ हिंदी के आचार्यकवियों ने दोनों को मिला दिया। इससे काव्य की वृद्धि तो निश्चय ही हुई किंतु काव्यशास्त्र का विकास न हो सका।

रीतिआचार्यों का दूसरा प्रमुख दोष यह था कि उनका विवेचन अस्पष्ट और उलझा हुआ था, फलतः उनके ग्रंथों पर आधृत शास्त्रज्ञान कच्चा और अधूरा ही रहता है। इस अभाव के दो कारण थे। एक तो कुछ कवियों का शास्त्रज्ञान अपने आपमें निश्चित नहीं था। दूसरे, पद्य में साहित्य के सूक्ष्म गभीर प्रश्नों का समाधान संभव नहीं था। प्रतापसाहि जैसे प्रमुख आचार्य ने संस्कृत आचार्यों के मत सर्वथा अशुद्ध रूप में उद्धृत किए हैं। विश्वनाथ, और जगन्नाथ के काव्यलक्षण उनके शब्दों में इस प्रकार हैं :

साहित्यदर्पण मत काव्यलक्षण—

रसयुत व्यंग्य प्रधान जहाँ शब्द अर्थ शुचि होइ ।

उक्त युक्ति भूषण सहित काव्य कहावें सोइ ॥

रसगंगाधर मत काव्यलक्षण—

अलंकार अरु गुण सहित दोष रहित पुनि वृत्त्य ।

उक्ति रीति मुद के सहित रसयुत वचन प्रवृत्त्य ॥

—काव्यविलास (हस्तलेख, पृ० १)

वास्तव में इस प्रकार का अज्ञान अक्षम्य है, परंतु इन कवियों की अपनी परि-सीमाएँ थीं ।

उपर्युक्त दोषों के लिये अनेक परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं। एक तो संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा ही रीतिकाल तक आते आते प्रायः निर्जीव हो चुकी थी—उस समय पंडितराज को छोड़ कोई आचार्य मौलिक चिंतन का प्रमाण नहीं दे सका। उस युग में कविशिक्षा का ही प्रचार अधिक रह गया था जिसके लिये न मौलिक सिद्धांतप्रतिपादन अपेक्षित था, न खंडन मंडन अथवा पुनराख्यान। कविशिक्षा का लक्ष्य था रसिकों को सामान्य काव्यरीति की शिक्षा देना—जिज्ञासु मर्मज्ञ के लिये कविकर्म अथवा काव्यास्वाद के रहस्यों का व्याख्यान करना नहीं। रीतिकाव्य जिस वातावरण में विकसित हो रहा था उसमें रसिकता का ही प्राधान्य था। इन रसिक श्रीमंतों को अपने व्यक्तित्व के परिष्कार के लिये केवल सामान्य कलाज्ञान अपेक्षित था : गहन प्रश्नों पर विचार करने की न उनमें

शक्ति थी और इनमें न धैर्य ही। अतः उनका आश्रित कवि लक्षणादि की रचना द्वारा उनका शिक्षण और सरस शृंगारिक उदाहरणों की सृष्टि द्वारा मनोरंजन करता रहा, सूक्ष्म शास्त्रचिंतन उनके लिये ग्राह्य था और न इनके लिये आवश्यक। इसके अतिरिक्त हिंदी में गद्य का अभाव भी एक बहुत बड़ी परिसीमा थी। तर्क और विचारविश्लेषण का माध्यम गद्य ही हो सकता है, छंद के बंधन में बँधा हुआ पद्य नहीं। हिंदी के सर्वांगिनिरूपक आचार्यों ने, जो अपने शास्त्रकर्म के प्रति जागरूक थे, वृत्तियों में गद्य का सहारा लिया है किंतु ब्रजभाषा का यह असमर्थ गद्य उनके मतव्य को सुलभाने की अपेक्षा और उलभाने में ही प्रवृत्त हुआ।

अतः रीतिआचार्यों के योगदान का मूल्यांकन उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। ये कवि वस्तुतः शास्त्रकार नहीं थे, रीतिकार थे और उसी रूप में इनका विचार होना चाहिए। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्यों के सामान्यतः तीन वर्ग हैं—

१—उद्भावक आचार्य, जिन्हें मौलिक सिद्धांतप्रतिपादन का श्रेय प्राप्त है; जैसे भरत, वामन, आनंदवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, कुतक आदि। ये शास्त्रकार की कोटि में आते हैं।

२—व्याख्याता आचार्य, जो नवीन सिद्धांतों की उद्भावना न कर प्राचीन सिद्धांतों का आख्यान करते हैं। इनका कर्तव्य कर्म होता है मूल सिद्धांतों को स्पष्ट और विशद करना। मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ प्रतिभाभेद से इसी वर्ग के अंतर्गत आएँगे।

३—तीसरा वर्ग है कविशिक्षकों का, जिनका लक्ष्य अपने स्वच्छ व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर सरस, सुबोध पाठ्य ग्रंथ प्रस्तुत करना होता है। इस प्रकार के आचार्यों को मौलिक उद्भावना करने अथवा शास्त्र की गहन गुत्थियों को खडन मडन द्वारा सुलभाने की कोई महत्वाकांक्षा नहीं होती। जयदेव, अप्पय्य दीक्षित, केशव मिश्र और भानुदत्त आदि की गणना इसी वर्ग के अंतर्गत की जाती है।

हिंदी के रीतिआचार्य स्पष्टतः प्रथम श्रेणी में नहीं आते। उन्होंने किसी व्यापक आधारभूत काव्यसिद्धांत का प्रवर्तन नहीं किया। उनमें से किसी में इतनी प्रतिभा नहीं थी। दूसरी श्रेणी में सर्वांगिनिरूपक आचार्यों की गणना की जा सकती थी किंतु खडन मडन तथा स्पष्ट और विशद व्याख्यान के अभाव में वे केवल प्रमुख काव्यांगों के संक्षिप्त निरूपण के आधार पर वे भी इस स्थान के अधिकारी नहीं हो सकते। अतः वे तृतीय वर्ग के अंतर्गत ही स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे न शास्त्रकार थे और न शास्त्रभाष्यकार। उनका काम तो शास्त्र की परंपरा को सरस रूप में हिंदी में अवतरित करना था। और इसमें वे विषय ही कृतकार्य हुए। उनके कृतित्व का मूल्यांकन इसी आधार पर होना चाहिए।

अतएव हिंदी के रीतिआचार्यों का प्रमुख योगदान यह है कि उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा को हिंदी में सरस रूप में अवतरित किया। इस प्रकार हिंदी काव्य को शास्त्रचिंतन की प्रौढि प्राप्त हुई और शास्त्रीय विचार सरस रूप में प्रस्तुत हुए। भारतीय भाषाओं में हिंदी को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। इसके अपने दोष हो सकते हैं, परंतु वर्तमान हिंदी आलोचना पर इसका सद्भाव भी स्पष्ट है। अन्य भाषाओं में जहाँ संस्कृत आलोचना से वर्तमान आलोचना का सबंध उच्छिन्न हो गया है वहाँ हिंदी और मराठी में यह अंतःसूत्र टूटा नहीं है। फलतः हमारी वर्तमान आलोचना की समृद्धि और रीतिकारों का योगदान स्पष्ट है। बौद्धिक ह्रास के इस

अधकारयुग में काव्य के बुद्धिपक्ष को जाने अनजाने पोषण देकर इन्होंने अपने ढंग से बड़ा काम किया ।

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में व्यापक रूप से इनका दूसरा महत्वपूर्ण योगदान यह है कि इन्होंने रस को ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त कर रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की । इतिहास साक्षी है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धांत ध्वनिवाद ही रहा है—रस का स्थान मूर्धन्य होते हुए भी उसका विवेचन प्रायः असलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि के अंतर्गत अंग रूप में ही होता रहा है । हिंदी के रीतिकार आचार्यों ने रस को परतंत्रता से मुक्त किया और पूरी दो शताब्दियों तक रसराम शृंगार की ऐसी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित की कि यहाँ 'शृंगारवाद' एक प्रकार से स्वतंत्र सिद्धांत के रूप में ही प्रतिष्ठित हो गया । मधुरा भक्ति से संप्रेरित शृंगार भाव में जीवन के समस्त कटु भावों को निमग्न कर इन आचार्यों ने भारतीय काव्यशास्त्र के प्राणतत्त्व आनंद की पुनः प्रतिष्ठा का अभूतपूर्व प्रयत्न किया । रीतियुग के अधिकांश आचार्यों द्वारा ध्वनि की उभेक्षा और नायिकाभेद के प्रति उत्कट आग्रह इसी प्रवृत्ति का द्योतक है, । देव जैसे कवियों ने अत्यंत प्रबल शब्दों 'रसकुटिल अधम व्यजना' पर आश्रित ध्वनि का तिरस्कार कर रसवाद का पोषण किया और रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य के उत्तम और मध्यम भेद करते हुए रससिद्धांत के सार्वभौम प्रभुत्व का प्रतिपादन किया । सयोग शास्त्र का अपरिपक्व ज्ञान, युग की दूषित प्रवृत्ति आदि कहकर इन स्थापनाओं की उपेक्षा करना न्याय्य नहीं है इनके पीछे गहरी आस्था का बल है ।

प्रथम अध्याय

रीतिबद्ध काव्यकवियों की विशेषताएँ

यहाँ हम राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट 'काव्यकवि' पद का प्रयोग उन कवियों के लिये कर रहे हैं जो रीतिकाव्य की बँधी हुई परिपाटी में आस्था रखने पर भी लक्षणग्रन्थों के प्रणयन में लीन नहीं हुए वरन् स्वतन्त्र रूप से लक्ष्यग्रन्थों के द्वारा जिन्होंने अपनी कविप्रतिभा का परिचय दिया और अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के स्फुरण द्वारा रसमर्मज्ञ कवि का अभिधान प्राप्त किया। रीतिपरंपरा को भलीभाँति हृद्गत करके भी इन काव्यकवियों ने उसका विवेचन नहीं किया। रीतिग्रन्थ लिखनेवाले आचार्यकवियों का उद्देश्य मुख्य रूप से कविशिक्षा के ग्रन्थ ही लिखना था। वे अपने को कविशिक्षक ही कहते और समझते थे। केशवदास, चितामणि त्रिपाठी, कुलपति मिश्र, श्रीपति आदि आचार्यकवियों ने अपने ग्रन्थों में कविशिक्षक होने की अभिलाषा का स्पष्ट संकेत किया है। आचार्य या शिक्षक होने की लालसा के पीछे गुस्त्व की प्रधानता है, कवि या कवित्व के गौरव की इच्छा प्रधान नहीं है। काव्यकवियों में रीति का बंधन स्वीकार करने पर भी इस अभिलाषा के ठीक विपरीत कविगौरव की अभिलाषा है, आचार्य या कविशिक्षक होकर वे पाठ्य ग्रन्थ तैयार करने में कोई रुचि नहीं रखते। इसी कारण इन कवियों को रीतिबद्ध काव्यकवि के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

रीतिकार आचार्य कवि और रीतिबद्ध काव्यकवियों के मध्य विभाजक रेखा स्पष्ट है। दोनों की प्रणाली और ध्येय में पर्याप्त अंतर है। फिर भी कतिपय विद्वानों ने बिहारी जैसे रीतिबद्ध काव्यकवि को आचार्यकवि सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका तर्क है कि बिहारी सतसई के दोहे समग्र रूप से नायक नायिका भेद के पोषक हैं। परवर्ती टीकाकारों ने सतसई को नायिकाभेद का ग्रन्थ बताया भी है। नायिकाभेद के अतिरिक्त काव्यशास्त्र के अलंकार, रस, ध्वनि आदि भेदों का अनुसंधान भी सतसई में किया गया है और इसे रीतिग्रन्थ ठहराने की चेष्टा हुई है। इस प्रयत्न की व्यर्थता पुस्तक के ध्येय से ही स्पष्ट हो जाती है। यदि बिहारी रीतिग्रन्थ का प्रणयन करते तो लक्षणों का बहिष्कार करके केवल लक्ष्य तक ही अपने को सीमित क्यों रखते? नायिकाभेद, अलंकार, रस, ध्वनि आदि का वर्णन तो सभी रीतिबद्ध या रीतिमुक्त काव्यों में उपलब्ध होता है। घनानंद, आलम, ठाकुर और बोधा की रचनाओं में भी ये तत्व पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। तब क्या उन रीतिमुक्त स्वच्छंद धारा के प्रेमी कवियों को भी आचार्य कवि कहा जायगा? क्या घनानंद या ठाकुर का ध्येय कविशिक्षक के रूप में रीतिग्रन्थ प्रणयन करना ही था? उत्तर स्पष्ट है कि उनकी स्वतंत्र काव्यधारा का रीतिकाव्य की धारा से सीधा संबंध नहीं है। हाँ, भृंगारिक भावनाओं के बाहुल्य के कारण रीति की भावधारा का प्रभाव अवश्य उत्पन्न भी परिलक्षित होता है। इसी प्रकार बिहारी भी स्वतंत्र रूप से कवित्व के अभिलाषी थे—कविगौरव ही उनका ध्येय था, कविशिक्षक होने की उन्होंने कभी चेष्टा नहीं की। रीतिकार आचार्यकवि और रीतिबद्ध काव्यकवि के व्यावर्तक धर्मों को दृष्टि में रखते हुए इनका भेद समझना आवश्यक है। 'शास्त्रस्थिति संपादन' मात्र बिहारी आदि कवियों का लक्ष्य न होने से इनका वर्ग स्वतंत्र हो जाता है और लक्षणग्रन्थ रचना के दायित्व से मुक्त होकर केवल लक्ष्यग्रन्थ तक उन्हें सीमित कर देता है।

रीतिबद्ध काव्यकवियों की एक और प्रमुख विशेषता यह है कि वे कवित्व के लोभ में चमत्कारातिशयपूर्ण उक्तियों बाँधने में लीन रहते हैं, इस बात का उन्हें भय नहीं रहता कि यह उक्ति लक्षणविशेष के अनुकूल होगी या नहीं। लक्षण के घेरे में बँधे रहनेवाले आचार्यकवियों में यह बात नहीं मिलती। जहाँ इन कवियों ने चमत्कार को अपनाया है और मार्मिक उक्तियों की हैं वहाँ लक्षण पीछे छूट गया है। रसाभिव्यक्ति के लिये स्वानुभूति के आधार पर मौलिक काव्यरचना भी रीतिबद्ध कवियों की विशेषता है। जीवन और जगत् के बाह्य एवं आभ्यंतर तल से अनुकूल सामग्री चयन कर कवित्व के पूर्ण परिपाक के साथ सरस उक्तियों की रचना करने का कला इन कवियों को सिद्ध थी। यदि लक्षण-रचना का दायित्व इनपर होता तो कदाचित् रस की ऐसी धारा ये प्रवाहित न कर पाते। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वतंत्र उद्भावना के लिये जितना अवकाश इन काव्यकवियों के पास था, उतना लक्षणकार आचार्यों के पास नहीं था। यही कारण है कि काव्यकवियों की वैयक्तिकता रीतिबद्ध कवियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। इन कवियों ने काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष को समान रूप से ग्रहण किया था। स्वतंत्र उद्भावनाओं के कारण मौलिकता की भी इनमें अधिक मात्रा है, पिष्टपेषण या चवितचर्वण अपेक्षाकृत न्यून है, जबकि आचार्यकवियों में लक्षणानुसारी रचना के कारण पिष्टपेषण अत्यधिक मिलता है।

रीतिबद्ध आचार्यकवियों ने अपने ग्रंथ लिखते समय संस्कृत के आचार्य दंडी, भामह, जयदेव, मम्मट, विश्वनाथ आदि के ग्रंथों को सामने रखा था। अधिकांश कवियों ने संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का रूपांतर मात्र करके अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली है। संस्कृत में उच्च कोटि का चिंतन मनन हो चुका था। ऐसी दशा में हिंदी के ये शास्त्रकवि मौलिक चिंतन द्वारा नई बात उपस्थित भी क्या कर सकते थे? संस्कृत के समृद्ध साहित्य के आगे इनका रीतिशास्त्र हलका फूलका लगता है। यही कारण है कि रीतिकार आचार्यों की दृष्टि उन संस्कृत ग्रंथों तक ही सीमित रही जिनमें पूर्वप्रतिपादित सिद्धांतों का स्पष्टीकरण अथवा सरल शैली में परिचय कराया गया था। एतदर्थ चंद्रालोक, कुवलयानंद, रसतरंगिणी, रसमंजरी, काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण को ही चुना गया है। रीतिकाव्य लिखनेवाले हिंदी के आचार्यकवि अतः संस्कृत के रीतिग्रंथों के उपजीवी बने रहे। इन आचार्यकवियों का मुख्य वर्ण्य विषय भी शृंगार ही है। रसनिरूपण में शृंगार को ही प्रधानता देकर इन्होंने भाव, विभाव आदि का औपचारिक रूप से वर्णन किया है। नायकनायिका भेद भी शृंगाराश्रित होता है, अतः शृंगारवर्णन के लिये उसे अपनाया गया है। हमारे कथन का तात्पर्य यह है कि जहाँ आचार्यकवियों ने संस्कृत के काव्यशास्त्र को अपना आधार बनाकर लक्षणग्रंथों का हिंदी में निर्माण किया है वहाँ रीतिबद्ध काव्यकवियों ने संस्कृत की काव्यशास्त्रीय सरणि को केवल पृष्ठभूमि में रखा है। वैसे, इन कवियों का निष्ठतर सबंध संस्कृत की शृंगारमुक्तक परंपरा से है, जिसमें लक्षणानुसारी काव्यरचना का आग्रह नहीं होता, यहाँ तो मुक्तक शैली की स्वतंत्र रचना में ऐहिक जीवन के मार्मिक चित्र अंकित किए जाते हैं जो पाठक को रसमग्न कर आनंदविभोर बना देते हैं।

(१) हिंदी काव्य में मुक्तक परंपरा—मुक्तक काव्य की प्राचीनतम परंपरा ऋग्वेद में मिलती है। उसी का क्रमिक विकास परवर्ती संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य में हुआ। हिंदी की मुक्तकपरंपरा का सबंध संस्कृत और प्राकृत की इसी शृंगारमुक्तक परंपरा से है। संस्कृत के भक्तिस्तोत्र ग्रंथों की मुक्तकपरंपरा का भी यत्किंचित् प्रभाव हिंदी के मुक्तक कवियों पर पड़ा है किंतु मूलतः उन्होंने शृंगार को ही प्रधानता देकर मुक्तकरचना की है। मुक्तक काव्य की सुदीर्घ परंपरा का सधान करने से पूर्व मुक्तक शब्द और मुक्तक काव्य के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है। मुक्तक शब्द के कोशग्रंथों में विभिन्न अर्थ दिए

हुए है। उनमें से काव्य के प्रसंग में निम्नलिखित अर्थ सगत प्रतीत होता है - 'मुक्तक एक प्रकार का काव्य है जो पूर्वापरनिरपेक्ष, स्वतः पर्यवसित पद्य तक सीमित हो।' केशवकृत शब्दकल्पद्रुम कोश में मुक्तक शब्द का अर्थ इस प्रकार लिखा है :

बिना कृतं विरहितं व्यवच्छिन्नं विशेषितम् ।

भिन्न स्वाद्य निर्व्यूहे मुक्तं योवाति शोभनः ॥

जो काव्य अर्थपर्यवसान के लिये परापेक्षी न हो वह मुक्तक कहलाता है। प्रबंध काव्य में अर्थ का पर्यवसान प्रबंधगत होता है। रसचर्वण या चमत्कृति प्रबंध काव्य में केवल एक पद्य के द्वारा नहीं होती और न प्रबंध काव्य का प्रत्येक पद्य स्वतंत्र रूप से रसप्रवण तथा चमत्कृतिप्रधान होता है। इसके ठीक विपरीत मुक्तक काव्य में रसयोजना और चमत्कृति के समस्त उपादान एक ही पद्य में उपस्थित रहते हैं। काव्य के प्रसंग में मुक्तक का अर्थ है 'ऐसा पद्य जो परत निरपेक्ष रहते हुए पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ हो, अपनी काव्यगत विशेषताओं के कारण जो आनंद प्रदान करने में स्वतंत्र रूप से पूर्णतया समर्थ हो, जिसका गुफन अति रमणीय हो, जिसका परिशीलन ब्रह्मानंद सहोदर रसचर्वण के प्रभाव से हृदय को मुक्तावस्था प्रदान करनेवाला हो।' आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में मुक्तक के विषय में लिखा है : 'मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथाप्रसंग में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है। इसमें तो रस के जैसे छीटे पड़ते हैं जिनसे हृदय की कलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक काव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी लिये सभा समाजों के लिये वह अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा सघटित जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि एक रमणीय खड्गदृश्य इसी प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है। इसके लिये कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यंत सक्षिप्त और सशक्त भाषा में चित्रित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समाहार शक्ति जितनी अधिक होगी, उतना ही वह मुक्तक की रचना में अधिक सफल होगा।'¹

संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने स्फुट या अनिबद्ध काव्य को मुक्तक सजा प्रदान की है। अग्निपुराणकार ने मुक्तक उस श्लोक को माना है जो सहृदयों में चमत्कार का आधान करने में समर्थ होता है। मुक्तक की रसमयता की ओर आनंदवर्धन ने सबसे पहले ध्यान दिया और लिखा—'प्रबंध मुक्तकेवापि रसादीन् बहुमिच्छता।' संस्कृत में मुक्तक-रचना का सूत्रपात तो वैदिक काल से ही मिलता है किंतु मुक्तक काव्य में रस की स्थिति नाट्य एवं प्रबंध के बहुत पीछे स्वीकृत हुई। राजशेखर ने तो मुक्तक कवियों को महा-कवियों में स्थान ही नहीं दिया। आचार्य वामन ने भी यही माना है कि मुक्तक रचना तो कवि की प्रथम सीढ़ी है, उसे निपुणता प्राप्त करने के लिये प्रबंध काव्य में प्रवृत्त होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि मुक्तक काव्य को प्रारंभ में उच्च स्थान प्राप्त नहीं हुआ किंतु कालांतर में मुक्तक की श्रेष्ठता स्वीकृत हुई। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भारतीय मुक्तक काव्य के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि—'भारतीय काव्यानंद का सम्यक् रूप में यदि कहीं प्रस्फुटन हुआ है तो वह उसके मुक्तक काव्य में ही हुआ है। मुक्तक काव्य में भारतीय उदात्त वृत्ति का पूर्ण सामंजस्य अधिगत होता है।

मुक्तक काव्य का आधार यों तो कोई भी निरपेक्ष कथन होता है किंतु सफल

एवं प्रभावोत्पादक मुक्तक काव्य वही कहाता है जिसमें संपूर्ण जीवन या जीवन के सामान्य क्रियाव्यापारों के मेल में आनेवाला खड्गचित्र लेकर कोई प्रधान बाँधा जाता है। जीवन के वे मार्मिक वृत्त जो रसमग्न करने में सहायक हों, मुक्तक काव्य के आधार बनते हैं। मर्मस्थलों का चयन करते समय कवियों को इतना जागरूक होना चाहिए कि पाठक उस भाव-भूमि पर सहज ही में पहुँच सके जहाँ कवि उसे ले जाना चाहता है। यदि सामान्य जीवन-क्षेत्र से हटकर कवि किसी ऐसे लोक में पहुँचकर मुक्तक लिखता है जो पाठक के लिये अनजाना है तो मुक्तक का प्रभाव कठिनाई से पड़ेगा और उसमें अभीष्ट सरसता भी न आ सकेगी।

जैसा हमने पहले सकेत किया है, रीतियुग के काव्यकवियों ने संस्कृत की शृंगार-मुक्तक परंपरा को स्वीकार कर शृंगारप्रधान रचनाओं में अपनी रचि प्रदर्शित की है। काव्यशास्त्रीय ग्रंथों से दूर हटकर केवल शृंगारमुक्तकों का आलंबन उनकी आभ्यंतर रचि एवं प्रवृत्ति का सकेत देता है। शृंगारमुक्तक परंपरा में हाल रचित गाथासप्तशती का नाम सबसे पहले आता है। ईसा की दूसरी शती के आसपास इसका रचनाकाल स्थिर किया जाता है। हाल रचित गाथासप्तशती जीवन के सहज सरल व्यापारों को चित्रात्मक शैली में प्रस्तुत करनेवाला प्रथम मुक्तक काव्य है। इस सप्तशती का प्रभाव हिंदी के मुक्तक कवियों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। बिहारी का सुप्रसिद्ध अन्वोक्तिपरक दोहा भी हाल की प्राचीन गाथा की छाया ही है।

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल ।

अली कली ही सौ बँध्यो, आगे कौन हवाल !

—बिहारी

गाथासप्तशती—

जावरण कोस विकासं ईसोस मालई कलिजा ।

मकरंद पाण लोहिल्ला भमर तावन्निज मलेसि ॥

(अभी मालती की कली के कोश का विकास भी नहीं हो पाया कि मकरंदपाण के लोभी भौरे तूने उसका मर्दन आरंभ कर दिया)

गाथासप्तशती के बाद संस्कृत के युगप्रसिद्ध मुक्तककार कवि अमरुक का नाम आता है। आचार्य आनंदवर्धन ने अमरुक के विषय में लिखा है कि—‘अमरुक कवेरेक श्लोक प्रबंध शतायते’ अर्थात् अमरुक कवि का एक श्लोक सौ प्रबंधों के समान होता है। अमरुक ने शृंगारमुक्तक की परंपरा को आगे बढ़ाने में सबसे अधिक योग दिया। इसके बाद गोवर्धन की आर्यासप्तशती इसी शृंखला की प्रमुख कड़ी है। आर्यासप्तशती के श्लोकों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए प० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के अनेक दोहों पर इसका प्रभाव दिखाया है। आर्यासप्तशती का व्यापक प्रभाव हिंदी के मुक्तक कवियों पर पड़ा था। बिहारी के प्रसंग में तुलनात्मक प्रभाव का परीक्षण किया जायगा। यहाँ इस प्रसंग में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि गाथासप्तशती, अमरुकशतक और आर्यासप्तशती आदि की शृंगारमुक्तक परंपरा ही हिंदी की मुक्तकपरंपरा के मूल में थी। संस्कृत और प्राकृत से होती हुई यह परंपरा अपभ्रंश में भी चलती रही। प्रेम, शृंगार और वीर रस संबंधी मुक्तक हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण ग्रंथ में तथा द्वाधश्रयकाव्य में उपलब्ध होते हैं। सोमप्रभाचार्य के कुमारपालप्रतिबोध, राजशेखर सूरि के प्रबंधकोष, प्राकृतपैंगल्लव और सुराबन्ध प्रबंधसंग्रह में स्फुट रूप से मुक्तकों की परंपरा का अनुसंधान किया जा सकता है। संस्कृत में शृंगारतिलक, घटकर्पूर, भर्तृहरिचरित शृंगारशतक, विल्हस की चौर पंचमसिका आदि शृंगारप्रधान मुक्तक हैं। संस्कृत की यह शृंगारमुक्तक परंपरा ही हिंदी के बिहारी

आदि काव्यकवियों की प्रेरक हुई। इन कवियों ने रीतिकाव्य के संस्कृत ग्रंथों का अनुसरण नहीं किया वरन् इन्हीं शृंगारमुक्तकों को अपना उपजीव्य बनाया।

संस्कृत की शृंगारमुक्तक परंपरा का अनुसरण करते हुए ये कवि रीतिपरिपाटी से बहुत दूर जा पड़े हों, ऐसी बात नहीं है। शृंगार की मर्यादा ही रीतिबद्ध होकर विकसित होती है, अतः शृंगारवर्णन के लिये भी रीतिपरिपाटी का त्याग संभव नहीं है। रीतिबद्ध काव्यकवियों ने बाह्य रूप में रीति का दामन नहीं पकड़ा, किंतु उनके काव्य में रीति की छाया आद्योपात दृष्टिगत होती है।

रीतिबद्ध कवियों के काव्य पर संस्कृत के प्राचीन काव्यसंप्रदायों में से तीन संप्रदायों का प्रभाव देखा जा सकता है। ये तीन संप्रदाय अलंकार, रस और ध्वनि संप्रदाय हैं। अलंकार संप्रदाय को रीतिबद्ध कवियों ने आचार्यकवियों की भाँति ग्रहण नहीं किया वरन् अलंकारों की योजना अपने लक्ष्यग्रंथों में इस रूप से की है कि उनमें से अलंकारों का चयन किया जा सकता है। लक्षण उदाहरण पूर्वक अलंकारप्रतिपादन इन कवियों ने नहीं किया। हिंदी रीतिकाव्य में ध्वनिवाद का सर्वोत्कृष्ट रूप बिहारी और प्रतापसाहि में मिलता है। बिहारी ने यद्यपि लक्षणग्रंथों की रचना नहीं की परंतु उनके काव्य की प्रवृत्ति सर्वथा ध्वनिवाद के ही अनुकूल थी। उनके दोहों के काव्यगुण का विश्लेषण करने पर यह सदेह नहीं रह जाता कि वे रसवाद के शुद्ध मानसिक आनंद की अपेक्षा ध्वनिवाद के बौद्धिक आनंद को ही अधिक महत्व देते थे^१।

कुछ विद्वानों की समिति में बिहारी रसवादी कवि थे। रस को काव्य की आत्मा मानकर उन्होंने आनंदोपलब्धि के लिये सतसई का निर्माण किया था। इस प्रश्न पर हम बिहारी के विषय में लिखते हुए आगे विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना ही संकेत करना पर्याप्त होगा कि बिहारी का काव्यगुण ध्वनि में जितना उत्कर्ष को पहुँचा है उतना रस में नहीं। यह ठीक है कि बिहारी ने रस को तिलाजलि नहीं दी थी, किंतु उनका साध्य ध्वनिकाव्य ही था।

रस संप्रदाय भी इन कवियों ने अपनाया है। केवल शृंगार का वर्णन करनेवाले कवियों की दृष्टि में रस संप्रदाय ही प्रधान था। कवि नेवात्र, बेनी, नृपशंभु, रसनिधि, हठी जी, पजनैम, द्विजदेव आदि कवियों पर रस संप्रदाय का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। यथार्थ में ध्वनि और रस संप्रदाय के साथ ही काव्यकवियों का घनिष्ठ संबंध रहा है। वैसे, अप्रत्यक्ष रूप से अलंकार और वक्रोक्ति का भी प्रभाव इनकी स्फुट रचनाओं में देखा जा सकता है।

रीतिबद्ध काव्यकवियों की कविता में भावुकता और कला का अद्भुत समन्वय हुआ है। जैसा हमने पहले लिखा है, काव्यकवियों ने कलापक्ष और भावपक्ष का समान रूप ग्रहण किया था। केवल काव्यरीति तक ही दृष्टि सीमित रखनेवाले आचार्यकवियों से इनके काव्य का यह भेद स्पष्ट देखा जा सकता है। रीतिमुक्त कवियों में भावुकता की मात्रा सबसे अधिक है। किंतु काव्यकवि भी वस्तु, दृश्य या भावचित्रण में भावुकता का आश्रय लेते हैं। शृंगार के वर्णन में संयोग और वियाग के जैसे मार्मिक चित्र काव्यकवियों ने अंकित किए हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ है। विरह का वर्णन यद्यपि ऊहात्मक शैली में ही अधिक किया गया है, तथापि प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका नायिका के उदाहरणों में स्वाभाविक शैली से कवि की भावुकता व्यक्त हुई है। संचारियों के वर्णन में भी भावुकता के सस्पर्श मिलते हैं।

द्वितीय अध्याय

कविपरिचय

१. बिहारीलाल

(१) जीवनवृत्त—बिहारी के जन्मस्थान के संबंध में तीन मत हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। ग्वालियर, बसुआ गोविंदपुर और मथुरा, इन तीन स्थानों से उनका संबंध स्थापित किया जाता है। ग्वालियर को जन्मस्थान माननेवाले विद्वान् एक दोहा उपस्थित करते हैं जो बिहारी के जीवनवृत्त पर प्रकाश डालता है। दोहा इस प्रकार है।

जनम ग्वालियर जानियै, खंड बुंदेलै बाल ।

तरनाई आई सुघर, मथुरा बसि ससुराल ॥

संभव है, यह दोहा बिहारी के जीवनवृत्त से परिचित किसी व्यक्ति ने लिखा हो। दोहे की प्रामाणिकता सिद्ध होने पर भी इसमें जन्म, शैशव एवं तारुण्य का पूरा संकेत है। जन्मस्थान बसुआ गोविंदपुर लिखा है। श्रीराधाचरण गोस्वामी के मत में इनका जन्म मथुरा में हुआ था। बिहारी के मथुरा में रहने के तो अनेक प्रमाण मिलते हैं, किंतु जन्मस्थान होने का संकेत नहीं मिलता। बसुआ गोविंदपुर इनके भानजे कुलपति मिश्र को मिला था। वह बिहारी का जन्मस्थान नहीं था। अतः ग्वालियर के विषय में अपेक्षाकृत अधिक प्रमाण मिलने के कारण ग्वालियर को ही इनकी जन्मभूमि माना जाता है।

बिहारी के पिता का नाम केशवराय था। केशवराय नाम देखकर आचार्य केशवदास की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। स्वर्गीय श्रीराधाकृष्णदास ने आचार्य केशव को ही इनका पिता ठहराने का प्रयत्न किया था। श्रीजगन्नाथदास रत्नाकर ने भी उक्त अनुमान को अशत स्वीकार करते हुए इस प्रश्न को विवादास्पद माना है। बुंदेलबैभव के लेखक पं० गौरीशंकर द्विवेदी ने बिहारी को केशवदास का पुत्र तथा काशीनाथ मिश्र का पौत्र सिद्ध किया है। उनके मत में बिहारी चौबे नहीं थे। उनका विवाह चौबे कुल में हुआ था। प्रसिद्ध कवि केशवदास को बिहारी का पिता स्वीकार किया जाय या नहीं, यह प्रश्न ऐतिहासिक अनुसंधान की अपेक्षा रखता है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस विवादास्पद प्रश्न का इस प्रकार समाधान संभव है। सबसे पहले बिहारी सतसई के टीकाकार कृष्णलाल ने बिहारी के निम्नलिखित दोहे की टीका में प्रसिद्ध कवि केशवदास की ओर संकेत किया है

प्रकट भए द्विजराज कुल, सुबस बसै बजराय ।

मेरो हरौ कलेस सब केसो केसवराय ॥

इस दोहे में केशव (विष्णु) और केशवराय (कवि केशवदास) की ओर बिहारी ने संकेत किया है, ऐसा टीकाकार कृष्णलाल का कहना है। वे कहते हैं, भगवान् और जनक दोनों का कवि ने इस दोहे में युगपत् स्मरण किया है। यदि केशवराय कोई सामान्य व्यक्ति होते तो बिहारी इस तरह स्मरण न करते। अतः केशवराय महाकवि केशवदास ही हैं। किंतु इस तर्क में विशेष बल नहीं है। कवि बिहारी के पिता का नाम केशवराय हो सकता है और वे कोई भी व्यक्ति हो सकते हैं। इस नामस्मरण से आचार्यकवि केशव की ध्वनि नहीं निकलती।

बिहारी के भानजे कुलपति मिश्र ने भी अपने सग्रामसागर के मगलाचरण में अपने गाना का स्मरण करते हुए उन्हें कविवर शब्द से संबोधित किया है

कविवर मातामह सुमिरि, केसव केसवराय ।

कहाँ कथा भारत्य की, भाषा छद बनाय ॥

अतः यह सकेत तो मिलता है कि केशवराय कवि अवश्य थे, किंतु कवि होने से वे प्रसिद्ध आचार्यकवि केशवदास ही थे, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता । हाँ, इतना स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि बिहारी के पिता केशवराय भी कवि थे ।

आचार्य केशवदास को बिहारी का पिता सिद्ध करने के लिये एक और प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है । मिश्रबधुविनोद में एक कवयित्री का केशवपुत्रवधू नाम से उल्लेख मिलता है । इस केशवपुत्रवधू को बिहारी की पत्नी ठहराकर केशवदास को बिहारी का पिता बताया जाता है । इस प्रसंग में यह ध्यान रखने योग्य है कि बिहारी की पत्नी के कवयित्री होने का सकेत बिहारी के दो दोहाबद्ध जीवनचरितों में मिलता है । इन दोनों जीवनचरितों का उल्लेख श्रीजगन्नाथदास रत्नाकर ने कविवर बिहारी नामक ग्रंथ में विस्तार से किया है । एक जीवनचरित तो बिहारीबिहार (५० अबिकादत्त व्यास) के प्रारंभ में सलग्न है और दूसरा दोहाबद्ध चरित स० १८६१ में असनी के ठाकुर कवि ने अपने आश्रयदाता श्रीदेवकीनंदन के नाम पर सतसैयावर्णार्थ टीका में लिखा है । इस जीवनवृत्त में सतसैया के निर्माता के रूप में बिहारी की पत्नी का नाम है, बिहारी का नहीं । बिहारी-बिहार में लिखित जीवनचरित के आधार पर निम्नांकित तथ्यों का पता चलता है :

‘बिहारी के पितामह का नाम वासुदेव और पिता का नाम केशवदेव था । ये मथुरानिवासी छहधरा चौबे थे । इनकी ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा थी और तीन प्रवर थे । इनका जन्म स० १६५२ में कार्तिक शुक्ला अष्टमी, बुधवार को श्रवण नक्षत्र में हुआ था । ग्यारह वर्ष की आयु में वे वृंदावन गए और टट्टी स्थान के महंत श्री नरहरिदास जी से मिले । उनकी प्रेरणा से वहीं बस गए और विद्याभ्यास करने लगे । उसी समय वहाँ एक बार बादशाह शाहजहाँ आए । वे इनकी कविता सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और अपने साथ आगरा लावा ले गए । एक बार शाहजहाँ के पुत्रजन्मोत्सव पर देश भर से राजा महाराजा आगरा आए । बादशाह की प्रेरणा से बिहारी ने उन्हें दरबार में अपनी कविता सुनाई जिसे सुनकर सभी राजा महाराजा बड़े प्रसन्न हुए और सबने प्रमाणपत्र प्रदान कर बिहारी की वृत्ति भी बाँध दी । एक बार वार्षिक वृत्ति लेने बिहारी राजा जयसिंह के दरबार में पहुँचे । उस समय राजा जयसिंह अपनी नवौंदा पत्नी के प्रेमपाश में बुरी तरह आबद्ध थे । बिहारी ने बड़ी युक्ति से स्वरचित एक अन्योक्ति राजा के पास पहुँचाई जिसे पढ़कर राजा को चेत हुआ । वे महल से निकलकर दरबार में आए और राजकाज में फिर से लग गए । बिहारी के काव्यकौशल पर मुग्ध होकर राजा जयसिंह ने आदेश दिया कि वे प्रतिदिन एक दोहा इसी प्रकार बनाकर राजा को देते रहे । उसके बाद तो उन्हें प्रतिदिन एक अशर्फी मिलती रही । राजा जयसिंह ने ही बिहारी को दोहों में शृंगार रस की प्रधानता रखने का आदेश दिया था । दो महीने में बिहारी ने सात सौ दोहे पूरे किए और राजा से आज्ञा लेकर वे मथुरा वापस चले गए । इसके बाद बिहारी ने स्थायी रूप से ब्रजवास स्वीकार कर लिया, कविता करना बंद कर दिया और स० १७२१, चैत्र शुक्लपक्ष सप्तमी, सोमवार को उनका ब्रज में ही शरीरपात हुआ ।

असनी के ठाकुर कवि ने अपने आश्रयदाता काशीनिवासी श्रीदेवकीनंदन के नाम पर सतसैयावर्णार्थ टीका में बिहारी का विस्तृत वृत्तांत लिखा है । उसका सारांश इस प्रकार है—‘बिहारी नामक एक कुलीन विप्र ब्रज में वास करता था । उसकी पत्नी कविता

करने में प्रवीण थी। राजा जयमिह से वृत्ति पाकर वह अपनी गृहस्थी चलाता था। एक बार जब वह जयपुर राजा के दरबार में वृत्ति लेने गया तो उसने राजा को नई व्याह कर लाई हुई पत्नी के प्रेमपाश में फँसा पाया। राजा दरबार में नहीं आते थे। निराश होकर बिहारी को खाली हाथ लौटना पड़ा। बिहारी ने यह समाचार अपनी पत्नी को सुनाया। उसने तत्काल 'नहि पराग नहि मधुर मधु, नहि विकास यहि काल' वाला दोहा बनाकर बिहारी को दिया और फिर जयपुर वापस भेजा। दामी के द्वारा यह दोहा महाराज के पास भिजवाया गया। उसे पढ़कर राजा को प्रबोध हुआ और अत्यंत प्रसन्न होकर उन्होंने अजलि भर मोहरे बिहारी को प्रदान की। साथ ही यह भी कहा कि यदि तुम इसी प्रकार दोहे बनाकर लाते रहे तो तुम्हें प्रति दोहा एक माह की वेतनी। बिहारी ने अपना पत्नी को यह सब समाचार सुनाया। पत्नी ने १८०० दोहें बनाए और १८०० माहों में प्राप्त की। उन्हीं में से छोटकर मात सा की यह सतसई तैयार हुई। इस सतसई को लेकर पत्नी के कहने से बिहारी छत्रसाल महाराज के दरबार में पहुँचे। सतसई उन्हें दिखाई गई। महाराज ने उसे परख के लिये अपने गुरु श्रीप्राणनाथ जी के पास भेज दिया। साधु प्राणनाथ ने शृंगारपूर्ण सतसई को घृणास्पद समझा और वापस कर दिया। बिहारी अपना सा मुँह लेकर चले आए। घर आकर जब पत्नी से सब वृत्तान्त कहा तो पत्नी ने तत्काल बिहारी को महाराज छत्रसाल के पास वापस जाने का परामर्श देते हुए कहा कि महाराज से निवेदन करना कि सतसई की परीक्षा के लिये इसे प्राणनाथ की धार्मिक पुरतक के साथ पन्ना के युगलकिशोरजी के मंदिर में रख दिया जाय। जिस पुस्तक पर रात में श्रीयुगलकिशोरजी के हस्ताक्षर हो जायें वही पुस्तक प्रामाणिक मानी जाय। ऐसा ही किया गया और हस्ताक्षर बिहारी सतसई पर हुए। इस समाचार को सुनते ही बिहारी बिना दक्षिणा लिए सीधे अपनी पत्नी के पास चले आए और पत्नी को सब समाचार बताया। उधर बिहारी को न पाकर राजा ने हाथी, घोड़े, पालकी, आभूषण आदि विपुल संपत्ति बिहारी के लिये भेजी। बिहारी की पत्नी ने सारी दक्षिणा वापस करके यह दोहा लिख भेजा

तो अनेक औगुन भरी चाहैं याहि बलाय ।

जौ पति संपति हू बिना जड़ुपति राखे जाय ॥

‘एक और दोहा प्राणनाथजी के पत्र के उत्तर में लिखा -

‘हूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन विस्तार न काल ।

प्रगटत निर्गुन निकट ही चंग रंग गोपाल ॥

‘इन दोहों को पढ़कर महाराज छत्रसाल और प्राणनाथ बहुत लज्जित हुए और बहुत सा द्रव्य आदि भेजा। बिहारी की पत्नी पतिव्रता थी, अतः उसने सतसई रचने का श्रेय स्वयं नहीं लिया वरन् बिहारी के नाम से ही ग्रंथ को प्रसिद्ध किया।’

उपरोक्त विवरण की प्रामाणिकता भी अत्यंत सदिग्ध है। केवल यह प्रतीत होता है कि बिहारी की पत्नी कवयित्री थी। इन दोनों जीवनचरितों को हमने इस प्रसंग में इसलिए उद्धृत किया है कि केशवपुत्रवधू के नाम से जो स्त्री विख्यात है, उसका बिहारी से सबंध निर्णय हो सके। कवि केशवदास जी की पुत्रवधू के लिये यह भी प्रसिद्ध है कि उसके लिये ही केशव ने विज्ञानगीता जैसे दार्शनिक ग्रंथ का निर्माण किया था।

वस्तुतः बिहारी के पिता यदि आचार्य कवि केशवदास होते तो साहित्यिक परंपरा में यह बड़ा पूर्ण रूप से ख्यात हो गई होती। दो महाकवियों का पारस्परिक सबंध किसी भी प्रकार सुप्त नहीं रह सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि बिहारी के पिता का नाम केशव था और वे भी कवि थे, किंतु ओड़छा निवासी आचार्यकवि केशव से उनका कोई सबंध नहीं था।

इस प्रसंग में एक बात और ध्यान देने की है। बिहारी ने अपनी वदना में 'कैसौ केसवराय' नाम दिया है। ठीक इसी रूप में उनके भानजे कुलपति मिश्र ने भी 'कैसव केसवराय' नाम लिया है। हो सकता है, यही कवि का पूरा नाम हो और वह कवि केशव-दास से भिन्न कोई साधारण कवि 'केशव केशवराय' हो। अतः संक्षेप में, यह निराण्य ही विद्वानों को मान्य रहा है कि प्रसिद्ध कवि केशवदास बिहारी के पिता नहीं थे, अपितु जो कोई व्यक्ति इनके पिता थे उनका नाम केशवराय था और वे भी कविता करते थे।

बिहारी का जन्मसंवत् १६५२ स्थिर किया जाना है। श्रीजगन्नाथदाम रत्नाकर ने निम्नलिखित दोहा इसके समर्थन में प्रस्तुत किया है

सवत् जुग सर रस सहित, भूमि रीति जिन्ह लीन ।

कातिक सुधि बुधि अष्टमी, जन्म हमहि बिधि दीन्ह ॥

इस दोहे को पढ़ने से ऐसा विदित होता है जैसे बिहारी ने इसे स्वयं लिखा हो, किंतु यह बिहारीरचित दोहा नहीं है। किसी अन्य व्यक्ति ने इसकी रचना की है। इसमें जो तिथि और दिन बताए गए हैं, वे ज्योतिष के हिमाब से ठीक नहीं बैठते। फिर भी, सवत्-वाला उल्लेख ठीक ही है।

बिहारी धौम्य गोव्रीय सोती घरवारी माथुर चौबे थे। इनके एक भाई और एक बहन का होना बताया जाता है। इनके पिता बिहारी को आठ वर्ष की आयु में लेकर ग्वालियर छोड़ ओड़छा चले गए और वहाँ केशवदासजी से इन्होंने काव्यग्रंथों का अध्ययन किया। ओड़छा के समीप गुढौ ग्राम में निबार्क संप्रदाय के अनुयायी महात्मा नरहरिदासजी निवास करते थे। बिहारी के पिताजी इन्हो महात्मा के शिष्य थे। बिहारी ने इन्से संस्कृत, प्राकृत आदि का अध्ययन किया था।

सवत् १६६४ में इनके पिताजी ओड़छा छोड़कर वृदावन में आ बसे। वृदावन आने पर बिहारी ने साहित्य के साथ संगीत का भी अभ्यास किया। उन्ही समय इनका विवाह माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण परिवार में हुआ। विवाह के बाद वे अपनी ससुराल में ही रहने लगे। सवत् १६७५ में शाहजहाँ वृदावन आया और स्वामी हरिदासजी के स्थान का दर्शन करने के निमित्त विधुवन गया। वहाँ महात्मा नरहरिदासजी ने बिहारी की काव्यनिपुणता का बादशाह के समक्ष वर्णन किया जिसे सुनकर शाहजहाँ इन्हें अपने साथ आगरा लिवा ले गया। आगरा में इन्होंने फारसी की शायरी का अध्ययन किया। वहाँ इनकी अब्दुरहीम खानखाना से भेंट हुई। कहते हैं, खानखाना की प्रशंसा में बिहारी ने कुछ दोहे भी लिखे जिनसे प्रसन्न होकर रहीम ने इन्हें प्रभूत धन पुरस्कार में दिया।

आगरा प्रवास के समय ही सवत् १६७७ में शाहजहाँ ने पुत्र जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में भारत के अनेक राजाओं को आमंत्रित किया। बिहारी ने उस उत्सव में अपनी काव्यकला का चमत्कार प्रदर्शित किया जिसपर मुग्ध होकर राजाओं ने बिहारी की वार्त्तिक वृत्तिबाँध दो इसी बीच जहाँगीर और शाहजहाँ में मनमुटाव उत्पन्न होने पर बिहारी आगरा छोड़कर चले गए। ये जीविका के लिये राजाओं के यहाँ बँधी वृत्ति लेने इधर उधर जाते रहते थे। एक बार आमेर भी इसी सिलसिले में पधारे तो वहाँ उन्हें पता चला कि मिर्जा राजा जयसाह (जयसिंह) उन दिनों नवोढा रानी के साथ महलों में पड़े रहते हैं, राजकाज एकदम भूल गए हैं, किसी को महलों में आने की इजाजत नहीं है। प्रधान महारानी श्रीमती अनंद-कुमारी (चौहान रानी) इस घटना से बड़ी व्यग्र थी। ऐसे संकटकाल में बिहारी ने अपने काव्यकौशल से काम लिया और यह दोहा लिखकर किसी प्रकार राजा के पास तक पहुँचाने का प्रबंध किया :

नाहि पराग नाहि मधुर मधु, नाहि बिकास यहि काल ।

अली कली ही स्यो बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥

इस अन्योक्ति के द्वारा कवि ने राजा के प्रमाद को दूर करने में पूरी सफलता प्राप्त की । राजा को प्रबोध हुआ और मोहपाश से निकल बाहर आए । वे बिहारी की सूझ बूझ पर बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें बहुत सा धन पुरस्कार में दिया और यह भी कहा कि इसी प्रकार कविता बनाकर सुनाया करोगे तो प्रतिदिन एक मोहर पुरस्कार में मिला करेगी ।

इस घटना के बाद बिहारी का आभेर दरबार में राजकवि के रूप में समान होने लगा और उनका जीवन बड़े सुख में बीतने लगा । ऐसी भी जनश्रुति है कि बड़ी रानी के पुत्र रामसिंह का जन्म उसी समय हुआ था । जब कुँवर रामसिंह विद्याध्ययन के योग्य हुए तब बिहारी को ही उनका गुरु नियत किया गया । रामसिंह को नीति उपदेश देने के लिये बिहारी ने स्वरचित दोहे संकलित किए तथा अन्य कवियों के भी दोहे उस संग्रह में रखे ।

बिहारी की सतान के विषय में पूरी जानकारी नहीं है । सतसई के टीकाकार कृष्णलाल कवि को इनका पुत्र कहा जाता है । दूसरा मत यह भी है कि इन्होंने अपने भतीजे निरजन को अपना दत्तक पुत्र बना लिया था । बिहारी की मृत्यु किवदती के अनुसार ब्रज में होना प्रसिद्ध है किंतु इनका कोई ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है । सन् १७२० के आसपास ये परलोकवासी हुए ।

बिहारी की जीवन की प्रमुख घटनाओं पर ध्यान देने से विदित होता है कि उनका जीवन बुदेलखड, मथुरा, आगरा और जयपुर में व्यतीत हुआ । बचपन उन्होंने बुदेलखड में व्यतीत किया, अतः बचपन की भाषा का प्रभाव उनकी कविता पर अतः तक बना रहा । बुदेली भाषा के अनेक प्रयोग उनकी कविता में स्पष्ट दिखाई देते हैं । ओडछा दरबार में भी वे बचपन में गए थे । केशवदास और मधुकरशाह का सकेत इनके एक दोहों में प्राप्त होता है । केशव की कविप्रिया और रसिकप्रिया की छाप भी कहीं कहीं सतसई के दोहों पर पड़ी है । युवावस्था बिहारी ने ब्रज में व्यतीत की । नरहरिदास के सपर्क में संस्कृत साहित्य तथा संगीत का अभ्यास किया । इनके अनेक दोहों पर संस्कृत के रीतिग्रंथों की गहरी छाप इस तथ्य का समर्थन करते हैं । शाहजहाँ के साथ आगराप्रवास में फारसी की शायरी और राजदरबारों के जीवन की भाँकी का बिहारी ने जो परिचय प्राप्त किया था, उसे भी उनके दोहों में देखा जा सकता है । जयपुर राज्य में रहकर उन्होंने जीवन के विलास-परायण दृश्य देखे थे, राजपूती शान और उत्थानपतन देखा था । यह सब बिहारी ने अपने दोहों में पूरी तरह अंकित किया है । बिहारी का काव्य तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों के अध्ययन की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है । मुगलकालीन उत्तर भारत की सामाजिक दशा का जैसा चित्रण बिहारी सतसई में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । बिहारी ने एक ओर साहित्यिक रीतिपरंपरा की स्वच्छंद शैली का निर्वाह किया है तो दूसरी ओर उन्होंने काव्य के माध्यम से तत्कालीन जातीय जीवन का चित्रण अंकित करने में भी कौशल दिखाया है ।

(२) बिहारीसतसई—बिहारीरचित ग्रंथ केवल सतसई ही उपलब्ध है । विद्वानों का अनुमान है कि सात सौ दोहों के अतिरिक्त भी बिहारी ने कुछ लिखा होगा । इन दोहों में जैसा प्रौढ अर्थगौरव मिलता है वैसा केवल सात सौ दोहों लिखने से नहीं आ सकता । अतः यह अनुमान युक्तिसंगत है कि उनकी अन्य रचनाएँ संकलित न होने के कारण नष्ट हो गईं । सतसई नाम से जो मूलग्रंथ उपलब्ध है उसके अनेक पाठभेद हैं । श्रीजगन्नाथ-

दास रत्नाकर ने बिहारीरत्नाकर, नामक ग्रंथ में पाठशोधपूर्वक ७१३ दोहे सकलित किए हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न प्रतियों और टीकाओं में १४० दोहे और हैं। इनमें से कितने बिहारीरचित हैं और कितने परवर्ती कवियों या टीकाकारों ने बिहारी के नाम से स्वयं बनाकर हस्तलिखित प्रतियों में ठूस दिए हैं, यह नहीं कहा जा सकता। कुछ दोहे तो पाठभेद के सूक्ष्म परिवर्तन से ही भिन्न हो गए हैं अन्यथा उनका मूल रूप बिहारी सतसई में मिल जाता है।

रीतिकालीन शृंगार रस के मुक्तक ग्रंथों में बिहारी सतसई से अधिक प्रचार और किसी ग्रंथ का नहीं हुआ। सात सौ दोहों के आधार पर इतनी ख्याति अर्जित करनेवाला दूसरा कोई और कवि हिंदी साहित्य में नहीं है। बिहारीसतसई यद्यपि रीतिबद्ध लक्षण-ग्रंथ नहीं है, तथापि रीतिपरंपरा का ज्ञानार्जन करने के लिये जितना उपयोग इस ग्रंथ का हुआ उतना रीतिग्रंथों का भी नहीं हुआ। सतसई की हिंदी, संस्कृत, फारसी, गुजराती, उर्दू आदि अनेक भाषाओं में जितनी टीकाएँ लिखी गईं उतनी किसी और काव्यग्रंथ की नहीं लिखी गईं। लगभग ५० से ऊपर टीकाओं का उल्लेख हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में मिलता है। इन टीकाओं का क्रम बिहारी के समय से ही प्रारंभ हो गया था। बिहारी के प्रथम टीकाकार कृष्ण कवि उनके पुत्र कहे जाते हैं। रत्नाकरजी ने भी कृष्ण कवि को बिहारी का पुत्र ही माना है। इस टीका में रचनाकाल सवत् १७१६ दिया हुआ है किंतु शोध से इसका निर्माणकाल १७८० के आसपास स्थिर होता है। श्रीरत्नाकर (जगन्नाथ-दास) जी ने सतसई सबंधी टीकाओं पर विस्तार से विचार किया है। उसी के आधार पर हम यहाँ संक्षेप में सतसई के टीकासाहित्य का परिचय प्रस्तुत करते हैं। टीका लिखने के लिये टीकाकारों ने गद्य का माध्यम ही स्वीकृत नहीं किया वरन् पद्यात्मक टीकाएँ भी प्रचुर मात्रा में लिखी गई हैं। दोहा, सबैया, कवित्त, कुडलिया आदि छंदों में अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं।

प्रथम टीका कृष्णलाल कवि कृत है, इसकी भाषा जयपुरी मिश्रित ब्रज है।

दूसरी टीका विजयगढ़ के मान कवि (मानसिंह) की है। इसकी प्रतिलिपि सवत् १७७२ की है। तीसरी प्रमुख एवं प्रसिद्ध टीका दो कवियों के संयुक्त प्रयत्न से तैयार हुई है। शुभकरण और कमलनयन नामक दो कवि इसके कर्ता हैं। टीका का नाम है अनवरचंद्रिका। सवत् १७७१ में यह लिखी गई। दिल्ली के किसी सामंत अनवर खाँ को सतसई का मर्म समझाने के उद्देश्य से यह टीका तैयार हुई थी। इस टीका में रस, अलंकार, ध्वनि आदि काव्यांगों का भी विवेचन किया गया है। पन्ना के कर्ण कवि ने सवत् १७६४ में साहित्यचंद्रिका नाम से अर्थविस्तार के लिये सतसई पर टीका लिखी। इसमें भी ध्वनि सबंधी प्रश्न पर विचार किया गया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि बिहारी के ध्वनिवादी होने का संकेत इन टीकाओं में उपलब्ध है। सवत् १७६४ में ही सुरति मिश्र ने सतसई पर अमरचंद्रिका नाम की टीका लिखी। टीका का प्रणयन दोहों में हुआ है। अलंकारों का निरूपण इसमें प्रमुख है। सवत् १८३४ में हरिचरणदास ने हरि-प्रकाश नामक टीका लिखी। यह टीका प्रकाशित भी हो चुकी है। स० १८६१ में असनी के ठाकुर कवि ने अपने आश्रयदाता काशीनिवासी देवकीनंदन सिंह के प्रीत्यर्थ देवकीनंदन टीका लिखी। जिसमें प्रश्नोत्तर द्वारा गूढार्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। काशी के प्रसिद्ध सरदार कवि की टीका का अनेक ग्रंथों में उल्लेख मिलता है। किंतु वह आज उपलब्ध नहीं है। गुजरात के श्रीरंगछोड जी दीवान ने स० १८६०-७० के समीप अपनी टीका लिखी थी।

इन टीकाओं के बाद आधुनिक काल में भी टीकाओं की परंपरा निरंतर चलती रही। लल्लूलाल ने लालचंद्रिका नाम से एक टीका लिखी जो बाद में ग्रियर्सन महोदय

संबन्धी लक्षणग्रन्थ नहीं लिखा। सतसई उनका लक्ष्यग्रन्थ है। इस लक्ष्यग्रन्थ के पर्यवेक्षण से ही उनकी शास्त्रीय दृष्टि का बोध हो सकता है। जैसा हमने पहले भी लिखा है, बिहारी ने रीतिकाव्यों का विधिवत् परिशीलन करके सतसई का निर्माण किया था, अतः लक्ष्यग्रन्थ होने पर भी कवि के अतर्मेन में लक्षणों के अनुरूप दोहे रचने की भावना सतत बनी रही है। दूसरे शब्दों में यह कहना भी अयुक्त न होगा कि लक्षणों के अनुरूप लक्ष्य प्रस्तुत करना ही सतसई का ध्येय था। जिस काल में बिहारी ने सतसई लिखी वह संस्कृत और हिंदी काव्यसाहित्य में लक्षणग्रन्थों के उत्कर्ष का समय था। हिंदी में तो कृपाराम, केशव, चिंतामणि आदि लक्षणग्रन्थकार हो चुके थे और संस्कृत की विशाल परंपरा के अंतिम रससिद्ध कवि और आचार्य पंडितराज जगन्नाथ भी उसी समय में शास्त्र लिखने में व्यस्त थे। पंडितराज जगन्नाथ से बिहारी का व्यक्तिगत परिचय था अतः उनसे भी रीतिबद्ध काव्यरचना की दिशा में बिहारी ने अवश्य प्रेरणा ग्रहण की होगी। बिहारीसतसई का समस्त रचनाविधान रीतिमुक्त न होकर आद्योपात् रीतिबद्ध है—रीति की आत्मा ग्रन्थ में इस तरह अनुस्यूत है कि बिहारी को रीतिकवियों में प्रमुख स्थान मिला है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसी आधार पर बिहारी को प्रमुख रीतिकवियों में रखा है।

बिहारी का काव्यशास्त्र विषयक दृष्टिकोण समझने के लिये संस्कृत के सुप्रसिद्ध अलंकार, रस और ध्वनि संप्रदायों को ध्यान में रखना होगा और इन्हीं के आधार पर बिहारी के दोहों में उपलब्ध शास्त्रीय संकेतों की परीक्षा करनी होगी।

अलंकार संप्रदाय का प्रारंभ संस्कृत साहित्य में व्यापक अर्थ में हुआ परंतु परवर्ती काल में अलंकार का क्षेत्र सीमित होता गया और रस तथा ध्वनि विषयक तत्वों को अलंकार से पृथक् करके देखा जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि अलंकार का काव्य में वही स्थान रह गया जो शरीर के भूषण कटक, कुंडल आदि का है। इसी कारण मम्मट ने अलंकारों को काव्य का अनिवार्य तत्व नहीं माना। अलंकारों की दृष्टि से बिहारी-सतसई पर विचार करे तो यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि बिहारी जैसे काव्यशिल्पी कवि की कविता निरलंकृत नहीं हो सकती किंतु अलंकारों का वर्णन उनका प्रधान ध्येय न होने से उसमें सभी प्रमुख अलंकारों का भेदप्रभेदपूर्वक वर्णन नहीं मिलता। अलंकारों के संबंध में उन्होंने अपना शास्त्रीय मत भी सतसई में स्पष्ट व्यक्त किया है

करत मलिन आछी छबिहि हरत जु सहज बिकास ।

अंगराग अंगनु लगै, ज्यो आरसी उसास ॥

स्वाभाविक सौंदर्य को ऊपर से लादे हुए प्रसाधनों से कभी कभी गहरी ठेस पहुँचती है। आभूषण सहज भूषण न रहकर अरुचिकर भी प्रतीत होने लगते हैं

पहिरि न भूषण कनक के, कहि आवत इहि हेत ।

दर्पण कैसे मोरचे, देह दिखाई देत ॥

अलंकार का प्रयोजन यही है कि वह प्रतीयमान अर्थ में सौंदर्य का आधान करे। यदि अलंकार अर्थसौष्ठव या अर्थगौरव के सहायक नहीं होने तो उनकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है।

जीवित परत समान दुति, कनक कनक से गात ।

भूषण कर कर कस लगत, परसि पिछाने जात ॥

उपर्युक्त दोहों से कवि का आशय स्पष्ट है कि वह अलंकारों को वही तक उपयोगी मानता है जहाँतक वे प्रतीयमान अर्थ (रसध्वनि) में विशेषता संपादन करते हैं।

अलंकारवादियों के समान ऊपर से लादे हुए अलंकार व्यर्थ हैं। अतः बिहारी का दृष्टि-कोण अलंकार संप्रदाय के मेल में नहीं बैठता और वे इस संप्रदाय के बाहर हो जाते हैं।

बिहारी को रसवादी स्वीकार करनेवाले विद्वान् सतसई के दोहो में रसयोजना पर विशेष बल देते हैं और सतसई के अंतिम दोहे में 'करी बिहारी सतसई, भरी अनेक 'सवाद' में 'सवाद' शब्द का 'रसास्वादन' अर्थ करके यह सिद्ध करना चाहते हैं कि बिहारी रसास्वादन कराने के निमित्त ही सतसई की रचना में लीन हुए थे। 'तत्तीनाद कवित् रस, सरस राग रति रंग' में भी 'रस' के प्राधान्य की ओर इंगित करके बिहारी को रस संप्रदाय के अंतर्गत रखने का प्रयत्न हुआ है। यदि रसध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर बिहारी के काव्य में रसध्वनि का प्रधान ही मुख्य माना जाय तो ध्वनि के माध्यम से बिहारी रस संप्रदाय का स्पर्श अवश्य करते हैं। परंतु रस उनका इष्ट माध्यम नहीं है। यदि उनके लक्ष्य (दोहो) की परीक्षा की जाय तो यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जायगा कि रस-ध्वनि के उदाहरणों की भरमार होने पर भी वे रस संप्रदाय के पोषक न होकर ध्वनि संप्रदाय के ही अनुगामी हैं। रसध्वनि, अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि को ग्रहण करके बिहारी ने साकेतित अर्थ को ही प्रधानता दी है अतः उनकी अभिरुचि ध्वनि संप्रदाय के प्रति ही है।

ध्वनि संप्रदाय के सिद्धांतों की कसौटी पर सतसई के दोहो को कसने से यह बात सिद्ध हो जाती है कि बिहारी के शृंगार विषयक दोहो में भी ध्वन्यात्मकता ही प्रधान है। अलंकार या रस का प्रतिपादन उनका अंतिम ध्येय नहीं है। ध्वनि के भेदों में अविवक्षित वाच्यध्वनि प्रथम है। अभिधेयार्थ जान लेने पर भी तात्पर्यानुपत्ति होने पर शब्द से सबद्ध जिस दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, वह लक्ष्यार्थ कहाता है। अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न प्रयोजन की प्रतीति व्यजना वृत्ति के आधार पर होती है। जब व्यजना वृत्ति से प्रतीति होनेवाले अर्थ में सौंदर्य का पर्यवसान हो तो उसे अविवक्षित वाच्यध्वनि के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके प्रमुख चार भेद हैं। बिहारी ने अविवक्षित वाच्यध्वनि के सभी भेदों के सुंदर उदाहरण सतसई में प्रस्तुत किए हैं :

होमति सुखकरि कामना, तुमहि मिलन की लाल ।

ज्वालामुखि सी जरति लखि, लगनि अगनि की ज्वाल ॥

इस दोहे में 'सुख का होमना' अपने वाच्यार्थ में बाधित है। लक्ष्यार्थ हुआ कि नायिका नायक के विरह में दुखी रहती है, उसका सुख समाप्त हो गया है, व्यंगार्थ हुआ कि नायिका के सुख उसी प्रकार भस्म हो गए हैं जैसे अग्नि में पड़ने पर आहुति भस्म हो जाती है। यहाँ शब्दगत अत्यंततिरस्कृत ध्वनि है। इस ध्वनि के पचासो उदाहरण सतसई में भरे पड़े हैं। बिहारी का प्रसिद्ध दोहा

तत्तीनाद कवित् रस, सरस राग रति रंग ।

अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग ॥

ध्वनि का बहुत सुंदर उदाहरण है। डूबना और तैरना जलाशय आदि में ही संभव है। कवित्तरस या तत्तीनाद जैसे अमूर्त तत्त्व में नहीं। अतः इनका अर्थ बाधित होकर रसास्वादन का बोध करता है। वाच्यार्थ में अत्यन्त तिरस्कृत होनेवाली ध्वनि बिहारी में अत्यधिक मात्रा में दृष्टिगत होती है :

बेसरि मोती धनि तुही, को पूछे कुल जाति ।

निधरक है पीबो करै, तीय अधर दिन राति ॥

यहाँ मानवगत गुण, कर्म, स्वभाव का अचेतन वस्तु (बेसरि मोती) के संबन्ध में बर्णन करके अत्यंततिरस्कृत वाच्यध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

ध्वनि का दूसरा प्रमुख भेद है विवक्षितान्तरपर वाच्यध्वनि । इसके रस, ध्वनि और अलंकार, तीन भेद होते हैं । सलक्ष्यक्रम और असलक्ष्यक्रम भेद में इनके अपार भेदों का शास्त्रों में परिगणन किया गया है । इस ध्वनिभेद का बिहारी ने पूर्ण चमत्कार के साथ प्रयोग किया है । ऊहात्मक शैली से नायिका की विरहजन्य दशा के वर्णन में यह ध्वनि अपने विविध भेदप्रभेद सतसई में छाई हुई है । नायिका की कायिक चेष्टाओं से नायक को अर्थबोध करानेवाला ध्वन्यात्मक दोहा देखिए

हरखिन बोली लखि ललनु, निरसि अभिलु संग साथ ।

आंखिन ही में हंसि धरचौ, सीस हिये धरि हाथ ॥

यहाँ नायिका की कायिक अभिव्यक्तियों में गूढाशय का संकेत है । आँखों में हँसकर व्यक्त किया गया है कि तुम्हारे दर्शन से मुझे हर्ष हुआ । हृदय पर हाथ रखने से प्रकट किया कि तुम मेरे हृदय में आसीन हो । सिर पर हाथ रखने का अभिप्राय है कि मुझे तुम्हारी कामना शिरोधार्य है किंतु उसकी पूर्ति भाग्याधीन है । इन आगिक चेष्टाओं में ध्वनिमूलक व्यञ्जनाही रसबोध कराती है । जबतक ध्वन्यात्मक आशय समझ में नहीं आएगा, रसप्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठता ।

असलक्ष्यक्रम व्यंग्य या रसध्वनि की दृष्टि से भी बिहारीसतसई की सफलता असंदिग्ध है । ध्वनि के जितने प्रौढ़, परिष्कृत और प्राजल उदाहरण बिहारी के काव्य में हैं हिंदी के किसी अन्य कवि में नहीं हैं । यथार्थ में बिहारी का काव्य मूलतः ध्वनिकाव्य ही है ।

(४) नायिकाभेद—बिहारीसतसई के अधिकांश टीकाकारों ने सतसई को नायिकाभेद का ही ग्रंथ ठहराया है । नायिकाओं के वर्गीकृत रूप भी सतसई में स्थिर किए गए हैं और लक्षणग्रंथ के अभाव में भी उसे लक्षणपरक सिद्ध करने की चेष्टा हुई है । इसमें कोई संदेह नहीं कि बिहारी ने नायिकाभेद को समझकर सतसई की रचना की थी, किंतु नायिकाभेद का ग्रंथ सतसई नहीं है ।

बिहारी ने नायिकाभेद का अंतरंग रहस्य खूब समझकर अपने दोहों में उसका चित्रण किया । स्वकीया के प्रेम का वर्णन, उसके रूप, गुण, शील, स्वभाव आदि के वर्णन में बिहारी ने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है । यौवन की उद्दाम प्रवृत्तियों से प्रेरित प्रेमी युवक की चित्तवृत्ति स्वकीया प्रेम में किस प्रकार आबद्ध हो जाती है और लोक परलोक से विमुख होकर कैसे वह विलासलीलारत हो जाता है, यह देखना हो तो बिहारी के स्वकीया मुग्धा नायिका के प्रेम का वर्णन पढ़ना चाहिए ।

शास्त्र में परकीया नायिका के कन्या और परोढा दो भेद माने गए हैं । बिहारी ने दोनों रूपों का वर्णन किया है । कन्याप्रेम का वर्णन निम्नलिखित दोहे में देखा जा सकता है :

दोऊ चोर मिहीचिनी, खेलुन खेलि अघात ।

दुस्त हियै लपटाइकै, छुवत हियै लपटात ॥

वयक्रम आदि के भेद से ज्येष्ठा, कनिष्ठा, अवस्थाभेद से स्वाधीनपतिका, खडिता, अभिसारिका आदि आठ भेदों का पूर्ण वर्णन बिहारी ने किया है । दशा (चित्तवृत्ति) भेद से अन्यसंभोगदुःखिता, गर्विता, मानवती का भी वर्णन सतसई में है । नायिका की सहायक सखी, दूती आदि का भी बिहारी ने वर्णन किया है । दूती के व्यापक कार्यक्षेत्र और कठिन कार्य को सामने रखकर बिहारी ने उसका मनोवैज्ञानिक वर्णन करने में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है ।

नायिकाभेद के साथ नायकभेद वर्णन का भी परंपरा से निर्वाह होता चला जा रहा है, यद्यपि नायक के नायिकाओं की तरह अनेक भेद नहीं किए गए। चार भेदों में ही नायक को सीमित कर दिया गया है। बिहारी ने विरुद्ध, अनुकूल, शठ और धूत नायको का चित्रण अपने काव्य में किया है।

नायिकाभेद के अंतर्गत नायिकाओं के अलंकार, नखशिख, लीलाविलास, ऋतु-वर्णन, बारहमासा आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। शृंगार का आलंबन होने के कारण नायिकाभेद का सविस्तार वर्णन बिहारी के लिये अनिवार्य था।

(५) भावपक्ष—बिहारी के काव्य की आत्मा शृंगार है। शृंगार की व्यञ्जना ध्वनि के माध्यम से हुई है। शृंगारवर्णन के लिये सयोग तथा विप्रलम्भ दोनों पक्ष बिहारी ने स्वीकार किए हैं। सयोगपक्ष के चित्रण में बिहारी ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं का प्रयोग कर सयोग को आनंद की चरम स्थिति पर पहुँचा दिया है। निम्नांकित उदाहरणों में बिहारी का यह कौशल देखा जा सकता है

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय ।
सौह करै, भौहँनि हँसे, दैन कहै, नटि जाय ॥
उड़ति गुड़ी लखि लाल की, अँगना अँगना माँह ।
तौ लौँ दोरी फिरत है, छुवति छबीली छाँह ॥
प्रीतम दृग मीचत प्रिया, पानिपरस सुख पाय ।
जानि पिछानि अजान लौँ, नेक न होत लखाय ॥

मार्मिक उक्तिव्यञ्जक दोहा देखिए

बाल कहा लाली भई, लोचन कोयन माँह ।
लाल तिहारे दृगन की, परो दृगन में छाँह ॥

विरहवर्णन में तो ऊहात्मक शैली के आतिशय ने बिहारी की विरह व्यञ्जनाओं को कही कही औचित्य की सीमा से बाहर कर दिया है। विरहसतप्त नायिका की दशा देखिए .

इत आवति चलि जाति उत, चली छ सात रु हाथ ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासन साथ ॥
सीरै जतवन सिसिर ऋतु, सहि बिरहिन तन ताप ।
बसिबै को शीषम दिनन, परचो परोसिन पाप ॥

कही कही स्वाभाविक रूप से भी विरहताप से कृश नायिका का वर्णन बिहारी ने किया है

करके मोड़ै कुसुम लौँ, गई बिरह कुम्हलाय ।
सदा समीपनि सखिन हूँ, नीठि पिछानी जाय ॥

बिहारी रीतिपरंपरा का निर्वाह करने का ध्यान रखते थे, अतः परंपरास्वीकृत गूढ़शय को अतर्जन में रखकर उसी पृष्ठभूमि पर दोहा रचा गया है। जबतक परंपरा का पूरा बोध न हो, दोहे का अर्थ अवगत नहीं हो सकता :

ढीठि परोसिन ईठ हूँ, कहै जु गहे समान ।
सबै सँदेसे कहि कह्यो, मुसकाहट में मान ॥

घृष्ट पडोसिन के संदेश को नायक तथा पहुँचानेवाली नायिका का मानवर्णन रीतिपरंपरा की शृंखला से अवगत हुए बिना नहीं समझा जा सकता ।

बिहारी की रीतिपरंपरा का इतना गहरा प्रभाव था कि प्रेम की सहज व्यंजना करनेवाले अकृत्रिम भावों को भी उन्होंने ऊहा और अतिशयोक्ति से आवृत कर दिया है। प्रेम का स्वाभाविक रूप ऊहात्मक शैली में सामने नहीं आने पाया।

शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य भावों को भी बिहारी ने अपनाया है। यो तो संचारियों तथा सात्विक भावों की दृष्टि से प्रायः सभी के उदाहरण मिल सकते हैं, किंतु यहाँ प्रमुख भावों की ओर ही संकेत करना पर्याप्त होगा।

बिहारी भक्त नहीं थे। भक्तिभाव का उनके जीवन से रसात्मक तादात्म्य रहा हो, इसमें भी संदेह है, किंतु निर्वेद और शम का वर्णन सतसई में उन्होंने किया है। भक्ति को सामान्य रूप में ही बिहारी ने स्वीकार किया है, किसी दार्शनिक मतवाद या सांप्रदायिक आधार पर ग्रहण नहीं किया। बिहारी जैसे सासारिक कवि के काव्य को सांप्रदायिक दृष्टि से किसी मतवाद में बाँधना कवि के साथ अन्याय करना है। बिहारी तत्वज्ञानी या दार्शनिक न होने पर भी तत्व ज्ञान की बात कह सकते हैं। उसी तत्वज्ञान में निर्वेद समाया रहता है

भजन कह्यौ ताते भज्यो, भज्यो न एकहु बार।

दूरि भजन जाते कह्यो, सो तैं भज्यो गंवार ॥

वैराग्य भावना का द्योतक, स्त्री रूप के आकर्षण से दूर हटानेवाला बिहारी का प्रसिद्ध दोहा है

या भव पारावार को, उलँघि पार को जाय।

तिय छबि छाया ग्राहिनी, गहै बीच ही आय ॥

भगवन्नामस्मरण के लिये सुंदर उक्ति देखिए

दीरघ सॉस न लेहि दुख, सुख साईं नहि भूलि।

बई बई क्यो करत है, बई बई सु कबूलि ॥

दैन्यवर्णन देखिए

हरि कीजति तुमसो यहै, बिनती बार हजार।

जेहि तेहि भाँति डरचौ रह्यौ परचौ रह्यौ दरबार।

बिहारी की अन्योक्तियों और सूक्तियों में जीवन के अनुभूत सत्यो का बड़ी सजीव भाषा में वर्णन हुआ है। कवि ने अन्योक्ति के व्याज से एक ओर कृपणा, मूर्ख, अविवेकी, स्वार्थी, कपटी, दभी व्यक्तियों को प्रबोधा है तो दूसरी ओर विद्वान्, धैर्यशील, चतुर, प्रेमी, दुर्भाग्यपीडित व्यक्तियों को समझाकर शांत रहने का उपदेश दिया है। बिहारी की अन्योक्तियाँ हिंदी साहित्य में सबसे अधिक टकसाली रही हैं। उनकी मार्मिकता काव्यत्व के कारण बढ गई है, वे भावव्यंजक होने के साथ गहरा प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हैं।

(६) अलंकारयोजना—बिहारीसतसई के सबंध में प्रारंभ में यह भ्रम टीकाकारों द्वारा उत्पन्न किया गया कि सतसई अलंकारनिरूपक रीतिग्रन्थ है। प्रत्येक दोहे की टीका में अलंकार का विवेचन किया गया। यथार्थ में बिहारी अलंकारवादी नहीं थे किंतु उन्होंने स्वच्छंद रूप में (रीतिबद्ध ग्रन्थ रूप में नहीं) अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग किया है। उनके प्रत्येक दोहे में उक्तिवैचित्र्य के चमत्कार के साथ अलंकार की सुंदर योजना हुई है। चमत्कारविधान के लिये कही अलंकार का सहारा लिया गया है तो कही अलंकार को ही चमत्कार के भीतर समाविष्ट कर लिया गया है। कही कही एक ही दोहे में अलंकारों की ससृष्टि और सकर ने सौंदर्यविधान करने में अनुपम निपुणता का परिचय दिया है। असंगति और विरोधाभास की उक्ति देखिए :

दृग उरभूत दूत कुटुंब, जुरत चतुर चित्त प्रीति ।
परति गाँठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति ॥

समासोक्ति अलंकार के उदाहरण द्रष्टव्य है :

सरस कुसुम मँडरातु अलि, न झुकि झपटि लपटातु ।
दरसत अति सुकुमार तनु, परसत मन पत्यातु ॥

कोमलांगी नायिका पर आसक्त किमी नायक की यह व्यंजना भ्रमर के माध्यम से अर्थप्रतीति कराने में समर्थ है ।

सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि का प्रयोग अत्यधिक है । रूपक बिहारी का प्रिय अलंकार है

अरुण सरोरुह कर चरण, दृग खंजन मुख चंद ।
समय पाय सुदर सरद, काहि न करत अनंद ॥

अपह्नुति—

जोन्ह नही यह तमु वहै, किए जु जगत निकेतु ।
उदै होत ससि कै भयो, मानहुँ ससहरि सेतु ॥

बिहारी ने लक्ष्य द्वारा ही अलंकार का स्वरूप स्पष्ट किया है, किंतु इतने सुंदर और सटीक उदाहरण कम ही मिलते हैं ।

(७) सूक्ति काव्य—बिहारी के काव्य में सूक्तियों को भी स्थान मिला है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल सूक्ति को विशुद्ध काव्य से पृथक् मानते हैं । सूक्तियों में वर्णन-वैचित्र्य या शब्दवैचित्र्य ही नहीं है, उनमें काव्य के सभी आवश्यक उपादान हैं और इसी कारण उनका मार्मिक प्रभाव भी होता है । बिहारी की सूक्तियों को हम धार्मिक (वैराग्य-परक), आर्थिक, लौकिक (लोक-व्यवहार-परक), शृंगारिक (कामपरक) और प्रशस्ति-परक, इन पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं ।

बिहारी शृंगारी कवि थे । उनकी कविता की मूल प्रवृत्ति शृंगारी मुक्तक परंपरा के आदर्श पर प्रकृत प्रेम के चित्र अंकित करना था । किंतु मुक्तक काव्य के क्षेत्र में आनेवाले सभी विषयों पर उन्होंने आनुषंगिक रूप से रचना की है । बिहारी ने मुक्तक काव्य की परंपरा को सर्वतोभावेन ग्रहण किया था । अतः उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व करने के लिये सूक्ति काव्य को भी स्वीकार किया । मुक्तक काव्य में रसात्मक मुक्तक के साथ धर्म, नीति, अर्थ, काम, प्रशस्ति आदि की जो परंपरा चल रही थी, बिहारी ने उसकी उपेक्षा नहीं की । धार्मिक सूक्तियों में वैराग्य तथा ईश्वरभक्ति के उपदेश की प्रधानता है । आर्थिक सूक्तियों में संपत्ति के चंचल स्वरूप का बोध है तथा कृपण और स्वार्थी धनलोलुप व्यक्तियों के स्वभाव की भाँकी भी मिलती है । लोकव्यवहार को दृष्टि में रखकर बिहारी ने जो सूक्तियाँ लिखी हैं, उनका आधार अनुभव है जो सभी दृष्टियों से आदर्श है । सूक्तियों में तथ्योक्तियाँ भी हैं और अन्योक्तियाँ भी । बिहारी की प्रशस्तिपरक सूक्तियों में अधिक निखार नहीं है । कदाचित् कवि का हृदय इनमें रम नहीं पाया । जयसिंह की प्रशस्तियों में वस्तुवर्णन मात्र है, काव्यत्व नहीं । दम और डोंग के प्रति बिहारी ने कोमल वाणी में अनास्था व्यक्त की है । यह धार्मिक सूक्ति के अंतर्गत है ।

जपमाला छापा तिलक, सरें न एकौ काम ।

मन काँचे नाचै बूथा, सँचे राँचै राम ॥

आर्थिक सूक्ति—

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय ।

इहि जाय बौराम जग, इहि पायहि बौराम ॥

लौकिक—

नर की अरु नल नीर की, गति एकं करि जोय ।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊंचो होय ॥
मरन प्यास पिजरा परचो, सुआ समै के फेर ।
आदर दै दै बोलियत, बायस बलि की बेर ॥

(८) बिहारी की भाषा—बिहारी ने रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त भाषा का प्रयोग करके रीतिकालीन कवियों में भाषाविषयक व्यवस्था का सूत्रपात किया था । उनसे पहले किसी कवि की भाषा में ऐसा परिमार्जन दृष्टिगत नहीं होता । कारण यह है कि पहले के कवि एक ही शब्द को एक ही विभक्ति में अनेक रूपों में लिखने में कोई दोष नहीं मानते थे । अत्यानुप्रास के लिये शब्द को यथारुचि ह्रस्व या दीर्घ कर लेना तो जैसे विधेय मान लिया गया था । बिहारी ने सबसे पहले शब्दों की एकरूपता और प्राजलता पर ध्यान दिया । इसके फलस्वरूप परवर्ती कवियों की भाषा में परिष्कार का मार्ग प्रशस्त हो सका ।

बिहारीसतसई की भाषा ब्रज है । ब्रजभाषा का काव्यक्षेत्र बहुत विस्तृत रहा है । ब्रज प्रदेश के अतिरिक्त राजपूताना, बुंदेलखंड, अवध, मध्यभारत, बिहार, गुजरात और महाराष्ट्र तक इस भाषा का काव्यभाषा के रूप में प्रचार था । ब्रजभाषा में पांडित्य प्राप्त करने के लिये ब्रज में निवास आवश्यक नहीं था । बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ, अतः बुंदेलखंडी भाषा के जन्मजात सस्कार उनके पास थे । यौवन मथुरा में व्यतीत हुआ । फलतः ब्रजभाषा में साक्षात् सबध होने के कारण उनका ध्यान काव्यरचना करते समय भाषा की मूल प्रकृति की ओर बना रहा और उन वृत्तियों से वे बच रहे जो अवध या बुंदेलखंड के कवि प्रायः करते थे । शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग करनेवाले बहुत कम कवि हुए हैं । बिहारी की भाषा को हम अपेक्षाकृत शुद्ध ब्रजभाषा कह सकते हैं—साहित्यिक ब्रजभाषा का रूप इनकी ही भाषा में सबसे पहले इतने निखार को प्राप्त हुआ । इनके बाद घनानंद और पद्माकर ने उसे और अधिक परिष्कृत किया । बिहारी की भाषा में बुंदेलखंडी और पूर्वी का प्रभाव है, घनानंद पूर्वी प्रभाव से मुक्त है । बिहारी ने पूर्वी के प्रयोग कहीं तुक के आग्रह से और कहीं प्रयोगबाहुल्य के कारण स्वीकार किए हैं । किंतु बुंदेली के प्रयोग तो सहज रूप में शैशव के अभ्यास के कारण आए हैं । सग या साथ के लिये 'स्यौ', लखबी, करबी, पायबी आदि ऐसे ही शब्द हैं ।

बिहारी की भाषा के शब्दकोश का आनुपातिक विवरण तैयार किया जाय तो सबसे अधिक सख्या संस्कृत के तत्सम परिनिष्ठित शब्दों की होगी । बिहारी समासपद्धति में संस्कृत पदावली के कारण ही सफल हुए हैं । संस्कृत के अतिरिक्त अरबी, फारसी के इजाफा, ताफता, बिलनबी, कुतुबनुमा, रोज इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है ।

बिहारी ने भाषा को प्रवाहपूर्ण तथा प्रेषणीय बनाने के लिये लोकोक्ति एवं मुहावरों का भी प्रयोग किया है । एक ही दोहे में मुहावरों की बदिश देखिए

मड़ चढ़ाए ऊ रहै, परचो पीठि कचमार ।
रहै गरे परि, राखियै तऊ हियै पर हार ॥
चलते हुए मुहावरों का प्रयोग द्रष्टव्य है
खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि ।
आक कलीन रली करै, अली अली जिय जानि ॥
कहि पठई मनभावती, पिय आवन की बात ।
फूली अंगन सू फिरै, अंगु न आगु समात ॥

भाषा की रमणीयता का बिहारी ने अत्यधिक ध्यान रखा है। माधुर्य गुण के अनुरूप वृत्तियों का विन्यास, शब्दों का चयन, अनुप्रास का विधान बिहारीसतसई की विशेषता है। शब्दों की विकृति से भी बिहारी ने अर्थ की रमणीयता पर आघात नहीं आने दिया है। शब्दसौंदर्य अपनी सीमाओं में रहता हुआ अर्थसौंदर्य को दीप्त करे तभी प्रयोग की सफलता समझी जाती है। एक दोहा देखिए

रनित भृग घंटावली, झरित दान मद नीर ।

मंद मंद आवत चल्थौ, कुजर कुंज समीर ॥

वायु के संचरित होने की ध्वनि कुजर के आगमन के समान प्रतीत हो रही है। दूसरा उदाहरण है

रस सिंगार मंजन किए, कंजनु मंजनु दें ।

अंजन रंजन हूँ बिना, खंजन गंजन नैन ॥

माधुर्य की प्रतीति प्रत्येक शब्द से पृथक् पृथक् भी होती है और समूचे अर्थ में भी रमणीयता भरी हुई है। वर्राँ का यथोचित प्रयोग करने में बिहारी सिद्धहस्त है :

झीने पट में झिलमिली, झलकति ओप अपार ।

सुरतर्ष की मनु सिंधु में, लसति सपल्लव डार ॥

भाषा के प्रसाधन के लिये यमक, अनुप्रास, वीप्सा आदि शब्दालंकारों का कवि-गण प्रयोग करते हैं। शब्दालंकार केवल शब्दों के चमत्कार के लिये ही नहीं, अर्थ की रमणीयता के लिये भी होते हैं, यह बिहारी के काव्य से विदित होता है। पद्माकर आदि ने तो अनुप्रास के मोह में पड़कर काव्यहानि तक कर ली है, किंतु बिहारी इस दोष से सर्वथा दूर है। अनुप्रास का उदाहरण देखिए •

नभलाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन ।

रति पाली आली अनत, आए वनमाली न ।

अनुप्रास के लिये एक साथ छह शब्दों का आडंबर होने पर भी नायिका की बिरहवेदना की विकृति में कोई बाधा नहीं पहुँचती। यमक का उदाहरण देखिए •

तोपर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान ।

तू मोहन के उर बसी, हूँ उरबसी समान ॥

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने बिहारी की भाषा पर टिप्पणी करते हुए लिखा है : 'बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्यरचना व्यवस्थित है और वाक्यों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़ मरोड़कर विकृत करने की आदत बहुते में पाई जाती है। बिहारी की भाषा इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है।'।

बिहारी ने शब्दों को तोड़ा मरोड़ा अवश्य है, किंतु छंदोनुरोध से या ब्रजभाषा की सहज प्रकृति के अनुरोध से ऐसा किया है। 'स्मर' के लिये 'समर', 'ज्यो ज्यो' के लिये 'जज्यो' और 'त्यो त्यो' के लिये 'तत्यो', 'कै कै' स्थान पर 'क कै' आदि प्रयोग मिलते हैं जो उचित नहीं हैं किंतु सात सौ दोहों में दस प्रांच शब्दों के कारण भाषा पर दोषारोपण ठीक नहीं है।

बिहारी ने सर्वोत्तम पद्धति स्वीकार करके ब्रजभाषा को जैसा परिष्कृत रूप दिया वह व्याकरण की दृष्टि से सुयुक्त है। मुहावरों का प्रयोग प्रेक्षणीय और समर्थ पदावली के समन्वय से अभिन्न बन गया है। भाषा पर सच्चा अधिकार रखनेवाला कवि ही ऐसी प्रौढ़, प्राज्ञ भाषा का प्रयोग कर सकता है।

(६) **मूल्यांकन**—बिहारी के जीवनवृत्त, काव्य और कृतित्व पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि बिहारी नागरिकता और नागरिक जीवन के प्रबल समर्थक थे। उनके काव्य में आद्योपात्त नागरिक भावनाओं, कामनाओं और लालसों का वर्णन है। उनकी मान्यता थी कि गुणों का विकास सदा नागरिकों में ही होता है। अपनी अन्योक्तियों में इस बात का उन्होंने विविध रूपों में संकेत किया है। इसका कारण यह है कि उनका अधिकांश जीवन राजा महाराजाओं के निकट संपर्क में व्यतीत हुआ था। वे चाहते थे कि समाज में असंस्कृत या ग्राम्य जीवन न रहे। उन्होंने बार बार कहा है कि अपने वर्ग में ही रहना चाहिए और अपने वर्ग का अभ्युत्थान करना चाहिए। कुसंग का ज्वर भयानक होता है, अतः उससे बचना ही चाहिए। संपत्तिशाली व्यक्ति यदि कृपण हो तो वह नागरिकता से शून्य है और उससे सबंध न रखना ही ठीक है।

बिहारी ने अपनी जातीयता का परिचय सतसई में दिया है। राजा जयसिंह का मुगलों के साथ रहना बिहारी को कभी अच्छा नहीं लगता था। उन्होंने अन्योक्ति के माध्यम से जयसिंह को सचेत भी किया था। यही कारण है कि जयसिंह की प्रशंसा लिखने में उन्होंने अत्युक्ति से काम नहीं लिया। मुगलों के प्रति पक्षपात रखने से ही बिहारी अंतिम दिनों में उन्हें छोड़कर चले आए थे।

सतसईरचना में बिहारी का उद्देश्य कविशिक्षक बनना नहीं था। शृंगारभावना को काव्य के चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने की अभिलाषा से उन्होंने सतसई का प्रणयन किया और उसमें सफलता पाई। शास्त्रीय परंपरा और शृंगारमुक्तक परंपरा का सुंदर समन्वय सतसई में हुआ है। व्यंग्य, लाक्षणिक वक्रता, अलंकार, नायिकाभेद, नखशिख, षट्-ऋतु-वर्णन आदि सभी विषयों को स्वतंत्र रूप से बिहारी ने सतसई में स्थान दिया, किंतु लक्षण-ग्रंथ लिखने के पचड़े में वे नहीं पड़े। लक्ष्यग्रंथ के रूप में सतसई का निर्माण किया किंतु उसका प्रचार लक्षणग्रंथों एवं पाठ्यग्रंथों से कहीं अधिक हुआ। टीकाकारों ने तो बिहारी को शृंगार का अधिष्ठाता ही बना दिया है।

सतसई लिखने की परंपरा को हिंदी में बिहारी ने बद्धमूल किया। रसिक और कविगण सतसई को आराध्य ग्रंथ मानकर इसका अनुसरण और अनुकरण करने लगे। कुछ कवियों ने तो बिहारी के भाव और भाषा तक पर हाथ साफ किया और कविकीर्ति प्राप्त करनी चाही। मुक्तक रचना में जितनी विशेषताएँ सभाव्य हैं, वे सब बिहारीसतसई में उपलब्ध होती हैं। यही कारण है कि बिहारी के आगे किसी अन्य कवि का मुक्तक काव्य जँचता नहीं। हिंदी मुक्तकरचना में बिहारी का समासकौशल मूर्धन्य है।

रीतिबद्ध काव्यकवियों को शास्त्रकवियों की समता में समान दिलाने का कार्य बिहारी ने अपनी सतसई द्वारा किया। रीतिकाल में लक्षणग्रंथ रचने की परंपरा को छोड़कर स्वतंत्र मुक्तक द्वारा शास्त्रबोध कराने का मार्ग बिहारी ने ही उन्मुक्त किया।

हिंदी रीतिपरंपरा में बिहारी ध्वनि संप्रदाय के समर्थकों में प्रमुख है। तुलसी के रामचरितमानस के बाद सतसई अपनी रसात्मकता, कलात्मकता, लाक्षणिकता और वर्णनबद्धता के कारण रसिकों का सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ हुई। बिहारी अपने युग में रीतिशृंगार के क्षेत्र में युगप्रवर्तक के रूप में अवतरित हुए थे। बिहारी ने ध्वनिकाव्य को स्वीकारकर रस और अलंकार का पूर्ण निर्वाह करते हुए शृंगार को प्रत्येक परिष्कृत भूमि पर अवस्थित किया और रीतिबद्ध काव्यकवियों को आचार्यों के सामने गौरवपूर्ण स्थान दिलाया।

बिहारी के काव्य पर चाहे ध्वनिकाव्य की दृष्टि से विचार करें, चाहे रसपरिपाक

की दृष्टि से, चाहे बिहारी की अलंकारयोजना को लें, चाहे नायिकाभेद या नखशिख पर दृष्टिपात करें अथवा अन्योक्ति और सूक्ति का अवगाहन करे, बिहारी का काव्य सभी दृष्टियों से अनुपम प्रतीत होता है। बिहारी प्रतिभाशाली कवि थे, परंतु उन्होंने काव्याभ्यास के बाद ही कविता रचने की ओर ध्यान दिया था। इसी लिये उनके काव्य में शक्ति और निपुणता का चरम विकास संभव हुआ।

२. बेनी

बेनी नाम से हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में तीन कवियों का उल्लेख मिलता है। शिवसिंहसरोज में रायबरेली जिले के बेती गाँव के निवासी बेनी बदीजन का तथा लखनऊ निवासी बेनी प्रवीन का जन्म संवत् क्रमशः १८४४ तथा १८७६ लिखा है। बेती गाँव निवासी बेनी बदीजन का टिकैतरायप्रकाश अलंकार ग्रंथ बताया जाता है। रसविलास ग्रंथ भी इन्हीं का है। इसमें रसनिरूपण किया गया है। हास्य रस के भँडौवों के कारण इनकी पर्याप्त प्रसिद्धि है। बेनी प्रवीन भी लक्षणकार रीतिबद्ध कवि थे। शृंगारभूषण और नवरसतरंग के अतिरिक्त नानारावप्रकाश नामक विशाल अलंकार ग्रंथ भी आपका ही बनाया हुआ है। अतः बेनी नामक इन दोनों कवियों का इस प्रसंग में वर्णन नहीं किया जायगा।

बेनी कवि असनी के बदीजन थे और संवत् १७०० के आसपास विद्यमान थे। बेनी रचित कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। कुछ फुटकर कवित्त सबैए मिलते हैं जिनके आधार पर यह अनुमान होता है कि इन्होंने नखशिख और षट्कृतु विषयक शृंगारकाव्य लिखा होगा। इनकी रचि अनुप्रासमयी, ललित एवं प्रवाहपूर्ण भाषा लिखने की ओर थी। कुछ विद्वानों ने असनी के बेनी कवि को ही हास्यरसवाला ठहराया है, किंतु दोनों की काव्य-प्रवृत्तियों की छानबीन से विदित होता है कि असनीवाले बेनी कवि, जिनका हम विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं, हास्य रस के भँडौवा लिखनेवाले बेती के बेनी कवि से भिन्न है। हास्य रस की कविता के अध्ययन से भी विदित होता है कि यह अपेक्षाकृत परवर्ती काल की है। अतः असनी के बेनी बदीजन को शुद्ध शृंगार का कवि ही मानना उचित है। इनकी शृंगार-मयी सरस कविता के दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

कवि बेनी नई उनई है घटा, मोरवा बन बोलत कूकन री।

छहरै बिजुरी छितिमंडल छबै, लहरै मन सैन भभूकन री॥

पहिरि चुनरी चुनिकै दुलही, सँग लाल के झूलहु झूलन री।

ऋतु पावस यो ही बितावति हौ, मरिहौ, फिर बाबरि! हूकन री॥

+

+

+

छहरै सिर पै छबि मोरपखा उनकी नथ के मुकुता थहरै।

फहरै पियरी पट बेनी इतै, उनकी चुनरी के झुवा झहरै।

रस रंग भिरै अभिरै है तमाल दोऊ, रस ख्याल चहै लहरै।

नित ऐसे सनेह सो राधिका स्याम हमारे हिए में सदा बिहरै।

हिंदी के कुछ इतिहास ग्रंथों में बेनी कवि की कविता का उदाहरण देते समय तीनों बेनी कवियों के पद मिलेजुले लिख दिए गए हैं। इससे यह निर्णय करना कठिन हो गया है कि कौन सा पद किस बेनी का है।

३. कृष्ण कवि

कृष्ण कवि के जीवनवृत्त के संबंध में विशेष ज्ञात न होने पर भी बिहारी सतसई के प्रथम कवि टीकाकार के रूप में इनकी पर्याप्त ख्याति है। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि ये बिहारी के आश्रयदाता राजा जयसिंह के मंत्री राजा आयामल्ल के आश्रित थे और उन्हीं के आग्रह से इन्होंने सतसई पर टीका लिखी थी। इस टीका में राजा जयसिंह का उल्लेख

वर्तमानकालि० क्रिया। मे हुआ है अतः यह निश्चि० है कि राजा जयसिंह के जीवनकाल में इस टीका का निर्माण हुआ। श्रीजगन्नाथदास रत्नाकर ने कृष्ण कवि को बिहारीलाल का पुत्र माना है। कृष्ण कवि बिहारीलाल के पुत्र थे या नहीं, इस विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। स्वयं कृष्ण कवि ने इस बात का अपनी टीका में उल्लेख नहीं किया है। साधारणतः यह बात समझ में आती है कि यदि बिहारी उनके पिता होते तो कृष्ण कवि इस तथ्य का कहीं न कहीं संकेत अवश्य करते।

कृष्ण कवि का कविताकाल तो सतसई की टीका और उनके विदुरप्रजागर ग्रंथ में दिए हुए रचनाकाल सवत् १७६२ से स्पष्ट है। जन्मसवत् की कल्पना कविताकाल के आधार पर सवत् १७७० के आसपास की जा सकती है।

इनका लिखा हुआ कोई रीतिबद्ध लक्षणग्रंथ नहीं मिलता, किंतु रीतिबद्ध काव्य-रचना का प्रमाण इनकी सतसई की टीका है जिसमें सरस कवित्त सवैया की अनुपम छटा इनके कविरूप का परिचय देती है। काव्य के समस्त रमणीय उपादानों से युक्त जो सुंदर कवित्त सवैया बिहारी के दोहों पर आपने लिखे हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि इनमें स्वतंत्र काव्यरचना की पूर्ण क्षमता विद्यमान थी। यह ठीक है कि भाव की दृष्टि से टीकापरक कविता में मौलिकता नहीं आ सकती किंतु दोहों को काव्यभूमि पर विस्तृत रूप से उपन्यस्त करने की कला में कृष्ण कवि ने अद्भुत कौशल का प्रमाण दिया है।

काव्यागनिरूपक ग्रंथ न मिलने पर भी कृष्ण कवि को रस, ध्वनि, अलंकार, नायिकाभेद आदि के विषय में जो कुछ कहना था वह उन्होंने अपने कवित्त सवैया द्वारा कह दिया है। दोहों का पल्लवन सुरुचिपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक व्यंजना शक्ति द्वारा हुआ है। बिहारीसतसई को पूर्णता के साथ हृदयगमन करके टीका लिखनेवाला दूसरा कवि हिंदी में नहीं है। इनकी कविता के कतिपय सरस उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं :

सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल ।

यहि बानिक मो मन बसो सदा बिहारीलाल ॥

इस दोहे पर कृष्ण कवि का टीकापरक सवैया द्रष्टव्य है :

छवि सो फवि सीस किरीट बन्यो हचि साल हिए बनमाल लसै ।

कर कंजहि मंजु रली मुरली, कछनी कटि चार प्रभा बरसै ॥

कवि कृष्ण कहै लखि सुंदर मूरति यो अभिलाष हियै सरसै ।

वह नंदकिशोर बिहारी सदा यहि बानिक मो हिय माझि बसै ॥

दोहा—

बतरस लालच लाल की मुरली भरी लुकाय ।

सौह करै, भौहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाय ॥

सवैया—

आज लखौ वृषभानु लली मनमोहन सो रसखेल टरी है ।

बातन के चसके सु रली मुरली हरि के दबकाय धरी है ।

ज्यो ज्यो हहा करि मांगे लला वह त्यो त्यो कछू अठिलात खरी है ॥

दैन कहै, मुकरै, हँसि भौहनि, सौह करै रसभाय भरी है ।

दोहा—

लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि गहि गरब गरूर ।

अए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥

कवित्त—

रूप की अवधि ऐसी और न बनाई बिधि,
जाको लिखिबे को लाल देवता मनायबो ।
ताकी शोभा लिखिबे को बैठति गरब करि,
अनत ही मन होत घूम घन नायबो ।
ऐसी भाँति आप आप कूर कहवाय गए,
चतुर चितेरे तिन्है कहाँ लौ गिनायबो ।
कृष्ण प्रण प्यारे वहि चित्रिनी बिचित्र गति,
काहू पै न बन्यौ वाके चित्र को बनायबो ॥

४ रसनिधि

ये दतिया राज्य के बरौनी इलाके के एक सपन्न जमींदार थे । आपका नाम पृथ्वीसिंह था, कविता का नाम 'रसनिधि' था । इनका रचनाकाल सवत् १६६० से १७६७ तक है । इनकी विशेष प्रसिद्धि का कारण इनका रतनहजारा मथ है जो बिहारी-सतसई की पद्धति पर लिखा गया है । ग्रंथ के वर्ण्य विषय और अभिव्यजना शैली पर बिहारी की शृंगारभावना का गहरा प्रभाव लक्षित होता है । इनके दोहो का एक सग्रह छत्रपुर के श्रीजगन्नाथप्रसाद ने प्रकाशित किया है । रतनहजारा के अतिरिक्त इनके विष्णुपदकीर्तन, कवित्त, बारहमासी, रसनिधिसार, गीतिसग्रह, अरिल्ल, हिडोला आदि ग्रंथ भी खोज में प्राप्त हुए हैं ।

रसनिधि प्रेमी स्वभाव के रसिक कवि थे । शृंगारवर्णन ही इनका मुख्य विषय था । इन्होंने रीतिबद्ध लक्षणग्रंथ न लिखकर फारसी शायरी की शैली पर इश्क की विविध भावनाओं और चेष्टाओं का विस्तार किया है । मौलिक प्रतिभा का अभाव होने पर भी शृंगारी कविता के लिये इनके मन में पर्याप्त उत्साह था और शृंगारी कवि को जिस मस्ती और मन की तरंग की आवश्यकता होती है वह आपके पास प्रचुर मात्रा में थी । फारसी का प्रभाव भाव के क्षेत्र में जहाँ इनका सहायक हुआ, वहाँ भाषा के क्षेत्र में कुछ घातक भी सिद्ध हुआ । कहीं कहीं शब्दों का ऐसा असतुलित प्रयोग आपने किया है कि वह सुखि और साहित्यिक सौष्ठव की दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता । नीचे के दोनों दोहों में यह तथ्य स्पष्ट देखा जा सकता है ।

जिहि मग दो रत निरदई, तेथे नैन कजाक ।
तिहि मग फिरत सनेहिया, किए गरेबाँ चाक ।
लेहु न मजनू गोर ढिग, कोऊ लैला नाम ।
बरदबंत को नेकु तो, लेन देहु बिसराम ॥

प्रेम की सरस उक्तियों में रसनिधि को अच्छी सफलता मिली है । प्रेम के बाह्य रूप को काव्य की प्रचलित प्रणाली में प्रस्तुत करते हुए रसनिधि बिहारी का ही अनुकरण करते हैं :

कजरारे दूग की छटा जब उनवै जिसि ओर ।
बरसि सिरावै पुहुमि उर, रूप झलान झकोर ॥
सरस रूप को भार पल सहि न सकै सुकुमार ।
याही ते ये पलक जनु झुकि आवै हर बार ॥
नागर सगर रूप को जीवन तरल तरंग ।
सकत न त्रर छवि झुँवर पर मन बूझत सब अंग ॥

५ नृपशंभु

सितारागढवाले राजा शम्भुनाथसिंह सोलकी का ही साहित्यिक नाम नृपशंभु है। ये सवत् १७३८ में उत्पन्न हुए थे। शिवसिंहसरोज में इनके विषय में लिखा है कि— 'ये महाराज कविकोविदों के कल्पवृक्ष महान् कवि हो गए हैं। शृंगार में इनकी कविता निराली है। नायिकाभेद इनका सर्वोपरि ग्रंथ है। ये महागज मतिराम त्रिपाठी के बड़े मित्र थे।'।

इनकी कविता में बाह्य वस्तुवर्णन पर अधिक बल रहता है। हृदयस्पर्शी मार्मिक अनुभूतियों एवं मर्मछवियों के अंकन की इनमें अपेक्षाकृत न्यून क्षमता थी। सादृश्यविधान के लिये इन्होंने जहाँ कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लिया है वहाँ भी स्थूल एवं प्रत्यक्ष गोचर वस्तु को ही ग्रहण कर बिबिधान खड़ा किया है। अमूर्त विधान द्वारा भावयोजना की ओर इनका ध्यान ही नहीं जाता। इनका लिखा हुआ एक नखशिख ग्रंथ श्रीजगन्नाथदास रत्नाकर ने हस्तलिखित प्राचीन प्रति से शोधकर प्रकाशित कराया है। अगो के सौंदर्यवर्णन में परंपरागत उपमानों की लड़ी लगाकर ही ये अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, अगो के सौंदर्य के प्रति उत्पन्न किसी अनुभूति को चित्रित नहीं करते। नायिका का वर्णन करते हुए लिखते हैं

कौहर कौल जपादल बिद्रुम का इतनी जु बध्क मे कोति है।

रोचन रोरि रची मेहुँदी नृपशंभु कहै मुकता सम पोति है।

पायें धरै डरै ईगुर सी तिनमे मनो पायल की घनी जोति है।

हाथ द्वै तीन लौं चारि ह्वैं और सो चाँदनी चूनरी के रंग होति है।

नायिका की नाभि का वर्णन इन्होंने प्राचीन परंपरा से कुछ हटकर किया है और प्रायः रतेपिटे उपमानों को बचाकर नूतन चित्र प्रस्तुत किया है। उरोजो की मदिरा की शीशी और नाभि को मदिरा का प्याला कहना अवश्य तत्कालीन समाज में गृहीत नूतन उपमान है। कामदेव के मदिरापान करने के निमित्त नाभि का प्याला बनाकर कवि ने अपनी उद्भावनार्थ उक्ति का परिचय दिया है

रूप को कूप बखानत है कवि कोऊ तलाब सुधा ही के संग को।

कोऊ तुफग मोहारि कहै दहला कल्पद्रुम भाषत अग को।

बारहि बार बिचार किया नृपशंभु नया मत मो मति ढंग को।

सीसी उद्योजनि ते मदधार समावती नाभी न प्याला अनंग को ॥

नृपशंभु की कविता में अलंकारनियोजना की परिपाटी ठीक वैसी है जैसी देव, मतिराम, पद्माकर आदि रीतिकालीन प्रमुख कवियों की थी। अलंकारप्रियता इनके प्रत्येक पद से स्पष्ट परिलक्षित होती है। एक ही पद में अनेक अलंकारों की ससृष्टि या सकर उपस्थित करके इन्होंने रीतिकालीन कवियों की प्रसाधनरुचि का अच्छा परिचय दिया है। बेणीवर्णन की एक कविता हमारे इस कथन का प्रमाण है।

काहू कह्यौ मार काहू कह्यौ अंधकार अरु,

काहू धूम धार काहू ले सेवार संक को।

काहू अलिहार कह्यौ काहू चौरबार कह्यौ,

काहू कह्यौ सुचि रुचि मृगमद पंक को ॥

राधे जू की बनी नृपशंभु मुख देनी थकी,

गिरामति पैनी सब उष्मानि रंक को।

भरचौ सुधाभार अंज्यौ लगौ हीन वार,

मन्त्रोसतिप्रेमिधर धार कहुत कलंक को ॥

नृपशभु का कविताकाल रीतिबद्ध कवियों के उत्कर्ष का काल है। सभव है नृप-शभु ने भी कोई लक्षणग्रन्थ लिखा हो, क्योंकि जिस कोटि की इनकी कविता मिलती है, उसमें अलंकार और रस के विशेष वर्णन की रचिल लक्षित होती है। किंतु अभी तक नखीशख तथा फुटकर पदों के अतिरिक्त इनका कोई लक्षणग्रन्थ नहीं उपलब्ध हुआ। उपलब्ध कवित्त सवैयो से इनकी प्रौढ कवित्वशक्ति का परिचय मिलता है।

६ नेवाज

हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में नेवाज नाम से तीन कवियों का उल्लेख मिलता है। जिनका हम वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं वे अतर्वेद के रहनेवाले ब्राह्मण थे और सवत् १७३७ के लगभग वर्तमान थे। शिवसिंहसरोज में सवत् १७३६ जन्मसवत् लिखा है जो अशुद्ध है क्योंकि इनका लिखा हुआ शकुतला नाटक सवत् १७३७ का है। इतना तो निश्चित है कि ये पन्नानरेश महाराज छत्रसाल के यहाँ दरबारी कवि के रूप में रहे। अतः स० १७३० से पहले ही इनका जन्म हुआ। छत्रसाल के यहाँ रहने के संबन्ध में एक दोहा प्रसिद्ध है जो किसी भगवत् कवि का लिखा हुआ है, जिसके स्थान पर नेवाज को छत्रसाल के दरबार में प्रवेश मिला था -

तुम्हें न ऐसी चाहिए, छत्रसाल महाराज ।
जहाँ भगवत गीता पढ़ी, तहाँ कवि पढ़त नेवाज ॥

इस दोहे के प्रथम चरण का पाठांतर इस प्रकार भी मिलता है—‘भली आजु कलि करत हौ, छत्रसाल महाराज ।’ इतिहास ग्रन्थों में नेवाज कवि का औरंगजेब के पुत्र आजमशाह के यहाँ रहने का भी उल्लेख मिलता है। इनका लिखा हुआ शकुतला नाटक प्रसिद्ध है। यथार्थ में यह दोहा, चौपाई, सवैया आदि छंदों में लिखा पद्यबद्ध शकुतला संबंधी आख्यान है। नाटक शब्द से भ्रम में पड़कर इसे अभिनेय नाटक नहीं समझना चाहिए। शकुतला आख्यान के अतिरिक्त इनकी कतिपय फुटकर रचनाएँ मिलती हैं, जिनका प्रधान स्वर शृंगार है। शृंगारवर्णन के लिये जिस कोटि की सहृदयता और काव्य-कुशलता अपेक्षित होती है, वह इनके पास प्रचुर मात्रा में थी। इन्होंने शब्दचयन में बड़ी सावधानी से काम लिया है। रसिक होने के कारण शृंगारवर्णन में कही कही अत्यधिक नग्न रूप भी ग्रहण कर लिया है। सयोंश शृंगार इनका प्रिय विषय प्रतीत होता है। सभोग शृंगार के लिये जिन प्रसंगों को इन्होंने चुना है वे रतिसभोगपरक हैं अतः श्लील झर्झादा से दूर होने के कारण भोगप्रधान हो गए हैं। किंतु काव्यत्व की दृष्टि से उनमें प्रचुर भावसामग्री मिलती है। कृष्णवियोग से दुखी नायिका का वर्णन देखिए :

देखि हमें सब आपस में जो कछु मन भावें सोई कहती हैं ।
ये घरहाई लुगाई सबै निसि यौंस नेवाज हमें बहती है ।
बातें चबाव भरी सुनिकै रिस आवत पै चुप ह्वै रहती हैं ।
कान्ह पियारे तिहारे लिये सिंगरे जग को हंसबो सहती है ।

प्रच्छन्न प्रेमाचार के जगद्धित हो जाने पर निश्चक होकर प्रेम करने की प्रेरणा देनेवाला सवैया देखिए .

आगें तो कीन्ही लगा लगी लोयन कैसे छिपे, अजहूँ जो छिपावति ।
तू अनुराग को सोध कियो ब्रज की बनिता सब यों ठहरावति ।
कौन सकोच रह्यो है नेवाज जो तू तस्सै उनहूँ तरसावति ।
बाबर जो कसक लम्पे तो निसंक ह्वै, कसो नहि अंक लगावति ।

७ हठीजी

हठीजी राधावल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक श्रीहितहरिवंश के बाहरवे शिष्य बताए जाते हैं। इनके जन्मस्थान और जन्मतिथि का अभी तक निराय नही हो सका है। राधावल्लभीय सांप्रदायिक ग्रंथों में इनका जन्मस्थान चरखारी लिखा हुआ मिलता है। निंबार्की संप्रदाय के ग्रंथों में इन्हें निंबार्की ठहराया गया है; इनकी भावना राधानिष्ठ शृंगारी भक्त की है अतः इनका सांप्रदायिक दृष्टि से देखा जाना स्वाभाविक ही है। इनका रचा हुआ राधासुधाशतक ग्रंथ काव्यसौष्ठव की दृष्टि से प्रौढ एवं परिष्कृत रचना है। शृंगार काव्य की जो परंपरा उस युग में अविरल रूप से प्रवाहित हो रही थी, हठीजी का काव्य भी उसी में निमज्जित हुआ प्रतीत होता है। रीतिबद्ध मुक्तक की परंपरा में ही हठीजी के काव्य को स्थान देना चाहिए। राधासुधाशतक में १०३ कवित्त सबैए हैं। यदि इनकी कविता का कलात्मक दृष्टि से मूल्यांकन किया जाय तो ये शुद्ध भक्त कवियों में स्थान न पाकर रीति परंपरा के काव्यकवियों में ही स्थान पाने के अधिकारी होंगे। वास्तव में रीतिबद्ध काव्यकवियों की समस्त विशेषताएँ हठीजी के काव्य में विद्यमान हैं। इनकी अप्रस्तुत योजना, वचनवक्रता, लाक्षणिकता आदि सभी गुण रीतिकालीन चोटी केंकवियों से टक्कर लेते हैं। अलंकार की ऐसी सजीव और सुंदर योजना है कि श्रोता अर्थगौरव की अपेक्षा कहीं कहीं शब्दगौरव पर ही अधिक मुग्ध हो जाता है। किंतु शब्दसौष्ठव के फेर में पड़कर अनुप्रास आदि के शैथिल्य को आपने अंगीकार नहीं किया, यही आपकी विशेषता है। कवित्त सबैया लिखनेवाले काव्यकवियों में आपका विशिष्ट स्थान है।

रीतिबद्ध परंपरा से शब्दसामग्री चयन करके आपने अपनी कविता को अलंकृत किया है। शृंगारसंपृक्त भक्ति का सुंदर रूप राधासुधाशतक काव्य में मिलता है। ग्रंथ सांप्रदायिक व्यक्तियों ने प्रकाशित कराया है

राधा के सौंदर्यवर्णन के साथ कवि ने उसकी कृपाकाक्षा के भी अनेक पद लिखे हैं। राधा का इतना साहित्यिक वर्णन बहुत कम कवियों में मिलता है।

कोऊ घनधाम कोऊ चाहै अभिराम कोऊ,
साहिबी सुरेस भौंति लाख लहियतु है।
कोऊ गजराज महाराज सुखराज कोऊ,
तीर्थ बर्त नेम जग अग दहियतु है।
ऐसी चित चाहै चरचा है दुनिया की हठी,
चाहै हृद एक तौन ठहियतु है।
जन रखवारी की सु प्रभु प्रान्प्यारी की,
सुकीरति दुलारी की नजर चहियतु है ॥

राधा के जन्म पर देवी देवता किस प्रकार हर्षित हो उठे, इसका वर्णन करता हुआ कवि कहता है

गाय उठी किनरी नरी नये सुरन सबे,
द्वार द्वार नगर नगारा धुनि छाई है।
सुर हरखाने बरसाने बरसाने प्रेम,
सरसाने फूल बरखा लै बरसाई है।
बंदीजन बिरद बखाने भौंति भौंति हठी,
लीन्हों अवतार राधे बंदन हूँ गाई है।
धन्य ब्रजमंडल सुधन्य कूख कीरति की,
धन्य वृषभानु जू के भाग की भलाई है ॥

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजन को,
 पसु कीजै महाराज नंद के बगर को ।
 नर कीजै तौन जौन राधे नाम रटे,
 तट कीजै बरकूल कार्लिंदी कगर को ।
 इतने पै जोई कछु कीजिए कुँवर कान्ह,
 राखिए न आन फेर हठी के भगर को ।
 गोपी पद पंकज पराग कीजै महाराज,
 तून कीजै रावरेई गोकुल नगर को ॥

चंद सो आनन कंचन सो तन हौं लखिकै बिन मोल बिकानी ।
 औ अरविद सी आँखिन कौ हठि देखत मोरि ये आँखि सिरानी ॥
 राजत है मनमोहन के सँग वारों मै कोटि रमा रति रानी ।
 जीवन मूरि सबै ब्रज की ठकुरानी हमारी है राधिका रानी ॥

८ रामसहायदास

ये काशी के महाराज उदितनारायण सिंह के आश्रय में रहते थे । इनका जन्म स्थान चौबेपुर (बनारस) और जाति अस्थाना कायस्थ बताई जाती है । पिता का नाम भवानीदास था । ये भगत छाप से कविता करते और भगतजी के नाम से ही विख्यात भी थे । इनका कविताकाल सवत् १८६० से १८८० तक स्वीकार किया जाता है । बिहारी के अनुकरण पर इन्होंने रामसतसई बनाई जिसका विषय शृंगार है । इसी कारण शृंगारसतसई नाम से भी इनका प्रकाशन भारतजीवन प्रेस, काशी से हुआ था । इस सतसई में अपने पिता के नाम का सकेत कवि ने स्वयं किया है । जीवनवृत्त विषयक और कोई चर्चा नहीं है ।

रामसतसई या शृंगारसतसई के विषय में मिश्रबधुओ की बड़ी ऊँची धारणा है । वे इसे बिहारीसतसई के टक्कर की रचना मानते हैं । अ.च.र्य - रामचंद्र शुक्ल ने इस मान्यता का बड़े जोरदार शब्दों में खंडन किया है, किंतु फिर भी इसे शृंगार रस का उत्तम ग्रंथ माना है । सतसई के अतिरिक्त इनकी तीन पुस्तकें और कही जाती हैं जो अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—वाणीभूषण, वृत्ततरंगिणी और ककहरा । इनमें वाणीभूषण अलंकार ग्रंथ प्रतीत होता है और वृत्ततरंगिणी पिंगल विषयक ग्रंथ । अन्य ग्रंथ अनुपलब्ध होने के कारण हमने सतसई के आधार पर इन्हें लक्षणकार आचार्यों में न रखकर लक्षणकार काव्यकवियों में स्थान दिया है । इनकी रचना के कुछ उदाहरण देखिए ।

भटकन भटपट चटक कै, अटक मुनट के संग ।
 लटक पीत पट की निपट, हट कटि कटक अनंग ॥
 सतरौहै मुख रुख किए, कहै रखौहै बैन ।
 रैन जप्ते के नैन धे, सने बनेहु डुरै न ॥
 सीस झरोखे डारिकै, माँकी घूँघट, डोरि ॥
 कँवर सी कसकै हिए, बाँकी चितवन नारि ॥
 सखि सँग जालि हुँतै सुती, भट सेरौ मों जाति ॥
 सतरौहै पौहनि करी, बतरौहै अँखियानि ॥
 नैननि मढ़ि चित चढ़ि रही, वह स्थाय्य वह साँझि ।
 माँकी है ओझल आई, माँझि झरोखे माँझि ॥

६ पजनेस

पजनेस कवि का जन्म पन्ना में हुआ था। शिवसिंहसरोज में इनका जन्मसंवत् १८७२ लिखा है। इनका लिखा कोई ग्रंथ प्रकाश में नहीं आता है। भारतजीवन प्रेस, काशी से इनके शृंगारी कवित्त सवैयो का एक फुटकर सकलन पजनेसप्रकाश प्रकाशित हुआ है, जिससे विदित होता है कि ये रीतिबद्ध मुक्तक परंपरा के अच्छे कवि थे। शिवसिंहसरोज में इनकी नखशिख और मधुरप्रिया नामक दो पुस्तकों का उल्लेख है किंतु अभी तक वे उपलब्ध नहीं हुई हैं। इनके काव्य का मूल्यांकन स्फुट पदों के आधार पर ही किया जा सकता है। शृंगारी प्रवृत्ति के कारण नखशिख वर्णन की ओर रुचि होना स्वाभाविक ही है।

शृंगार रस के लिये इनकी भावयोजना तो परंपरामुक्त ही है, किंतु भाषा में कुछ नवीनता है। फारसी शब्दों का प्रयोग स्थान स्थान पर जान बूझकर किया गया है। शृंगार की कोमल व्यंजना होने पर भी कर्कश कठोर शब्दों का प्रयोग इनके काव्य में है। कदाचित् ये प्रतिकूल शब्दयोजना को निषिद्ध नहीं मानते थे। इतना होने पर भी पदविन्यास का कौशल इनकी कविता में है जिसके कारण इनके कवित्त सवैयो को पढ़ते समय लय-स्वर के आनंद में कोई व्याघात नहीं पहुँचता। शब्दचमत्कार पर ध्यान होने के कारण गंभीर भावयोजना में कहीं कहीं ठेस लगी है। नखशिख की दृष्टि में ये अच्छे कलाकार प्रतीत होते हैं। नायिका के आनंद का वर्णन देखिए

चितवत जाकी ओर चख चकिचौंध कौंधे,
मनि पजनेस मातु किरन खरी सी है।
छबि प्रतिबिंब छूट्यो छिति हूँ छपाकर ते,
छाजत छबीली राजै कनक छरी सी है।
कीनौ डर लुरक गुलाब को प्रसून आस,
भुकि भुकि भूमि भूमि भौंकत परी सी है।
आनन अमल अरबिंद ते अमंद अति,
अद्भुत अभूत आभा उफनि परी सी है।
नखशिख वर्णन में उरोज का आलंकारिक शैली से वर्णन द्रष्टव्य है।
संपुट सरोज कैधौ सोभा के सरोवर में,
लसत सिंगार कै निशान अधिकारी के।
कवि पजनेस लोल चित्त बित्त चोरिबे को,
चोर इक ठौर नारि ग्रीव बर कारी के।
मंदिर मनोज के कलित कुंभ कंचन के,
ललित फलित कैधौ श्रीफल बिहारी के।
उरज उठौना चक्रवाहन के छौना कैधौ,
मदन खिलौना हैं सलौना प्रानप्यारी के ॥

फारसी शब्दों के प्रयोग द्वारा लिखा हुआ निम्नांकित सवैया पजनेस के भाषा-ज्ञान का परिचायक है। रस की दृष्टि से इसमें अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं, किंतु कवि ने अपना फारसी ज्ञान इसके द्वारा पूरी तरह व्यक्त करने की चेष्टा की है

पजनेस तसद्वुक ता बिसमिल जुल्फे फुरकत न कबूल कसे।
महबूब चुना मद्भस्त सनम अजदस्त अलायल जुल्फ बसे।
बजमूए ज काफ शिकाफ राए सम क्यामत चशम रुखूँ बरसे।
मिजगाँ सुरमा तहरीर दुताँ नुकते बिन बे, किन ते, किन से ॥

१० राजा मानसिंह (द्विजदेव)

द्विजदेव शाकद्वीपी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे । इनके पूर्वजों को मुगल शासकों और नवाबों द्वारा प्रभूत संपत्ति और राजा की उपाधि प्राप्त हुई थी । द्विजदेव के पिता अयोध्या नरेश महाराज दर्शनसिंह ने शाहजग में मुंदर भवन, बाजार तथा कोट बनवाए थे । द्विजदेव का जन्म अगहन सुदी पंचमी, स० १८७७ वि०, तदनुसार दिनांक १० दिसंबर, सन् १८३० ई० में हुआ था । इनकी शिक्षा दीक्षा घर पर ही विद्वान् पंडितों द्वारा संपन्न हुई । शिवसिंहसरोज में इनकी शिक्षा के विषय में लिखा है कि—‘ये महाराज संस्कृत, भाषा, फारसी, अरबी, अंग्रेजी इत्यादि विद्या में अति निपुण थे ।’ काव्यशास्त्र का अध्ययन इन्होंने अवधवासी श्रीबलदेवसिंह से किया था । पिता की मृत्यु के बाद इनके राज्य में उपद्रव फैला जिसे द्विजदेव ने थोड़े से सिपाहियों की सहायता से ही शांत करके अपने पराक्रम का परिचय दिया ।

द्विजदेव का जीवन अनेक साहसपूर्ण वीर कार्यों से ओतप्रोत है । उन्होंने अनेक बार भीषण युद्धों में सक्रिय भाग लेकर बल और साहस का अच्छा परिचय दिया था । सन् १८५७ की राज्यक्रांति के समय उन्होंने अनेक अंग्रेज परिवारों की प्रारणरक्षा करके लारेंस महोदय का विश्वास प्राप्त किया था । उन्हें इस कार्य के लिये दो लाख रुपए की जागीर पुरस्कार स्वरूप प्राप्त हुई थी । सन् १८५७ की राज्यक्रांति में अंग्रेजों का साथ देने पर भी बाद में विरोधियों के भडकाने से अंग्रेजी शासन की उनपर कोपदृष्टि पड़ी और उन्हें कारावास में डालने की योजना बनाई गई । इस षडयंत्र का द्विजदेव को पता चल गया और वे सब कुछ छोड़कर वृंदावनवास के लिये चले गए । वृंदावनवास में ही माधुर्य भक्ति के प्रभाव में शृंगारपूर्ण कृष्ण काव्य रचना द्वारा उन्हें मानसिक शांति और सतोष प्राप्त हुआ । कार्तिक बंदी द्वितीया, सवत् १९२८ को उनका देहावसान हुआ ।

द्विजदेव का जीवन युद्ध और संघर्ष में व्यतीत हुआ किंतु उन्होंने अपनी नैसर्गिक काव्यप्रतिभा और भावुकता को सांसारिक संघर्षों में नष्ट नहीं होने दिया । शैशव से ही काव्यरसिक होने के कारण कविता के अमिट सस्कार सदैव इनके साथी बने रहे । राज्याधिकार प्राप्त होने पर द्विजदेव ने अपने दरबार में अनेक प्रतिभाशाली कवियों को एकत्र किया था । लछिराम, पंडित प्रवीन, बलिदेव, जगन्नाथ अवस्थी आदि इनके दरबारी कवि थे ।

द्विजदेव रचित तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—शृंगारलतिका, शृंगारवत्तीसी और शृंगारचालीसी । कुछ विद्वान् शृंगारचालीसी को स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मानते । इनके दो ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं । शृंगारलतिकासौरभ नाम से एक बहुत ही विशाल सटीक संस्करण अयोध्या की महारानी ने बड़ी सज्जधज के साथ प्रकाशित कराया है । भूतपूर्व अयोध्या-नरेश महाराज प्रतापनारायण सिंह ने शृंगारलतिका पर सौरभ टीका लिखी है ।

द्विजदेव के ग्रंथों के अनुशीलन से विदित होता है कि इन्होंने रीतिग्रंथों का विधिवत् अध्ययन किया था । काव्यरचना करते समय रीतिपरंपरा के रचनाविधान को वे सदा अपने समक्ष रखते थे । यद्यपि इन्होंने कोई रीतिग्रंथ (लक्षण) ग्रंथ नहीं लिखा, फिर भी रस और अलंकार संप्रदाय की शास्त्रीय परिपाटी का इन्होंने अपनी मुक्तक रचना में पूर्ण रूप से निर्वाह किया है । नायिकाभेद संबंधी इनके कवित्त और सवैया का अनुशीलन बताता है कि ये अपने अतर्जन में सदा रीतिबद्ध काव्यपद्धति को रखकर चलते थे । अलंकार तथा रस के संबंध में भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनके विषय में लिखा है—‘द्विजदेव को ब्रजभाषा के शृंगारी कवियों की परंपरा में अंतिम प्रसिद्ध कवि समझना चाहिए । जिस प्रकार लक्षणग्रंथ लिखनेवाले कवियों में पद्माकर अंतिम प्रसिद्ध

कवि हैं उसी प्रकार समूची शृंगारपरंपरा में ये हैं । इनकी सी सरस और भावमयी फुटकल शृंगारी कविता फिर दुर्लभ हो गई ।

द्विजदेव ने रीतिशृंगार परंपरा के प्रसिद्ध कवियों से भाषापरिमार्जन का गुण ग्रहण किया था । भाषा में शृंगारवर्णन के योग्य लालित्य, माधुर्य और मार्दव की स्थापना करने में ये बहुत से कवियों को पीछे छोड़ गए हैं । अनुप्रास और यमक के मोह में भाषा की सहज अभिव्यजना पर इन्होंने कहीं भी आघात नहीं आने दिया है । भावयोजना की दृष्टि से भी इनकी शृंगारी कविता बड़ी नैसर्गिक पद्धति पर चली है । मृग की सच्ची उमंग और भावों के सहज उद्वेलन के साथ कविता लिखनेवाले कवियों का रीतिकाल में प्रायः प्रभाव ही था । अधिकांश कवि रसम अदा करने के लिये नखशिख, ऋतुवर्णन, नायिकाभेद, बारहमासा आदि लिखकर अपने कविकर्म की पूर्णता समझते थे । किंतु द्विजदेव के काव्य में मन के लीन होने की सरस दशा का पूरा सकेत उपलब्ध होता है । नायिकाभेद, रस, अलंकार विषयों से सबद्ध कतिपय उदाहरण इस कथन के प्रमाणस्वरूप नीचे उद्धृत किए जाते हैं ।

प्रोषितपतिका प्रौढा नायिका के वर्णन में द्विजदेव का भावोद्वेलन द्रष्टव्य है :

भूले भूले भौर बन भावरै भरैंग चहुँ,
 फूल फूल किंसुक जके से रहि जाइ है ।
 द्विजदेव की सौ बह कूजनि बिसारि कूर,
 कोकिला कलंकी ठौर ठौर पछिताइ है ।
 आवत बसंत के न ऐहैं जो पै स्याम तो पै,
 बावरी ! बलाइ सो हमारे हूँ उपाइ है ।
 पीहैं पहिलेई तै हलाहल मँगाइ या,
 कलानिधि की एकौ कला चलन न पाइ है ।

दूसरा उदाहरण परकीया प्रोषितपतिका नायिका का है । इसमें नायिका की मन-स्थिति को चित्रित करने में कवि ने बड़े चातुर्य से काम लिया है । नायिका की अतिम इच्छा का चित्रण प्रेम की पराकाष्ठा है ।

अब मति दै री कान कान्ह की बसीठिन पै,
 झूठे झूठे प्रेम के पतौवन को फेरि दै ।
 उरझि रही थी जो अनेक पुरखा तै सोऊ,
 नाते की गिरह मूँदि नैननि निबेरि दै ।
 मरन चहत काहू छैल पै छबीली कोऊ,
 हाथन उचाइ अज बीथिन में टेरि दै ।
 तेह री कहाँ कौ जरि खेह री भई तौ मेरी,
 देह री उठाइ बाकी देहरी पै गेरि दै ।

कलहातरिता नायिका का एक बड़ा मार्मिक चित्र कवि ने निम्नलिखित कवित्त में अंकित किया है । नायिका कृष्ण के आने पर लज्जा से इतनी अभिभूत हो जाती है कि उसके नेत्र दर्शन के लिये उठते ही नहीं । जाते समय पलक इतने चंचल हो उठते हैं कि नेत्रों को ढककर दर्शन में बाधा डालते हैं । दोनों ही स्थितियों में उसे दर्शनसुख से वंचित होना पड़ता है :

बोलि हारे कोकिल बुलाय हारे केकी गन,
 सिखे हारी सखी सब जुगति नई नई ।
 द्विजदेव की सौ लाज बैरिन कुसंग इन,
 अंगन ही आपने अनीति इतनी ठई ।

हाय इन कुंजन ते पलटि पधारे स्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधामई ।
आवन समै मै दुखदाइनि भई री लाज,
चलन समै मे चल पलन दगा दई ॥

अलकारयोजना की दृष्टि से द्विजदेव के काव्य की सफलता अपने चरम बिंदु पर है। सभी प्रकार के अलकारों के परिपुष्ट उदाहरण इनके काव्य में भरे पड़े हैं। भेदकातिशयोक्ति का एक सुंदर उदाहरण देखिए

औरै भाँति कोकिल, चकोर ठौर ठौर बोले,
औरै भाँति सबद पपीहन के बँ गए ।
औरै भाँति पल्लव लिए हैं वृद्ध वृद्ध तरु,
औरै छवि पुज पुंज कुंजन उनै गए ।
औरै भाँति सीतल सुगंध मद डोलै पौन,
द्विजदेव देखत न ऐसे पल द्वै गए ।
औरै रति और रग औरै साज औरै संग,
और बन औरै छन औरै मन ह्वै गए ।

तृतीय अध्याय

काव्यकवियों का योगदान

काव्यकवियों की कला अलंकृत कला है। भाषा को अलंकृत करने के लिये शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का आग्रहपूर्वक प्रयोग इस काल के कवियों की विशेषता। समझती चाहिए। रीतिकालीन आचार्यकवियों की अपेक्षा रीतिबद्ध काव्यकवियों तथा स्वच्छन प्रेमधारा के उन्मुक्त कवियों ने लक्षणा और व्यञ्जना शक्ति पर अधिक ध्यान दिया है। बिहारी और घनानन्द क्रमशः दोनों धाराओं के कवियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। समास पद्धति भी काव्यकवियों की एक उल्लेख्य विशेषता है। यों तो आचार्यकवियों ने भी दोहे लिखकर समास गुण को अपने काव्य में स्थान दिया है, किन्तु बिहारी, रसनिधि, रामसहाय आदि काव्यकवियों ने दोहे को भावसामग्री से परिपूर्ण बनाकर काव्यगत समासपद्धति को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है।

रीतिबद्ध काव्यकवियों को रीतिशास्त्र-प्रणेत आचार्यकवियों से अलंकारप्रयोग के प्रयोजनभेद को समुच्च रखते हुए पृथक् किया जा सकता है। रीतिनिरूपक आचार्यकवियों ने अलंकार को प्रतिपाद्य विषयमानकर तथा काव्यालंकरण के लिये उपयोगी समझकर अपने काव्य में स्थान दिया था। किन्तु काव्यकवियों ने अलंकार के सबंध में वस्तुगत दृष्टि का उपयोग किया था। निरलंकृत काव्य सुंदर नहीं होता, अतः अलंकारों का सहज समावेश इनका ध्येय था, अलंकार का शास्त्रीय प्रतिपादन इन्हें कभी अभीष्ट नहीं हुआ।

ध्वनि और लक्षणा की दृष्टि से काव्यकवियों का काव्य आचार्यकवियों की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। नायिकाभेद के प्रसंग में नायिकाओं तथा उनकी सुखियों की उक्तियों में जैसी लाक्षणिकता एवं ध्वन्यात्मकता बिहारी, रसनिधि और द्विजदेव के काव्य में है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। विषय की दृष्टि से शृंगार तक ही सीमित रहने के कारण काम-चेष्टाओं और विलासभावनाओं से सबद्ध उपमानों और प्रतीकों का इनकी कविता में प्राचुर्य है। जीवन के सीमित क्षेत्र से उसी विलाससामग्री का चयन किया गया है जो दैनिक व्यवहार में उपयुक्त होती थी।

रीतिकालीन आचार्यकवियों की भाँति काव्यकवियों ने भी ब्रजभाषा के मसृण रूप को ही ग्रहण किया है। भावानुरूप भाषाविन्यास के लिये शब्दों की तोड़मरोड़ इनमें भी पाई जाती है। काव्यभाषा और साधारण बोलचाल की भाषा में व्याक भेद उत्पन्न करने का प्रयत्न रीतिकाल के सभी कवियों में है। शब्दावली सीमित और व्यञ्जक है। सगीत को कविता के समीप लाने का आग्रह रीतिकालीन कवियों की एक विशेषता है जो काव्यकवियों में भी है। दोहा जैसे लघु और सामान्य छंद को भी नादात्मक बनाने का प्रयत्न किया गया। दोहा छंद काव्यकवियों ने अधिक अपनाया है। कवित्त और सवैया के समस्त दोहा भी उर्दू की शेर और बहर की टक्कर में प्रयुक्त होता रहा।

वक्रोक्तिविधान के लिये काव्यकवियों की कविता में अपेक्षाकृत अधिक अवकाश था। किसी भी स्फुट प्रसंग की कल्पना कर ऊहात्मक शैली से उसे उपन्यस्त करनेवाले ये कवि वक्रोक्ति को उसका जीवित बनाते थे। यही कारण है कि प्रत्येक काव्यकवि की रचना में वक्रोक्तिविधान विपुल मात्रा में देखा जा सकता है। वक्रोक्ति का हार्द विस्मयपूर्ण आनंद की दृष्टि में है। कोरा बाह्य चमत्कार वक्रोक्तिविधान के अंतर्गत नहीं आता। सहृदय की

चित्तवृत्ति ऐंद्रजालिक के करतब से भी चमत्कृत होती है और सरस उक्ति के अंतरंग रहस्य-बोध से भी। इन दोनों का भेद स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है। काव्यकवि की सफलता काव्यजन्य रसानुभूति के आनंदसर्जन में है। ऐंद्रजालिक के समान चमत्कार उत्पन्न करने में इनके कर्तव्य की इतिश्री नहीं है।

शृंगार रस काव्यकवियों का वर्ण्य विषय था। इस रस के भेद, प्रभेद और बहिरंग को शास्त्रनिकष पर रखनेवाले आचार्यकवि लक्षण और उदाहरण द्वारा अपनी काव्यसृष्टि करते थे, अतः उनकी रचना में शास्त्रबधन लगा हुआ था। काव्यकवि मन की तरंग के साथ सहज स्फूर्त भावों को यथेच्छ शैली से प्रस्तुत करते थे, फलतः इनकी कविता में रस-संचार की क्षमता अपेक्षाकृत अधिक पाई जाती है। शास्त्रनिरूपण से दूर हटकर कवित्व का आनंद प्राप्त करने और कविगौरव से समानित होने में ही ये अपनी और अपने काव्य की कृतकार्यता समझते थे। अतः शृंगाररस वर्णन में परिपाटीपालन के साथ स्वानुभूति का प्रयोग भी कवियों में दिखाई देता है।

रीतिबद्ध आचार्यकवियों को मौलिक उद्भावनाओं के लिये न्यूनावकाश रहा है किंतु काव्यकवि स्वतंत्र क्षेत्र में विचरण करते हुए नूतन उद्भावनाओं की सृष्टि का पूरा पूरा लाभ उठाते रहे। आचार्यकवि कलावादी बनकर काव्यभूमि में उतरे थे किंतु काव्यकवियों ने कला के साथ भावभूमि का भी अवगाहन किया। रीतिनिरूपक कवियों में पिष्ट-पेषण अधिक है। अनेक कवियों ने एक ही विषय को यत्किंचित् हेरफेर के साथ प्रस्तुत किया है। इसके विपरीत काव्यकवि चर्चितचर्वण से बचकर स्वतंत्र एवं नूतन उद्भावनाओं के सहारे मौलिक काव्यसृष्टि में अधिक सफल हुए। दोनों कोटि के कवियों के काव्य का मूल्यांकन करते समय यह भेद सामने रखना अनिवार्य है।

काव्यकवियों ने नायिकाभेद के साथ ऋतुवर्णन, बारहमासा और नखशिख को विशेष रूप से अपने काव्य का विषय बनाया। लक्षण ग्रंथ रचना से बचने के कारण काव्यकवियों ने उन्हीं विषयों को स्वीकार किया जिनमें स्वच्छंद विचरण का अपेक्षाकृत अधिक अवकाश था।

शृंगार रस की प्रधानता के कारण इस रस का समस्त वैभव कवियों ने नायिकाभेद के भीतर दिखाने का प्रयत्न किया। नायिका शृंगार रस का आलंबन है। नायिकाभेद को काव्यांग मानकर निरूपित करनेवाले कविगण तो शास्त्रकवि की कोटि में रखे गए किंतु जिन कवियों ने आलंबन (नायिका) के अंगों के वर्णन को स्वतंत्र विषय मानकर लिखना प्रारंभ किया वे रीतिबद्ध काव्यकवि ही बने रहे। इन ग्रंथों को नखशिख वर्णन नाम दिया गया। नखशिख वर्णन की परिपाटी रीतिकाल में इतनी अधिक प्रचलित हुई कि शायद ही कोई कवि हुआ हो जिसने थोड़ा बहुत नखशिख न लिखा हो। नखशिख का आधार तो प्रायः संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथ थे किंतु वात्स्यायन के कामशास्त्र को भी इस वर्णन में वसीट लिया गया। सामुद्रिक लक्षणों में स्त्रीरूप का जैसा वर्णन है, उसका भी उपयोग कुछ कवियों ने किया। कहीं कहीं कविप्रसिद्धियों और रुद्धियों के आधार पर नखशिख का विस्तार हुआ। संस्कृत के अलंकारशेखर, कविकल्पलता, बृहत्सहिता, गरुडपुराण आदि के नायिकरूप के वर्णनप्रसंगों को नखशिख में स्थान मिलने लगा और नखशिख इस काल के कवियों का विषय बन गया। अंग प्रत्यंगों के वर्णन के साथ तिलक, मस्सा, रोमजालि, रोमकूट आदि छोटी छोटी शारीरिक वस्तुओं का वर्णन नखशिख में समेट लिया गया। इसके बाद शरीरसौभाग्यधायक अलंकारों को नखशिख में स्थान मिला और नखशिख एक स्वतंत्र काव्यविषय स्वीकृत हो गया। अलंकारों के बाद वस्त्रविन्यास, अंगभूषण, अंगरंग, इत्र, तिलक आदि सभी नखशिख के अंतर्गत परिगणित

हुए। इस प्रकार रीतिवद्ध कवियों ने नखशिख लिखने में अपनी रचि प्रदर्शित कर अपने शृंगारी भाव का पूरा प्रमाण प्रस्तुत किया।

नखशिख के बाद शृंगार रस के उद्दीपन से सबद्ध षड्ऋतुवर्णन और बारहमासा की ओर इनका ध्यान जाना स्वाभाविक था। सस्कृत के अलङ्कार महाकाव्य लिखनेवाले कालिदास, श्रीहर्ष, माघ आदि कवियों ने भी ऋतुवर्णन का प्रसंग विस्तारपूर्वक अपने काव्यों में ग्रहीत किया है। ऋतुवर्णन स्वतन्त्र रूप से भी होता है और सश्लिष्ट प्रकृतिचित्रण के रूप में भी। किंतु सस्कृत के अधिकांश कवियों ने प्रायः नायक नायिकाओं के उद्दीपन प्रसंग में ऋतुवर्णन का उपयोग किया है। हिंदी के रीतिकवियों के लिये तो यह मात्र उद्दीपन ही था। स्वतन्त्र रूप से या सश्लिष्ट रूप से प्रकृतिचित्रण करना इनका उद्देश्य नहीं था अतः इनकी भावना तो उद्दीपन में ही भली भाँति देखी जा सकती है। विप्रलभ शृंगार के वर्णन में ऊहात्मक शैली से जहाँ वस्तुवर्णन किया गया है वहाँ ऋतुओं की प्रचंडता, त्रुरता, विपरीतता तथा असमय में आना बड़े कौशल से प्रस्तुत किया गया है। विरहवर्णन के लिये प्रायः सभी कवियों ने बारहमासा को चुना है। वर्ष के बारह महीनों में विरहवेदना से सतप्त नायिका की क्या दशा होती है, उसे प्रत्येक मास में कैसा कैसा कटु अनुभव होता है, यही बारहमासा लिखने का प्रयोजन है। विरहवर्णन की शैली पर फारसी कविता का प्रभाव रहा है, अतः ऊहा के चमत्कारविधान के लिये प्रकृति के कठोर कर्कश, मृदुल मोहक रूपों का वर्णन इन कवियों के लिये स्वाभाविक बन गया था।

नखशिख और ऋतुवर्णन तथा बारहमासा वर्णन को स्वीकार करने का एक कारण यह भी था कि इन वर्णनों के द्वारा सूक्ष्म किंतु सटीक शैली में चमत्कारयोजना की जा सकती है। सूक्ति और चमत्कार दोनों के लिये मास और ऋतु के विभिन्न अवयव बड़े सहायक होते हैं। नखशिख वर्णन रूप की भाँकी का ही दूसरा नाम है, ऋतुवर्णन विरह को विह्वलता का आरोपित एवं चमत्कृत चित्र है, एवं बारहमासा नायिका की मन-स्थिति का कविकल्पित ऊहात्मक आलेख है। काव्यकवियों के लिये ये तीनों प्रसंग रीति-निरूपण से कुछ हटकर स्वतन्त्र एवं मौलिक उद्भावनाओं के अनुकूल थे अतः इनको प्रायः सभी ने स्वीकार किया है।

उपसंहार

भारतीय इतिहास में रीतिकाल की भाँति हिंदी साहित्य के इतिहास में 'रीतिकाव्य' भी अत्यंत अभिशप्त काव्य है। आलोचना के आरम्भ से ही इसपर आलोचकों की बक दृष्टि रही है। द्विवेदीयुग ने सदाचारविरोधी कहकर नैतिक आधार पर इसका तिरस्कार किया, छायावाद की सूक्ष्म सौंदर्यदृष्टि रीतिकाव्य के स्थूल सौंदर्यबोध के प्रति हीन भाव रखती थी, प्रगतिवाद ने इसपर समाजविरोधी और प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया और प्रयोगवाद ने इसकी रूढ़ विषयवस्तु एवं अभिव्यजना प्रणाली को एकदम बासी घोषित कर दिया।

इस प्रकार की आलोचनाएँ निश्चय ही पूर्वाग्रह से दूषित हैं। इनमें बाह्य मूल्यों का रीतिकाव्य पर आरोप करते हुए काव्यालोचन के इस आधारभूत सिद्धांत का निषेध किया गया है कि आलोचक को आलोच्य काव्य में से ही दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। इस पद्धति का अवलंबन करने से रीतिकाव्य के साथ अन्याय होने की आशंका नहीं रह जायगी।

व्यापक स्तर पर विचार करने से काव्य की दो प्रतिनिधि परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं जो काव्य के प्रति दो भिन्न दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करती हैं—एक 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' और दूसरी काव्य जीवन की समीक्षा है। इनमें से पहली शुक्लजी की शब्दावली में आनंद की सिद्धावस्था और दूसरी साधनावस्था को महत्व देती है। केवल भारतीय

वाङ्मय में ही नहीं, विश्व भर के वाङ्मय में काव्य के ये दो पृथक् रूप स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। इसमें सदेह नहीं कि इस भेद के मूल में आंतरिक अभेद की सत्ता भी उतनी ही स्पष्ट है, फिर भी ये दोनों और उनका आख्यान करनेवाली उपर्युक्त दोनों परिभाषाएँ दो विभिन्न दृष्टिकोणों की द्योतक तो हैं ही। मेरी अपनी धारणा है कि किसी भी काव्य की समीक्षा करते समय इस दृष्टिभेद को सामने रख लेना आवश्यक है, एक ही मानक से दोनों को तोलने से किसी न किसी के प्रति भारी अन्याय होने की आशका रहती है। उदाहरण के लिये आल्फ्रीड और जयदेव अथवा तुलसी और सूर की काव्यदृष्टि में पाश्चात्य साहित्य से उदाहरण ले तो होमर या शेक्सपियर और शेली की काव्यदृष्टि में उपर्युक्त भेद स्पष्ट है, फिर भी आचार्य शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड जैसे प्रौढ आलोचक उसे भूल बैठे। इसका उलटा भी हो सकता है। बिहारी की आलोचना करते हुए पंडित पद्मसिंह शर्मा ने यही किया और बिहारी की प्रतिभा से 'सूर और चंद को भी गहन लगने' की आशका होने लगी। यद्यपि मैं स्वयं कवित्व और रस की मौलिक अखंडता का समर्थक हूँ, तथापि यह अखंडता तो अंतिम स्थिति में ही प्राप्त होती है, उससे पहले बहुत दूर तक उपर्युक्त भेद की सत्ता स्पष्ट विद्यमान रहती है। रीतिकाल का उचित मूल्यांकन करने के लिये इसका ध्यान रखना आवश्यक होगा।

'वाक्य रसात्मक काव्यम्' या 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्' की कसौटी पर परखने से रीतिकाव्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इसमें सदेह नहीं कि जीवन की उदात्त साधना और कदाचित् सिद्धियों का भी निरूपण इस काव्य में उपलब्ध नहीं होता। किंतु जीवन में सरसता का मूल्य नगण्य नहीं है—जीवन के मार्ग पर धीर और प्रबुद्ध गति से निरंतर आगे बढ़ना तो श्रेयस्कर है ही, किंतु कुछ क्षणों के लिये किनारे पर लगे वृक्षों की शीतल छाँह में विश्राम करने का भी अपना मूल्य है। कला अथवा काव्य के कम से कम एक रूप का आविष्कार मनुष्य ने इसी मधुर आवश्यकता की पूर्ति के लिये किया था और वह आवश्यकता अभी निश्चय नहीं हुई—कभी हो भी नहीं सकती। रीति-काव्य मानवमन की इसी वृत्ति का परितोष करता है और इस दृष्टि से इन रससिद्ध कवियों और इनके सरस काव्य का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

व्यापक सामाजिक स्तर पर भी रीतिकाव्य का यह योगदान इतना ही मान्य है घोर पराभव के उस युग में समाज के अभिशप्त जीवन में सरसता का संचार कर इन कवियों ने अपने ढंग से समाज का उपकार किया था। इसमें सदेह नहीं कि इनके काव्य का विषय उदात्त नहीं था—उसमें जीवन के भव्य मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं थी, अतः उसके द्वारा प्राप्त आनंद भी उतना उदात्त नहीं था। यहाँ मैं इस प्रश्न को छोड़ना नहीं चाहता कि रस की कोटियाँ होती हैं या नहीं, मेरा मतव्य केवल यही है कि काव्यवस्तु के नैतिक मूल्य का काव्यरस के नैतिक मूल्य पर प्रभाव अवश्य ही पड़ता है और इस दृष्टि से रीतिकाव्य का नैतिक मूल्य निश्चय ही कम है। फिर भी, अपने युग की आत्मघाती निराशा को उन्मिष्ट करने में उसने स्तुत्य योगदान किया, इसमें सदेह नहीं है और इस सत्य को अस्वीकार करना उचित नहीं होगा। वास्तव में मैं इस प्रसंग में एक ऐसे सत्य का फिर से उद्घाटन करना चाहता हूँ जो अनेक नैतिक, सामाजिक काव्यसिद्धांतों के घटाटोप में आज छिप गया है और वह यह है कि कला का एक अंतर्कर्म उद्देश्य मनोरंजन भी है यह मनोरंजन मानवजीवन की जितनी अपरिहार्य आवश्यकता है, इसकी पूर्ति करनेवाली कला या काव्य-कला का अपना मूल्य भी निश्चय ही उतना ही असंदिग्ध है। रीतिकाव्य का मूल्यांकन कला के इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए—उसकी मूलवर्ती प्रेरणा यही थी और इसी की पूर्ति में उसकी मिद्धि निहित है। शुद्ध नैतिक दृष्टि से भी यह सिद्धि निर्मूल्य नहीं है क्योंकि कविशिक्षा से संयुक्त यह मनोरंजन तत्कालीन सहृदय समाज के रचिपरिष्कार का भी अत्यंत उपादेय साधन था।

कला की दृष्टि से भी रीतिकाव्य का महत्व असदिग्ध है। वास्तव में हिंदी साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम रीतिकवियों ने ही काव्य को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया। अपने शुद्ध रूप में रीतिकविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी और न सामाजिक सुधार अथवा राजनीतिक सुधार की परिचारिका हो। काव्यकला का अपना स्वतंत्र महत्व था—उसकी साधना स्वयं उसी के निमित्त की जाती थी, वह अपना साध्य आप थी।

कला के क्षेत्र में व्यावहारिक रूप से भी रीतिकवियों की उपलब्धि कम नहीं है। ब्रजभाषा के काव्यरूप का पूर्ण विकास इन्होंने ही किया। वह कांति, माधुर्य और ममृणाता आदि गुणों से जगमग हो उठी—शब्दों को जैसे खराद पर उतारकर कोमल और चिक्कण रूप प्रदान किया गया, सवैया और कवित्त की रेशमी जमीन पर रंग बिरंगे शब्द माणिक्य मोती की तरह ढुलकने लगे। इन दोनों छंदों की लय में अभूतपूर्व मार्दव और लोच आ गया। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि रीतिकवियों का छंदविधान एक बैँधी लीक पर ही चलता है। उसमें स्वर और लय की सूक्ष्म संयोजनाओं के लिये अवकाश नहीं है। परंतु यह दृष्टिदोष है। सवैया और कवित्त के विधान के अंतर्गत अनेक प्रकार के सूक्ष्म लयपरिवर्तन कर रीतिकवियों ने अपनी कोमल संगीतरुचि का परिचय दिया है। रीतिपूर्व युग के तुलसी और गग जैसे समर्थ कवियों और उधर रीतिमुक्त कवियों में घनानंद जैसे प्रवीण कलाकारों के छंदविधान के साथ तुलना करने पर अंतर स्वतः स्पष्ट हो जाता है। ये कवि अपने संपूर्ण काव्यवैभव के होते हुए भी रीतिकवियों के छंद संगीत की सृष्टि करने में नितांत असफल रहे हैं। इसी प्रकार अभिव्यजना की साज-सज्जा और अलंकृति की दृष्टि से रीतिकाव्य का वैभव अपूर्व है। यह ठीक है कि उसमें अलंकरण सामग्री का बैसा वैविध्य नहीं है जैसा सूर और तुलसी में मिलता है, बैसा सूक्ष्म संयोजन भी नहीं है जैसा पत में मिलता है, परंतु विलासयुग के रगोज्ज्वल उपमानों और प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग से रीतिकाव्य की अभिव्यजना दीपावली की तरह जगमगाती है। अतः इस कविता का कलात्मक रूप अपने आप में विशेष मूल्यवान् है और इसी रूप में इसके महत्व का आकलन होना चाहिए। इसमें सदेह नहीं कि रीतिकाव्य में आपको सूर, मीरा और घनानंद जैसी आत्मा की पुकार नहीं मिलेगी, न जायसी, तुलसी अथवा आधुनिक युग के विशिष्ट महाकाव्यकारों के समान व्यापक जीवनसमीक्षा और न छायावादी कवियों का सा सूक्ष्म सौंदर्यबोध ही यहाँ उपलब्ध होगा, परंतु मुक्तक परंपरा की गोष्ठीमंडन कविता का जैसा उत्कर्ष रीतिकाव्य में हुआ वैसा न तो उसके पूर्ववर्ती काव्य में और न परवर्ती काव्य में ही संभव हो सका।

इस प्रकार हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतिकाव्य का अपना विशिष्ट स्थान है। सैद्धांतिक दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा को हिंदी में अवतरित करते हुए विवेचन एवं प्रयोग दोनों के द्वारा रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा कर और उधर सर्जना के क्षेत्र में कविता के कलारूप की सिद्धि करते हुए भारतीय मुक्तक परंपरा का अपूर्व विकास कर ब्रजभाषा के कलाप्रसाधनों के सम्यक् परिष्कार सस्कार द्वारा रीतिकवियों ने हिंदी काव्य की समृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान किया है। एकांत वैशिष्ट्य की दृष्टि से भारतीय वाङ्मय में ही नहीं, संपूर्ण विश्व के वाङ्मय में आलोचना और सर्जना के संयोग से निर्मित यह काव्य-विधा अपना उदाहरण आप ही है। किसी भी भाषा में इस प्रकार का काव्य इतने प्रचुर परिमाण में नहीं रचा गया।

अनु णिका

अ

| | | | |
|---------------------------------|-------------------|-----------------------|---------------------|
| अगदपरा | १५६, ३०१ | ८७-८६, | ६३, ६५-६६, ६६, |
| अबिकादत्त व्यास | ३८७, ३६२ | १६५, २१७, | २६७, २८४, ३७६ |
| अकबर अली खाँ | २५१ | अभिनव भारती | २१८ |
| अकबर ३-४, ६, ११, १६, १८-१९, | | अमरकवि | २३३ |
| २३, १२७, १६७, १७०, २३१ | | अमरचद | २४८ |
| अकबरनामा | १८ | अमरचद यति | ५७ |
| अकबर शाह, सत १०३, -४ १०६, | | अमरचद्रिका | २५६, ३६१ |
| २२१, २२३, २३८, २६२, २७२, | | अमरुक | ११२, १६५, ३८४ |
| २८५ | | अमरुशतक | ११२-११३, ३८४ |
| अग्निपुराण | ६८, १६५, २१८, ३८३ | अमीघुँट | २२६ |
| अग्निपुराणकार | १०२ | अमीर अहमद मीनाई | २८७ |
| अजीत सिंह | ३१५ | अमृतानन्द योगिन् | ६५ |
| अताउद्दौला | २० | अमोघवर्ण | ३३४ |
| अदारग | २२ | अयोध्याप्रसाद बाजपेयी | २२७, ३७२ |
| अध्यात्मप्रकाश | २६७ | अरस्तू | १८६ |
| अनगरग | १०२, ११३, २३१ | अरिल्ल (रसनिधि) | ४०४ |
| अनदकुमारी | ३८६ | अरिस्टोटल | १८६ |
| अनवर खाँ | ३६१ | अलकारकलानिधि | २६६ |
| अनवर चद्रिका | ३६१ | अलकारगगा | २६५ |
| अनुप्रास विनोद | २६५ | अलकारचद्रिका | १२८, २८६-२६०, |
| अनुभवप्रकाश | ३३८ | | ३३६ |
| अनूपविलास | २१ | अलकारचद्रोदय | १३४, २२७, ३४६-४७, |
| अनूप सगीतरत्नाकर | २१ | | ३५२ |
| अनूपसिंह | २१ | अलकारचिंतामणि | २८४ |
| अनूपाकुश | २१ | अलकारदर्पण | १३३, १३५, ३०८, २२७, |
| अपरोक्ष सिद्धांत | ३३८ | | ३५४-५५, ३५७ |
| अप्यय्य दीक्षित | ५०-५१, ५६, ७६, | अलकारदीपक | ३०५, ३५२ |
| १८८, २१८-२०, २२३, २२७, | | अलकारपचाशिका | १३४, २१४, २२७, |
| २२६, २५६, २७२, २८६, ३८७, | | | ३१६, ३३६, ३४१० |
| ३३८, ३७६ | | अलकारभूषण | ३५० |
| अब्दुलफजल | ४ | अलकारअमभजन | १३५, २८८-२८६ |
| अब्दुल अजीज | ६ | अलकारमणिमजरी | १३३, २२७, ३५५ |
| अब्दुल रहीम खानखाना—दे० 'रहीम' | | अलकारमाला | २५६ |
| अब्दुल हमीद | १२ | अलकाररत्नाकर | ३३८ |
| अभिज्ञानशाकुंतलम् | १०१ | अलकारलक्षण | ४६ |
| अभिनवगुप्त २५-२७, ३२, ३३, ३५-३७ | | अलकारशेखर | ५७, १५६, २३३, ४६४ |

| | | | |
|--------------------------------|-------------|----------------------------------|------------------|
| अलकारसंग्रह | ६५ | इक्षकमहोत्सव | ३४८ |
| अलकारसर्वस्व ४०, ४८, ७६, २३३ | | ई | |
| अलकशतक | १२८ | ईश्वरकवि | ३४६, ३६२ |
| अलबेलीलाल | ३५६ | ईश्वरी प्रसाद कायस्थ | ३६२ |
| अलबेलीलाल जू को छप्पय | ३०८ | उ | |
| अलबेलीलाल जू को नखशिख | ३०८ | उजियारे कवि | १३५, ३०७ |
| अलहयार खॉ | २६७ | उज्वलनीलमणि | १०३ |
| अवधूतभूषण | ३५७ | उत्तरार्द्धनायिकाभेद (गिरिधरदास) | ३३१ |
| अवधूत सिंह | ३५७ | उदयनाथ 'कवींद्र' १३४, १३६, १७३, | |
| अश्वघोष | २५ | २६३-६४, ३२२, ३५० | |
| अष्टदेशभाषा | २८३ | उद्धट ३७-४०, ४२, ४७-४८, ५०, ५२, | |
| अष्टयाम | २५१ | ५६-५८, ६०, ७६, ८७, २१७, | |
| अहमदशाह अब्दाली | १० | २१६-२०, २२३, २२५, २३५ | |
| अहोबल | २१ | उदितनारायण सिंह | ३५८, ४०६ |
| आ | | उदोतचद | ३४१ |
| आईनेअकबरी | २१ | उद्योतसिंह | २५१, ३१६ |
| आजम १३६, २५१, २६४, ३२१, ४०६ | | ऋ | |
| आत्मदर्शन पचीसी | २५१-५२ | ऋग्वेद व्याख्या (कवीन्द्राचार्य) | ५ |
| आनदधन | २८३ | ऋषिनाथ | १३३, २२७, ३५४-५५ |
| आनदलहरी | २२६ | ए | |
| आनदवर्धन २५-२६, ३२-३३, ३५, ३७, | | एकावली | २६, ५२ |
| ४३-४४, ४६-४७, ४६-५०, ५४-५५, | | एडीसन | ६६ |
| ५७-५८, ६०-६१, ६४, ६८-६९, | | एतमादउडौला | १६ |
| ७१-७२, ७५, ७७-७८, ८०, ८२- | | एस० के० दे, डा० | ३३४ |
| ८४, ८७, १००, १३७, १६५, | | ऐ | |
| २१७, २२१, २२३, २३४, ३७६, | | ऐनल्स आर्व राजस्थान (टाड) | ६ |
| ३८३-८४ | | औ | |
| आनदचिल्लस | ३३८ | औचित्यविचारचर्चा | ५३-५४ |
| आनदीलाल शर्मा | ३६२ | औरगजेब ६-१०, १२, १७, २०-२२, | |
| 'आमोद' टीका (रसमजरी की) | १०३ | १३६, २६७, ३२८, ३३८, ३४३, | |
| आयामल्ल | ४०२ | ४०६ | |
| आर्यासप्तशती ११२-११३, २५६-६०, | | औरगजेब ऐड क डीके आर्व मुगल एपायर | |
| ३८४ | | (एस० लेनपूल) | १० |
| आलम | १२३-२४, ३८१ | क | |
| आल्हखड | १६७ | कठमणि शास्त्री | २५६-२६१, २६३ |
| आस्फ खॉ | ५ | कठाभरणा (दुलह)—दे० 'कविकुल कठा- | |
| इ | | भरणा' | |
| इंग्लिश प्रोजेक्स्टाइल | १८६ | कठाभरणा (भूपति) | ३०४ |
| इतखाबे यादगार | २८७ | कठाभरणा (भोज)—दे० 'सरस्वती कठा- | |
| इब्रजीत सिंह | २२६-३०, २३२ | भरणा' | |
| इबारलनामा | १३ | कठाभूषण | ३४७ |

| | |
|--|-----|
| ककहरा (रामसहायदास) | ४०८ |
| कक्कोक (कोका पडित) | २३१ |
| कन्हैयालाल पोद्दार | २८ |
| कमलनयन | ३६१ |
| कमलाकर भट्ट | ४ |
| करणाभरण श्रुतिभूषण | १२८ |
| करनकवि १३६, २६३, २६७ | |
| करनेस १२७-२८, १३०, १६२, २१८, २३०, २३६-३७, ३४८ | |
| कर्णकवि ३६१ | |
| कर्णाभरण (करनेस) १२७, ३३६ | |
| कर्णाभरण (गोविंद) १३३, २२७, ३४६-५० | |
| कर्पूरमजरी | ७० |
| कर्मसिंह ३१५-१६ | |
| कलानिधि ३२५ | |
| कलियुगरासो २८४ | |
| कल्पलता ३५३ | |
| कल्याणमल्ल २२६, २३१ | |
| कल्लोलतरंगिणी ३५७ | |
| कविकर्णपूर २१८ | |
| कविकल्पद्रुम १३५, २६५ | |
| कविकल्पलता १५६, ४१४ | |
| कविकुलकठाभरण १३३, २२७, ३५०-५१, ३५६ | |
| कविकुलकल्पतरु १३२, २१४, २२७, २३८ | |
| कवितारसविनोद १३५, २२७, २७६ | |
| कवित्त (रसनिधि) ४०४ | |
| कविदर्पण १३५ | |
| कविराज | |
| कविप्रिया ११६-११७, १२८-३०, १३२, २१६, २२६-३०, २३२-३३, २३५, २३७, २४७-४८, २५६, २७४, २८१, २६५, ३३६-३७, ३६० | |
| कवि राज मार्ग ३३४ | |
| कबीन्द्र-दे० 'उदयनाथ' | |
| कबीन्द्राचार्य ५ | |
| काजिभी ११ | |
| काणो २५ | |
| कादंबरी ७२ | |
| कामशास्त्र २४, ३०२ | |

| | |
|---|--|
| कामसूत्र २४, १०२, ११३, २३१, २६२ | |
| कालरिज ८६ | |
| कालिदास २५, ३४, ६५, ११३, १३४, १५५-१५७, २६४, ३२८-३३० | |
| कालिदास त्रिवेदी ३२२, ३५० | |
| कालिदास हजारा २८८, ३२८ | |
| काव्यकलाधर १३६, २६३, ३४८ | |
| काव्यकल्पद्रुम ६८, ११७ | |
| काव्यकल्पलतावृत्ति ५७, २३३ | |
| काव्यदर्पण ३७, ५४ | |
| काव्यनिराण्य १३२-३३, २०४, २१४, २२७, २६५, २७०-७२, २७४ | |
| काव्यप्रकाश २८, ३१, ३३-३४, ४२, ४४-४६, ४६-५१, ५४, ११७, २२५, २२७, २३८, २४३, २५३-५४, २४३, २६१-६२, २७५, २७७, २८१, २८६, २६२, २६५, ३४०, ३४५, ३५३, ३८२ | |
| काव्यभूषण ३०४ | |
| काव्यमजरी २४६, २४८-४९, ३३६ | |
| काव्यमीमांसा २४, २६, ६८, ७० | |
| काव्यरत्नाकर १३५, २२७, ३६० | |
| काव्यरसायन १३४, २२७, २५१ | |
| काव्यविनोद २८४ | |
| काव्यविलास १३५, २१४, २२१, २२७, २८४-८६, ३७५ | |
| काव्यविवेक २३८ | |
| काव्यसरोज १३४, २१४, २२७, २६५ | |
| काव्यसिद्धांत १३४, २२७, २५६ | |
| काव्यसूत्रवृत्ति २३३ | |
| काव्यादर्श ३७-३८, ५०, ५६, ६१, ७४, ७६, २३३, २४८, ३३४ | |
| काव्यानुशासन ३२, ३७, ५५, ११२ | |
| काव्याभरण १३५, ३५७ | |
| काव्यालकार ४७-४८, ५८-५९, ७०, ७३, १०२-३, २३१ | |
| काव्यालकार काव्यसग्रह ३७, ३६-४०, ४७, ५२ | |
| काव्यालकारसूत्रवृत्ति ५३, ६६, ७० | |
| काव्यालोको ६६ | |
| काशिराज १३३, ३६१ | |
| काशीनाथ २२६, ३८६ | |

| | |
|--|-------------|
| काशीराम | २६२ |
| कुतक ४१-४३, ५१, ५५, ६०, ६३, ७१-७२, ७५-८७, ९३, १००, १३८, २१८, ३३१, २२३, ३७६ | |
| कुदन | १३६, २६४ |
| कुंक | ८ |
| कुचुमार | २४ |
| कुतुबशाह | १४ |
| कुमारपाल प्रतिबोध | ३८४ |
| कुमारसरणि १०६, १३३-३४, २१४, २२३, २२७, २२९, २५९-६०, २६२-६४, २७२, २८५ | |
| कुमारस्वामी | १५ |
| कुमारिल भट्ट | २५४ |
| कुलपति ५६, १३२-३३, २१४, २२१, २२३, २२७, २२९, २४३-४६, २६७, २८६, २९०, २९६ | |
| कुलपति मिश्र २४२, २४५-४६, ३८१, ३८६-८७, ३८९ | |
| कुवलयाणद १२७, २१८, २२५, २२७, २६२, २७७, २८०, २८९-९०, ३३७-४०, ३४३, ३४५-४८, ३५०-५६, ३५९-६०, ३६२, ३७१, ३८२ | |
| कुशलविलास | २५१-५२ |
| कुशलसिंह, राजा | २५१, ३०६ |
| कृपाराम ११५-१६, १२७-३०, २०२, २१८, २३०, २९४-९५, ३२६-२७, ३३५, ३६७, ३९३ | |
| कुशाश्व | २५ |
| कृष्णकवि १३६, २७६, २९४, ३२५-२६, ३९०, ३९२, ४०२-३ | |
| कृष्णाकाव्य | ३५७ |
| कृष्णाजू को नखशिख | २८८ |
| कृष्णाजू को नखशिख | २८८ |
| कृष्णाबिहारी मिश्र २६५, ३१९, ३४२ | |
| कृष्णभट्ट देवऋषि १३४, २९४, २९८, ३००, ३२१ | |
| कृष्णराज | ३३५ |
| कृष्णलाल | ३८६, ३९०-९१ |
| कृष्णलीला | २२९ |
| कृष्णलीलामृत | ११३ |
| कृष्णलीलावती | २६६ |

| | |
|--|------------------|
| कृष्णानंद व्यास | २२ |
| कैत्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया | २३७ |
| केदारभट्ट | ३६४-६५ |
| केशवग्रथावली | १३२, २३४ |
| केशवदास ५६-५७, ११६-१७, १२२, १२४, १२८-३०, १३२, १३७-३८, १५६, १७०, २००, २०४-६, २१९-२०, २२३, २२७-३७, २४१, २४९, २५६, २६२, २७२, २७४, २८१, २९३, २९५-९६, ३००, ३१८, ३२१, ३३५-३८, ३४०, ३५१, ३६३, ३७२, ३८१, ३८३, ३९०, ३९३ | |
| केशवदेव | ३८७ |
| केशवपुत्रवधू | ३८७-८८ |
| केशव मिश्र ५७, १०२, १२९, २१८, २३३, २४८, ३७६ | |
| केशवराम | १३५, २९४ |
| केशवराय | २६२, ३८६-८७, ३८९ |
| केसरीप्रकाश | ३५७ |
| केसरी सिंह, राजा | ३५७ |
| क्षेम कवि | १२९ |
| क्षेमेन्द्र | ५३ |
| ख | |
| खगराम | २९४ |
| खड्गाराम | १३५ |
| खफी खाँ | ६ |
| खानखाना-दे० 'रहीम' | |
| खुमान सिंह, राजा | ३५४ |
| खुशहालचंद | १३ |
| खूबतमाशा | ३६६ |
| ग | |
| गग १२७, १६७, १७०-७१, २०४, २६२ | |
| गगापुत्र-दे० 'रामजी उपाध्याय' | |
| गज सिंह | ३३८ |
| गरुडपुराण | ४१४ |
| गदाधर | २६२ |
| गाथासप्तशती | ३८४ |
| गाजीउद्दीन हैदर | ३११ |
| गिरिधर-दे० 'गिरिधर दास' | |
| गिरिधरदास १२४, १३३, १३६, २२७, २९४, ३३१, ३३३, ३६१-६२ | |

| | | |
|--|--------|---|
| गिरिधारन | ३६१ | १७८, १८०, १९२-९३, १९५; |
| गीतामाहात्म्य (सेवादास) | ३०८ | २१३, २६४, ३८१, ३९९, ४१३ |
| गीतावली | ३५३ | भाषा १२४ |
| गीतिसंग्रह (रसनिधि) | ४०४ | च ११३ |
| गुमान मिश्र | ३५५ | चंडीशतक ११३ |
| गुरुदत्त सिंह, राजा १३६, २९३, ३०४, ३२२, ३४७ | | चंद्र-दे० 'चंदबरदायी' |
| गुरुदीन पाडेय | ३३६ | चंदबरदायी ११३-१५, ११७, १५६, ३७३ |
| गुरुपचासिका | ३१५ | चंददास १३६, २९४, ३२२-२३ |
| गुलदस्त ए बिहारी | ३९२ | चंदन १३५, ३५७ |
| गुलाब कवि | ३३८ | चंदनसतसई ३५७ |
| गुलाब सिंह, राव | २८५ | चंद्रशेखर १२३-२४, १३६, २९३, ३१५-१७ |
| गुलाम नबी | १५६ | चंद्रालोक १२२, १२७, २२७, २७२, २७९-८०, २८९-९०, ३२०, ३३७-४०, ३४३, ३४५, ३४७-४८, ३५०-५१, ३५३, ३५६, ३८२ |
| गोट्ज | १५, १८ | चतुर्भुज २९६, ३३७ |
| गोकुलदास | ३२८ | चरणचंद्रिका ११३ |
| गोकुलनाथ | ३४८ | चरणदास ११३ |
| गोप १२८-२९, १३४, ३४५-४६ | | चरणदास १५ |
| गोपा २१८, ३३६-३७ | | चितामणि ४, ५६, १०३, ११२, ११७, १२९-३०, १३२-३३, १३७, २१४, २१८-१९, २२१, २२३, २२५, २२७, २२९-३०, २४१-४२, २६२, २७२, २९०, २९४-९६, ३१९, ३२८, ३४२, ३६३, ३८१, ३९३ |
| गोपाल कवि | ३३६ | चितामणि दीक्षित २६१ |
| गोपालचंद्र | ३३१ | चित्रचंद्रिका १३३, ३६१ |
| गोपालराम १३५, २९३, २९६ | | चित्रमीमासा १८८, २१८, २७८ |
| गोपालराय ३३७ | | चेतचंद्रिका ३६१ |
| गोपाल सिंह ३२८ | | चेतन २२७, ३६९ |
| गोपीनाथ ३४८ | | चेतसिंह ३६१ |
| गोपीपञ्चीसी २८८ | | चौरपचासिका ११३, ३८४ |
| गोपेन्द्र त्रिपुरहरभूपाल २१८ | | |
| गोवर्धन ११२ | | |
| गोवर्धनाचार्य २५९, २६१ | | |
| गोविंदकवि ५६, १३३, २१४, २२७, ३४९-५० | | |
| गोविंद ठक्कुर २१७ | | |
| गोविंद विलास १३६, २९४, ३२५ | | |
| गोविंद सिंह ३२५ | | |
| गौरीशंकर त्रिवेदी ३८६ | | |
| ग्रियर्सन, सर जार्ज ३८३, ३९१-३९२ | | |
| ग्वाल १३५, १५८-५९, १६१, १६३, २०५, २२९, २८७-८९, २९१, २९३, ३१८, ३३३, ३६२ | | |
| घ | | |
| घटकपर्प ११३ | | |
| घनानंद ७२, १२३-२४, १४७, १७६, | | |

| | |
|----------------|---------------------------------|
| छदसार | २३७ |
| छदसार पिंगल | ३१६, ३६३ |
| छदसार सग्रह | १३४, ३६३ |
| छदानंद पिंगल | २२७-२७२ |
| छदानुशासन | ३६४ |
| छदाणव पिंगल | १७२, २२७, २७०, २७४, ३६७ |
| छदोनिवास | ३६५ |
| छदोमजरी | २५७, ३७३ |
| छन्नप्रकाश | १२४ |
| छन्नसाल | २८४, २६७, ३१६, ३४२, ३८८, ४०६ |
| छन्नसालदशक | ३४२ |
| छन्नसिंह, राजा | ३०८, ३५५ |
| छिमराज | १२८, ३३७ |

ज

| | |
|--------------------------|--|
| जगनामा | |
| जगत्तमोहन | ३०४, ३४८ |
| जगत सिंह | १३५, २२७, २२६, २७८, २८०-८२, ३१०, ३४७ |
| जगदीशलाल | |
| जगद्दर्शन पचीसी | २५१-५२ |
| जगद्विनोद | १३२-३३, १५३, १७६, २२७, २६३-६४, २६३, ३१०-११ |
| जगनिक | १६७ |
| जगन्नाथ अवस्थी | ४१० |
| जगन्नाथदास रत्नाकर | १६६, ३५६, ३८६- ८७, ३८६-६२, ४०३, ४०५ |
| जगन्नाथ, पंडितराज | ५, २६, ४३, ४७, ५०, ७२, १००, २१७-१६, २२२- २३, २४४, २६१, २८६, ३७४, ३७६, ३६३ |
| जगन्नाथ प्रसाद | ४०४ |
| जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' | १६८, १७२, ३३३ |
| जटाशकर | २३७ |
| जन्नकपचीसी | ३१८ |
| जतराज | ५६, १३५, २२७, २२६, २७६- ७८ |
| जन्मार्दन | २५६, २६१ |
| जन्मरूप भुजग | २२७, ३६७ |
| जन्मोर्विद वाजपेयी | २५६, २६१ |
| जन्मचंद्र-दे० 'चंद्रदास' | |

| | |
|-------------------------|--|
| जयदेव | १६, ५०-५१, ५६, १२२, २१७- २३, २२७, २७२, २८१-८२, ३३६, ३३८, ३७६, ३८२, ४१६ |
| जयवल्लभ | ११२ |
| जयसाह-दे० 'जयसिंह' | |
| जयसिंह | ८, २४२, २६०, ३०४, ३८७- ८६, ३६८, ४०१-३ |
| जयसिंहप्रकाश | २८४ |
| जसवत सिंह, राजा | ७, ५६, १३२, २१४, २२१-२२, २४०, २६७, २८२, २८४, २६४, ३१२, ३३६, ३३८- ४०, ३४५, ३४७, ३४७, ३५१, ३६० |
| जसहर चरिउ | ३३५ |
| जहाँगीर | ३, ६, ११, १६, १६, २३०, ३१६ |
| जहाँगीरजसचंद्रिका | २२६-३०, २३५ |
| जहाँदारशाह | १२-१३ |
| जहाँनारा | ११ |
| जातिविलास | १३५, २५१-५२, २६४ |
| जानकी जू को विवाह | ३१८ |
| जानकीप्रसाद | २३७, ३६२ |
| जायसी | २०१ |
| जायसी ग्रथावली | १५६ |
| जालमर्जोगाजोंत | ३२८ |
| जाहिरा कुजडिन | १३ |
| जुगल नखशिख | २८४ |
| जुगलप्रकाश | १३६, २६३ |
| जुगल रस प्रकाश | ३०७ |
| जुगलकिशोर दीवान | ३०७ |
| जुगलविलास | ३०८ |
| जुलफिकार अली, नवाब | ३६२ |
| जैत सिंह | ३२८ |
| जैनदी अहमद | २३७ |
| जैमिनी अश्वमेध | ३६६ |
| जैमुनि की कथा | २२६ |
| जोखूराम, पंडा | ३६२ |
| जोधराज | १२३-२४ |
| जोरावर सिंह | ३५८ |
| ज्योतिरीश्वर | २३१ |
| ज्वालामुखी प्रसाद मिश्र | ३६२ |
| ज्वालामुखी | ३१६, ३४१-४२ |

| | | |
|--|----------|--|
| भाउलाल | ३०६ | २२१, २२३, २२७, २७२, २६३, २६६ |
| ट | | त्रिषष्टि महापुरुष गुणालकार , ३३५ |
| टाड, कर्नल | ८, ३३४ | थ |
| टाडस-पर्सनल मैरेटिव | ८ | थानकवि २२७ |
| टिकैतराय | ३०६, ३५८ | द |
| टिकैतरायप्रकाश (बेनी) | ३०६, ४०२ | दडी २७, ३७-४०, ४२, ४७-५२, ५४, ५६-५६, ६१-६२, ६७, ६६-७१, ७४-७६, ७८, ८१, ८७, ११६, १२६, २१८-२२०, २२२-२३, २३३-३४, २४७, ३३४-३५, ३३८, ३८२ |
| टोडरमल | १६७ | दपतिविलास १३५, २६४ |
| ट्रैवर्नियर | ७, ११ | दक्खिनी का गद्य और पद्य ३३५ |
| टिवलाइट आफ द मुगल्स, परसीवल स्पियर | ८ | दत्त ३५४ |
| ठ | | दयाकृष्ण ३११ |
| ठाकुर १२३-२४, ३५५, ३८१, ३८७, ३६१ | | दयाराम ३७६ |
| ड | | दलपतिराय ३३८, ३४७ |
| डच डायरी, बैलेनटाइन | १३ | द प्रोब्लेम आव् स्टाइल १८६ |
| डेडराज-दे० 'जनराज' | | द लिस्ट आव् द संस्कृत राइटर्स आव् शाहजहाँ रेन इन ए बिबिलियोग्राफी आव् मुगल इंडिया ५ |
| रा | | दलेलप्रकाश २२७ |
| रायकुमार चरित | ३३५ | दलेल सिंह २४६, २४८ |
| त | | दशरथ २२७, ३६८, ३७३ |
| तत्वदर्शनपचीसी | २५१-५२ | दशरूपक १०२, २४४, २६२ |
| तत्वसंग्रह | ३५७ | दानलीला १२४ |
| तरल टीका (एकावली की, मल्लिनाथ कृत) | ५२ | दामोदर पंडित २१-२२ |
| तरुण वाचस्पति | २१७ | दारा ५-६ |
| ताजक | ३१५ | दाराशिकोह ५ |
| तानसेन | २१ | दास-दे० 'भिखारीदास' २७६ |
| तिप्पभूपाल | ६५ | दिग्विजय सिंह ३५८-५६ |
| तिलशातक | १२८ | दीपनारायण सिंह ३५६ |
| तिसष्टि महापुरिस गुणालकार | ३३५ | दीपप्रकाश ३१५ |
| तुगारण्य | २२६ | दीप सिंह ११३ |
| तुलसीदास, गोस्वामी ३४-३५, ११६-१७, १३०, १५६, १६७, १७०-७१, १७३-७४, २०१, २०३-५, २१०, २३७, २५७, २८२, २६३, ३३२, ३५२-५३, ३७३, ४०१, ४१६ | | दुर्गासप्तशती ११३ |
| तुलसीदास (रसकल्लोल वाले) | १३५, २६६ | दूलह ५६, १३३, १३७, २१४, २२३, २२७, ३३७, ३५०-५२, ३५४, ३६० |
| तुलसीभूषण | १३४, ३५३ | दुषण उल्लास ३४२ |
| तेरिज रससाराश | २७० | दे, डा० एस० के० ३३४ |
| तोष १०६, १५३, १६०, १७६, २१४, | | देव २२, ५६, ११६, १३२-३५, १३७- |

| | |
|---|------------------|
| ३८, १४२-४३, १४५, १४७, १४९- ५७, १५९, १६२, १६८-७४, १७६- ७९, १८२-८३, १८५, १९१-९२, १९४-९६, १९९-२००, २०३, २०५- १४, २२१, २२३, २२७, २२९, २३७, २५०, २५३, २५५-५८, २६९, २७२, २७५, २७७, २९०, २९३-९४, ३००, ३११, ३२१, ३३१, ३५१, ३७७, ४०५ | |
| देवऋषि-दे० 'कृष्णभट्ट देवऋषि' | |
| देवकीनन्दन-२९४, ३२५, ३५७, ३८७ | |
| देवकीनन्दन टीका (बिहारी सतसई की) | |
| ३९१ | |
| देवकीनन्दन सिंह | ३९१ |
| देवचरित | २५१-५२ |
| देवदत्त-दे० 'देव' | |
| देवमायाप्रपञ्च | २५१-५२ |
| देवशतक | २१४, २५१-५२ |
| देवीप्रसाद 'प्रीतम' मुशी | ३९२ |
| देवेश्वर | २१८ |
| दोहावली (मतिराम) | १९९-२०१ |
| दौलतराम उजियारे | १३६, २९३ |
| दौलतराम | ३०७ |
| द्रोणपर्व | ४४२ |
| द्वयाश्रय काव्य | ३८४ |
| द्विजदेव १२३, ३८५, ४१०-११, ४१३ | |
| घ | |
| घनजय १०२, २१७-१८, २३९, २४४, २९२ | |
| घनिक | २१७ |
| घरनीदास | १५ |
| ध्रुवदास | १३० |
| ध्वन्यालोक ४१, ४४-४७, ४९-५०, ५५- ५६, ६०, ६८, ७५, ८७-९८, ९०, ९२, १०५ | |
| न | |
| मंदकिशोर | २२७, ३६८-६९, ३७२ |
| नन्ददास ११६-१७, १२४, १२६-२८, १३०, २१८, २९४-९५, ३२६-२७, ३३६ | |
| नन्दिकेश्वर | २४, २६ |
| नखशिख (कुलपति मिश्र) | ४४२-४३ |

| | |
|--|---------------|
| नखशिख (केशव) | २२९-३०, २३५ |
| नखशिख (चन्दन) | ३५७ |
| नखशिख (चन्द्रशेखर) | ३१५ |
| नखशिख (देवकीनन्दन) | ३५७ |
| नखशिख (पञ्जनेस) | ४०९ |
| नखशिख (बलभद्रमिश्र) | १२८, २८५ |
| नखशिख (नृपशम्भु) | ४०५ |
| नखशिख (रसलीन) | |
| नखशिख (लीलाधर) | १२८ |
| नखशिख (सूरति मिश्र) | २५९ |
| नगेन्द्र, डा० १४४, १५०, १६३, १६७, १६९-७०, १७२, २०२, २०७, ३८५ | |
| नक्ष ३३५ | |
| नरपति नाल्ह | ११७ |
| नरसिंह कवि | २२२ |
| नरहर कवि | ३५४ |
| नरहरिदास, महत | ३८९-८९० |
| नरेद्रभूषण | ३५८ |
| नरेद्र सिंह | ३१५, ३१७ |
| नरोत्तमदास | १६७, १७०-७१ |
| नर्तननिर्णय | २२ |
| नवनीत चर्वेदी | २८७ |
| नबरसतरंग १३३, २२७, २९३, ३११, ४०२ | |
| नवलकृष्ण | ३११ |
| नवलरस चन्द्रोदय | १३४, २९४, ३२५ |
| नवीन | १३६, २९३, ३१२ |
| नागकुमार चरित | ३३५ |
| नागरीदास | १२३ |
| नागेशभट्ट | २१८ |
| नाटक लक्षण रत्नकोष | १०२ |
| नाट्यदर्पण | १०२ |
| नाट्यदीपिका | १३६ |
| नाट्यशास्त्र २४-२६, ४७, ५८, १०३-३, १२७, २१८, २५५, २९२, ३०७, ३१७, ३२८ | |
| नाथ-दे० 'हरिनाथ' | |
| नादिरशाह | १० |
| नानारावप्रकाश | ३११, ३३६, ४०२ |
| नाभा, महाराज | २८८ |
| नाममाला (चन्दन) | ३५७ |
| नामार्याव | ३६० |

| | | |
|------------------------------------|---------------|----------------------------------|
| नायिकाभेद (कुदन) | १३६, २६४, ३३० | १५८-६२, १६८-७४, १७७, १७९, |
| नायिकाभेद (केशवराम) | १३५, २६४ | १८६, १९२-६५, १९८-६६, २०३, |
| नायिकाभेद (केशवराम) | १३५, २६४ | २०५, २०७, २१०-१२, २१४, |
| नायिकाभेद (केशवराय) | ३३० | २२३, २६३, २६०, २६३, ३१०-११, |
| नायिकाभेद (खगराम) | २६४, ३३० | ३५४, ३५६-६०, ३६६-४००, |
| नायिकाभेद (खडगराम) | १३५ | ४०५, ४१० |
| नायिकाभेद (यशोदानदन) | ३३० | पद्माकर पचामृत १३३ |
| नायिकाभेद (रग खों) | १३५, २६४, ३३० | पद्माभरण १३२, २२७, ३५४, ३५७, |
| नायिकाभेद (शभुनाथ सोलकी) | १३५, | ३५६-६० |
| २६४, ३२८ | | परमानन्ददास १३० |
| नायिकाभेद (श्रीधर) | ३३० | परशुराम मिश्र २४२ |
| नखायण | २१६ | पर्सी ब्राउन-दे० 'ब्राउन, पर्सी' |
| नखायणदास | २२७, ३६७ | पवनसुलताना ३६२ |
| नारायणदीपिका | २१६ | पाणिनि २५ |
| नारायण भट्ट | १३६ | पातीराम २५१ |
| निघटु | २४ | पिंगल (समनेस) ३०४ |
| नित्यानन्द | ५ | पिंगलग्रन्थ (जगतसिंह) २७८ |
| निराला | १७१ | पिंगल (चिन्तामणि) २२७, २३८, |
| निरुक्त | २४ | २४१ |
| निर्णयसिंधु | ५ | पिंगल (नदकिशोर) २२७, ३६८ |
| नीलकण्ठ मिश्र | २६६ | पिंगल (रघुधोर सिंह) ३६० |
| नूरजहाँ | १६ | पिंगल (रसिक गोविन्द) २८३ |
| नृसिंह | ३३४ | पिंगल रूपदीप भाषा (जयकृष्ण भुजग) |
| नृसिंह-दे० 'शभुनाथसुलकी (या सोलकी) | ३८५, ४०६ | २२७, ३६७ |
| नेवाँज | ३९२ | पीटर मडी-दे० 'मडी, पीटर' |
| नेहनिदान | ३९८ | पुड ११७, १२६ |
| नैनपचासा | ३९८ | पुडरीक विठ्ठल २१-२२ |
| नैषध | १५५ | पुरातन प्रबन्ध संग्रह ३८४ |
| प | | पुरदरमाया ३१८ |
| पचसायक | २३१ | पुरुषोत्तम २५६ |
| पचाध्यायी (सोमनाथ) | २६६ | पुष्पदन्त ३३५ |
| पञ्चासिका | ३४२ | पुष्प २३०, ३३४, ३५ |
| पत (सुमित्रानन्दन) | ६५ | पुष्पदन्त ३३४ |
| पजनेस | ३८५, ४०६ | पूषी कवि ३३४-३५ |
| पजनेसप्रकाश | ४०६ | पृथ्वीराजरासो ११३-१४ |
| पतञ्जलि | २५ | पृथ्वीसिंह-दे० 'रसनिधि' |
| पट्टिकाबोध | ३५७ | पोएटिक्स १८६ |
| पद्मनन्ददास २२६, २३७, २४६, २४८, | | प्रतापनारायण सिंह, महाराज २२, |
| २५०, ३३६ | | ३३३, ४१० |
| पद्म | १०१ | प्रतापचन्द्रशोभषण २३६ |
| पद्माकर ५६, ११५, १३२-३३, १३७- | | प्रतापसाहि ५६, १३२-३३, १३५, १३७, |
| ३८, ५४६-४८, १५०, १५२-५५, | | २१४, २१५, २२१, २२३-२४, |

२२७, २२९-३०, २८४-८६, ३३१,
३३८, ३८५

| | |
|---|------------------|
| प्रताप सिंह | २६६, ३१० |
| प्रतिहारेदुराज | ३९-४०, ४८, २१८ |
| प्रदीप टीका (काव्यप्रकाश की) | २९-३० |
| प्रबोध कोष | ३८४ |
| प्रबोधचन्द्रोदय | २३०, २५२, ३३८ |
| प्रभा टीका (काव्यदर्पण की) | ५९, ७४ |
| प्रभाकर भट्ट | २९ |
| प्रभुदयाल पांडेय | ३९२ |
| प्रभुदयाल मीतल | २८७-८८ |
| प्रवीणाराय | २३२ |
| 'प्रवीन', पंडित | ४१० |
| 'प्रसाद' जयशंकर | ३२२ |
| प्राइवेट जर्नल आव् लार्ड हेस्टिंग्स | १३ |
| प्राकृत पैगलम् १६६-६७, २६४-६६, ३६८, ३७३, ३८४ | |
| प्राकृत व्याकरण (हेमचंद) | ३८४ |
| प्राकृत सतसई (हमलकृत) | ११२ |
| प्राज्ञविलास | ३५७ |
| प्राणनाथ | १५, ३८८ |
| प्राब्लेम् आव् स्टाइल, द | |
| प्रेमचंद्रिका | १७९, १९१, २५१-५२ |
| प्रेमतरंग | २५१-५२ |
| प्रेमपचीसी | २५१-५२ |

फ

| | |
|------------------|----------|
| फतेहप्रकाश | १२८, २२७ |
| फतेहभूषण | |
| फतेहसाहि | ३१९, ३५७ |
| फर्रुखसियर | १० |
| फाजिलअली | २९७ |
| फाजिल अली प्रकाश | २९७ |
| फूलमंजरी | ३१९ |

ब

| | |
|--------------------------|---------------|
| बदायैरागी | १० |
| बदन सिंह | २६६ |
| बद्रीनाथ | ३०६ |
| बख्तविलास | १३६, २९४, ३३१ |
| बख्तावर सिंह | ३३१ |
| बनवारी | १२३ |
| बनारसीदास, डा० | ४ |
| बरवैनायिकाभेद (यशोदानदन) | १३६, २९४ |

बरवैनायिकाभेद (रहीम) ११६, १२८,
२९४-९५, ३२६, ३२८, ३३०

| | |
|--|------------------|
| बरवैरामायण | ११६ |
| बर्नियर | ७, ११ |
| बर्नियर्स ट्रैवेल्स | ११ |
| बरिबड सिंह | ३४८ |
| बलवीर | ७, १३५, २९४, ३३७ |
| बलभद्र मिश्र १२७-२८, १३५, २२९, २५९, २८५, २९३, २९५ | |
| बलवान सिंह-दे० 'काशिराज' | |
| बलिदेव | ४१० |
| बहादुरशाह | १० |
| बाग मनोहर | ३३६ |
| बारहमासा (मोहनदास) | १२८ |
| बारहमासी (रसनिधि) | ४०४ |
| बालकृष्ण भट्ट | २६१ |
| बालकृष्ण (रामचंद्र प्रिया-पिंगलवाले) | |
| १२८ | |
| बालकृष्ण शास्त्री | २६० |
| बालबोधिनी टीका (काव्यप्रकाश की) | |
| ३५ | |
| बालमुकुंद | २८३ |
| बालरामायण | ७० |
| बालिचरित्र | २२९ |
| बिलग्रामी-दे० 'अब्दुल जलील, मीर' | |
| बिल्हरा | ३८४ |
| बिहारी ११६-१७, १२३-२४, १३८, १४५-५०, १५३-५४, १५७-५९, १६६, १७९-८०, १८२, १८४-८८, १९२-९४, १९७, २००, २०५-६, २०९, २११, २१४, २४१-४२, ३०४, ३१९, ३३३, ३४८, ३६०, ३८४-९६, ३९६-४०१, ४१३, ४१६ | |
| बिहारीबिहार | ३८७ |
| बिहारीबोधिनी १७७, १७९, १९०, ३९२ | |
| बिहारीरत्नाकर | १२३, ३९१ |
| बिहारीलाल दुबे | २५०-५१ |
| बिहारी सतसई ११६, १८०, १८२, १८५, २०१, २०४-५, २१४, २५९, ३८१, ३८६, ३९३, ३९५, ३९९, ४०१-३ | |
| बीरबल | १८, १७०, ३१९ |
| बृहत्संहिता | ४१४ |

| | |
|----------------------------|---|
| बुदेलवैभव | ३८६ |
| बुद्धसिंह जी देव | २६८ |
| बेनी | २६२, ३८५, ४०२ |
| बेनी दीन-दे० 'बेनी प्रवीन' | |
| बेनीप्रसाद | १३६, २६४, ३०० |
| बेनीप्रवीन | ११५, १३३, १३७, १५६, १८८, १९७, २१४, २२३, २२७, २६३, ३३१, ३३६, ४०२ |
| बेनीबदीजन | १३६, १६०, १७६, २६३, ३०६, ३५८, ४०२ |
| बैताल | १२४ |
| बैरीसाल | १३५, ३५४, ३५६-६० |
| बौद्धा | १२३-२४, ३८१ |
| ब्रजपति भट्ट | १२८, १३५, २६३ |
| ब्रजभारती | २८७-८८ |
| ब्रजविनोद (नायिकाभेद) | १३६, २६४, ३३१ |
| ब्रजेश | ३३३ |
| ब्रह्म | २६२ |
| ब्रह्मदत्त | ३५८ |
| ब्रह्मवैवर्त पुराण | १०१ |
| ब्राउन पर्सी | २० |

अ

| | |
|----------------------|--|
| भक्तचिन्तामणि | ३६६ |
| भक्ति रसामृत सिन्धु | ३०५ |
| भक्तिसुधानिधि | ३०५ |
| भगत-दे० 'रामसहायदास' | |
| भगवतराय खीची | २६७, ३०५, ३५२ |
| भगवत् कवि | ४०६ |
| भगीरथ मिश्र, डा० | २६५, २८३, ३६६, ३४२, ३४५, ३५०, ३५३, ३५७ |
| भट्ट केदार | ३६४-६५ |
| भट्टतौत | ३२-३३, २१८ |
| भट्टनायक | २७, ३२-३७, ६३, ६५-६६, २१८, ३७६ |
| भट्टलोल्लट | २६-३१, ३३, ३७, ५५, २१७-१८ |
| भट्ट वावन भलकीकर | ५१ |
| भरत | २४-२६, ४३, ४७-४८, ५३, ५८, ७८, १०१-५, १०७, ११५, १२७, २१७-१८, २२३, २५५, २८४, |

| | |
|--------------------------------------|---|
| २६२, २६८, ३०७, ३१७-१८, ३२७, ३३५, ३७६ | |
| भरतसूत्र | २७-२८, ३०, ३२, ३५-३७, २२४, २६७ |
| भर्तृहरि | ६१, ११३, २३२ |
| भवभूति | ३४ |
| भवानीदत्त वैश्य | २५१ |
| भवानीदास | ४०८ |
| भवानीदीन | ३६४ |
| भवानीविलास | १३३, २५१-५२, २६४, ३२१ |
| भागवत | १०१ |
| भागवत भाषा (भूपति) | ३०४ |
| मानकवि | ३५८ |
| भानु-दे० 'जगन्नाथप्रसाद 'भानु' | |
| भानुदत्त | १६-१७, १०५, १२२, १२७, २८८, २६२, २६५, २६७, ३०८, ३२७, ३७६ |
| भानु मिश्र | १०३-७, १०६-११०, २१८-२१, २२३, २२५, २२७, २२६-३०, २३६, २५५, ३६७, २७२, २७७, २८५, ३०५ |
| भामह | २५, ३७-४०, ४६-५१, ५६-५८, ६६-७०, ७२-७५, ७८, ८७, १२६, १६३, २१७, २१६, २२३, २३४, २५६, ३८२ |
| भामह विवरण | ३७, ४२, ४७-५०, ५६, ८१, ८७, २४४, ३३५ |
| भारतभूषण | २२७ |
| भारतीभूषण | १३३, ३६१-६२ |
| भारतेन्दु हरिश्चन्द्र | १३०-३१, ३३१-३३, ३६२ |
| भावप्रकाश | ११० |
| भावभट्ट | २१-२२ |
| भावविलास | ५६, १३३, २५०-५३, २५६, २६३, ३००, ३४२ |
| भावसिंह | ३३६ |
| भावार्थ प्रकाशिका टीका | ३६२ |
| भाषाभरण | १३५, ३५४, ३५७, ३५६ |
| भाषाभूषण (जसवतसिंह) | १३२, २२२, २२७, २८२-८३, २८५, ३३६, ३३८-४०, ३४५, ३४६-५२, ३५५, ३५६ |

| | |
|---------------------------------|--|
| २५३, २५५, २६७, २७७, ३०५ | |
| ३१६, ३८२ | |
| रसतरंगिणी (शङ्खनाथ मिश्र) १३६, | |
| १२६३, ३०५, ३५२ | |
| रसदर्पण (सेवादास) २६३, ३०८ | |
| रसदीप १३६, २६३, ३०४ | |
| रसनिधि २१४, २७०, २७६, २७८, | |
| ३४५, ३८५, ४०३, ४१३ | |
| रसनिधिसार ४०४ | |
| रसनिवास १३५, २६३, ३०८, ३२३ | |
| रसपीयूषनिधि १३४, २१४, २२७, २६६- | |
| ६८, ३६७ | |
| रसप्रदीप २६-३० | |
| रसप्रबोध १३३-३४, २२७, २६३, ३०१, | |
| ३०७ | |
| रसभूषण (याकूब खाँ) १३४, २६३, | |
| ३००, ३४६ | |
| रसभूषण (शिवप्रसाद) ३६० | |
| रसमजरी (कुलपति) २२४ | |
| रसमजरी (चिंतामणि) २३८ | |
| रसमजरी (नंददास) १२४, १२६-२८, | |
| २६४-६५, ३२६-२७, ३३६ | |
| रसमजरी (भानुदत्त) १६-१७, ११६, | |
| १२२, १२७, २४१, २५३, २८८, | |
| २६२, २६५, २६७, ३०२-३, ३१८, | |
| ३२०, ३२४, ३२७-२८, ३८३ | |
| रसमजरी (भानु मिश्र) १०३, २१८, | |
| २२१, २२५, २२७, २३०, २६७, | |
| २७२, २७७, ३०६, ३१३, ३१६, | |
| ३२१-२२, ३२६ | |
| रसमाला २५६ | |
| रसमृगाक २७८ | |
| रसरंग १३५, २८८, २६३ | |
| रसरत्नाकर १३५-३६, २५६, २६३-६४, | |
| २६६-६७, ३०४, ३३१, ३३३, ३४७, | |
| ३६०-६१ | |
| रसरत्नावली- १३५, २६४, ३१८ | |
| रसरहस्य १३२-३३, २१४, २२७, २४२- | |
| ४४, २६७ | |
| रसरत्न १३२-३३४, १५३, १७७, १७६, | |
| १६६, २१४, १२२७, २८५, २६४, | |
| ३१६-२०, ३४२ | |

| | |
|---------------------------------|--|
| रसरूप १३४, ३५२ | |
| रसललित २२६ | |
| रसलीन १०६, १३३-३४, २०५, २१४, | |
| २२१, २२७, २७२, २६३, ३००-४, | |
| ३०७ | |
| रसविनोद (रामसिंह) ३०८ | |
| रसविलास (देव) १३३-३४, २२७ | |
| रसविलास (बलभद्र मिश्र) २६३, २६५ | |
| रसविलास (बेनी बदीजन) १३६, २६३, | |
| ३०६, ४०२ | |
| रसविलास १३५, २५१-५२, २६४, ३१८ | |
| रसवृष्टि १३६, २६३, ३०६ | |
| रसशिरोमणि ३०८, ३२३-२५ | |
| रसशृंगार समुद्र १३६, २६३, ३०० | |
| रससागर १३५-३६, २६५, २६३, २६६, | |
| ३०० | |
| रससारांश १३३-३४, २२७, २७०-७२, | |
| २६३, ३०० | |
| रसानंद लहरी २५१ | |
| रसार्णव १३५, २३१, २६३, २६६-६७ | |
| रसार्णवसुधाकर २३१ | |
| रसिकजी ३४७ | |
| रसिकगोविंद १३३, २२६, २८३-८४, | |
| ३६१ | |
| रसिकगोविंदानंदनधन १३३ | |
| रसिकप्रिया ११६-१७, १२८-२६, १३२, | |
| २२६-३१, २३३, २३५, २५६, २८१, | |
| २६३, २६५-६६, ३००, ३०७, ३१८, | |
| ३२६, ३३६, ३६० | |
| रसिकमोहन १३३, २२७, ३०४, ३४८ | |
| रसिकरजन २५६-६० | |
| रसिकरसाल १०६, १३३-३४, २२७, | |
| २५६-६२, २६४ | |
| रसिकविनोद १३५, २६६, ३१५ | |
| रसिकविलास १३३, २६३, ३०४-५, | |
| ३५० | |
| रसिकसुमति ५६, १३४, २२७, ३४६-४७ | |
| रसिकानंद २८८ | |
| रहीम १६, ११६, १२७-२८, २१०, | |
| २१८, २३०, २८२, २६४, ३००, | |
| ३२६, ३२८, ३८६ | |
| रागमजरी २२ | |

| | | | |
|-------------------------------------|---------------|-----------------------------------|---------------------|
| रागमाला | २२ | रामसहायदास | २१४, २२७, ३६६-७१, |
| रामरत्नाकर | २२, २५१-५२ | ३७३ ४०८, ४१३, | |
| राघवन् | ७१ | रामसिंह | १३३, १३५, २२७, २२६, |
| राघवापाडवीयम् | ७३ | २४२, २४६, २६३, ३०८, ३२३- | |
| राष्ट्रतरंगिणी | २२ | २५, ३२८, ३५५, ३७७, ३६० | |
| राजपूतपयूडैलिज्म | ८ | रामायण (वाल्मीकि) | ६६, २३८ |
| राजशेखर २४, ६०, ६८, ७०, ३८१ | | रामायण सूचनिका | २८३ |
| राजशेखर सूरि | ३८४ | रामालकार | ३४५ |
| राजकवि | ३६६ | रामालकृत मजरी | २२६ |
| रार्जसिंह | ७, ३६५-६६ | रायकृष्णदास | १७ |
| राजानकतिलक | ३१७ | रावभाऊ सिंह | ३१६ |
| राधाग्रन्थक | २८८ | रावमर्दन सिंह | २६७ |
| राधाकृष्णदास | ३८६ | रासपचाध्यायी | ३२२ |
| राधाचरण गोस्वामी | ३८७ | राहुल सांस्कृत्यायन, म० प० | १२१ |
| राधामाधव बुध मिलन विनोद | ३२६ | रिचर्ड्स | १०१ |
| राधामाधव मिलन | २८८ | रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और | |
| राधवल्लभप्रकाश, सिद्धांत और साहित्य | ३३६ | उनकी कविता १४४, १५०, १६३, | |
| राधासुधाशतक | ४०७ | १६७, १७०, २०७, ३८५ | |
| रामकुमार वर्मा, डा० | १२१-२२ | रुद्र ३७-३८, ४८, ५०, ५२-५४, ६७- | |
| रामचंद्र गुणचंद्र | १०३, २१८ | ६८, ७०-७२, ७५, ७८, १०२-५, | |
| रामचंद्रप्रिया (पिंगल) | १२८ | १०६, २१८, २२६, २३१, २४४, | |
| रामचंद्रभूषण | १३४, ३४५ | २५६ | |
| रामचंद्र शुक्ल ८६-८७, १२१, १२४, | | रुद्रभट्ट | १०२, २१८, २७२, ३६२ |
| १२६, १३८, १५६, १६५, २०७, | | रुद्रसाहि सोलकी | ३३७, ३४२ |
| २३८, २४०, २८३, ३३४, | | रुद्रक ४०, ४८, ५०, ५२-५३, ७६, | |
| ३५, ३४२, ३४४, ३४७, ३५०, | | २१७, २२३, २३३ | |
| ३५२, ३५७-५८, ३८३, ३८६-८३, | | रूप गोस्वामी १४, १०२-४, १०६, १०६, | |
| ३६८, ४००, ४०८, ४१०, ४१६ | | २३१ | |
| रामचंद्राभरण | १३४, ३४५ | रूपदीप चिंतामणि | ३६६ |
| रामचंद्रिका २२६-३०, २६४-३५, २३७, | | रूपविलास | १३४, २२७ |
| ३३६ | | रूपसाहि | १३४, २२७ |
| रामचरण तर्कदायीश | २१८ | रैबल्स एंड रिकलेक्शस (बी० स्मिथ) | १३ |
| रामचरितमानस | २०१, २३०, ४०१ | ल | |
| रामजी उपाध्याय 'गगपुत्र' | २३७ | लक्षण शृंगार | ३१६ |
| रामदहिन मिश्र | ६५, ६८ | लक्ष्मी सिंह | ३२८ |
| रामप्रताप | ३६६ | लघुपिंगल | २२७ |
| रामदास | १३५, ३५६ | लछमनदास | ३०६ |
| रामभट्ट फरखाबादी | ३२५ | लछमनचंद्रिका | २८३ |
| रामशाह | २२६ | लछिराम | ३३३, ४१० |
| रामसतसई | २१४, ४०८ | ललितललाम १३२-३३, २१४, ३२७, | |
| | | ३१६-२०, ३३६-४२, ३४४ | |

| | |
|---------------------------|-----------------------|
| लल्लू लाल | ३६१ |
| लाल | १२३-२४, १३६, २६४, ३२५ |
| लालकुंवर | १२-१३ |
| लाक्ष्मचंद्रिका | ३६१-६२ |
| लाला भगवानदीन | ३६२ |
| लालित्यलता | ३५४ |
| लाहोरी | ११ |
| लीलाधर | १२८ |
| लीलावती | २६१ |
| लेनपूल | १० |
| लोकनाथ चौबे | १३५, २६३, ३०० |
| लोचन-दे० 'ध्वन्यालोकलोचन' | |
| लोल्लट-दे० 'भट्ट लोल्लट' | |

व

| | |
|----------------------------|--|
| वशमणि | १३६, २६४ |
| वशीधर | ३३८, ३४७ |
| वक्रोक्तिजीवित | ४२, ७२, ८५, १३८ |
| वक्रोक्तिपचासिका | ११३ |
| वधूविनोद | १३४, २६४, ३२८-३० |
| वराहत्नाकर | ३७३ |
| वसंतमजरी | ३३१ |
| वाग्भट | १०७, २८६ |
| वाग्भट (प्रथम) | १०२, २१८-१६, २८३ |
| वाग्भट (द्वितीय) | १०२, १०६, २१८-१६ |
| वाजिदञ्जलीशाह | २३ |
| वारणभट्ट | ५८, ७२-७३, २६१ |
| वारीणीभूषण | ४०८ |
| वात्सायन | ११३, २६२ |
| वामन | २५, ४६-५०, ५३, ५७, ६०-६५, ७०, ७५, ८२, ८७, १६३, २१७, २२३, २५६, २७३, २८०, ३७६, ३८३ |
| वारवधूविनोद-दे० 'वधूविनोद' | |
| वारिस | ११ |
| वार्हमीकि | ३५, ४१६ |
| वासवदत्तम् | १०१ |
| वासुदेव | २५६, २६१, २८७ |
| विक्रमविलास | २६५ |
| विक्रमसंहि | २८४ |
| विक्रमादित्य | ३१६ |
| विज्ञानगीता | २२६-३०, २३५ |
| विदुरप्रजागर | ४०३ |

| | |
|---------------------------|---|
| विद्याधर | ४३, ५२-५३, २१८-२१६, २२९ |
| विद्यानाथ | ४३, ५३, ७६, १०२, २१८-१६, २२२, २३६-४० |
| विद्यापति | १६, ११३-१५, १५६, १६५ |
| विद्यापतिपदावली | ११५ |
| विद्वद्विलास | ३५६ |
| विद्वन्मोदतरंगिणी | ३०५ |
| विनोदचन्द्रोदय (कवीन्द्र) | ३८२ |
| विनोदशतक | ३६६ |
| विल्हगा | ११३ |
| विश्वभरप्रसाद डबराल | १६० |
| विश्वनाथ | २६, ३०, ४३-४४, ४६-५०, ५६-५७, ६०-६१, ६८-६९, ७२, ७६, १००, १०२-४, १०६, १०६-१०, २१७-२१, २२३-२४, २२७, २२६-३०, २३४, २३६, २४३-४४, २५५, २६१, २६७, २७२, २८४, २८६, २६२, ३७५-७६, ३८२ |
| विष्णु | १०१ |
| विष्णुपदकीर्तन | ४०४ |
| विष्णुपुराणभाषा | ३७० |
| विष्णुविलास | १३६, २६४, ३३६० |
| वी० एस० राघवन् | २३८ |
| वीरसिंह | २३० |
| वीरसिंहचरित | २२६ |
| वीरसिंहदेवचरित | २३०, २३५ |
| वृन्द | १२४ |
| वृक्षचित्रशतक | ३१५ |
| वृत्तकौमुदी | ३५३-६५ |
| वृत्तरंगिणी (रामसहायदास) | ३२७, ३६६-७१, ४०८ |
| वृत्तरत्नाकर | २५७, ३६४-६५ |
| वृत्तविचार | २२७, २६७, ३६५, ३६७ |
| वृत्तसिंह | ३२८ |
| वृत्तिवार्तिक | २१८ |
| वैद्यराज | ११५ |
| वैतालपञ्चविंशति | ६५६ |
| वैद्यनाथ सूरि | ६६६ |
| वैराग्यशतक | २५१ |
| व्यक्तभैरवी | २२ |
| व्यक्तभैरवी कौमुदी | १३२-३३, १३५, २२७, २८४-८५, ३३१ |

| | | | |
|---|-------------|---|---------------|
| व्यास | १३० | शृंगारदर्पण (आजम) | ३२१ |
| श | | शृंगारदीपिका | २३१ |
| शकुन | २७-३६, २१७ | शृंगारनिर्णय १३३-३४, २२७, २७०, २७२, २६४, ३०० | |
| शभुनाथ मिश्र १३६, २६३, ३०५ ३५३ | | शृंगारप्रकाश ६०, ७५, १०२-३, २३१, २६२, ३३४ | |
| शभुनाथ सोलकी १३५, २६४, ३२८, ३६४, ३८५, ४०५ | | शृंगारवत्तीसी | ४१० |
| शकुतला नाटक (नेवाज) | ४०६ | शृंगारभूषण | ३११, ४०२ |
| शतरज शक्तिका | २७० | शृंगारमञ्जरी १०३, १०६, १३२-३३, २२१, २२३-२५, २३१, २३८, २६२, २७२, २८४-८५, २६४-६५, ३२८ | |
| शब्दकल्पद्रुम | ३८३ | शृंगारदर्पण | ४१० |
| शब्द नाम प्रकाश | २७० | शृंगाररसदर्पण | १३६, २६४ |
| शब्दरसायन ५६, १३२-३३, १६८, २१४, २२७, २५१-५४, २५६-५७ | | शृंगाररसमाधुरी १३४, २६४, २६८, ३००, ३२१, ३२५ | |
| शशिनाथ | २६६ | शृंगारलता | १३५, २६४, २६७ |
| शारदातनय | १०२, २१८ | शृंगारलतिका | |
| शालिग्राम | २१८, २८३ | शृंगारलतिका सौरभ | ४१० |
| शाहभालम | १० | शृंगारविलास १३४, २६६-६७, २६४ | |
| शाहजहाँ ३-५, ८-६, ११, १६-१७, १६- २१, २१८, २३७-३८, २६५, ३१८, ३३८, ३८७, ३८६-३६० | | शृंगारशतक | ११३ |
| शिगमूपाल ७०, १०२, २१८, २३१ | | शृंगारशिरोमणि १३५, २८४, २६४, ३२५ | |
| शिगमूपाल ७०, १०२, २१८, २३१ | | शृंगारसतसई (रामसहायदास) | ४०८ |
| शिखनख (बलभद्र) | २६५ | शृंगारसागर १२७-२८, १३५-३६, २६४, ३२२, ३३६, ३५७ | |
| शिलाालिन | २५ | शृंगारसौरभ (रामभट्ट) | ३३५ |
| शिव | ३५० | शेक्सपियर | ४१६ |
| शिवनाथ १३६, २६३, ३०६ | | शेख | १२३ |
| शिव पर्वती वदना | ११३ | शेख नासिरुद्दीनअवधनी | १३ |
| शिवप्रसाद कवीश्वर | २३७, ३६० | शेख शाहमुहम्मदफर्मली | ३०० |
| शिवराजभूषण १३२, २२७, ३४२-४३ | | शेख सलीमचिश्ती | १८ |
| शिवसिंह सरोज २६०, २८४, ३३४, ३६३, ४०२, ४०६ ४०६-१० | | शेली | ४१६ |
| शिवसिंह सेगर १२६, २३८, ३३४, ३५७ | | शोभाकवि | १३४, २६४ |
| शिवाजी | ६, ३३८, ३४२ | शोरी | २२ |
| शिवाबावनी | ३४२ | श्यामसुन्दरदास | २३, १२१ |
| शीतल | ३११ | श्रीआचार्य | २७६ |
| शुकदेवमिश्र | १३५ | श्रीकृष्णकवि १०२, १०६, २३१, ३५५ | |
| शुभकरणा | ३६१ | श्रीकृष्णशास्त्री | २६० |
| शूद्रक | ७२ | श्रीधर ५६, १४४, २२७, २६७, ३४४- ४५ | |
| शोभाकवि | ३२५ | श्रीधरदास | २८५, ३३० |
| शृंगारचरित १३६, २६४, ३२५, ३५७ | | श्रीनागपिंगल छदविलास | २२७, ३६६ |
| शृंगारचालीसी | ४१० | श्रीनिवास | १३५, २६३, ३०० |
| शृंगारतिलक ११३, २६२, ३०२, ३८४ | | | |

| | |
|--------------------------|-------------------------|
| श्रीवैत | ५६, १३४, १३६, १६२, १६४, |
| १-२१४, २२७, २६२, २६४-६६, | |
| २६३, २६६ ३००, ३४५, ३८१ | |
| श्रीपाद | ७० |
| श्रीरतिराम | ३७२ |
| श्रीराम शर्मा | ५, ३३५ |
| श्रीहर्ष | १५५ |
| श्रुतिभूषण | १२७, ३३६ |

ष

| | |
|----------------------|-----|
| षट्शतवर्णन (सेनापति) | १२८ |
|----------------------|-----|

स

| | |
|----------------------------|-----------------|
| सगीतदर्पण | २१-२२ |
| संगीतपारिजात | २१ |
| संग्रामसागर | ३८७ |
| संग्रामसार | २४२ |
| सजीवनभाष्य (बिहारी सतसई) | ३६२ |
| सदल-दे० 'चदन' | |
| सतसई (बिहारी) | ३४८, ३८६, ३६३ |
| सतसई (भूपति) | ३४७ |
| सतसई (मतिराम) | ३१६ |
| सतसैयावसार्थ टीका | ३८७ |
| सदानन्द | ३५५ |
| सदारग | २२ |
| सदुक्तिकार्यमृत | २८५ |
| सद्गुणचन्द्रोदय | २२ |
| सम्भक्तवि | ३३४ |
| सम्पत्तेस | १३३, २६३, ३०४ |
| समयप्रबध | २८३ |
| सरदार कवि | ३६५ |
| सरफराज गिरि | ३५७ |
| सरफराज चद्रिका | ३५७ |
| सरस्वती | २५६, ३१२ |
| सरहपा | ३३५ |
| सखोजकलिका | २६५ |
| सखोजकलिकाभरण | ५३, ६०, ६८, ७५, |
| १०२-३, १०५, १३८, २८४, २६३, | |
| ३३४ | |
| सखिता | २६२ |
| सखिताचरण | ३६२ |
| सखिताचरण श्रीवैष्णव | ३३५ |
| सखिताचरण | ३३५, ३३८ |
| सखिताचरण | ३३५ |

| | |
|--|------------------------|
| साहित्यदर्पण | ४१, ५० ६६, ६०, ६४, |
| १०२, २२१, २२५, २२७, २३०- | |
| ३१, २४३, २५३, २६२, २७७, | |
| २८१, २८६, २८६, २६२, २६५, | |
| ३०२, ३४०, ३७५, ३८२ | |
| साहित्यरत्नाकर | ३०५ |
| साहित्यरस | २६७ |
| साहित्यलहरी | ११६, १२६, १२८, २६४, |
| ३२६-२७, ३३६ | |
| साहित्यसार | ३१६ |
| साहित्यसुधानिधि | १३५, २२७, २७८-८० |
| साहिब सिंह | ३१५ |
| सिंहदेवगणि | ७१ |
| सिक्सटीथ ऐड सेवेनटीथ सेचुरी मैनस्क्रिप्ट्स | |
| एंड ऐलबम्स आव् मुगल पेंटिम्स | |
| १५ | |
| सिद्धातबोध | ३३८ |
| सिद्धातसार | ३३८ |
| सीतवसत | ३५७ |
| सीताराम | २५१ |
| सुंदरकवि | १२८, १३५, २१८, २६४-६५, |
| ३१८ | |
| सुंदरदास | |
| सुंदरशृंगार | १२८, १३५, २६४-६५, |
| ३१८, ३३६ | |
| सुंदरीतिलक | १८४ |
| सुखदेव मिश्र | २१४, २२७, २६३-६४, |
| २६६-६७, ३६५ | |
| सुखसागर तरंग | १३३-३४, १६१, २६३, |
| २२७, ३५१-५३ | |
| सुजायचरित | १२४ |
| सुजानमणि | २५१ |
| सुजानविनोद | १५३, २५१-५२ |
| सुजानविलास | २६६ |
| सुसमाचरित (माखन) | ३६६ |
| सुधानिधि | १३२, १५३, २२७, २६३, |
| २६६ | |
| सुनीतिकुमार चाटुज्या अ० | २७३ |
| सुबहरी सिंह | ३३८ |
| सुमित्रामदन पत-दे० 'पत सुमित्रामदन' | |
| सुमेरसिंह, बाबा | ३३३ |
| सुसमा टीका (संस्मरण टीका) | २८५ |

| | | | |
|---------------------------------------|---------------|-----------------------------------|---------------|
| सुवर्णनाम | २४ | हरिनाथ | ३५४ |
| सुशील कुमार दे, | २५ | हरिप्रकाश | ३६९ |
| सूदन | १२३-२४ | हरि मानस विलास | ३९५ |
| सूरति मिश्र ५६, १३४, १३७, २१४, | | हरिराम | १२८ |
| २२७, २२९, २५९, २६४, २६६, | | हरिवंश | १०१ |
| ३४४, ३६१ | | हरिवल्लभ शास्त्री | २५९ |
| सूरदास ११५-१७, १२६, १२८, १३०, | | हरिव्यास | २८३ |
| १५६, १६५, २०३, २१०, २१८, | | हरिहर | २३१ |
| २९४-९५, ३२६-२७, ३३६, ३७३, | | हर्बर्टरीड | १८९ |
| ४१६ | | हर्षचरित | ५८, ७३ |
| सुरसागर ११५, १७५, ३२७, ३७० | | हाल | ११२, ३८४ |
| सेनापति ११७, १२२-२३, १२८, १५७, | | हिडोला (रसनिधि) | ४०४ |
| ४७० | | हिंदी अलंकार साहित्य ३३७, ३४४, | |
| सेवक | ३३३, ३५५ | ३४६, ३५१, ३५४, ३६० | |
| सेवादास १३५, २९३, ३०८-९, ३५६ | | हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास २६५, | |
| सेवाराम | २८८ | २८३, ३६६, ३४२, ३४५, ३४७, | |
| सैयद गुलाम नबी-दे० 'रसलीन' | | ३५०, ३५७ | |
| सैयद निजामुद्दीन-दे० 'मदनायक' | | | |
| सैयद रहमतुल्लाह | ३०० | हिंदी भाषा और साहित्य | २३ |
| सोमनाथ २२, ५६, १३४, १३७, १३७ | | हिंदी रीति साहित्य | ३४६ |
| १७३, २१०, २१४, २२१, २२३, | | हिंदी वक्तोक्तिजीवित | ८४ |
| २२७, २३७, २६२, २६६-७०, | | हिंदी साहित्य | ३३४-३५ |
| २९४, ३२१, ३६७ | | हिंदी साहित्य का इतिहास १२१, १६५, | |
| सौमप्रभाचार्य | ३८४ | २०७, २६५, २८३-८४, ३३४, | |
| स्लीमैन | १३ | ३४२, ३४४, ३५४-५५, ३५९, ३६१, | |
| स्वयंभू | ३३५ | ३८३, ३९२ | |
| स्वरूप सिंह | ३६४ | हिंदूपति सिंह | २७०-७१, २९७ |
| ह | | हिततरंगिणी ११५-१७, १२७-२९, २०२, | |
| हजरत मुहम्मद साहब | ६ | २९४-९५, ३२६-२७, ३३५ | |
| हजारा-दे० 'कालिदास हजारा' | | | |
| हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० १२१, ३३४-३५ | | हितहरिवंश | १३०, ३३५, ४०७ |
| हठीजी | ३८५, ४०७ | हिम्मत सिंह, राजा | २९७, ३२२ |
| हनुमानजन्मलीला | २२९ | हिस्ट्री आव् शाहजहाँ आव् दिल्ली | ४ |
| हमीदुद्दीन अहकाम | १२ | हिस्ट्री आव् संस्कृत पोएटिक्स | ३३४ |
| हम्मीरहठ | १२४, २८८, ३१५ | हीरानंद | २७६ |
| हम्मीररासो | १२४ | हुमायूँ | १८-२० |
| हनुनाथ सिंह | ३२५ | हृदयनारायण देव | २२ |
| हरिचरणदास | ३३८, ३६१ | हेमचंद्र ४२, १०२; ११२, २१८-१९, | |
| हरिदास, स्वामी | ३८९ | ३६४, ३८४ | |
| हरिदेव | २२७, ३७२ | हेस्टिगज, लार्ड | १३ |
| | | होमर | ४१६ |